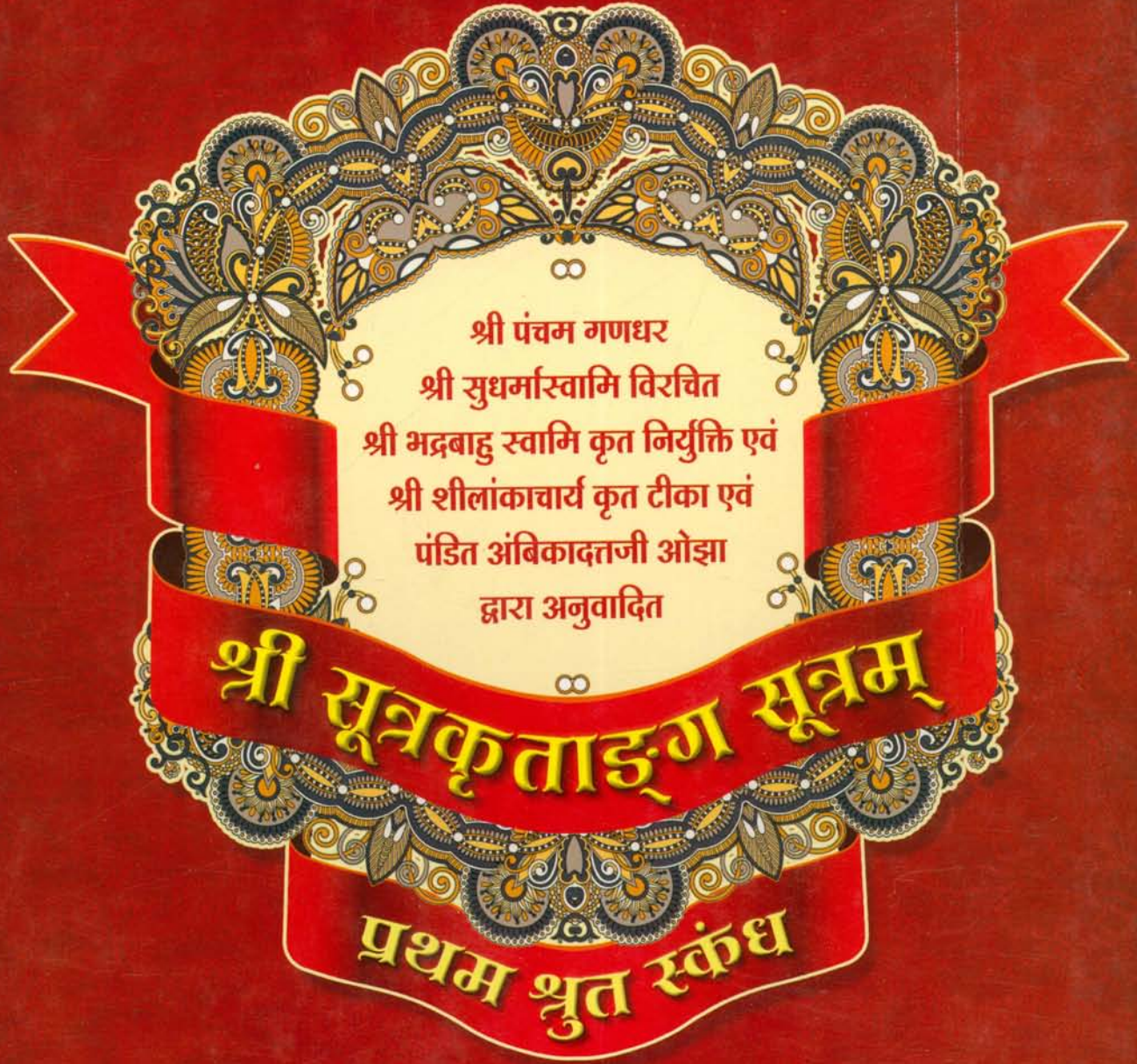




श्री पंचम गणधर
श्री सुधर्मास्वामि विरचित
श्री भद्रबाहु स्वामि कृत निर्युक्ति एवं
श्री शीलांकाचार्य कृत टीका एवं
पंडित अंबिकादत्तजी ओझा
द्वारा अनुवादित

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रम्

प्रथम श्रुत स्कंध

भाग : 1
अध्ययन 1 से 4

संपादक
मुनि जयानन्दविजयादि मुनिमंडल



सूतकृतम्

सूतम्
उत्पन्नमर्थरूपतया
तीर्थकृदभ्यस्ततः
कृतं
ग्रन्थरचनया गणधरैः

तीर्थकरों से
अर्थ रूप में
उत्पन्न होने से
एवं
गणधरों के द्वारा
सूत्र रूप में
रूपान्तर होने के कारण
सूतकृत
कहा जाता है।



श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय नमः

श्री-महावीर-स्वामिने नमः

प्रभु-श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः

श्रीमच्छ्रीलाङ्काचार्यकृतटीकासहितम् श्रीसूत्रकृताङ्गम् सूत्रम्

आ. श्री जवाहरलालजी म. के तत्त्वावधान में
पंडित अंबिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा अनुवादित
प्रथम श्रुतस्कन्ध भाग : १ अध्ययन १ से ४ तक
(संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, भावार्थ और टीकार्थ सहित)

—ॐ— दिव्याशिष —ॐ—

श्री विद्याचन्द्रसूरीश्वराः • श्री रामचन्द्रविजयाः

—ॐ— पुनः संपादक —ॐ—

मुनिराज-श्री-जयानन्दविजयादि-मुनिमण्डलः

—ॐ— प्रकाशिका —ॐ—

गुरुश्रीरामचन्द्रप्रकाशनसमिति:-भीनमालः (राज.)

—ॐ— मुख्य संरक्षक —ॐ—

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि जैन श्वे. ट्रस्ट,
कुंडलवरी स्ट्रीट, विजयवाडा. (A.P.)

(२) मुनिराज-श्री-जयानन्द-विजयस्य निश्रयां २०६५ वर्षे चातुर्मासोपधानकारितनिमित्ते

लेहर कुंदन गुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती-गेरोदेवी-जेठमलजी-बालगोता-परिवार-मंगलवा

(३) एकसदगृहस्थ:-भीनमालः

❀ संरक्षक ❀

- (१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.
- (२) मीलियन ग्रुप, सूरणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.
- (३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.
- (४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.
- (५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.
- (६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंधीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अड्डाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो दोरा परिवार, थराद-मुंबई.
- (७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेश बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्टी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.
- (८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमलखभाई परिवार.
- (९) शा कांतिलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.
- (१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मंगलवा (जालोर)
- (११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र तुर परिवार गुडाबालोतान्, जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट, नेल्लूर-५२४ ००१. (A.P.)
- (१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२
- (१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्तूर (A.P.)
- (१४) एक सदगृहस्थ, धाणसा.
- (१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/६७८-५२१-११५०
- (१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.
- (१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मितुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.
- (१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

- (१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा.
- (२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.
- (२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.
- (२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)
- (२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थ २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.
- (२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेश, दीक्षित, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मंगलवा, फर्म : Fybros Kundan Group, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.
- (२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मंगलवा, चेन्नई.
- (२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२
- (२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.
- (२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेश, निलेश, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रीकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.
- (२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.
- (३०) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)
- (३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.
- (३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-६२.
- (३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली. जुगराज ओटमलजी ए ३०१/३०२, वास्तुपार्क, मलाड (वेस्ट), मुंबई-६४
- (३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्ट्स लिमिटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.
- (३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्प्लेक्स, विजयवाडा.
- (३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.
- (३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेरामलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

- (३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतिलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.
- (३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.
- (४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००९.
- (४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दासपा, मुंबई.
- (४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेशकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स - २०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.
- (४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्दूर-२.
- (४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेश, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोर्वीदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-९
- (४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.
- (४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.
- (४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.
- (४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.
- (४९) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेंश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.
- (५०) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.
- (५१) श्री आहोर से आबू-देल्वाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेंगलोर-५३.
- (५२) एक सदगृहस्थ बाकरा (राज.)
- (५३) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेंगलोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.
- (५४) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत. बाकरा रोड में चातुर्मास एवं उपधान निमित्ते हस्ते संघवी भंवरलाल अमीचंद, अशोककुमार, दिनेशकुमार/फर्म अंबिका ग्रुप विजयवाडा (A.P.)
- (५५) स्व. पिताश्री हिराचंदजी, स्व. मातुश्री कुसुमबाई, स्व. जेष्ठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी आत्मश्रेयार्थ मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकासकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, आशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्दु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनम, परम, तनमै, प्रनै, बेटा पोता, प्रपोता लडपोता हिराचंदजी, चमनाजी, दांतेवाडिया परिवार, मरुधर में आहोर (राज.). फर्म : हीरा नोवेल्टीस, फ्लॉवर स्ट्रीट, बल्लारी.
- (५६) मुमुक्षु दिनेशभाई हालचंद अदानी की दीक्षा के समय आई हुई राशी में से हस्ते हालचंदभाई वीरचंदभाई परिवार थराद, सुरत.
- (५७) श्रीमती सुआबाई ताराचंदजी वाणी गोता बागोडा. बी. ताराचंद अण्ड कंपनी, ए-१८, भारतनगर, ग्रान्ट रोड, मुंबई-४०० ००७.
- (५८) २०६९ में मु. जयानंद वि. की निश्रा में श्री बदामीबाई तेजराजजी आहोर, इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान

एवं मूलीबाई पूनमचंदजी साँथू तीनों ने पृथक्-पृथक् नव्वाणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की ओर से उद्यापन की राशी में से। पालीताना.

- (५९) शा जुगराज फूलचंदजी एवं सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोता के जीवित महोत्सव पद्मावती सुनाने के प्रसंग पर - कीर्तिकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, विनोदकुमार, अमीत, कल्पेश, परेश, मेहुल वेश आहोर. महावीर पेपर अण्ड जनरल स्टोर्स, २२-२-६, क्लोथ बाजार, गुन्दुर.
- (६०) शा जुगराज, छगनलाल, भंवरलाल, दरगचंद, घेवरचंद, धाणसा. मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा. फर्म : श्री राजेन्द्रा होजीयरी सेन्टर, मामुल पेट, बेंगलोर-५३.

❀ सह संरक्षक ❀

- (१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एण्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४
- (२) शा ताराचंद भोनाजी आहोर मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड कुं. पहला भोईवाडा लेन, मुंबई नं. २.
- (३) स्व. मातुश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.
- (४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्टाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थ नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयन्तिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेट, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)
- (५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.
- (६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेट, गुन्दुर (A.P.)
- (७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं. १३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.
- (८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७, अविनाशी रोड, कोइम्बटूर-६४१ ०१८.
- (९) गांधि मुथा, स्व. पिताजी पुखराजजी मातुश्री पानीबाई के स्मरणार्थ हस्ते गोरमल, भागचन्द, नीलेश, महावीर, वीकेश, मीथुन, रीषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी सायला, वैभव ए टु झेड डोलार शोप वासवी महल रोड, चित्रदूर्गा.
- (१०) श्रीमती शांतिदेवी मोहनलालजी सोलंकी के द्वितीय वरसीतप के उपलक्ष में हस्ते मोहनलाल विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचंदजी सोलंकी जालोर, महेन्द्र ग्रुप, विजयवाडा (A.P.)
- (११) पू. पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी छत्रिया वोरा की पुण्य स्मृति में हस्ते मातुश्री सुआदेवी. पुत्र मदनलाल, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार. पौत्र नितिन, संयम, श्लोक, दर्शन सूरणा निवासी कोइम्बटूर.
- (१२) स्व. पू. पिताजी श्री पीरचंदजी एवं स्व. भाई श्री कांतिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी, पुत्र : हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, नीलेश, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनीश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा. पीरचंद महावीरकुमार-मैन बाजार, गुन्दुर.
- (१३) श्री सियाणा से बसद्वारा शत्रुंजय-शंखेश्वर छ रि पालित यात्रा संघ २०६५ हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचन्द, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखिल, पक्षाल, बेटा पोता पुखराजजी बाल गोता सियाणा. फर्म : जैन इन्टरनेशनल, ९५, गोर्वीदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई.
- (१४) स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई सुरेखाबेन आदी कुमार थराद, अशोकभाई शांतिलाल शाह. २०१, कोश मेश अपार्टमेन्ट, भाटीया स्कूल के सामने, साईबाबा नगर, बोरीवली (प.), मुंबई-४०० ०७२.



❀ द्रव्य सहायक ❀

मु. श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा का
पालीताना में भीनमालधाम में
चातुर्मास एवं उपधान वि. सं. २०६९ में
श्री शांतीबाई बाबुलालजी अमीचंदजी बाफना परिवार
भीनमाल निवासी ने करवाया,
उस समय की ज्ञान खाते की आय में से।



❀ प्राप्तिस्थान ❀

शा. देवीचंद छगनलालजी
सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कॉलनी, भीनमाल-३४३ ०२९. (राज.) फोन : (०२९६९) २२० ३८७.

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी
साँथू-३४३ ०२६. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५४ २२९.

श्री विमलनाथ जैन पेढी
बाकरा गांव-३४३ ०२५. (राज.) फोन : (०२९७३) २५९ ९२२. मो.: ९४९३४ ६५०६८.

महाविदेह भीनमाल धाम
तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताना-३६४ २७०. फोन : (०२८४८) २४३ ०९८.

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट
तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५९ ९४४.

श्री सिमंधर जिन राजेन्द्रसूरि मंदिर
शंखेश्वर मंदिर के सामने, शंखेश्वर, जिला पाटण.

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
विषयानुक्रमणिका	२-३	पञ्चमाध्ययनम्	
प्रस्तावना	४-१०	नरकाधिकार	२९३
सूत्र प्रस्तावना	११-३३	षष्ठमध्ययनम्	
प्रथमाध्ययनम्		श्रीवीरस्तुत्यधिकार	३३७
स्व-समयवक्तव्यता अधिकार	१	सप्तममध्ययनम्	
परसमयवक्तव्यता अधिकार	६	कुशीलपरिभाषाधिकार	३६३
चार्वाकमतधिकार	७	अष्टममध्ययनम्	
आत्माद्वैतवादी अधिकार	१८	श्रीवीर्याधिकार	३९०
तज्जीवतच्छरीरवादी का अधिकार	२०	नवममध्ययनम्	
अकारकवाद का अधिकार	२४	भावधर्ममध्ययनम्	४१६
तज्जीवतच्छरीरवादाकारकमतवादखंडनाधिकार	२५	दशममध्ययनम्	
आत्मषष्ठवाद का अधिकार	३०	श्रीसमाध्ययनम्	४४२
बौद्धमत का अधिकार	३३	एकादशमध्ययनम्	
पूर्वोक्तमतवादी अफलवादी है	४१	श्रीमार्गाध्ययनम्	४६६
नियतिवाद का अधिकार	४७	द्वादशमध्ययनम्	
अज्ञानवाद का अधिकार	५४	श्रीसमवसरणाध्ययनम्	४९६
क्रियावाद का अधिकार	७३	त्रयोदशमध्ययनम्	
आधाकर्म के उपभोगफल का अधिकार	७७	श्रीयाथातथ्याध्ययनम्	५४७
जगत्कर्तृत्व का अधिकार	८०	चतुर्दशमध्ययनम्	
कृतवादाधिकार	९१	श्रीग्रन्थाध्ययनम्	५७२
शैवादि का अधिकार	९४	पञ्चदशमध्ययनम्	
परतीर्थिक के परित्याग करने का कारण	९५	आदानीयाध्ययनम्	६००
परिग्रहार्थम त्याग अधिकार	९७	षोडशमध्ययनम्	
द्वितीयाध्ययनम्		गाथाध्ययनम्	६२४
वेतालियशब्दस्यार्थवर्णनम्	११२	परीशिष्ट	६३५
हिताहितप्राप्तिपरिहारवर्णनाधिकार	११३		
मानोवर्जनीयाधिकार	१३३		
अनित्यताप्रतिपादकाधिकार	१६०		
तृतीयाध्ययनम्			
तृतीयाध्ययनस्य प्रस्तावना	१७९		
उपसर्गाधिकार	१८२		
चतुर्थाध्ययनम्			
स्त्रीपरिज्ञाध्ययनम्	२४४		

उद्देशाकृत्य पृष्ठः

प्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः.....	०१
प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः.....	४७
प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः.....	७७
प्रथमाध्ययने चतुर्थोद्देशकः.....	९७
द्वितीयाध्ययने प्रथमोद्देशकः.....	११२
द्वितीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकः.....	१३३
द्वितीयाध्ययने तृतीयोद्देशकः.....	१६०
तृतीयाध्ययने प्रथमोद्देशकः.....	१७९
तृतीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकः.....	१९५
तृतीयाध्ययने तृतीयोद्देशकः.....	२०८
तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशकः.....	२२५
चतुर्थाध्ययने प्रथमोद्देशकः.....	२४४
चतुर्थाध्ययने द्वितीयोद्देशकः.....	२७६
पञ्चमाध्ययने प्रथमोद्देशकः.....	२९३
पञ्चमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः.....	३२१

निर्युक्तिगाथानामनुक्रमणिका

गाथा नं. १-३२ प्रस्तावना.....	११-३३
पेज नं.	
गाथा नं. ३३.....	१०
गाथा नं. ३४-३५.....	२६
गाथा नं. ३६-३७.....	११२
गाथा नं. ३८-३९.....	११३
गाथा नं. ४०-४१.....	११४
गाथा नं. ४२.....	११५
गाथा नं. ४३-४४.....	१३३
गाथा नं. ४५-४८.....	१७९
गाथा नं. ४९-५०.....	१८०
गाथा नं. ५१-५२-५३.....	२३५
गाथा नं. ५४.....	२४४
गाथा नं. ५५.....	२४५
गाथा नं. ५६-५७.....	२४६
गाथा नं. ५८-५९.....	२४७
गाथा नं. ६०-६१.....	२४९
गाथा नं. ६२-६३-६४.....	२९३
गाथा नं. ६५-८२.....	२९५
गाथा नं. ८३-८४.....	३३७
गाथा नं. ८५.....	३३८
गाथा नं. ८६-८९.....	३६२
गाथा नं. ९०.....	३६३
गाथा नं. ९१-९५.....	३९०

गाथा नं. ९६.....	३९१
गाथा नं. ९७.....	३९२
गाथा नं. ९८-१०२.....	४१६
गाथा नं. १०३-१०६.....	४४२
गाथा नं. १०७-१११.....	४६६
गाथा नं. ११२-११५.....	४६७
गाथा नं. ११६-११८.....	४९६
गाथा नं. ११९-१२१.....	४९७
गाथा नं. १२२-१२६.....	५४७
गाथा नं. १२७-१३१.....	५७२
गाथा नं. १३२-१३६.....	६००
गाथा नं. १३७-१४१.....	६२५

प्रयोजन

आर्हत आगमों में श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्र का बहुत ही उच्च स्थान है। यह आगम पदार्थों का वर्णन बड़ी उत्तमता के साथ करता है। एक मात्र इस आगम को मनन करके भी मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। मुमुक्षु पुरुषों के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी है परन्तु इसके गम्भीर भावों को समझना सरल नहीं है। इसके गम्भीर भावों को व्यक्त करने के लिए श्रीमच्छीलाङ्गाचार्य ने इस पर सुविस्तृत और सरल संस्कृत टीका लिखी है। श्रीमच्छीलाङ्गाचार्य ने जिस विद्वत्ता के साथ इसके गम्भीर भावों को व्यक्त किया है, उसका महत्त्व संस्कृतज्ञ विद्वान् ही जान सकते हैं, परन्तु जो संस्कृत नहीं जानते हैं, उन लोगों के लाभार्थ यदि शीलाङ्गाचार्य की टीका हिन्दी में अनुवाद होकर प्रकाशित हो तो बहुत ही उत्तम हो। यद्यपि टीका का अक्षरशः अनुवाद होने से भाषा की सुन्दरता पूरी नहीं रह सकती है और पाठकों के लिए कुछ कठिनाई भी हो सकती है, तथापि संस्कृत नहीं जाननेवाले लोग टीका के लाभ से सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकते हैं और साधारण संस्कृत जाननेवाले इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। इस भाव से प्रेरित होकर श्री० श्वे० स्था० जैन सम्प्रदाय के आचार्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के तत्त्वावधान में श्रीमच्छीलाङ्गाचार्य की टीका का हिन्दी में अनुवाद पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा कराना प्रारम्भ हुआ और पाठकों की सुगमता के लिए मूल सूत्र की संस्कृतच्छाया, व्याकरण, अन्वयार्थ और भावार्थ भी लिखे गये। यद्यपि इन विषयों के बढ़ जाने से ग्रन्थ का कलेवर अवश्य बढ़ जाता है तथापि साधारण बुद्धिवाले पुरुष इससे बहुत लाभ उठा सकते हैं - यह जानकर कलेवर वृद्धि की उपेक्षा करके यह कार्य उचित प्रतीत हुआ है।

राजकोट

कार्तिक शुक्ला चतुर्थी

वि. संवत् १९९३

श्री संघ सेवक

जौहरी दुर्लभ

व्यवस्थापक



પ્રસ્તાવના

સૂત્રકૃતાંગ સૂત્ર વિષે પૂ. આ. પ્રજ્ઞ મુનિશ્રી જંબુવિજયજી મ.સા., શ્રી દેવેન્દ્રમુનિ શાસ્ત્રી, પં. બેચરદાસ, પં. હીરાલાલ કાપડિયા વગેરે લખ્યું છે. અહીં કેટલીક ઉપયોગી બાબતો જણાવીએ છીએ.

સૂત્રકૃતાંગસૂત્ર અગિયાર અંગમાં બીજા અંગ તરીકે બિરાજમાન છે.

આ અંગનું નામ શ્વેતાંબર પરંપરામાં સૂતકડ, સુત્તકડ અને સૂયગડ તરીકે પ્રસિદ્ધ છે.¹

દિગંબર પરંપરામાં સુદયડ, સુદયડ સુદયદ એવા નામો આ અંગના મળે છે.

નિર્યુક્તિકાર કહે છે- સૂયગડ = જિનવરમતને સાંભળી ગણધર ભગવાને સૂત્રની રચના કરી છે. સુત્તગડ = કર્મપરિશાટના તથા તદુભયયોગથી આ સૂત્રની રચના કરવામાં આવી છે.

ચૂર્ણિકારશ્રીએ સૂતકડ એટલે ગણધર ભગવંતો દ્વારા (સૂત્ર રૂપે) અને તીર્થંકર ભગવંતોથી (અર્થ રૂપે) ઉત્પન્ન થયેલ એવો અર્થ બતાવ્યો છે. સુતકડ એટલે સ્વ-પરની સૂચના આપતું આગમ. સૂત્ર અનુસારે મોક્ષમાં જવાય છે માટે સુત્તકડ.

ટીકાકારશ્રીએ આ આગમ ગ્રંથના નામનું અર્થઘટન કરતાં જણાવ્યું છે કે- સૂત = અર્થથી તીર્થંકરોથી ઉત્પન્ન થયેલ, કૃત = ગ્રંથ રૂપે ગણધરશ્રીએ રચેલ છે. સૂચાકૃત = સ્વપર સમયની સૂચના જેમાં કરાય છે.

સૂત્રકૃતાંગસૂત્રનો પરિચય શ્રી સમવાયાંગસૂત્ર, શ્રી નંદિસૂત્ર દિગંબર પરંપરા માન્ય ધવલા ટીકા તાત્ત્વાર્થ રાજવાર્તિક આદિમાં આપવામાં આવ્યો છે.

અહીં સ્વ સમય = જૈન સિદ્ધાંતની સ્થાપના, પર સમય = અન્ય દર્શનના સિદ્ધાંતો ૩૬૩ અન્ય દૃષ્ટિઓની ચર્ચા જીવા-જીવાદિ તત્ત્વોનું સ્વરૂપ એવું સુંદર વર્ણન કર્યું છે કે- આ ગ્રંથ અંધકારમાં અટવાતા જીવો માટે દીપક સમાન, મોક્ષમાર્ગે પ્રયાણ કરનારને પગથિયા સ્વરૂપ છે.

● પ્રસ્તુત સૂત્રકૃતાંગસૂત્રમાં જેમ અન્ય દર્શનોના મતની વાત અને એનો પ્રતિવાદ કરી સ્વસિદ્ધાંતની સ્થાપના કરવામાં આવી છે એવી રીતે બૌદ્ધ દર્શન આદિના ગ્રંથોમાં પણ ભગવાન મહાવીરના સિદ્ધાંતો અને અન્ય દર્શનના સિદ્ધાંતોની ચર્ચા કરી સ્વમતની પુષ્ટિ કરી છે. પણ, આજના તટસ્થ વિદ્વાનો એ વાત કબૂલ કરે છે કે- તેઓ જૈનદર્શનને બરોબર સમજી શક્યા નથી અને ખોટી રીતે આક્ષેપો કર્યા છે.

● બૌદ્ધ માન્ય ગ્રંથ 'દિવ્યાવદાન'માં પણ તે કાઢના દાર્શનિકોના નામોલ્લેખ આ પ્રમાણે કરવામાં આવ્યો છે- 'તેન ખલુ સમયેન રાજગૃહે નગરે ષટ્ પૂર્ણાઘ્નાઃ શાસ્તારઃ... પ્રતિવસતિ સ્મ ।

તદ્યથા-

પૂર્ણઃ કાશ્યપઃ, મસ્કરી ગોશાલીપુત્રઃ, સંજયી વૈરટ્ટીપુત્રઃ, અજિતઃ કેશકમ્બલઃ, કકુદઃ કાત્યાયનઃ, નિર્ગન્થો જ્ઞાતિપુત્રઃ' (દિવ્યાવદાન પૃ. ૮૯)

● સૂત્રકૃતાંગના બીજા શ્રુતસ્કંધના છઠ્ઠા અધ્યયન 'આર્દકીય'માં ગોશાલા વગેરે જે આક્ષેપો કર્યા છે તે જોતાં પણ સ્પષ્ટ સમજાય છે કે- તેઓ જૈન સિદ્ધાંતને બરોબર સમજી શક્યા નથી. આર્દકુમારે તે બધાની ગેરસમજો દૂર કરી ખુલાસા કર્યા છે.

● બીજા શ્રુતસ્કંધમાં તજ્જીવતચ્છરીરવાદની ચર્ચા આવે છે એને મળતું વર્ણન બૌદ્ધગ્રંથ ઉદાન (સુત્તપિટક) પૃ.- ૧૪૨, ૧૪૩ માં મળે છે.

● સૂત્રકૃતાંગસૂત્રમાં બે શ્રુતસ્કંધ છે. પ્રથમમાં ૧૬ અને બીજામાં ૭ અધ્યયન છે. સૂત્રકૃતાંગનું પરિમાણ ૩૬૦૦૦

1. ૧. જુઓ સૂત્રકૃતાંગ નિર્યુક્તિ. ૨. જુઓ પ્રતિક્રમણ ગ્રંથત્રયી, જયથવલી પૃ.-૮૫ ।

પદો છે. આચારાંગના પ્રથમ શ્રુતસ્કંધ કરતાં સૂત્રકૃતાંગનું પ્રમાણ ડબલ છે એ વાત લગભગ મળે છે.

પદ પૂર્વકાઢમાં કરોડો શ્લોકનું હોવાના ઉલ્લેખ મળે છે, પણ વર્તમાનમાં અતિ સંક્ષેપમાં આગમો ઉપલબ્ધ થાય છે.

● સૂત્રકૃતાંગમાં બતાવેલા દાર્શનિક વિચારો, વાદો કયા દર્શનને લાગુ પડે છે તે બાબતો ચૂર્ણિકારશ્રી અને ટીકાકારશ્રીએ સમજાવી છે. જેમ કે-

પ્રથમ અધ્યયન (સૂત્ર ૧૩)માં અકારવાદ એટલે કે આત્મા કશું કરતો નથી એ મતનું નિરૂપણ છે. આ મત સાંખ્યદર્શનનો છે એવું ચૂર્ણિકાર અને ટીકાકારશ્રીએ જણાવ્યું છે.

સૂ. ૧૫-૧૬ નો આત્મષષ્ટવાદ સાંખ્યોના શૈવાધિકારીઓનો છે એવું ટીકાકારશ્રી જણાવે છે.

● સુખ દુઃખ સ્વકૃત કે પરકૃત નહીં પણ નિયતિકૃત છે (સૂ. ૬, ૨૮, ૨૯, ૬૬૩, ૬૬૫) બૌદ્ધગ્રંથ દીઘનિકાય (પૃ. ૪૭) મક્ખલિગોસાલના મતના વર્ણનમાં પણ આવા જ નિયતિ-સંગતિ શબ્દો જોવા મળે છે.

● ક્યારેક ચૂર્ણિકાર અને ટીકાકારશ્રીના અભિપ્રાયમાં તફાવત જોવામાં આવે છે. જેમ કે- ચૂર્ણિકારના મતે સૂ. ૨૮ થી ૪૦ નિયતિવાદનું અને ૪૧ થી ૫૦ અજ્ઞાનવાદનું વર્ણન છે. ટીકાકારશ્રીના મતે ૩૩ થી ૫૦ સૂત્રમાં અજ્ઞાનવાદની ચર્ચા છે. (દીઘનિકાયન બ્રહ્મજાલ સૂત્ર (૨૩-૨૬)માં પણ આવું વર્ણન જોવા મળે છે.)

● ૧૬માં અધ્યયનનું નામ 'ગાથા' કે 'ગાથાષોડશક' છે. સામુદાયિક હંદમાં આની રચના થઈ છે. એવું નિર્યુક્તિકારે જણાવ્યું છે. વર્તમાનમાં આ હંદના લક્ષણ અને એના ગાનની પદ્ધતિની પરંપરા લુપ્ત છે પણ ચૂર્ણિકાર અને ટીકાકારના ઉલ્લેખો જોતાં આ હંદોબધ્ધ રચના ગાવાની પદ્ધતિ હશે.

● સૂત્ર ૧૧-૧૨ અને ૬૪૮-૬૫૩ માં આવતું તજ્જીવતચ્છરીરવાદનું વર્ણન છે એવું વર્ણન બુદ્ધના સમકાલીન અજિત કેસકંબલના વાદની વિગત દીઘનિકાયના સામઞ્જફૂલસૂત્રમાં પૃ. ૪૧-૫૩ માં છે.

● સૂત્ર-૭૦૭માં (અધ્યયન-૨ ક્રિયાસ્થાન) મહાવરે તેરસમે કિરિયાઠાણે... માં તપ્પત્તિયં સાવપજ્જેત્તિ આહિજ્જતિ. અહીં આવશ્યક ચૂર્ણિકામાં અસાવજ્જે પાઠ છે તે વધુ યોગ્ય લાગે છે એમ આ. પ્ર. જંબુવિજયજી મ.સા. એ (પૃ. ૧૬૪ ટિ. ૧૧) સૂયગડાંગના સંસ્કરણમાં જણાવ્યું છે.

● હીરાલલ કાપડિયાએ (આગમોનું દિગ્દર્શન પૃ. ૩૯ માં) જણાવ્યું છે કે- "સૂયગડમાં ઇંદ્રવજ્રા હંદનો પ્રયોગ પચ્વીસ વાર થયો છે.

● ઇત્થીપરિત્તિ નામનું અધ્યયન... ગાથાનુષ્ઠુમ્મી સંસ્કૃષ્ટિ નામે ઓઢાવાયેલ મિશ્ર હંદમાં છે એમ પદ્ય રચનાની ઐતિહાસિક સમાલોચના (પૃ. ૧૮૫-૬)માં ઉલ્લેખ છે.

● સૂત્ર ૨૨૫-૨૨૯ માં કેટલાક ઋષિઓ વગેરેની વિગત છે. આસિલ, પારાસર, દેવિલ, તારાગણ ઋષિ વગેરે સચિત્ત પાળી વ. પીવા છતાં મોક્ષે ગયા આવું જાણી ને કોઈ શિથિલ આચારવાઢા ન થાય એની ચેતવણી આપી છે. ટીકાકારશ્રીએ સ્પષ્ટ સમજાવ્યું છે કે- ભાવચારિત્ર પ્રાપ્ત થયા વિના કોઈ મોક્ષે જઈ શકતા નથી.

● મહાભારતના નવમા અને બારમા પર્વમાં આસિન, દેવલ ઋષિનો ઉલ્લેખ મળે છે. વાયુપુરાણમાં પણ ઉલ્લેખ છે. પરાશય વ્યાસનું નામ છે અને પારાશર વ્યાસના પિતાનું નામ છે.

● સૂયગડાંગમાં દ્રવ્યાનુયોગની ચર્ચા હોવા છતાં આ અંગ ગ્રંથનો સમાવેશ ચૂર્ણિકારશ્રીએ ચરણકરણાનુયોગમાં કર્યો છે.

● સૂયગડાંગમાં બંને ઉભયમાં સૂત્ર રચના થયેલી છે. ચોથા અ. ઇત્થીપરિત્તિમાં જે પદો છે તેની વિદ્વાનો ભારતીય હંદ શાસ્ત્રના દુર્લભતમ પ્રકારમાં ગણતરી કરે છે. આર્યાનું આવું પ્રાચીનતર સ્તર આચારાંગ (નવમા અધ્યયન) ઉત્તરાધ્યયન (આઠમું અધ્યયન) અને બૌદ્ધ ગ્રંથ સૂત્રનિપાતના ૮ અને ૧૪ માં પ્રકરણમાં જ જોવા મળે છે. વિશેષ જાણવા જર્મન વિદ્વાન લુડવીગ આલ્સફોર્ડના લેખનો અનુવાદ મહાવીર વિદ્યાલયના સુવર્ણ મહોત્સવ ગ્રંથ (ઈ. સ. ૧૯૬૮)માં પ્રકટ થયેલો છે. તે જુઓ.

- શ્રી દેવદર્શિગણિ માથુર સંઘના યુગપ્રધાન હતા. તેઓશ્રીની નિશ્રામાં થયેલી વાચનામાં નાગાર્જુન વાચનાના પાઠ ભેદો નોંધવામાં આવ્યા છે. સૂયગડાંગમાં પળ આવા વાચના ભેદોની નોંધ જોવામાં આવે છે. ટીકાકારશ્રીએ ચાર સ્થલે ચૂર્ણિકારશ્રીએ તેર સ્થલે વાચના ભેદ આપ્યા છે. અન્ય પાઠ ભેદો પણ 'પઠ્યતે ચ' વગેરે ઉલ્લેખથી દર્શાવ્યા છે.
 - દિગંબર પરંપરા માન્ય મૂલારાધના (ભગવતી આરાધના) ની અપરાજિતસૂરિ રચિત વિજયોદયા ટીકામાં (પૃ. ૬૧૨માં) સૂત્રકૃતાંગનો ઉલ્લેખ આ પ્રમાણે છે :- "તથા સૂત્રકૃતસ્ય પુણ્ડરીકેઽધ્યાયે કથિતમ્- 'ળ કહેજ્જા ધમ્મકહં વત્થપત્તાદિહેયું' ઇતિ" સૂત્રકૃતાંગ સૂ. ૬૧૦ માં આને મળતો પાઠ મળે છે. એટલે દિગંબર પરંપરાના યાપનીય સંઘમાં પણ સૂત્રકૃતાંગની પાઠ પરંપરા રહો હતી.
 - સૂત્ર ૭-૮ માં પંચભૂતવાદી ચાર્વાકના મતનું વર્ણન છે. સૂત્ર ૬૫૬-૬૫૭ માં આત્મષ્ઠ એટલે કે સાંખ્ય મતની વાત છે. સૂત્ર ૬૬૦-૬૬૩ માં ઈશ્વરકારણિક એટલે કે શુક્લયજુર્વેદ (૩૧/૨) માં બનાવેલા પુરુષવાદનું વર્ણન છે.
 - સૂત્રકૃતાંગસૂત્રની વિવિધ હસ્તલિખિત પ્રતિઓમાં ઘણાં પાઠ ભેદો મળે છે. ચૂર્ણિકારશ્રી સામે અને ટીકાકારશ્રી સામે પણ વિવિધ પાઠ ભેદોમાંથી કયો પાઠ સ્વીકારવો તે સમસ્યા હતી. ચૂર્ણિકારે સ્વીકારેલ પાઠ મુજબની પાઠવાળી કોઈ પ્રતિ ટીકાકારશ્રીને પણ મળી નથી.
- ટીકાકાર શીલાંકાચાર્યજીએ પોતાની મૂંઝવણ આ શબ્દોમાં રજૂ કરી છે. "ઇહ ચ પ્રાયઃ સૂત્રાદર્શેષુ નાનાવિધાનિ સૂત્રાણિ દૃશ્યન્તે, ન ચ ટીકાસંવાદી એકોઽપ્યાદર્શઃ સમુપલબ્ધઃ, અતઃ એકમાદર્શમઙ્ગીકૃત્યાસ્માભિર્વિવરણં ક્રિયતે ઇતિ, એતદવગમ્ય સૂત્રવિસંવાદદર્શનાચ્ચિત્તવ્યામોહો ન વિધેય ઇતિ ।" (પત્ર ૩૩૬-૧)
- નવાંગી ટીકાકાર અભયદેવસૂરિજીએ પણ... "વાચનાનામનેકત્વાન્ પુસ્તકાનામશુદ્ધિતઃ..." વગેરે શબ્દોમાં ઉપલબ્ધ આદર્શોની સ્થિતિ દર્શાવી છે.
 - ચૂર્ણિસમ્મત પાઠથી ટીકાકાર સમ્મત પાઠોમાં ઘણાં સ્થલે તફાવત આવે છે. પહેલાં કરતાં બીજા શ્રુતસ્કંધમાં વધુ તફાવતો જોવા મળે છે. બીજા શ્રુતસ્કંધની ચૂર્ણિ અપેક્ષાએ બહુ સંક્ષિપ્ત પણ છે.
 - નિર્યુક્તિઃ શ્રુતકેવલી આ. ભદ્રબાહુસ્વામિએ નિર્યુક્તિની રચના કરી છે. સૂત્રકૃતાંગ નિર્યુક્તિમાં ૨૦૫ ગાથાઓ છે. આમાં તે તે પદના નિષ્કેષ, ઉદ્દેશ અધ્યયનનો સાર અપાયો છે.
 - ચૂર્ણિઃ સૂત્રકૃતાંગચૂર્ણિ આગમોદ્ધારક સાગરજી મ. સંપાદિત થઈ ઋષભદેવ કેશરીમલ રતલામ દ્વારા પ્રસિદ્ધ થયેલી. આ. પ્ર. પુણ્યવિજયજી સંપાદિત સંશોધિત આ ચૂર્ણિનો પ્રથમ ભાગ પ્રાકૃત ટેલ સોસાયટી દ્વારા પ્રકાશિત થયો છે. બીજા ભાગના પ્રકાશન માટે પણ પ્રયત્નો ચાલુ થઈ ગયાના સમાચાર મળ્યા છે.
 - આચારાંગ અને સૂત્રકૃતાંગસૂત્ર ઉપર શીલાંકાચાર્યજીની રચેલી ટીકા મળે છે. આગમપ્રજ્ઞ જંબુવિજય મ.સા. લખે છે કે- "આના કર્તા શીલાચાર્ય છે. અત્યારે તેમનું શીલાંકાચાર્ય નામ પ્રસિદ્ધ છે, છતાં એ પોતે જ પોતાનો શીલાચાર્ય નામે ઉલ્લેખ કરે છે એટલે અમે પણ શીલાચાર્ય નામનો ઉલ્લેખ કરીએ છીએ. વિક્રમના દશમા શતકમાં આની રચના થઈ હશે." (સૂયગડાંગસુત્રની પ્રસ્તાવના પૃ. ૩૬)
 - શ્રી હર્ષકુલગણિએ વિ. સં. ૧૫૮૩ માં રચેલી સૂત્રકૃતાંગ દીપિકાનું પ્રકાશન શ્રીમશી માણેક કર્યું હતું.
 - શ્રી સાધુરંગે વિ. સં. ૧૫૯૯ માં રચેલી સૂત્રકૃતાંગ દીપિકાનું પ્રકાશન દેવચંદ લાલભાઈ પ્ર. ફંડ સૂરતથી થઈ છે.
 - આ. પાર્શ્વચંદ્રસૂરિએ સૂત્રકૃતાંગ બાલાવબોધ મારુ ગૂર્જર ભાષામાં કર્યો છે.
 - હર્મન જેકોબીએ અંગ્રેજીમાં ડૉ. શુબ્રીંગે જર્મન ભાષામાં અનુવાદ કર્યો છે.
 - હિંદી ભાષામાં પ્રથમ શ્રુતસ્કંધ ટીકા સાથે અને બીજા શ્રુતસ્કંધના મૂળ સૂત્ર માત્રનો હિંદી અનુવાદ અંબિકા દત્ત ઓજાએ કરેલો. મહવીર જૈન જ્ઞાનોદય સોસાયટી રાજકોટ દ્વારા વિ. સં. ૧૯૯૩-૯૫ માં પ્રકટ થયેલ. અહીં અંબિકા પ્રસાદના અનુવાદ સાથે સૂત્રકૃતાંગ પ્રથમ શ્રુતસ્કંધ સટીક પુનઃ પ્રકાશિત થઈ રહ્યો છે.
 - સૂત્રકૃતાંગ મૂળસૂત્ર અને શીલાંકાચાર્ય કૃત ટીકાના સંશોધન માટે વિદ્વદ્વર્ય મુનિરાજશ્રી જયાનંદવિજયજી

મહારાજા મહાવીર વિદ્યાલય પ્રકાશિત સૂયગડાંગ અને આગમ પ્રભાકર મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી મહારાજા નોંધાવેલા પાઠ ભેદવાળી પ્રતનો ઉપયોગ કર્યો છે.

● ટીકાકાર શીલાંકાચાર્ય (શીલાચાર્ય)ના સમય વિષે આગમપ્રજ્ઞ મુનિશ્રી જંબુવિજયજી મ.સા. આચારાંગસૂત્રની પ્રસ્તાવના પૃ. ૪૯માં જણાવે છે કે- “આની રચના શક સંવત ૭૮૪ (બીજા ઉલ્લેખ પ્રમાણે ૭૯૮ શક સંવત) માં અર્થાત વિક્રમ સંવત ૯૧૮ (બીજા ઉલ્લેખ પ્રમાણે ૯૩૨) માં થઈ છે. એમ તેમના જ ઉલ્લેખ ઉપરથી જણાય છે. બીજી કેટલીક પ્રતિઓમાં મળતા ઉલ્લેખ પ્રમાણે પ્રથમ શ્રુતસ્કંધની વૃત્તિની રચના ગુપ્ત સંવત ૭૭૨ અને બીજા શ્રુત સ્કંધની વૃત્તિની રચના શક સંવત ૭૯૮ માં થયેલી છે. આ ગુપ્ત સંવત જો શક સંવત જ હોય તો પ્ર૦ શ્રુ૦ ની વૃત્તિની રચના શક સંવત ૭૭૨ (વિક્રમ સંવત ૯૦૬) માં થયેલી છે. આનું ૧૨૦૦૦ શ્લોક જેટલું પ્રમાણ ગણાય છે.”

● શ્રી શીલાંકાચાર્યનું જીવન-કવન કંઈ મળતું નથી. પ્રભાવક ચરિત્ર મુજબ તેઓ નવ અંગગ્રંથો ઉપર ટીકા રચી હતી. જો કે અત્યારે અચારાંગ અને સૂયગડાંગ ઉપર જ મળે છે.

વિદ્વદ્વર્ય મુનિરાજશ્રી જયાનંદવિજયજી મહારાજ દ્વારા સંપાદિત થઈ સટીક-સાનુવાદ સુત્રકૃતાંગસૂત્ર પ્રગટ થાય છે તેથી હિન્દી ભાષી લોકોને આ ગ્રંથ સમજવામાં વિશેષ અનુકૂળતા રહેશે.

અધિકારી વિદ્વાનો આ ગ્રંથના પરિશીલન દ્વારા સ્વ-પર દર્શનની જાણકારી મેળવે, વૈરાગ્યભાવ કેળવે અને સ્વ-પરની સિદ્ધિને નજીક લાવે એજ અભિલાષા...

આ.શ્રી. ઐકારસૂરીશ્વરજીના સુશિષ્ય

પૂ. મુ. શ્રી જિનચંદ્રવિજયજીના સુશિષ્યરત્ન

આ. શ્રી મુનિચંદ્રસૂરીશ્વરજી - ભીલડી તીર્થ.



प्रस्तावना

अनादि काल से इस धरातल पर यह शाश्वत प्रवाह चला आ रहा है कि जब तीर्थंकर प्रभु गणधर भगवन्तों को त्रिपदी प्रदान करते हैं तब अन्तर्मुहूर्तमात्र में द्वादशांगी की रचना कर देते हैं। उनमें सर्व प्रथम आचाराङ्ग की रचना होती है। आचार समस्त भावों का मूलाधार है। ज्ञानप्राप्ति भी आचार की ज्ञप्ति, पालन एवं शुद्धि के लिए होती है। बिना आचार का ज्ञान अजागलस्तन के समान निरर्थक है। आचाराङ्ग के पश्चात् द्वितीय अंग की रचना होती है, जिसका नाम है सूयगडांग। सूयगडांग की तीन परिभाषाएँ निर्युक्तिकार-टीकाकार ने की हैं -

(१) सूतकृतम् : सूतम् उत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृदध्यस्ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैः : तीर्थंकरों से अर्थ रूप में उत्पन्न होने से एवं गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में उत्पन्न होने के कारण सूतकृत कहा जाता है।

(२) सूत्रकृतम् : सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियते यस्मिन्सूत्र के अनुसार जिससे तत्त्व का अवबोध किया जाता है।

(३) सूचाकृतम् : स्वपरसमयार्थसूचनं = सूचा सा अस्मिन् कृता-स्वपर समय के अर्थ को कहना उसे सूचा कहते हैं। वह सूचा जिसमें दर्शायी गयी है, वह सूचाकृतम्।

दीक्षा के पश्चात् आचाराङ्ग सूत्र को आत्मसात् कर संयमी संयम के आचारों का ज्ञाता एवं उसके पालन में दक्षता प्राप्त करता है। वह निरंतर आचार-शुद्धि के लिए एवं दोषों से बचने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार अहर्निश प्रयत्न से वह आचारों के विषय में स्थिरता प्राप्त कर लेता है। उसका जीवन आचारमय बन जाता है। इस प्रकार के आचारयुक्त साधु के जीवन में भी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जिससे संयम-च्युत होने की संभावना उसके समक्ष उपस्थित होती है। जैसे परतीर्थिकों से श्रद्धा-नाश, स्त्रियों से चारित्र-नाश उपद्रवों से सत्त्व-नाश या जीवन-नाश जैसी कठिनतम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे महाप्रभावशाली साधक के लिए भी उनसे पार पाना सुदुष्कर बन जाता है। उसका समस्त संयम-जीवन भी डोलायमान बन जाता है। उसकी मानसिक स्थिरता अत्यन्त चलित हो जाती है। तब उसके जीवन की इस दयनीय वेला में, जैसे अंधकार में दीपक प्रकाशक बनता है, वैसे ही यह सूयगडांग ग्रन्थ मेदिनी के समान आधारभूत बनकर संयम-पतित होने से बचाता है। आचाराङ्ग चरणकरणानुयोग का विषय है और सूयगडांग द्रव्यानुयोग का विषय है। इन दोनों के सुमिलाप से उस योगी की नैया भव समुद्र से पार लग जाती है। प्राप्त श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र का शुद्धिकारक एवं वृद्धिकारक यह ग्रन्थ है। स्वपरसमयवक्तव्यता, स्त्री-अधिकार, नरक-विभक्ति जैसे अध्ययन इसके अत्यन्त मननीय है। संयम जीवन के लिए अत्यन्त उपकारी होने से सबके लिए यह ग्रन्थ उपादेय बन जाता है। इसलिए योग्य को इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन अवश्य करना-कराना चाहिए।

लब्धिधारी गणधर भगवन्त के मुख रूपी द्रह से यह सूयगडांग रूपी पावन गंगा उद्भूत हुई है। सर्वाक्षर सन्निपाती चतुर्दर्शपूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने इस पर निर्युक्ति रचकर इसे और सुमधुर बनाया है एवं शीलांकाचार्यजी ने इस पर वृत्ति का निर्माण कर मानो उस मधुर पेय का पात्र भरकर हमारे समक्ष रख दिया है। अब हमारा यह कर्तव्य बनता है कि इसका पान कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाए तो ही हमने इन पूर्व पुरुषों के इस पुरुषार्थ को सफल बनाया है ऐसा माना जाएगा। वरना उल्लू जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से वंचित रहता है, उसी तरह हम भी इस आगम रूपी सूर्य-प्रकाश से ज्ञेय पदार्थ के ज्ञान के अभाव के कारण अपने महामूल्य तत्त्वज्ञान से वंचित रह जाएँगे। तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष मार्ग में अग्रेसरता अशक्य है। अतः ज्ञान-दीप हृदय-घट में प्रकट करने के लिए इस ग्रन्थ का परिशीलन करे।

इस ग्रन्थ के संशोधन में उदारमना शास्त्रसंशोधनरत आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरिजी ने अपना अमूल्य समय देकर सहायता प्रदान की है। उनके द्वारा इस ग्रन्थ विषयक उपयोगी सामग्री उपलब्ध करवाकर एवं समय-समय पर

योग्य मार्गदर्शन देकर हमे अनुगृहीत किया हैं ।

वैसे तो आगम के भाषानुवाद नहीं होने चाहिए, कारण कि आगम- रहस्य गुरुगम्य हैं । किन्तु वर्तमानकालीन परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कि जो दूर प्रदेशों में विचरण कर रहे हैं, जिनको अध्ययन का योग नहीं मिल रहा है, वे भी इस ग्रन्थ के अध्ययन से वंचित न रहे, तथा यह अनुवाद वर्षों पूर्व छपा था इस ग्रन्थ की एक बार पुनरावृत्ति की आवश्यकता थी जिससे सुरक्षित रह सके, इसलिए इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया । फिर भी पाठकों से अनुरोध है कि गुरु-आज्ञा पूर्वक ही इसका अध्ययन करें ।

इस ग्रन्थ के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अनुवाद ही उपलब्ध था । भाषांतरकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध के टीका का अनुवाद नहीं किया । अतः केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का अनुवाद ही प्रकट हो रहा है । जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा हो तो मिच्छा मि दुक्कडं ।

जयानन्द

भीलडीयाजी तीर्थ,

चैत्री पूर्णिमा २०७०



अहम्

श्रीमद्गणधरवरश्रीसुधर्मस्वामिनिर्मितम्

श्रीशीलाङ्काचार्यकृत टीका और भाषानुवादसहित

श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रस्तावना

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्त¹गमपर्य्यार्थगुणकलितम्। सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनात्रमस्कृत्य ॥१॥

व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमूर्ख्यैर्भक्त्या तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये ।

किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्पक् तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गन्तुम् ? ॥२॥⁵

ये मय्यवज्ञां व्यथुरिद्धबोधाः जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य ।

मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥३॥⁶

⁷इहापसदसंसारान्तर्गतिनासुमताऽवाप्यातिदुर्लभं मनुजत्वं, सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनार्हद्दर्शने, ऽशेषकर्मो-
च्छित्तये यतितव्यम् । कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षः । असावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति । आसश्चात्यन्तिकादोषक्षयात् ।
स चाहन्नेव, अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः । आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः । सोऽप्यार्य्यरक्षितमिश्रैरेदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या
चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः । तत्र चाचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम् ।
अधुनाऽवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यत इति ।

ननु चार्थस्य शासनाच्छास्त्रमिदम् । शास्त्रस्य चाशेषप्रत्युहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं,
शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थं चान्त्यमङ्गलमुपादेयं तच्चेह नोपलभ्यते ? सत्यमेतत्, मङ्गलं हीष्टदेवतानमस्कारादिरूपम्, अस्य
च प्रणेता सर्वज्ञस्तस्य चापरनमस्कार्य्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानम्, गणधराणामपि तीर्थकृदुक्तानु-
वादित्वान्मङ्गलाकरणम्, अस्मदाद्यपेक्षया⁸ तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम् ।

अथवा निर्युक्तिकार एवात्र भावमङ्गलमभिधातुकाम आह -

तित्थपरे य जिणवरे सुत्तकरे गणहरे य णमिऊणं । सूयगडस्स भगवओ णिज्जुत्तिं कित्तिइस्सामि ॥१॥⁹नि०

गाथापूर्वाद्धेनेह भावमङ्गलमभिहितं पश्चाद्धेन तु प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादित्रयमिति । तदुक्तम्-

“उक्तार्थं” ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादौ तेन यक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥१॥

तत्र सूत्रकृतस्येत्यभिधेयपदं “निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्य¹⁰” इति प्रयोजनपदम् । प्रयोजनप्रयोजनं तु मोक्षावाप्तिः ।
सम्बन्धस्तु प्रयोजनपदानुमेय इति पृथङ्नोक्तः । तदुक्तं-

“शास्त्रं प्रयोजनञ्चेति, सम्बन्धस्याश्रयाद्युभौ । तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्माद्विज्ञो नोक्तः प्रयोजनात्” ॥१॥

इति समुदायार्थः । अधुनाऽवयवार्थः कथ्यते । तत्र तीर्थं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा । तत्राऽपि द्रव्यतीर्थं नद्यादेः

¹¹समुत्तरणमार्गः, भावतीर्थं तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, संसारार्णवाद्दुत्तारकत्वात् । तदाधारो वा सङ्घः प्रथमगणधरो
वा तत्करणशीलास्तीर्थङ्करास्तान्त्रत्वेति क्रिया । तत्राऽन्येषामपि तीर्थकरत्वसंभवे तद्रव्यवच्छेदार्थमाह ‘जिनवरान्’ इति ।
रागद्वेषमोहजितो जिना, एवंभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति तद्रव्यवच्छेदार्थमाह वराः प्रधानाश्चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन,

1. सदृशपाठाः । 2. शब्दपर्यायाः । 3. अभिधेयगुणाः । 4. पक्षिराजगतमप्यवगम्येति प्र. । 5. त्भौ जौ गौ वसन्ततिलका (छन्दोऽनुशासने अ.२ सू.२३१)

6. तौ जौ गाविन्द्रवज्रा (छन्दो-२-१५४) 7. इहापारसंसारेति प्र. । 8. श्रोतारः । 9. उक्तप्रयोजनं । 10. चान्द्रमतेन णिजन्तात्कर्त्तर्यात्मनेपदभावात्
परस्मैपदित्वादसाधुः प्रयोगोऽयमिति शङ्क्यम् । स्वपरसमयसूचनार्थत्वात्सूत्र-कृतशब्दस्य नाभिधेयत्वेऽस्य क्षतिः, स्वकृत्यपेक्षया निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्य इति
प्रयोजनोक्तिः ॥ 11. सम समुत्तरणमार्गः प्र. ।

तात्रत्वेति । एतेषां च नमस्कारकरणमागमार्थोपदेष्टृत्वेनोपकारित्वात् । विशिष्टविशेषणोपादानं च शास्त्रस्य गौरवाधानार्थम् । शास्तुः प्राधान्येन हि शास्त्रस्याऽपि प्राधान्यं भवतीति भावः । अर्थस्य सूचनात्सूत्रं, तत्करणशीलाः सूत्रकराः, ते च स्वयंबुद्धादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-गणधरास्ताँश्च नत्वेति । सामान्याचार्याणां गणधरत्वेऽपि तीर्थकर-नमस्कारानंतरोपादानाद्रौतमादय एवेह विवक्षिताः । प्रथमश्चकारः सिद्धाद्युपलक्षणार्थो द्वितीयः समुच्चितौ क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात्तामाह स्वपरसमयसूचनं कृतमनेनेति सूत्रकृतस्तस्य, महार्थक्त्वाद्गवाँस्तस्य । अनेन च सर्वज्ञप्रणीतत्वमावेदितं भवति । “निर्युक्तिं कीर्तयिष्य” इति योजनं युक्तिः-अर्थघटना, निश्चयेनाधिक्येन वा युक्तिर्निर्युक्तिः सम्यगर्थ-प्रकटनमिति यावत्, निर्युक्तानां वा-सूत्रेष्वेव परस्परसंबद्धानामर्थानामाविर्भावनं युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, तां ‘कीर्तयिष्यामि’ अभिधास्य इति ।

इह सूत्रकृतस्य निर्युक्तिं कीर्तयिष्य इत्यनेनोपक्रमद्वारमुपक्षिप्तं तच्च ‘इहापसदे’ त्यादिनेषदभिहितमिति । तदनन्तरं निक्षेपः स च त्रिविधः तद्यथा, ओघनिष्पन्नो, नामनिष्पन्नः, सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति । तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽङ्गं, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे सूत्रकृतमिति ॥१॥नि०॥

मैं जिनवरों को नमस्कार करके स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त को बतानेवाले, अनन्त भङ्ग, अनन्त पर्याय तथा अर्थगुणों से सुशोभित अनुपम इस सूत्रकृताङ्गसूत्र की व्याख्या करता हूँ ॥१॥

यद्यपि उत्तम विद्वानों ने इस सूत्रकृताङ्गसूत्र की व्याख्या की है तथापि भक्ति के कारण मैं भी इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा । इस मार्ग से गरुड़ गये हैं, यह जानकर क्या पतंग उससे जाना नहीं चाहता है? ॥२॥

उत्तम बोधवाले जो पुरुष मेरा तिरस्कार करते हैं, वे विलक्षण अर्थ जानते हैं, अतः उन्हें छोड़कर, जो मेरे से भी मंदमति हैं और अर्थ को जानना चाहते हैं, उन पर उपकार करने के लिए यह मेरा प्रयत्न है ॥३॥

इस दुःखमय संसार में निवास करनेवाले, उत्तम कुल में उत्पन्न तथा सब इन्द्रियों से पूर्णता आदि सामग्री से युक्त पुरुष को, अति दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर समस्त कर्मों का विनाश करने के लिए आर्हत् दर्शन में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए । कर्म का विनाश, सम्यग् विवेक से होता है परन्तु वह सम्यग् विवेक आप पुरुष के उपदेश के बिना नहीं होता है। आप पुरुष वही हैं, जिसके दोष अत्यन्त नष्ट हो गये हैं । आप पुरुष अरिहंत देव ही हैं, अतः उनके कहे हुए आगम को जानने का प्रयत्न करना चाहिए । आगम, द्वादश अङ्गस्वरूप है । परन्तु आर्यरक्षित आचार्यश्री ने आज कल के पुरुषों के उपकार के लिए उसे चरणकरणानुयोग¹, द्रव्यानुयोग², धर्मकथानुयोग³ और गणितानुयोग⁴ रूप चार भेदों में विभक्त किया है । इनमें आचाराङ्ग सूत्र चरणकरणप्रधान है, उसकी व्याख्या की जा चुकी है। अब द्रव्यप्रधान इस द्वितीय अङ्ग सूत्रकृताङ्ग की व्याख्या का अवसर है, इसलिए इसकी व्याख्या प्रारंभ की जाती है।

(शङ्का) पदार्थ की शिक्षा देने के कारण यह सूत्रकृताङ्ग, शास्त्र कहलाता है । शास्त्र के समस्त विघ्नों की शांति के लिए आदिमङ्गल, तथा स्थिर परिचय के लिए मध्यमङ्गल और शिष्य प्रशिष्य की परंपरा के अविच्छेद के लिए अन्त्य मङ्गल करना चाहिए । परन्तु वह यहाँ नहीं पाया जाता है ।

(समाधान) यह सत्य है । इष्ट देवता को नमस्कार आदि करना मङ्गल है परन्तु इस शास्त्र के रचयिता सर्वज्ञ पुरुष हैं । उन सर्वज्ञ पुरुष को नमस्कार करने योग कोई दूसरा पुरुष नहीं है और उनको मङ्गल करने का कोई

1. जिनेत्यनुक्त्वा जिनवरानिति वरत्वयुक्तजिनेत्युपादानं । 2. सूत्र को पढ़कर उसका अर्थ बताना अथवा संक्षिप्त सूत्र का विस्तृत अर्थ के साथ संबंध करना ‘अनुयोग’ कहलाता है । प्राणी, जिसके आचरण से संसार सागर को पार करता है, उसे ‘चरण’ कहते हैं, वे अहिंसा आदि पांच महाव्रत हैं । तथा जिसके आचरण से अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की पुष्टि होती है, उसे ‘करण’ कहते हैं । वे उत्तर गुण हैं । उक्त अहिंसा आदि मूलगुण तथा उत्तरगुणों को बताना चरणकरणानुयोग कहलाता है। जैसे आचाराङ्ग आदि सूत्र हैं । 3. (द्रव्यानुयोग) जिस में जीव और अजीव आदि द्रव्यों की व्याख्या की गयी है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं, जैसे सूत्रकृताङ्ग आदि । 4. प्राणी को दुर्गति में गिरने से जो बचाता है, उसे धर्म कहते हैं, उस धर्म की जिसमें व्याख्या की गयी है, उसे धर्मकथानुयोग कहते हैं । जैसे ज्ञाता-धर्मकथा आदि । 5. जिसमें गणित यानी संख्या का वर्णन है, उसे ‘गणितानुयोग’ कहते हैं । जैसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि ।

प्रयोजन भी नहीं है, इसलिए इस शास्त्र में मङ्गल का कथन नहीं है। गणधरों ने भी तीर्थंकर के कथन का अनुवादमात्र किया है, इसलिए उन्होंने भी मङ्गल नहीं किया। हम लोगों के लिए तो यह सम्पूर्ण शास्त्र ही मङ्गल है। (अतः यहाँ मङ्गल की पृथक् आवश्यकता नहीं है)

अथवा निर्युक्तिकार ही यहाँ भाव मङ्गल बताने के लिए कहते हैं। इस गाथा के पूर्वार्ध द्वारा भावमङ्गल कहा गया है और उत्तरार्ध द्वारा, विचार पूर्वक कार्य करनेवाले पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए प्रयोजन आदि तीन पदार्थ कहे गये हैं। कहा है कि- 'उक्तार्थम्' अर्थात् जिसका प्रयोजन कहा हुआ और सम्बन्ध जाना हुआ होता है, उस शास्त्र को सुनने के लिए श्रोता की प्रवृत्ति होती है, अतः शास्त्र के आदि में प्रयोजन के सहित सम्बन्ध बताना चाहिए। यहाँ "सूत्रकृतस्य" यह पद इस शास्त्र के विषय को बताता है और "निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये" यह प्रयोजन का बोधक वाक्य है। प्रयोजन का प्रयोजन तो मोक्ष की प्राप्ति है। सम्बन्ध तो प्रयोजन द्वारा जाना जाता है, इसलिए उसे अलग नहीं कहा है। कहा है कि "शास्त्रं प्रयोजनम्" इत्यादि। अर्थात् शास्त्र और प्रयोजन ये दोनों ही सम्बन्ध के आधीन होते हैं, अतः प्रयोजन कथन के अंतर्गत होने से सम्बन्ध पृथक् नहीं कहा गया।

यह समुदाय का अर्थ हुआ, अब गाथा का अवयवार्थ कहा जाता है। द्रव्य और भाव भेद से तीर्थ दो प्रकार का होता है। नदी आदि से पार करने का जो मार्ग है, उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, भावतीर्थ हैं क्योंकि संसार सागर से ये ही पार कराते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के आधारभूत संघ को अथवा प्रथम गणधर को भावतीर्थ कहते हैं। उस भावतीर्थ को जन्म देनेवाले तीर्थंकर को मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ 'नत्वा' यह क्रिया है। तीर्थंकर, दूसरे भी हो सकते हैं अतः उनकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि 'जिनवरानिति'। राग, द्वेष और मोह पर विजय करनेवाले पुरुष 'जिन' कहलाते हैं (उन्हें नमस्कार करना अभीष्ट है) सामान्य केवली भी राग, द्वेष और मोह पर विजय किये हुए होते हैं, अतः उनकी निवृत्ति के लिए 'वरान्' यह विशेषण दिया है। जो चौतीस अतिशयों को धारण करनेवाले, सबसे प्रधान हैं, उनको नमस्कार करना यहाँ अभीष्ट है। शास्त्र के अर्थ का उपदेशक होने के कारण ये उपकारी हैं, इसलिए इनको नमस्कार किया गया है।

यहाँ 'वर' यह विशिष्ट विशेषण का ग्रहण, शास्त्र का गौरव बढ़ाने के लिए है, क्योंकि शास्त्र बनानेवाले की प्रधानता से शास्त्र की भी प्रधानता होती है। अर्थ को सूचित करने के कारण 'सूत्र' कहा जाता है, उसे जो करता है, उसे 'सूत्रकर' कहते हैं। सूत्रकर, स्वयंबुद्ध आदि भी हो सकते हैं, अतः उनकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि "गणधरास्तात्रत्वेति" अर्थात् सूत्र बनानेवाले गणधरों को मैं नमस्कार करता हूँ। यद्यपि सामान्य आचार्यश्री भी गणधर कहलाते हैं तथापि तीर्थंकर के नमस्कार के पश्चात् गणधर के ग्रहण से यहाँ गौतम आदि गणधर ही विवक्षित हैं, दूसरे नहीं। प्रथम चकार सिद्ध आदि का उपलक्षण है और दूसरा समुच्चयार्थक है। क्त्वा प्रत्यय दूसरी क्रिया की अपेक्षा रखता है, इसलिए दूसरी क्रिया बताते हैं- जो अपने तथा दूसरों के सिद्धान्तों की सूचना करता है, उसे 'सूत्रकृत' कहते हैं। वह सूत्रकृत, महान् अर्थ का बोधक होने के कारण भगवान् है, उसकी (निर्युक्ति में करता हूँ।) यहाँ सूत्रकृत को भगवान् कहने से सर्वज्ञ द्वारा उसका कथन होना बताया जाता है। (निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये इति) योजन करना युक्ति कहलाता है। अर्थ की घटना यानी योजना को युक्ति कहते हैं। निश्चय पूर्वक अथवा आधिक्य से अर्थ की योजना अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्थ को प्रकट करना 'निर्युक्ति' कहलाता है। अथवा सूत्रों में ही परस्पर संबंध रखनेवाले अर्थों को प्रकट करना निर्युक्ति है। "निर्युक्तानां युक्तिः" यह विग्रह करके युक्त शब्द के लोप होने से 'निर्युक्ति' पद की सिद्धि समझनी चाहिए। उस निर्युक्ति को मैं कहूँगा (यह प्रतिज्ञा है) यहाँ निर्युक्तिकार ने "निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये" मैं निर्युक्ति को कहूँगा, इस प्रतिज्ञा के द्वारा उपक्रम (उत्थानिका) की सूचना दी है। वह उपक्रम "इहापसद" इत्यादि प्रथम वाक्य के द्वारा कुछ बता दिया गया है। इसके पश्चात्

निक्षेप बताया जाता है। निक्षेप¹ तीन प्रकार का है। जैसे कि- ओघनिष्पन्न², नामनिष्पन्न³, सूत्रालापकनिष्पन्न⁴। ओघनिष्पन्ननिक्षेप में यह समस्त अंग है। नामनिष्पन्न निक्षेप में इस शास्त्र का सूत्रकृत यह नाम है ॥१॥नि०॥



तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येत्यतः पर्यायप्रदर्शनार्थं निर्युक्तिकृदाह-

सूयगडं अंगाणं बितियं तस्स य इमाणि नामाणि । सूतगडं सुतकडं ⁵सूयगडं चेव गोण्णाइं ॥२॥ नि०
सूत्रकृतमित्येतदङ्गानां द्वितीयं तस्य चामून्येकार्थिकानि-तद्यथा-सूतम् उत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्ध्यस्ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति । तथा सूत्रकृतमिति ⁶सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति, तथा सूचाकृतमिति, स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन् कृतेति, एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति ॥२॥नि०॥

स्वरूप, भेद और पर्याय के द्वारा वस्तु की व्याख्या की जाती है। अतः निर्युक्तिकार सूत्रकृत के पर्यायों को बताने के लिए कहते हैं कि “सूयगडं” इत्यादि।

‘सूत्रकृताङ्ग’ सूत्र अङ्गों में दूसरा है। इसके एकार्थक नाम ये हैं। जैसे कि- जो, तीर्थकरों के द्वारा अर्थ रूप में उत्पन्न होकर गणधरों के द्वारा ग्रन्थ रूप में रचा गया है, उसे ‘सूत्रकृत’ कहते हैं। (यह इसका पहला नाम है)। सूत्र के अनुसार जिसमें तत्त्व अर्थ का बोध किया जाता है। उसे ‘सूत्रकृत’ कहते हैं। (यह इसका दूसरा नाम है।) अपने तथा दूसरों के सिद्धान्तों को सूचित करना ‘सूचा’ कहलाता है। वह इस शास्त्र में किया गया है, इसलिए इसका नाम ‘सूचाकृत’ है। ये तीन इसके गुणनिष्पन्न नाम हैं ॥२॥नि०॥



साम्प्रतं सूत्रकृतपदयोर्निक्षेपार्थमाह-

दव्वं तु पोण्डयादी भावे सूतमिह सूयगं नाणं । सण्णासंगहवित्ते जातिणिबद्धे य कत्थादी ॥३॥ नि०
नामस्थापनेऽनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति ‘पोण्डयाइ’ति । पोण्डगं च वनीफलादुत्पन्नं कार्पासिकम् । आदि ग्रहणादण्डजवालजादेर्ग्रहणम् । भावसूत्रं तु, इह’ अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वादिति । तच्च श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्धा भवति, तद्यथा संज्ञासूत्रं, संग्रहसूत्रं, वृत्तनिबद्धं, जातिनिबद्धं च । तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकं निबद्धं, तद्यथा “⁷जे छेए सागारियं न सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए” इत्यादि । तथा लोकेऽपि पुद्गलाः संस्कारः क्षेत्रज्ञा इत्यादि⁸ । संग्रहसूत्रं तु यत्प्रभूतार्थसंग्राहकं, तद्यथा द्रव्यमित्याकारिते समस्तधर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति । यदि वा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति । वृत्तनिबद्धसूत्रं पुनर्यदनेकप्रकारया वृत्तजात्या निबद्धं तद्यथा “⁹बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जे”, त्यादि¹⁰ । जातिनिबद्धं तु चतुर्धा । तद्यथा- कथनीयं कथ्यमुत्त- राध्ययनज्ञाताधर्मकथादि । पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य । तथा गद्यं ब्रह्मचर्याध्ययनादि, तथा पद्यं छन्दोनिबद्धम्, तथा गेयं यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिबद्धं, तद्यथा-कापिलीयमध्ययनम् । “अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए”¹¹ इत्यादि ॥३॥नि०॥

1. नाम आदि के द्वारा शास्त्र की व्याख्या करना ‘निक्षेप’ कहलाता है।

2. सामान्य को ‘ओघ’ कहते हैं। वह अध्ययन आदि है। उस अध्ययन आदि से जो निष्पन्न है, उसे ओघनिष्पन्न कहते हैं। यह समस्त अंग, ओघनिष्पन्न है, क्योंकि अनेक अध्ययनों के द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई है।

3. गुणानुसारी नाम के द्वारा जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसे नामनिष्पन्न कहते हैं। जैसे इस शास्त्र का गुणानुसारी नाम ‘सूत्रकृत’ है।

4. सूत्रों के उच्चारणविधि को सूत्रालापक कहते हैं, उससे जो निष्पन्न है, उसे सूत्रालापकनिष्पन्न कहते हैं।

5. सूयगडमिति वाच्ये दीर्घह्रस्वाविति बन्धानुलोमेन ह्रस्वता, तथा च न पर्यायैक्यं । 6. भावसूत्रेण सूत्रानुसारेण निर्वाणपथो गम्यते चूर्णि । 7. यश्चेकः स सागारिकं (मैथुनं) न सेवेत, सर्वमामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत् (आमं विशोधि गन्धमविशोधि) । 8. उभए जं ससमए परसमए य चू ।

9. बुध्येतेति त्रोटयेत । 10. वित्तबद्धं सिलोगादिबद्धं वा चू । 11. अधुवेऽशाधते दुःखप्रचुरतायाम् (दुःख प्रचुरे) ।

अब निर्युक्तिकार सूत्र और कृत पद का निक्षेप बताने के लिए कहते हैं । निर्युक्तिकार नाम और स्थापना को छोड़कर “पोण्डयाइ” इत्यादि गाथा के द्वारा द्रव्य सूत्र बतलाते हैं । कपास तथा आदि शब्द से अंडा और बाल से उत्पन्न सूत को ‘द्रव्यसूत्र’ कहते हैं । भाव सूत्र तो इस अधिकार में सूचना करनेवाला ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान है क्योंकि वही स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त रूप अर्थ को सूचित करता है । वह श्रुतज्ञान सूत्र चार प्रकार का है। जैसे कि- (१) संज्ञासूत्र, (२) संग्रहसूत्र, (३) वृत्तिनिबद्धसूत्र और (४) जातिनिबद्धसूत्र । जो सूत्र अपने किये संकेत के अनुसार रचा गया है, वह ‘संज्ञासूत्र’ है । जैसे- “जे छेए” इत्यादि सूत्र संज्ञा सूत्र है । (इसका अर्थ यह है कि चतुर पुरुष मैथुन सेवन न करे तथा संब दोषों को जानकर और उन्हें छोड़कर विचरे । यहाँ ‘सागारिक’ तथा ‘आमगंध’ शब्द स्वशास्त्रसंकेतित हैं, अतः यह संज्ञासूत्र है।) इसी तरह लोक में भी पुद्गलाः, संस्कारः क्षेत्रज्ञाः” इत्यादि संज्ञासूत्र हैं । (यहाँ पुद्गल संस्कार और क्षेत्रज्ञपद संकेतित हैं) जो सूत्र बहुत अर्थों को संग्रह करता है उसे संग्रहसूत्र कहते हैं । जैसे द्रव्य कहने से धर्म-अधर्म आदि समस्त द्रव्यों का संग्रह होता है । अथवा उत्पत्ति, विनाश और नित्यता से युक्त पदार्थ सत् है । (यहाँ सत् शब्द से सभी द्रव्यों का संग्रह होता है, इसलिए उक्त सूत्र संग्रह सूत्र है ।)

जो सूत्र अनेक प्रकार के छन्दों में रचा गया है, वह ‘वृत्तिनिबद्ध’ सूत्र है । जैसे- “बुद्धिज्जति तिउट्टिज्जा” इत्यादि सूत्र ‘वृत्तिनिबद्धसूत्र’ है । जातिनिबद्धसूत्र चार प्रकार का होता है जैसे कि ‘कथनीय’ । जिसमें किसी की कथा होती है, वह कथनीय सूत्र है । जैसे उत्तराध्ययन और ज्ञाताधर्मकथा इत्यादि । इन सूत्रों में प्रायः प्राचीन ऋषियों का चरित्र वर्णित हुआ है । तथा ब्रह्मचर्याध्ययन आदि (२) गद्यसूत्र हैं । छन्दोनिबद्धसूत्र, (३) पद्यसूत्र हैं । जो सूत्र स्वर मिलाकर गाया जाता है, उस गीतिकाप्राय सूत्र को ‘गेयसूत्र’ कहते हैं । जैसे कापिलीय अध्ययन इत्यादि। “अधुवे असासयंमि” इत्यादि सूत्र गेयसूत्र हैं ॥३॥नि०॥



इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह-

करणं च कारओ य कडं च तिण्हंपि छक्क निक्खेयो । दव्वे खित्ते काले भावेण उ कारओ जीयो॥४॥ नि०

इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं, न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुराक्षेपो धात्वर्थस्य च करणस्य, अमीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः । तत्र गाथापश्चार्धेनाल्पवक्तव्यत्वात्तावत्करणमतिक्रम्य कारकस्य निक्षेपमाह। तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादानादृत्य द्रव्यादिकं दर्शयति “दव्वे” इति । द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः स च द्रव्यस्य, द्रव्येण, द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः, तथा क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः, एवं कालेऽपि योज्यम्, ‘भावेन तु’ भावद्वारेण चिन्त्यमानो जीवोऽत्र कारको, यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः । एतच्च निर्युक्तिकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति “ठीई अणुभावे” इत्यादौ ॥४॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार कृतपद का निक्षेप बताने के लिए गाथा कहते हैं ।

“करणं च” इत्यादि गाथा में कृतपद के द्वारा कर्म का ग्रहण किया गया है । कर्ता के बिना कर्म नहीं होता है, इसलिए यहाँ कर्म से कर्ता और धात्वर्थकरण का आक्षेप होता है । कर्ता, कर्म और करण इन तीनों के प्रत्येक का नाम आदि छः निक्षेप होते हैं । कर्ता के निक्षेप में, करण की अपेक्षा अल्पवक्तव्य है, इसलिए करण को छोड़कर गाथा के उत्तरार्ध के द्वारा पहले कर्ता का निक्षेप बतलाते हैं । प्रसिद्ध होने के कारण नाम और स्थापना को छोड़कर कर्ता के द्रव्य आदि निक्षेप बताये जाते हैं । अब द्रव्य के विषय में कर्ता का विचार किया जाता है । जो द्रव्य का कर्ता है अथवा जो द्रव्य के द्वारा कर्ता है अथवा जो द्रव्य रूप कर्ता है, उसे ‘द्रव्यकारक’ कहते हैं । तथा भरत आदि क्षेत्र में जो कर्ता है अथवा जिस क्षेत्र में कर्ता की व्याख्या की जाती है, वह ‘क्षेत्रकारक’ कहलाता है । इसी तरह काल में भी कारक (कर्ता) की योजना कर लेनी चाहिए । भाव विषय में विचार करने पर भाव द्वारा जो कारक (कर्ता) है, वह ‘भावकारक’ है । भावकारक यहाँ जीव है, क्योंकि सूत्र के कारक यहाँ गणधर हैं । निर्युक्तिकार आगे चलकर “ठीई अणुभावे” इत्यादि गाथा के द्वारा यह बतलायेंगे ॥४॥नि०॥

साम्प्रतं करणव्याचिख्यासया नामस्थापने मुक्त्वा ¹द्रव्यादिकरणनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-

द्वयं पओगवीसस, पओगसा मूल उत्तरे चेव । उत्तरकरणं चंजण अत्थो उ उयक्खरो सच्चो ॥५॥ ति०

'द्रव्ये' द्रव्यविषये करणं चिन्त्यते, तद्यथा- द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यनिमित्तं वा करणम्-अनुष्ठानं द्रव्यकरणं, तत्पुनर्द्विधा-प्रयोगकरणं विस्त्रसाकरणं च, तत्र प्रयोगकरणं, पुरुषादिव्यापारनिष्पाद्यं, तदपि द्विविधम्-मूलकरणमुत्तरकरणं च, तत्रोत्तरकरणं गाथापश्चाद्धेन दर्शयति- उत्तरत्र करणमुत्तरकरणं कर्णवेधादि, यदि वा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्करेण दण्डचक्रादिनाऽभिव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं, कर्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः॥५॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार, करण की व्याख्या करने के लिए नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य आदि करण के निक्षेपार्थ कहते हैं कि-

अब द्रव्य के विषय में करण का विचार किया जाता है । द्रव्य का अथवा द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्य के निमित्त जो अनुष्ठान किया जाता है, उसे 'द्रव्यकरण' कहते हैं । वह दो प्रकार का है (१) प्रयोगकरण और (२) विस्त्रसाकरण । पुरुष आदि के व्यापार से जो उत्पन्न किया जाता है, उसे 'प्रयोगकरण' कहते हैं । वह भी दो प्रकार का है (१) मूलकरण और (२) उत्तरकरण । इनमें उत्तरकरण गाथा के उत्तरार्ध द्वारा बताया जाता है। जो उत्तरकाल में किया जाता है, उसे 'उत्तरकरण' कहते हैं । जैसे कर्णवेध आदि । अथवा मूलकरण घट आदि दण्डचक्र आदि, जिस सामग्री के द्वारा अपने स्वरूप में प्रकट किया जाता है उसे 'उत्तरकरण' कहते हैं । कर्ता के उपकारक सभी साधन 'उत्तरकरण' कहलाते हैं ॥५॥नि०॥



पुनरपि प्रपञ्चतो मूलोत्तरकरणे प्रतिपादयितुमाह-

मूलकरणं शरीराणि पंच तिसु ³कण्णखंधमादीयं । दब्धिंदियाणि परिणामियाणि विसओसहादीहिं ॥६॥ ति०

मूलकरणमौदारिकादीनि शरीराणि पञ्च, तत्र चौदारिकवैक्रियाहारकेषु त्रिषूत्तरकरणं कर्णस्कन्धादिकं विद्यते, तथाहि ⁵“सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू उरुया य अट्ठंग” ति । त्रयाणामप्येतन्निष्पत्तिर्मूलकरणम्, कर्णस्कन्धा-द्यङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिस्तूत्तरकरणं, कर्मणतैजसयोस्तु स्वरूपनिष्पत्तिरेव मूलकरणम्, अङ्गोपाङ्गाभावान्नोत्तरकरणम्। यदि वा औदारिकस्य कर्णवेधादिकमुत्तरकरणं, वैक्रियस्य तूत्तरकरणमुत्तरवैक्रियं, दन्तकेशादिनिष्पादनरूपं वा, आहारकस्य तु गमनाद्युत्तरकरणम्, यदि वौदारिकस्य मूलोत्तरकरणे गाथापश्चाद्धेन प्रकारान्तरेण दर्शयति-द्रव्येन्द्रियाणि, कलम्बुकापुष्पाद्याकृतीनि मूलकरणं, तेषामेव परिणामिनां विषौषधादिभिः पाटवाद्यापादनमुत्तरकरणमिति ॥६॥नि०॥

फिर भी निर्युक्तिकार मूलकरण और उत्तरकरण को विस्तार के साथ बताने के लिए कहते हैं-

औदारिक आदि पांच शरीर मूलकरण कहलाते हैं । इनमें औदारिक⁶, वैक्रिय⁷, आहारक⁸, इन तीन शरीरों में कान और स्कन्ध आदि 'उत्तरकरण' हैं, क्योंकि शिर, छाती, पेट, पीठ, दो भुजायें और दो जंघायें ये आठ अङ्ग हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों की उत्पत्ति मूलकरण कहलाता है । कान और स्कन्ध आदि

1. सण्णाकरणं नोसण्णाकरणं च कडकरणं अद्धाकरणं पेलुकरणादि चू. । 2. उपकारसमर्थो भवति संस्करणादीत्यर्थः चू. ।

3. कण्णवेहमाईयमिति टीकाकृद्दार्दम् । 4. कालेन संघातनादिचिन्ता विस्तरेण चूर्णो उ.वृ.वत् । 5. शीर्षमुरउदरं पृष्ठिः द्वौ बाहू उरु चाष्टौ अङ्गानि।

6. (औदारिक शरीर) जो सब शरीरों में प्रधान है, वह औदारिक शरीर है । तीर्थंकर, की अपेक्षा से यह शरीर प्रधान माना जाता है । अथवा साररहित स्थूल द्रव्यों से बना हुआ अर्थात् जो मांस, हड्डी और चर्बी आदि से बना हुआ है, वह शरीर औदारिक शरीर कहलाता है ।

7. (वैक्रिय शरीर) विकार को विक्रिया कहते हैं, उसके द्वारा बने हुए शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं । यहाँ नाना प्रकार का बहुत शरीर बनाना विक्रिया है, उसके द्वारा जो अनेक आश्चर्यजनक, विविध गुण और ऋद्धि से युक्त शरीर उत्पन्न होता है, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं ।

8. (आहारक शरीर) जो शरीर, अत्यंत शुभ, शुक्ल और विशुद्ध द्रव्यवर्णा के द्वारा किसी विशेष प्रयोजन के लिए अन्तर्मुहूर्त काल तक रहनेवाला बनाया जाता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं ।

अङ्ग तथा उपाङ्गो की उत्पत्ति उत्तरकरण है । कार्मण^१ और तैजस^२ शरीर के स्वरूप की उत्पत्ति ही मूलकरण है। इन शरीरों के अङ्गोपाङ्ग नहीं होते हैं । अतः इनमें उत्तरकरण नहीं होता है । अथवा औदारिक शरीर का उत्तरकरण कर्णवेध आदि हैं और वैक्रिय शरीर का उत्तरवैक्रिय करना उत्तरकरण है । अथवा दाँत या केश आदि को उत्पन्न करना वैक्रिय शरीर का उत्तरकरण है । आहारक शरीर का जाना-आना आदि उत्तरकरण है । अथवा औदारिक शरीर के मूल और उत्तरकरण को इस गाथा के उत्तरार्ध द्वारा दूसरे तरीके से बताते हैं । कलंबुका का फूल आदि के समान आकारवाली द्रव्य इन्द्रियाँ मूलकरण हैं । तथा परिणाम को प्राप्त होनेवाली उन इन्द्रियों की विष और औषध के प्रयोग से शक्ति बढ़ाना उत्तरकरण है ॥६॥नि०॥



साम्प्रतमजीवाश्रितं करणमभिधातुकाम आह ।

संघायणे य परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो । पडसंखसगडथूणाउड्ढतिरिच्छादिकरणं च ॥७॥ नि०

संघातकरणम् आतानवितानीभूततन्तुसंघातेन पटस्य, परिसाटकरणं-करपत्रादिना शङ्खस्य निष्पादनम्, संघातपरिशाट-करणं-शकटादेः, तदुभयनिषेधकरणं-स्थूणादेरूर्ध्वतिरश्चीनाद्यापादनमिति ॥७॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार अजीव सम्बन्धी करण को बताने के लिए कहते हैं-

ताना और वाना रूप में स्थित तंतुसमूह से वस्त्र बनाना संघातकरण कहलाता है । आरा वगैरह से चीरकर शंख आदि बनाना 'परिशाटकरण' कहलाता है । कुछ द्रव्यों को मिलाकर और कुछ को हटाकर गाड़ी आदि बनाना संघातपरिशाटकरण कहलाता है । तथा इन दोनों क्रियाओं का निषेध करके लकड़ी आदि को ऊपर या तिरिच्छा करना उभयनिषेधकरण कहलाता है ॥७॥नि०॥



प्रयोगकरणमभिधाय विस्त्रसाकरणाभिधित्सया आह-

खंधेसु दुप्पएसादिएसु अब्भेसु विज्जुमाईसु । णिप्फण्णगाणि दव्याणि, जाण तं वीससाकरणं ॥८॥ नि०

विस्त्रसाकरणं साधनादिभेदाद् द्विधा । तत्रानादिकं धर्माधर्माऽऽकाशानामन्योऽन्यानुवेधेनाऽवस्थानम्, अन्योऽन्यसमाधाना-श्रयणाच्च सत्यप्यनादित्वे करणत्वाविरोधः, रूपिद्रव्याणां च द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तिः सादिकं करणम्, पुद्गलद्रव्याणां च दशविधः परिणामः तद्यथा- बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुशब्दरूप इति । तत्र बन्धः स्निग्धरूक्षत्वात्, गतिपरिणामो देशान्तरप्राप्तिलक्षणः, संस्थानपरिणामः परिमण्डलादिकः पञ्चधा । भेदपरिणामः खण्डप्रतरचूर्णकानुतटिकोत्करिकाभेदेन पञ्चधैव, खण्डादिस्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथाद्वयं तद्यथा-

खंडेहि खंडभेयं पयरब्भेयं जहम्पडलस्स । चुण्णं चुण्णियभेयं अणुतडियं वंसवक्कलियं^५ ॥९॥

दुंदुभिसमारोहे भोए उक्केरिया य उक्केरं । वीससपओगमीसगसंघाययिओगविहिगमो ॥१०॥

वर्णपरिणामः पञ्चानां श्वेतादीनां वर्णानां परिणतिस्तद्द्वयादिसंयोगपरिणतिश्च, एतत्स्वरूपं च गाथाभ्योऽवसेयं ताश्चेमाः-

1. (कार्मण शरीर) कर्म के द्वारा बने हुए शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं । बैर फल से भरे हुए घड़े के समान यह शरीर कर्मों से भरा हुआ होता है और जैसे अंकुर उत्पन्न करने में बीज समर्थ होता है, उसी तरह समस्त कर्मों को उत्पन्न करने में यह समर्थ होता है ।

2. (तैजस शरीर) जो तेज गुणवाली द्रव्यवर्णा से उत्पन्न किया जाता है, वह तैजस शरीर है । तेजोलब्धिधारी पुरुष, क्रोधित होकर किसी को जलाने के लिए यह शरीर प्रकट करता है । जैसे गोशालक ने तैजस शरीर प्रकट किया था । अथवा खाये हुए अन्न को पचानेवाला शरीर तैजस शरीर है ।

3. विधिविपर्ययेऽन्यथाभावः विविधा गतिर्वा चू. । 4. अचिता काचिद्विद्युदिति लक्ष्यतेऽनेन । 5. खण्डानां खण्डभेदः प्रतरभेदो यथाऽभ्रपटलस्य ।

चौर्णक्षूर्णितभेदोऽनुतटिका वंशवल्कलिका ॥९॥ शुष्कतडागे समारोहे भेदे उत्करिका चोत्कीर्णः । विश्रसाप्रयोगमिश्रसंघातवियोगतोविविधो गमः ॥१०॥

6. बुंदंसीति काष्ठ घटनो बुन्द इति वि. प. ।

जड़ कालगमेगुणं सुक्किलयंपि य हविज्ज बहुयगुणं । परिणामिज्जइ कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं	॥१॥
जड़ सुक्किलमेगुणं कालगदव्वं तु बहुगुणं जड़ य । परिणामिज्जइ सुक्कं कालेण गुणाहियगुणेणं	॥२॥
जड़ सुक्कं एक्कगुणं कालगदव्वंपि एक्कगुणमेव । कायोयं परिणामं तुल्लगुणतेण संभवइ	॥३॥
एवं पंचवि वण्णा संजोएणं तु वण्णपरिणामो । एकतीसं भंगा सव्वेवि य ते मुणेयव्वा	॥४॥
एमेव य परिणामो गंधाण रसाण तह य फासाणं । संठाणाण य भणिओ संजोगेणं बहुविगप्पो	॥५॥

एकत्रिंशद्भङ्गा एवं पूर्यन्ते-दशद्विकसंयोगाः दश त्रिकसंयोगाः पञ्चचतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोगः प्रत्येकं वर्णाश्च पञ्चेति । अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः । शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्धा । तथा ताल्वोष्ठपुटव्यापाराद्यभिनिर्वर्त्यश्च, अन्येऽपि च पुद्गलपरिणामाश्छायादयो भवन्ति, ते चामी-

छाया य आयवो वा, उज्जोओ तह य अंधकारो य । एसो उ पुग्गलाणं परिणामो फंदणा चेव	॥१॥
सीया णाइपगासा, छाया णाइच्चिया बहुविगप्पा । उण्हो पुणप्पगासो णायव्वो आयवो नाम	॥२॥
नवि सीओ नवि उण्हो समो पगासो य होइ उज्जोओ । कालं मइलतमंपि य वियाण तं अंधयारंति	॥३॥
दव्वस्स चलण पप्फंदणा उ सा पुण गई उ निदिट्ठा । वीससपओगमीसा, अत्तपरेणं तु उभओवि	॥४॥

तथाऽभ्रेन्द्रधनुर्विद्युदादिषु कार्येषु यानि पुद्गलद्रव्याणि परिणतानि तद्विस्त्रसाकरणमिति ॥८॥नि०॥

प्रयोगकरण बताकर अब विस्त्रसाकरण बताने के लिए कहते हैं-

विस्त्रसाकरण, सादि और अनादि भेद से दो प्रकार का है । धर्म, अधर्म और आकाश का परस्पर एक दूसरे को वेध कर स्थित रहना अनादि विस्त्रसाकरण है । धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों परस्पर मिलकर रहते हैं, इसलिए अनादि होने पर भी इनमें करण (क्रिया) होना विरुद्ध नहीं है । रूपी द्रव्य, द्वयणुकादिक्रम से भेद और संघात के द्वारा जो स्कंधरूप में आते हैं, वह सादिकरण हैं । पुद्गल द्रव्यों का परिणाम दश प्रकार का होता है। वह यह है- (१) बन्धन, (२) गति, (३) संस्थान, (४) भेद, (५) वर्ण, (६) गंध, (७) रस, (८) स्पर्श, (९) अगुरुलघु, (१०) और शब्द रूप । स्निग्ध और रूक्षता के कारण बंध परिणाम होता है । दूसरे देश को प्राप्त करना गति परिणाम है । परिमंडल आदि भेद से संस्थानपरिणाम, पाँच प्रकार का होता है । खंड, प्रतर, चूर्णक, अनुतटिका और उत्करिका भेद से भेदपरिणाम पाँच प्रकार का होता है । खंड आदि के स्वरूप को बतानेवाली ये दो गाथायें हैं,

(खंडेहिं खंड भेयं) खंड यानी टुकड़ा-टुकड़ा हो जाना खंड भेद है । तथा अभ्रक के समान एक-एक तह अलग-अलग हो जाना प्रतर भेद है । चूर्ण किये हुए पदार्थ के चूर्ण को चूर्णित भेद कहते हैं । बाँस के छिलकों को अलग-अलग कर देना अनुतटिका भेद है । सूखे हुए तालाब की फटी हुई दरारें उत्करिका भेद हैं ।

इस प्रकार पुद्गलों के स्वाभाविक, प्रायोगिक, मिश्र, संघात और वियोगरूप नानाविध भेद होते हैं । श्वेत आदि पाँच वर्णों का अन्यवर्ण के आकार में परिणत होना तथा दो या तीन वर्ण मिलकर एक नया वर्ण बन जाना, वर्णपरिणाम कहलाता है । इसका स्वरूप इन गाथाओं से जानना चाहिए । वे गाथायें ये हैं-

(जइ) यदि काला रंग एक गुणवाला हो और शुक्ल रंग बहुत गुणवाला हो तो काला रंग, अधिक गुणवाले शुक्ल गुण के रूप में परिणत हो जाता है । १। यदि शुक्ल द्रव्य एक गुणवाला हो और काला द्रव्य बहुत गुणवाला हो तो शुक्लवर्ण अधिक गुणवाले काले वर्ण के रूप में परिणत हो जाता है । २। शुक्लवर्ण यदि एक गुणवाला हो और काला वर्ण भी एक गुणवाला ही हो तो वहाँ दोनों के तुल्यगुण होने से कपोतवर्ण उत्पन्न होता है । ३। वर्ण पाँच प्रकार के होते हैं । इनके संयोग से वर्णपरिणाम होता है। इस प्रकार वर्णपरिणाम के एकतीस भेद स्वयं जान

1. छाया चातपो वोद्योतस्तथैवान्धकारश्च । एष एव पुद्गलानां परिणामःस्पदनं चैव ॥१॥ शीता नातिप्रकाशा छाया अनादित्तिका बहु विकल्पा । उष्णः पुनः प्रकाशो ज्ञातव्य आतपो नाम ॥२॥ नापि शीतो नाप्युष्णः समः प्रकाशो भवति चोद्योतः । कालं मलिनं तमोऽपि च विजानीहि तदन्धकार इति ॥३॥ द्रव्यस्य चलनं प्रस्पन्दना तु सा पुनर्गतिस्तु निर्दिष्टा । विस्त्रसाप्रयोगमिश्रादात्मपराभ्यां तूभयतोऽपि ॥४॥

लेने चाहिए । १४। इसी तरह गंध, रस स्पर्श और संस्थानों के भी अनेक प्रकार के संयोगज परिणाम होते हैं । ५।

कृष्णादि वर्णों के परस्पर संयोग से उत्पन्न होनेवाले परिणामों के एकतीस भंगों की पूर्ति इस प्रकार करनी चाहिए । दो-दो वर्णों के संयोग दश और तीन-तीन के संयोग दश होते हैं । चार के संयोग पाँच और पाँच का संयोग एक तथा प्रत्येक वर्ण पाँच होते हैं । ये सब मिलकर एकतीस भेद होते हैं। परमाणु से लेकर अनंतानंत प्रदेशी सूक्ष्म स्कंध अगुरुलघु परिणाम हैं । तत, वितत, घन और सुषिर भेद से शब्द परिणाम चार प्रकार का है। तथा तालु और ओष्ठ आदि के व्यापार से भी शब्दपरिणाम होता है । छाया आदि दूसरे भी पुद्गलों के परिणाम होते हैं । वे ये हैं ।

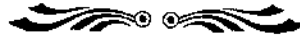
छाया, आतप, उद्योत, अंधकार और स्पंदना ये पुद्गलों के परिणाम हैं ॥१॥

ठंडी, अति प्रकाश रहित, आदित्य वर्जित, अनेक भेदवाली छाया होती है । उष्ण प्रकाश को 'आतप' कहते हैं । १२।

जो ठंडा भी नहीं है और गर्म भी नहीं है, ऐसे सम प्रकाश को उद्योत कहते हैं । काला और मलिन तम को अंधकार जानो । १३।

द्रव्य का चलना प्रस्पंदना कहलाता है और उसी को गति कहते हैं । वह गति, विस्त्रसा, प्रयोग, मिश्रण, अपने, दूसरे तथा दोनों से उत्पन्न होती है ॥४॥

मेघ, इंद्रधनुष और विद्युत् आदि कार्य्यद्रव्यों में जो पुद्गलद्रव्य परिणत हुए हैं, वह विस्त्रसाकरण है ॥८॥नि०॥



गतं द्रव्यकरणम्, इदानीं क्षेत्रकरणाभिधित्सयाऽऽह ।

ण यिणा आगासेणं कीरइ जं किंचि खेतमागासं । वंजणपरियावण्णं उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥९॥ नि०

'क्षि-निवासगत्योः' अस्मादधिकरणे ष्टूना क्षेत्रमिति, तच्चावगाहदानलक्षणमाकाशं तेन चावगाहदानयोग्येन विना न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यत इत्यतः क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं, नित्यत्वेऽपि चोपचारतः क्षेत्रस्यैव करणं क्षेत्रकरणम्, यथा गृहादावपनीते कृतमाकाशमुत्पादिते विनष्टमिति । यदिवा व्यञ्जनपर्यायापन्नं शब्दद्वाराऽऽयातम् । 'इक्षुकरणादिक'मिति, इक्षुक्षेत्रस्य करणं- लाङ्गलादिना संस्कारः क्षेत्रकरणं, तच्च बहुधा- शालिक्षेत्रादिभेदादिति ॥९॥नि०॥

द्रव्यकरण कहा जा चुका, अब क्षेत्रकरण बताने के लिए कहते हैं-

निवास और गति अर्थ में 'क्षि' धातु का प्रयोग होता है । इस 'क्षि' धातु से अधिकरण अर्थ में 'ष्टून्' प्रत्यय होकर 'क्षेत्र' शब्द बनता है । अवगाहन देनेवाला आकाश 'क्षेत्र' कहलाता है । उस अवगाहन देनेवाले आकाश के बिना कुछ भी कार्य्य नहीं किया जा सकता है, अतः आकाश में कोई कार्य्य करना 'क्षेत्रकरण' कहलाता है अथवा क्षेत्र यानी आकाश को ही उत्पन्न करना क्षेत्रकरण कहलाता है । यद्यपि आकाश नित्य है तथापि उपचार से आकाश का भी किया जाना जानना चाहिए जैसे घर आदि को तोड़ देने पर आकाश किया गया और घर आदि बना देनेपर आकाश नष्ट हो गया, यह औपचारिक व्यवहार होता है । अथवा व्यञ्जन पर्याय को प्राप्त क्षेत्र के करण को क्षेत्रकरण कहते हैं । हल चलाकर खेत को ईख आदि उत्पन्न करने योग्य बनाना क्षेत्रकरण है । वह शालिक्षेत्र आदि भेद से बहुत प्रकार का होता है ॥९॥नि०॥



साम्प्रतं कालकरणाभिधित्सयाऽऽह-

कालो जो जायइओ जं कीरइ जंमि जंमि कालंमि । ओहेण णामओ पुण करणा एक्कारस हवंति ॥१०॥ नि०

कालस्याऽपि मुख्यं करणं न संभवतीत्यौपचारिकं दर्शयति- "कालो यो यावानिति" यः कश्चिद् घटिकादिको

नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते, तद्यथा षष्ठ्युदकपलमाना घटिका, द्विघटिको मुहूर्तस्त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रमित्यादि तत्कालकरणमिति, यद्वा यद् यस्मिन् काले क्रियते, यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत्कालकरणम् । एतदोघतः, नामतस्त्वेकादश करणानि॥१०॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार कालकरण बताने के लिए कहते हैं-

काल भी मुख्यरूप से नहीं किया जा सकता है, अतः औपचारिक कालकरण बताते हैं-

नलिका आदि यंत्र के द्वारा मापकर घटिका आदि जो कालबोधक पदार्थ बनाये जाते हैं, वह कालकरण कहलाता है । जैसे साठ पल की एक घटिका होती है और दो घटिका का एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्त का एक रात दिन होता है । इसी का नाम कालकरण है । अथवा जिस काल में कोई वस्तु की जाती है अथवा जिस काल में करण की व्याख्या की जाती है, वह कालकरण है । यह ओघ (सामान्य) रूप से कालकरण कहा गया परंतु नाम से ग्यारह करण होते हैं ॥१०॥नि०॥



तानि चामूनि- “बवं च बालवं चेव कोलवं तैतिलं 'तहा । गरादि वणियं चेव विट्ठी हवइ सत्तमा”॥११॥नि०
सउणि चउप्पयं नागं किंसुग्घं च करणं भवे एयं । एते चत्तारि धुवा, अन्ने करणा चला सत्त ॥१२॥ नि०
चाउइसिरत्तीए सउणी पडिवज्जए सदा करणं । तत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं णाग किंसुग्घं ॥१३॥ नि०
२एतद्वाथात्रयं सुखेत्रेयमिति ॥११॥१२॥१३॥ नि०

वे करण ये हैं- बव, बालव, कोलव, तैतिल, गर, वणिक, विष्टि, (भद्रा) शकुनि, चतुष्पद, नाग, किंसुग्घ। ये ग्यारह करण होते हैं । इनमें पीछले चार ध्रुव और अन्य सात चल हैं । चतुर्दशी की रात में शकुनि नामक करण सदा वर्जित करना चाहिए और त्रयोदशी को चतुष्पद, द्वादशी को नाग और एकादशी को किंसुग्घ वर्जित करना चाहिए ॥११॥१२॥१३॥नि०॥



इदानीं भावकरणप्रतिपादनायाऽऽह-

भावे पओगवीसस, पओगसा मूल उत्तरे [रं] चेव । उत्तर कमसुयजोवण वण्णादी भोअणादीसु ॥१४॥ नि०

भावकरणमपि द्विधा-प्रयोगविस्त्रसाभेदात् । तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिः, तानि हि पर्याप्तिनामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्तमानो जीवः स्ववीर्यं जनितेन प्रयोगेण निष्पादयति । उत्तरकरणं तु गाथापश्चार्धेनाऽऽह-उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतुरूपम्, तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थ-विरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः, श्रुतकरणं तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषोऽपरकलापरिज्ञानरूपश्चेति, यौवनकरणं कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो वेति । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमिति, एतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्दर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥१४॥नि०॥

अब भावकरण बताने के लिए कहते हैं-

प्रयोग और विस्त्रसा भेद से भावकरण भी दो प्रकार का होता है । इनमें जीव के द्वारा प्रयोग से उत्पन्न मूलकरण, पाँच शरीरों की पर्याप्ति है क्योंकि औदयिक भाव में वर्तमान जीव, पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से अपने वीर्य से उत्पन्न प्रयोग के द्वारा पाँच प्रकार के शरीरों को बनाता है ।

अब गाथा के उत्तरार्धद्वारा उत्तरकरण बताया जाता है । क्रम, श्रुत, यौवन, और वर्णादि भेद से उत्तरकरण

1. धीविलोयणं प्र. । 2. पक्खतिहिओ दुगुणिआ दुरुवहीणा य सुक्कपक्खमि । सत्तहिए देवसियं तं चेव ख्वाहियं रत्ति ॥१॥ इति गाथानुसारेण करणयोजना ४×२=८ - २.६ (विष्टि)+१=७ (वणिक)=१०=२-२०=६+१=७ (व. वि.) । ये तीन गाथाएँ चूर्ण में मूल में नहीं हैं ।

चतुर्विध होता है। शरीर की निष्पत्ति के पश्चात् बाल, युवा और स्थविर आदि क्रम से जो उत्तरोत्तर अवस्थाविशेष हैं, वह क्रमकरण है। व्याकरण आदि का ज्ञानरूप अवस्थाविशेष और दूसरी कलाओं का ज्ञानरूप अवस्थाविशेष 'श्रुतकरण' है। कालकृत वय का अवस्था विशेष अथवा रसायन आदि के प्रयोग से संपादित अवस्था विशेष यौवनकरण है। विशिष्ट भोजन आदि होने पर जो विशिष्ट वर्ण आदि उत्पन्न किया जाता है, उसे 'वर्णगन्धरसस्पर्शकरण' कहते हैं। ये वर्ण आदि पुद्गलों के विपाक हैं, इसलिए इन्हें अजीवाश्रित भी समझना चाहिए॥१४॥नि०॥



इदानीं विस्त्रसाकरणाभिधित्सयाऽऽह-

वण्णादिया य वण्णादिएसु, जे केइ वीससामेला । ते हुंति थिरा अथिरा, छायातयदुद्धमादीसु ॥१५॥ नि०

'वर्णादिका' इति रूपरसगन्धस्पर्शाः ते यदाऽपरेष्वपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलकाः विस्त्र-साकरणं, ते च मेलकाः स्थिरा-असंख्येयकालावस्थायिनः, अस्थिराश्च-क्षणावस्थायिनः, संध्यारागाग्नेन्द्रधनुरादयो भवन्ति। तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां विस्त्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणं दुग्धादेश्च स्तनप्रच्यवनानन्तरं प्रतिक्षणं कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति॥१५॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार विस्त्रसाकरण बताने के लिए कहते हैं-

रूप-रस-गंध और स्पर्श जब अपने से भिन्न रूप-रस-गंध और स्पर्श में मिलते हैं, तो उस वर्ण आदि के मेल को 'विस्त्रसाकरण' कहते हैं। वे मेल कोई तो असंख्येय काल तक रहनेवाले स्थिर होते हैं और कोई क्षण भर रहनेवाले अस्थिर होते हैं। जैसे संध्याकाल की लालिमा मेघ और इन्द्रधनुष आदि थोड़ी देर तक ही रहते हैं। इसी तरह पुद्गलों के विस्त्रसारूप परिणाम से ही छाया और आतपरूप परिणाम होते हैं। इसी तरह दूध आदि पदार्थ स्तन से निकलकर प्रतिक्षण जो कठिन्य और खट्टेपन को प्राप्त होते हैं, वह भावकरण परिणाम समझना चाहिए॥१५॥नि०॥



साम्प्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाभिधित्सयाऽऽह-

मूलकरणं पुन सुते तिविहे जोगे सुभासुभे झाणे । ससमयसुएण पगयं अज्झवसाणेण य सुहेणं ॥१६॥ नि०

'श्रुते' पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं 'त्रिविधे योगे' मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते, तत्र लोकोत्तरे शुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते, लोके त्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थग्रथनं क्रियत इति, लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात्तत्कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम्, इह तु सूत्रकृतस्य तावत्स्वसमयत्वेन शुभाध्यवसायेन च^२ प्रकृतं, यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गीकृतमिति॥१६॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार श्रुतज्ञान के विषय में मूलकरण बताने के लिए कहते हैं-

श्रुत यानी श्रुतग्रन्थ के विषय में 'मूलकरण' यह है- तीन प्रकार के योग अर्थात् मन, वचन और काय के व्यापार में तथा शुभ और अशुभ ध्यान में वर्तमान पुरुषों के द्वारा ग्रंथ की रचना की जाती है। उसमें शुभ ध्यान में स्थित पुरुषों के द्वारा लोकोत्तर ग्रंथ की रचना की जाती है और अशुभ ध्यान में स्थित पुरुषों के द्वारा लौकिक ग्रंथ की रचना की जाती है। लौकिक ग्रन्थ कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए लौकिक ग्रन्थ रचने वाले पुरुषों को अशुभ ध्यानवाला समझना चाहिए। यह सूत्रकृताङ्गसूत्र स्वसिद्धान्त का बोधक है तथा शुभ अध्यवसाय से किया गया है, क्योंकि शुभ ध्यान में स्थित गणधरों ने इसकी रचना की है॥१६॥नि०॥



तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽवस्थाविशेषस्तं दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह-

ठिङ्गणुभावे बंधननिकायणनिहतदीहहस्सेसु । संकमउदीरणाए उदए वेदे उवसमे य ॥१७॥ नि०

तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टकर्मस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं कृतमिति, तथाऽनुभावो-विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैः, तथा बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नाः तथाऽनिकाचयद्विरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भि-स्तथा दीर्घस्थितिकाः कर्मप्रकृतीर्हसीयसीर्जनयद्भिः, तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिः, तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासाताऽऽयूष्यनुदीरयद्भिः, तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्तमानैः, तथावेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति, तथा 'उवसमे'ति सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिके भावे वर्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गं दृढमिति ॥१७॥नि०॥

ग्रन्थरचना के विषय में शुभ-ध्यानवाले उन गणधरों का कर्म द्वारा जो अवस्था विशेष थी, उसे दर्शाने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

जिनकी कर्मस्थिति, न तो जघन्य थी और न उत्कृष्ट थी, ऐसे गणधरों ने इस सूत्र की रचना की थी । अनुभाव, विपाक का नाम है । वह भी उन गणधरों का मन्द था । वे, मन्दविपाकवाली ज्ञानावरणीय आदि प्रकृति को बाँधते थे, तथा उस कर्मप्रकृति को वे, निकाचित¹ और निधत्त² अवस्था में पहुँचने नहीं देते थे । एवं दीर्घ-स्थितिवाली कर्म प्रकृति को वे ह्रस्व स्थितिवाली करते थे । तथा उत्तर प्रकृतियों को वे बाँधी जाती हुई कर्मस्थिति में मिलाते थे । उदय को प्राप्त कर्मों की वे उदीरणा करते थे । जो अप्रमत्तगुणस्थानवाले थे वे, साता और असाता आयु की उदीरणा नहीं करते थे । मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तथा उसके अंगोपांग आदि कर्मों के उदय में वे वर्तमान थे । पुंवेद और क्षायोपशमिक भाव में वे वर्तमान थे । ऐसे गणधरों ने इस सूत्रकृताङ्गसूत्र की रचना की थी । यह अर्थों की सूचना करने के कारण 'सूत्र' कहलाता है ॥१७॥नि०॥



साम्प्रतं स्वमनीषिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकाम आह-

सोऽङ्ग जिनवरमतं गणहारी काउ तक्खओवसमं । अज्झवसाणेण कयं सूतमिणं तेण सूयगडं ॥१८॥ नि०

श्रुत्वा निशम्य जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायं मातृकादिपदं³ 'गणधरैः' गौतमादिभिः कृत्वा 'तत्र' ग्रन्थरचने क्षायोपशमं तत्प्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमादत्तावधानैरिति भावः, शुभाध्यवसायेन च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥नि०॥

यह सूत्र अपनी इच्छा से नहीं किन्तु जिस प्रकार रचा गया है, वह बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

ग्रन्थ की रचना करने में विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्मों के क्षयोपशम हो जाने से, एकाग्रचित्त से गौतमादि गणधरों ने तीर्थकरों के मत यानी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त मातृकादि पदों को सुनकर शुभ अध्यवसाय के साथ इस सूत्र की रचना की थी, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' है ॥१८॥नि०॥



इदानीं कस्मिन् योगे वर्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं ? । कुत्र वा गणधरैर्दृढमित्येतदाह-

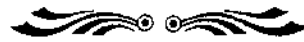
1. (निकाचित) जैसे लोह की शलाकाओं को आग में तपाकर घन से पीटने पर वे एक हो जाती हैं । उस समय वे अलग-अलग नहीं की जा सकती हैं, इसी तरह जो कर्म, आत्मा के साथ अत्यंत बँध गया है और बिना भोगे अलग नहीं किया जा सकता है, उसे 'निकाचित' कहते हैं ।
2. किसी वस्तु को स्थापित करना, अथवा स्थापित वस्तु को 'निधत्त' कहते हैं । तार में बाँधी हुई लोह की शलाकाएँ तार खोलकर जैसे अलग अलग की जा सकती हैं, इसी तरह जो कर्म, उद्वर्तना और अपवर्तना को छोड़कर शेष करणों से अलग नहीं किये जा सकते हैं, उन्हें 'निधत्त' कहते हैं । अनुकूल पुद्गलों के संयोग से बंध की वृद्धि होना उद्वर्तना है और प्रतिकूल पुद्गलों के संयोग से बंध का घटना 'अपवर्तना' है ।
3. मातृकापदादिकं प्र. ।

यङ्जोगेण पभासियमणेगजोगंधराण साहृणं । तो ययजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥ नि०

तत्र तीर्थकृद्धिः क्षायिकज्ञानवर्तिर्भिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां, ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः, किन्त्वनेकयोगधराः । तत्र योगः- क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसम्बन्धस्तं धारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां, प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गापेक्षया नपुंसकता, साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते, तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति, ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं तच्च जीवस्य 'स्वाभाविकेन गुणेनेति' स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः, प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति न पुनः संस्कृतया लट् लिट् शप् प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥१९॥ नि०॥

तीर्थकरों ने किस योग में वर्तमान होकर इस सूत्र का भाषण किया था तथा गणधरों ने किस भाव की भूमिका पर स्थित होकर इस ग्रन्थ की रचना की थी ? अब यह बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

क्षायिकज्ञान में वर्तमान तीर्थकरों ने वाणी द्वारा गणधरों को यह सूत्र अच्छी तरह कहा था । वे गणधर भी साधारण पुरुष के समान न थे, किंतु वे अनेक योगों को धारण करनेवाले थे । क्षीराश्रव आदि लब्धि समूह के सम्बन्ध को 'योग' कहते हैं । उस योग को धारण करनेवाले गणधर थे । अतः एव वे 'अनेकयोगधर' कहलाते हैं । उन गणधरों को यह सूत्र भगवान् ने कहा था । यहाँ 'सूत्रकृताङ्ग' शब्द की अपेक्षा से 'प्रभाषितम्' यह नपुंसकलिङ्ग हुआ है । यहाँ साधु पद से गणधरों का ही ग्रहण है क्योंकि भगवान् ने उन गणधरों के उद्देश से ही इस अर्थ को कहा है । भगवान् से उस अर्थ को सुनकर गणधरों ने वाग्योग के द्वारा ही इस सूत्र की रचना की थी । यह रचना, जीव के स्वाभाविक गुण के अनुसार की गयी है । जो अपने भाव में उत्पन्न होता है, उसे 'स्वाभाविक' कहते हैं, अर्थात् जो जीव की प्रकृति से सिद्ध है, उसे स्वाभाविक कहते हैं । वह प्राकृत है । उस प्राकृत भाषा में इस सूत्र की रचना की गयी है परंतु लट्, लिट्, शप्, प्रकृति, प्रत्यय, आदि विकारों की कल्पना से उत्पन्न संस्कृत भाषा में नहीं ॥१९॥ नि०॥ (क्योंकि संस्कृत भाषा जीवों की स्वाभाविक भाषा नहीं है ।)



पुनरन्यथा सूत्रकृतनिरुक्तमाह-

अक्षरगुणमतिसंघायाण, कम्मपरिसाडणाए य । तदुभयजोगेण कयं, सूतमिणं तेण सूतगडं ॥२०॥ नि०

अक्षराणि-अकारादीनि तेषां गुणः- अनन्तगमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं वा, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । मतेः-मतिज्ञानस्य संघटना मतिसंघटना, अक्षरगुणेन मतिसंघटना, अक्षरगुणमतिसंघटना, भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः, अक्षरगुणस्य वा मत्या- बुद्ध्या संघटना रचनेति यावत्, तथाऽक्षरगुणमतिसंघटनया, तथा कर्मणां- ज्ञानावरणादीनां परिशाटना-जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तथा च हेतुभूतया, सूत्रकृताङ्गं कृतमिति सम्बन्धः, तथाहि- यथा यथा गणधराः सूत्रकरणाद्योगं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति, यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनाद्योगः सम्पद्यत इति । एतदेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति- 'तदुभययोगेनेति' अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च, यदिवा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥२०॥ नि०॥

फिर दूसरे प्रकार से सूत्रकृत शब्द की व्याख्या करते हैं ।

अकारादि वर्णों को अक्षर कहते हैं । उन अक्षरों का अनन्तगमपर्यायपना अथवा उच्चारण करना गुण है क्योंकि अक्षरों के उच्चारण के बिना अर्थ का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है । मतिज्ञान को जोड़ना 'मतिसंघटना' कहलाता है । मतिज्ञान को अक्षरगुण के साथ जोड़ना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' कहलाता है । भावश्रुत को द्रव्यश्रुत के द्वारा प्रकट करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' है । (अपने मन के भाव को वाणी द्वारा प्रकट करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' है) अथवा बुद्धि के द्वारा अक्षरगुणों की रचना करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' है । ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को जीव प्रदेश से अलग करना 'कर्मपरिशाटना' कहलाता है । यह सूत्रकृताङ्गसूत्र, अक्षरगुणमतिसंघटना और कर्मपरिशाटना के द्वारा रचा गया है । गणधर भगवंत शास्त्र की रचना में ज्यों-ज्यों उद्योग करते हैं, त्यों-त्यों उनके कर्मों का परिशाटन होता है और ज्यों-ज्यों उनके कर्मों का परिशाटन होता है, त्यों-त्यों ग्रंथ रचने में उनका उद्योग बढ़ता

जाता है। यही गाथा के उत्तरार्ध द्वारा बताया जाता है। गणधरों ने अक्षरगुणमति-संघटना और कर्मपरिशाटना इन दोनों के योग से अथवा वाग्योग और मनोयोग से इस सूत्र को रचा है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है ॥२०॥नि०॥



इहानन्तरं सूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तम्, अधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह-

सुतेण सुतिया धिय अत्था तह ¹सूइया य जुता² य । तो बहुविहय्यउत्ता एय पसिद्धा अणादीया ॥२१॥ नि०
अर्थस्य सूचनात्सूत्रं तेन सूत्रेण केचिदर्थः साक्षात्सूत्रिता मुख्यतयोपात्ताः, तथाऽपरे सूचिता अर्थापत्त्याक्षिप्ताः, साक्षादनुपादानेऽपि दध्यानयनचोदनया तदाधारानयनचोदनावदिति, एवं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्परं षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा चोक्म्-

“⁴अक्खरलंभेण समा ऊणहिया हुंति मतिविसेसेहिं । तेऽवि य मईविसेसा सुयणाणऽभन्तरे जाण” ॥१॥

तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनन्तभागाधिकमर्थं वेत्त्यपरोऽसंख्येय-भागाधिकमन्यः संख्येयभागाधिकं तथाऽन्यः संख्येयासंख्येयानन्तगुणमिति, ते च सर्वेऽपि ‘युक्ता’ युक्त्युपपन्नाः सूत्रोपात्ता एव, वेदितव्याः, तथा चाभिहितम्- “तेऽवि य मईविसेसा” इत्यादि । ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि केचनार्थाः सन्ति ? येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमुद्घुष्यते, बाढं विद्यन्ते, यतोऽभिहितम्-

“⁵पणवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं । पणवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो” ॥१॥

यतश्चैवं ततस्तेऽर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः सूत्ररूपात्ताः केचन साक्षात्, केचिदर्थपत्त्या समुपलभ्यन्ते । यदिवा क्वचिद्देशग्रहणं क्वचित्सर्वार्थोपादानमित्यादि, यैश्च पदैस्तेऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथाऽनादीनि च तानि नेदानीमुत्पाद्यानि, तथा चेयं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रति तीर्थकरं क्रियते, अन्यथा तु नित्यैव । एतेन च “उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा” इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यमिति ॥२१॥नि०॥

इसके पूर्व सूत्रकृत शब्द की व्याख्या की गयी है । अब निर्युक्तिकार सूत्र पद की व्याख्या करने के लिए कहते हैं । जो अर्थ को सूचित करता है, उसे ‘सूत्र’ कहते हैं । उस सूत्र के द्वारा कोई अर्थ साक्षात् कहे हुए होते हैं, वे मुख्यरूप से गृहीत होते हैं और दूसरे अर्थ सूचित किये हुए अर्थात् अर्थापत्ति न्याय से आक्षेप किये हुए होते हैं । वे अर्थ साक्षात् ग्रहण न करने पर भी दही लाने की आज्ञा देने पर उसके बर्तन को लाने की आज्ञा के समान अर्थवश जान लिये जाते हैं । यही कारण है कि चौदह पूर्वधारी छः प्रकार के होते हैं । कहा भी है-

“अक्खरलंभेण” अर्थात् सभी चौदह पूर्वधारी सूत्राक्षरों के ज्ञान में समान होते हैं परंतु उनके अर्थज्ञान में भेद होता है । उनका अर्थज्ञान श्रुतज्ञान के अभ्यन्तर ही जानना चाहिए बाहर नहीं ।

जो अर्थ सूत्रों में साक्षात् गृहीत है, उनके विषय में सभी पूर्वधारी समान हैं परंतु जिन अर्थों की सूचना की गयी है, उनके विषय में कोई अनंत भाग अधिक अर्थ जानते हैं, कोई असंख्येय भाग अधिक जानते हैं, कोई संख्येय भाग अधिक जानते हैं तथा कोई संख्येय, असंख्येय और अनंत गुण अधिक जानते हैं । सूचना किये हुए वे सभी अर्थ भी युक्ति संगत तथा सूत्र द्वारा गृहीत ही हैं, यह जानना चाहिए। अत एव कहा है कि वे अर्थज्ञान, श्रुतज्ञान के अन्दर ही हैं, बाहर नहीं हैं ।

(शंका) क्या सूत्रों में ग्रहण किये हुए अर्थों से भिन्न भी कोई अर्थ हैं, जिनकी अपेक्षा से चौदह पूर्वधारियों के छः भेद होने की घोषणा करते हो?

(समाधान) हाँ, अवश्य हैं अत एव कहा है कि “पणवणिज्जा” इत्यादि । अर्थात् कथन करने योग्य अर्थ,

1. प्रोताः । 2. युज्यमानाः । 3. चउव्विहेणजाइबंभेण पंचावयवविशेषेण वा चू । 4. अक्खरलाभेन समा ऊणाधिका भवन्ति मतिविशेषैः । तानपि च मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि ॥१॥ 5. प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभाग एवानभिलाप्पानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनरनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥१॥

नहीं कथन करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा से अनंत भाग न्यून हैं और कथन करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा से अनंत भाग न्यून अर्थ सूत्रों में कहे हुए हैं। बात ऐसी ही है, इसीलिए आगम में बहुत प्रकार से उन अर्थों का ग्रहण है। कोई अर्थ सूत्रों में साक्षात् गृहीत हैं और कोई अर्थापत्ति¹न्याय से जाने जाते हैं। अथवा सूत्रों में कहीं अर्थ के एक देश का ग्रहण है और कहीं समस्त अर्थों का ग्रहण है। जिन पदों के द्वारा उन अर्थों का प्रतिपादन किया गया है, वे पद अत्यंत सिद्ध हैं, साध्य नहीं हैं तथा वे अनादि हैं। इस समय उत्पन्न करने योग्य नहीं हैं। अत एव यह द्वादशाङ्गी शब्द और अर्थ रचना द्वारा विदेहक्षेत्र में नित्य है। तथा भरत और ऐरावत में भी शब्दरचना द्वारा ही यह, प्रति तीर्थंकर के समय की जाती है, नहीं तो ओर तरह (अर्थ से) से यह नित्य ही है। इस कथन से “उच्चारण करने के पश्चात् ही वर्ण नष्ट हो जाते हैं, इसलिए यह द्वादशाङ्गी अनित्य है।” यह मत खण्डित समझना चाहिए ॥२१॥नि०॥



साम्प्रतं सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह-

दो चैव सुयक्खंथा अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं । तेतिसुद्देशणकाला, आयाराओ दुगुणमंगं ॥२२॥ नि०

द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालाः, ते चैवं भवन्ति- प्रथमाध्ययने चत्वारो द्वितीये त्रयस्तृतीये चत्वार एवं चतुर्थपञ्चमयोर्द्वौ द्वौ, तथैकादशस्वेकसरकेष्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे । तथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकालाः, एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति । एतच्चाचाराङ्गाद् द्विगुणमङ्गं षट्त्रिंशत्पदसहस्र-परिमाणमित्यर्थः ॥२२॥नि०॥

अब निर्युक्तिकार, सूत्रकृताङ्गसूत्र के श्रुतस्कन्ध और अध्ययन आदि को बताने के लिए कहते हैं-

इस सूत्रकृताङ्गसूत्र में दो श्रुतस्कन्ध तेईस अध्ययन तथा तैंतीस उद्देशनकाल हैं। वे इस प्रकार हैं- प्रथम अध्ययन में चार उद्देश, दूसरे अध्ययन में तीन उद्देश और तीसरे अध्ययन में चार उद्देश हैं। इसी तरह चतुर्थ और पञ्चम अध्ययन में दो-दो उद्देश हैं। शेष ग्यारह अध्ययनों में एक-एक ही उद्देश हैं। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन और उद्देशों का प्रमाण है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन और सात ही उद्देश हैं। इस प्रकार दोनों श्रुतस्कन्ध के कुल मिलाकर तेईस अध्ययन हैं। यह सूत्र आचाराङ्ग सूत्र से द्विगुण है। इसके पद छत्तीस हजार हैं ॥२२॥नि०॥



साम्प्रतं सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह-

निकखेवो गाहाए चउच्चिहो छच्चिहो य सोलससु । निकखेवो य सुयंमि य खंधे य चउच्चिहो होइ ॥२३॥ नि०

इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति । तत्र गाथायाः नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेपः, नामस्थापने प्रसिद्धे । द्रव्यगाथा द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः ‘अनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा’ नोआगमतस्तु त्रिधा-ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा, ताभ्यां विनिर्मुक्ता च ‘²सत्तट्ठतरू विसमे ण से हया ताण छड्ड णह जलया । गाहाए पच्छद्धे भेओ छट्ठोत्ति इक्ककलो’ १- इत्यादिलक्षण-लक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति । भावगाथाऽपि द्विविधा- आगम-नोआगमभेदात्, तत्राऽऽगमतो गाथापदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्यमध्ययनम्, आगमैकदेशत्वादस्य । षोडशकस्याऽपि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडशद्रव्याणि । क्षेत्रषोडशकं षोडशाकाशप्रदेशाः । कालषोडशकं षोडश समयाः एतत्कालावस्थायि

1. जिसके बिना जिस की सिद्धि नहीं होती है, उससे उसका आक्षेप करना अर्थापत्ति है ।

2. सप्त तरवः (चतुर्मात्रा गणाः) अष्टमः (गुरुः) विषमे न (जगणः) तस्याघातकास्तासां षष्ठे नहौ (चतुर्लघवः) जो वा । गाथायाः पञ्चार्थे भेदः षष्ठ एककल इति ॥१॥

वा द्रव्यमिति । भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । श्रुतस्कन्धयोः प्रत्येकं चतुर्विधो निक्षेपः स चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते॥२३॥नि०॥

सूत्रकृताङ्गसूत्र का निक्षेप बताने के पश्चात् अब प्रथम श्रुतस्कन्ध का नामनिक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

सूत्रकृताङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'गाथाषोडशक' है । जिसमें गाथानामक सोलह अध्ययन हैं, उसे 'गाथाषोडशक' कहते हैं । नाम स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से गाथा का निक्षेप चार प्रकार का होता है । इन में नाम और स्थापना प्रसिद्ध हैं । द्रव्य गाथा दो प्रकार की होती है- आगम से और नोआगम से । जो पुरुष, गाथा जानता हुआ भी उसमें उपयोग नहीं रखता है, वह आगम से द्रव्यगाथा है क्योंकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है । नोआगम से द्रव्यगाथा तीन प्रकार की होती है- (१) जशरीर द्रव्यगाथा, (२) भव्यशरीर द्रव्यगाथा, (३) और इन दोनों से भिन्न द्रव्यगाथा । (सत्तद्वतरू) जिस छन्द में चार मात्रावाले सात गण हों, आठवाँ गुरु हो और विषम में जगण न हों, छट्ठा चतुर्लघु न हो अथवा जगण हो वह गाथा छन्द है । परन्तु यह गाथा के पूर्वार्ध का वर्णन है उत्तरार्ध में छट्ठा एक लघु होना चाहिए, शेष पूर्वार्धवत् जानना चाहिए । इस लक्षण से युक्त जो छन्द, पत्रे और पुस्तकों पर लिखा हुआ है, वह गाथा छन्द है । भावगाथा भी आगम और नोआगम भेद से दो प्रकार की होती है । गाथा को जाननेवाला जो पुरुष, उस गाथा में उपयोग रखता है, वह आगम से भावगाथा है । नोआगम से, यह गाथा नामक अध्ययन ही भावगाथा है क्योंकि यह आगम का एक भाग है । षोडशक का भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छः निक्षेप होते हैं । इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं, अतः उन्हें छोड़कर द्रव्यषोडशक बताया जाता है । जशरीर और भव्यशरीर से भिन्न सचित्त आदि सोलह द्रव्य, 'द्रव्यषोडशक' हैं । सोलह आकाशप्रदेश, क्षेत्र-षोडशक हैं । सोलह समय अथवा सोलह समय तक रहनेवाला द्रव्य, कालषोडशक है । भावषोडशक, यह अध्ययन ही है क्योंकि यह क्षायोपशमिकभाव में वर्तमान है । श्रुत और स्कन्ध का निक्षेप भी प्रत्येक चार प्रकार का है, वह दूसरे स्थल में विस्तार के साथ कहा गया है, इसलिए वह यहाँ नहीं कहा गया ॥२३॥नि०॥



साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारं दिदर्शयिष्याऽऽह-

ससमयपरसमयपररूपणा य णाऊण बुज्झणा चेव । संबुद्धस्सुयसग्गा, थीदोसयियज्जणा चेव ॥२४॥ नि०
उयसग्गभीरुणो थीयसस्स णरएसु होज्ज उववाओ । एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह ॥२५॥ नि०
परिचत्तनिसीलकुसीलसुसीलसविग्गसीलयं चेव । णाऊण वीरियदुगं पंडियवीरिए पयट्ठेइ (पयट्ठिज्जा) ॥२६॥ नि०
धम्मो समाहि मग्गो समोसढा चउसु सब्बयादीसु । सीसगुणदोसकहणा, गंधंमि सदा गुरुनिवासो ॥२७॥ नि०
आदाणिय संकलिया आदाणीयंमि आययचरित्तं । अप्पगंधे पिंडियवयणेणं होइ अहिगारो ॥२८॥ नि०

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा, द्वितीये स्वसमयगुणान् परसमयदोषांश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति । तृतीयाध्ययने तु संबुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तदभिधीयते । चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना, पञ्चमे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा- उपसर्गसहिष्णोः, 'स्त्रीवशवर्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति । षष्ठे पुनः, 'एवमिति' अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जेतव्यस्य कर्मणः संसारस्य वा पराभवेन जयमाह ततस्तथैव यत्नं विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते । सप्तमे त्विदमभिहितं, तद्यथा- निःशीला गृहस्थाः कुशीलास्त्वन्यतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ताः येन साधुना स परित्यक्तनिःशीलकुशील इति, तथा सुशीला उद्युक्तविहारिणः संविग्नाः- संवेगमग्नास्तत्सेवाशीलः शीलवान् भवतीति । अष्टमे त्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा- ज्ञात्वा वीर्यद्वयं पण्डितवीर्यं प्रयत्नो विधीयत इति । नवमे त्वर्थाधिकारस्त्वयं, तद्यथा- यथाऽवस्थितो धर्मः कथ्यते, दशमे

तु समाधिः प्रतिपाद्यते, एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकारः तद्यथा- 'समवसृता' अवतीर्णाः व्यवस्थिताश्चतुर्षु मतेषु क्रियाऽक्रियाऽज्ञानवैनयिकाख्येष्वभिप्रायेषु त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याः पाषण्डिनः स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्तः समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियन्ते । त्रयोदशे त्विदमभिहितं, तद्यथा- सर्ववादिषु कपिलकणादाक्षपादशौद्धोदनजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु कुमारप्रणेतृत्वं साध्यते । चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा-शिष्याणां गुणदोषकथना, तथा शिष्यगुणसंपदुपेतेन च विनेयेन नित्यं गुरुकुलवासो विधेय इति । पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा- आदीयन्ते-गृह्यन्ते, उपादीयन्त इत्यादानीयानि- पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र सङ्कलिताः, तथा आयतं चरित्रं-सम्यक्चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यत इति । षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रन्थेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते, तद्यथा- पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहितः सोऽत्र 'पिण्डितवचनेन' संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति ॥२८॥नि०॥

१गाहासोलसगाणं पिंडित्यो वर्णिओ समासेण । इतो इक्किक्कं पुण अज्झायणं कित्तिस्सामि^२ ॥१॥
तत्राद्यमध्ययनं समयाख्यं तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमणमुपक्रम्यते वाऽनेन शास्त्रं न्यासदेशं निक्षेपावसरमानीयत इत्युपक्रमः, स च लौकिको नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन षड्रूप आवश्यकदिष्वेव प्रपञ्चितः । शास्त्रीयोऽप्यानुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवताररूपः षोडशैव । तत्रानुपूर्व्यादीन्यनुयोगद्वारानुसारेण ज्ञेयानि तावद्यावत्समवतारः । तत्रेदमध्ययनमानुपूर्व्यादिषु यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र समवतारयितव्यम् । तत्र दशविधायमानुपूर्व्या गणनानुपूर्व्या समवतरति । साऽपि त्रिधा-पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी चेति । तत्रेदमध्ययनं पूर्वानुपूर्व्या प्रथमं पश्चानुपूर्व्या षोडशम्, अनानुपूर्व्या तु चिन्त्यमानमस्यामेवैकादिकायामेकोत्तरिकायां षोडशगच्छगतायां श्रेण्यामन्योऽन्याभ्यासद्विरूपो न सङ्ख्याभेदं भवति । अनानुपूर्व्या तु भेदसङ्ख्यापरिज्ञानोपायोऽयं ।

तद्यथा- एकाद्याः गच्छपर्यन्ताः परस्परसमाहताः । राशयस्तद्धि विज्ञेयं विकल्पगणिते फलम् ॥

प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्-

पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं । उवरिमतुल्लं पुरओ नसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥१॥

तत्र-

“गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत् । आदावन्ते च तत् स्थाप्यं विकल्पगणिते क्रमात् ॥२॥

अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते- तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते, तत्रैवं १, २, ३, ४, ५, ६ षट् पदानि स्थाप्यानि, एतेषां परस्परताडनेन सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कस्तेन भागे हते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम्, एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैककानां प्रत्येकं विंशत्युत्तरं शतं न्यस्यम्, एवमन्त्यपङ्क्तौ सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति । एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते । तथा यत्तद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेऽपहृते लब्धा चतुर्विंशतिः, तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैककाः प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्याः यावद्विंशत्युत्तरं शतमिति । तदधोऽग्रतो न्यस्तमङ्कं मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावत् न्यस्यो यावत्सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियैवान्त्योऽभिधीयते । एवमनया प्रक्रियया चतुर्विंशतेः शेषचतुष्ककेन भागे हते षट् लभ्यन्ते तावन्तश्चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्ककाः स्थाप्याः तदधः षट् त्रिकाः पुनर्द्विकाः भूय एककाः, पुनः पूर्वन्यायेन पङ्क्तिः पूरणीया, पुनः षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हते द्वौ लभ्येते । तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ, शेषं पूर्ववत् । शेषपङ्क्तिद्वये शेषमङ्कद्वयं क्रमोत्क्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति । १२३४, २१३४, १३२४, ३१२४, २३१४, ३२१४, १२४३, २१४३, १४२३, ४१२३, २४१३, ४२१३, १३४२,

३१४२, १४३२, ४१३२, ३४१२, ४३१२, २३४१, ३२४१, २४३१, ४२३१, ३४२१, ४३२१ ।

तथा नाम्नि षड्विधनाम्यवतरति, यतस्तत्र षड् भावाः प्ररूप्यन्ते, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकभाववर्तित्वात् । प्रमाणमधुना- प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तत् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्था । तत्रास्याध्ययनस्य क्षायोपशमिकभावव्यवस्थितत्वाद्वा- वप्रमाणेऽवतारः । भावप्रमाणं च गुणनयसंख्याभेदात्त्रिधा, तत्राऽपि गुणप्रमाणे समवतारः, तदपि जीवाजीवभेदाद् द्विधा । समयाध्ययनस्य च क्षायोपशमिकभावरूपत्वात् । तस्य च जीवानन्यत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारः । जीवगुणप्रमाणमपि ज्ञानदर्शनचारित्र-भेदात् त्रिविधं, तत्रास्य बोधरूपत्वाद् ज्ञानगुणप्रमाणे समवतारः । तदपि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्था, तत्रास्यागमप्रमाणे समवतारः, सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, तदस्य लोकोत्तरे समवतारः । तस्य च सूत्रार्थतदुभयरूपत्वात्त्रैविध्यम् । [अस्य त्रिरूपत्वात्] त्रिष्वपि समवतारः, यदि वा आत्मानन्तरपरम्परभेदादागमस्त्रिविधः, तत्र तीर्थकृतामर्थापेक्षयाऽऽत्मागमो, गणधराणामनन्तरागमस्तच्छिष्याणां परम्परागमः । सूत्रापेक्षया तु गणधराणामात्मागमस्तच्छिष्याणामनन्तरागमस्तदन्येषां परम्परागमः । गुणप्रमाणानन्तरं 'नयप्रमाणावसरः, तस्य चेदानीं पृथक्त्वानुयोगे नास्ति समवतारो, भवेद्वा पुरुषापेक्षया, तथा चोक्तं-

“²मूढनइयं सुयं कालियं तु ण नया समोयरंति इहं । अपुहुते समोयारो, णत्थि पुहुते समोयारो” ॥१॥

तथा- “³आसज्जउ सोयारं नए नयविसारउ बूया” सङ्ख्याप्रमाणं त्वष्टधा-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालपरिमाणपर्यव- भावभेदात् । तत्रापि परिमाणसङ्ख्यायां समवतारः । साऽपि कालिकदृष्टिवादभेदाद् द्विधा तत्रास्य कालिकपरिमाणसङ्ख्यायां समवतारः । तत्राप्यङ्गानङ्गयोरङ्गप्रविष्टे समवतारः, पर्यवसङ्ख्यायां त्वनन्ताः पर्यवाः, तथा संख्येयान्यक्षराणि संख्येयाः संघाताः सङ्ख्येयानि पदानि संख्येयाः पादाः संख्येयाः श्लोकाः सङ्ख्येया गाथाः संख्येया वेदाः संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि । साम्प्रतं वक्तव्यतायाः समवतारश्चिन्त्यते, सा च स्वपरसमयतदुभयभेदात्त्रिधा । तत्रेदमध्ययनं त्रिविधायामपि समवतरति, अर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च । तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु गाथान्तरितं निर्युक्तिकृद् वक्ष्यति, साम्प्रतं निक्षेपावसरः स च त्रिधा- ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च ।

अब निर्युक्तिकार, सूत्रकृताङ्गसूत्र के प्रत्येक अध्ययनों में वर्णित अर्थों को प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं-सूत्रकृताङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन में स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त का कथन है । द्वितीय अध्ययन में स्वसिद्धान्त के गुण और परसिद्धान्त के दोषों को जानकर मनुष्य को स्वसिद्धान्त का ही बोध प्राप्त करना चाहिए, यह कहा है । तृतीय अध्ययन में सम्यग् बोध को प्राप्त पुरुष जिस प्रकार उपसर्गों को सहन करता है, वह कहा है । चतुर्थ अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी दोषों को वर्जित करने का उपदेश है । पञ्चम अध्ययन में कहा है कि जो पुरुष, उपसर्गों को सहन नहीं करता है, और स्त्री वशीभूत होता है, उसका अवश्य नरकवास होता है । छठे अध्ययन में शिष्यों को उपदेश देते हुए यह कहा है कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के सहन करने से, तथा स्त्री सम्बन्धी दोषों के वर्जित करने से भगवान् महावीर स्वामी ने विजय करने योग्य कर्मों के अथवा संसार के पराभव से विजय प्राप्त होना बताया है, इसलिए आप लोग वैसा ही प्रयत्न करें । सप्तम अध्ययन में यह कहा है कि शीलवर्जित-गृहस्थ और कुशील अन्यतीर्थी अथवा पार्श्वस्थ आदि को जिस साधु ने छोड़ दिया है, वह साधु “परित्यक्तनिःशीलकुशील” कहलाता है । तथा सुशील यानी शास्त्रानुसार संयम पालनेवाले संवेगमग्न पुरुष की जो सेवा करता है, वही पुरुष शीलवान् होता है । अष्टम अध्ययन में कहा है कि बालवीर्य्य और पण्डितवीर्य्य इन दोनों वीर्य्यों को जानकर पण्डितवीर्य्य में प्रयत्न करना चाहिए । नवम अध्ययन में धर्म का यथावस्थित स्वरूप कहा है । दशम अध्ययन में समाधि का कथन है । एकादश अध्ययन में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग का वर्णन है । द्वादश अध्ययन का अर्थाधिकार यह है-क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद इन चार मतों को माननेवाले

1. वस्तुनः पर्यायाणां संभवतां निगमनं । 2. मूढनयिकं (नयशून्यं) श्रुतं कालिकं तु न नयाः समवतरन्तीह । अपृथक्त्वे समवतारो नास्ति पृथक्त्वे समवतारः ॥१॥

3. आसाद्य तु श्रोतारं नयान् नयविशारदो ब्रूयात् ।

तीन सौ त्रैसठ प्रकार के पाखण्डी, अपने अपने मतों का साधन करते हुए उपस्थित होते हैं, उन पाखण्डियों के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन के लिए दिये हुए साधनों में दोष दिखाकर उनका निराकरण किया गया है। तेरहवें अध्ययन में, कपिल, कणाद, अक्षपाद, बुद्ध और जैमिनि आदि सब मतवादियों को कुमार्ग का प्रवर्तक सिद्ध किया है। ग्रंथ नामक चौदहवें अध्ययन में, शिष्यसम्बन्धी गुण और दोषों को बताकर कहा है कि शिष्यसम्बन्धी गुणों से सम्पन्न पुरुष को सदा गुरुकुल में निवास करना चाहिए। आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन का अर्थाधिकार यह है- जो शब्द अथवा अर्थ, ग्रहण किये जाते हैं, उनको 'आदानीय' कहते हैं। वे आदानीय पद अथवा अर्थ पूर्ववर्णित पदों और अर्थों के साथ प्रायः इस अध्ययन में मिलाये गये हैं तथा मोक्षमार्ग के साधक आयतचारित्र्यानी सम्यक्चारित्र को यहाँ बताया है। गाथा नामक सोलहवें अध्ययन में पाठ बहुत कम है, उसमें यह अर्थ वर्णित हुआ है, जैसे कि- पन्द्रह अध्ययनों के द्वारा जो अर्थ कहा गया है, वह यहाँ संक्षेप से वर्णन किया गया है ॥२८॥

गाथा नामक सोलह अध्ययनों का समुदायार्थ, संक्षेप से कहा गया, अब यहाँ से एक एक अध्ययनों का वर्णन करूँगा।

प्रथम अध्ययन का नाम समयाध्ययन है। इसके उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वारा होते हैं। जिसके द्वारा शास्त्र, निक्षेप के अवसर को प्राप्त होता है, उसे 'उपक्रम' कहते हैं। वह निक्षेप लौकिक और शास्त्रीय भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें लौकिक निक्षेप, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छः प्रकार का होता है। इसका विस्तृत विवेचन आवश्यक आदि सूत्रों में ही कर दिया गया है। शास्त्रीय निक्षेप भी आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार भेद से छः प्रकार का ही है। आनुपूर्वी से लेकर समवतार पर्यन्त निक्षेपों को अनुयोगद्वारा सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। यह अध्ययन, आनुपूर्वी आदि निक्षेपों में जहाँ-जहाँ उतर सके, वहाँ-वहाँ उतारना चाहिए। आनुपूर्वी दश प्रकार की होती है, उसमें यह अध्ययन गणनानुपूर्वी में उतरता है। गणनानुपूर्वी तीन प्रकार की होती है। पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी। इनमें यह अध्ययन पूर्वानुपूर्वी के हिसाब से सोलहवाँ है। अनानुपूर्वी का विचार करने पर यहाँ एक से लेकर सोलह तक अंकों की सोलह श्रेणी होगी। उस सोलह श्रेणी में अंकों को परस्पर गुणन करने पर जो फल होगा उसमें एक संख्या पूर्वानुपूर्वी की और एक पश्चानुपूर्वी की होगी, शेष संख्याएँ अनानुपूर्वी की होंगी। अनानुपूर्वी में संख्या भेद जानने का उपाय यह है-

(एकाद्याः)- अर्थात् जितनी संख्या का गच्छ हो, उसमें प्रथम संख्या से लेकर अन्तिम संख्या तक के अंको को परस्पर गुणन करने पर जो अंक राशि फल आवे, वही विकल्प गणित का फल है। प्रस्तार लाने का उपाय यह है। (पुष्पाणुपुष्वि) बड़ी संख्या के अनुसार छोटी संख्याओं को पूर्वक्रम से समता भेद से रखना चाहिए। और ऊपर के समान उसके सामने भी रखना चाहिए, शेष में पहिला ही क्रम है। (गणिते) परस्पर गुणन की हुई संख्याओं का जो फल आवे, उसमें अन्तिम संख्या से भाग लेने पर जो लब्धि आती है, उसमें शेष संख्याओं से भाग लेना चाहिए और उसे आदि तथा अन्त में क्रमशः रखना चाहिए, यह विकल्प गणित की रीति है। इस श्लोक की शिष्य हित के लिए व्याख्या की जाती है। शिष्य को सुखपूर्वक ज्ञान होने के लिए छः संख्याओं को लेकर पहले इस श्लोक के अर्थ की योजना की जाती है। पहले १, २, ३, ४, ५, ६ ये छः अंक स्थापित करने चाहिए। इन संख्याओं को परस्पर गुणन करने पर ७२० गणित फल होता है। इस गणित में अन्तिम संख्या ६ है। ७२० में ६ का भाग लेने पर १२० लब्धि आती है। उस १२० को छः पंक्तिओं के अन्तिम पंक्ति में षट्को के स्थापन करना चाहिए। उसके नीचे पञ्चको का भी १२० ही स्थापना करना चाहिए। इसी तरह नीचे नीचे चतुष्क, त्रिक, द्विक और एक, इन प्रत्येक के नीचे १२० स्थापन करना चाहिए। इस प्रकार अन्तिम पंक्ति में ७२० संख्या होती है। इसे गणित प्रक्रिया का आदि कहते हैं। ७२० में ६ का भाग देने पर जो १२० लब्धि आयी है, उसमें शेष पाँच का भाग लगाने पर २४ लब्धि आती है। इसलिए उतना ही पंचक, चतुष्क, त्रिक, द्विक और एक, पञ्चम पंक्ति में प्रत्येक स्थापन करने चाहिए, जब तक १२० संख्या हो। उसके नीचे, पहले रखे हुए अंक को छोड़कर जो दूसरे अंक है, उनमें जो-जो महान् संख्यावाला है, उस महान् संख्यावालों को नीचे २४ संख्या

में उतना रखना चाहिए, जिससे पञ्चम पंक्ति में भी ७२० संख्या पूर्ण हो जाय। इस विधि को गणित की प्रक्रिया से ही अन्त्य कहते हैं। इसी तरह २४ में शेष चार का भाग लगाने पर छः लब्धि आती है इसलिए चतुर्थ पंक्ति में ६ चतुष्क स्थापन करना चाहिए। उसके नीचे ६ त्रिक, फिर ६ द्विक और ६ एक स्थापन करके पूर्वोक्त रीति से पंक्ति को पूर्ण करना चाहिए। इसके पश्चात् ६ में शेष त्रिक का भाग लगाने पर दो लब्धि आती है इसलिए तृतीय पंक्ति में २ त्रिक लिखकर शेष पूर्ववत् लिखना चाहिए। शेष दो पंक्तिओं में शेष दो अंकों को क्रम और उत्क्रम से स्थापन करना चाहिए।

नामोपक्रम में यह अध्ययन छः प्रकार के नामों में उतरता है क्योंकि नामोपक्रम में छः प्रकार के भावों की प्ररूपणा की गयी है और यह अध्ययन श्रुत होने के कारण क्षायोपशमिक भाव में विद्यमान है।

अब प्रमाण बताया जाता है। जिससे पदार्थ का निश्चय किया जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। वह प्रमाण द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव भेद से चार प्रकार का है। इनमें इस अध्ययन का क्षायोपशमिक भाव में विद्यमान होने के कारण भाव प्रमाण में अवतरण होता है। भाव प्रमाण भी गुण, नय और संख्या भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें भी इस अध्ययन का गुणप्रमाण में अवतार समझना चाहिए। गुणप्रमाण भी जीव और अजीव भेद से दो प्रकार का होता है। यह समयाध्ययन, क्षायोपशमिक भाव रूप है और क्षायोपशमिक भाव, जीव से भिन्न नहीं है, इसलिए इस अध्ययन का जीवगुण प्रमाण में अवतार समझना चाहिए। जीवगुण प्रमाण भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें, यह अध्ययन ज्ञानरूप है, इसलिए ज्ञानगुण प्रमाण में इसका अवतार समझना चाहिए। ज्ञानगुण प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम भेद से चार प्रकार का है। उनमें आगम प्रमाण में इसका अवतार समझना चाहिए। आगम भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें इस अध्ययन का लोकोत्तर आगम में समावेश समझना चाहिए। लोकोत्तर आगम भी सूत्र, अर्थ और उभयरूप से तीन प्रकार का होता है। यह अध्ययन, त्रिरूप है, इसलिए तीनों में इसका अवतार समझना चाहिए। अथवा आत्मागम, अनंतरागम और परंपरागम भेद से आगम तीन प्रकार का होता है। इनमें तीर्थकर के लिए अर्थ की अपेक्षा से यह आगम आत्मागम है और गणधरों के लिए अनंतरागम है और गणधरों के शिष्यों के लिए परम्परागम है। सूत्र की अपेक्षा से यह आगम, गणधरों के लिए आत्मागम है और गणधर के शिष्यों के लिए अनंतरागम है तथा दूसरे लोगों के लिए परम्परागम है। गुणप्रमाण कहने के पश्चात् अब नयप्रमाण कहने का अवसर है। परंतु इस काल में नयप्रमाण की अलग-अलग व्याख्या करने का प्रसंग नहीं है अथवा पुरुष की अपेक्षा से हो भी सकता है। जैसा कि कहा है- (मूढनइयं) अर्थात् कालिक सूत्र, इस काल में नयशून्य माने जाते हैं, अतः उनमें नयों का समवतार नहीं होता है, यदि हो तो सूत्रों में अभेद रूप से ही होता है परंतु अलग-अलग नहीं होता।

(आसज्जठ) तथा नय के जानने में निपुण पुरुष, श्रोता को पाकर नयों का वर्णन करे। 'नाम, 'स्थापना, 'द्रव्य, 'क्षेत्र, 'काल, 'परिमाण, 'पर्यव और 'भाव भेद से सङ्ख्याप्रमाण आठ प्रकार का होता है। इनमें इस अध्ययन का परिमाण-सङ्ख्या में अवतार समझना चाहिए। परिमाणसङ्ख्या भी कालिक और दृष्टिवाद भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें इस अध्ययन का कालिक परिमाणसङ्ख्या में समवतार समझना चाहिए। उसमें अङ्ग और अनङ्ग के मध्य में अङ्गप्रविष्ट में इसका समवतार समझना चाहिए। पर्यवसङ्ख्या में अनन्त पर्यव हैं तथा सङ्ख्यात अक्षर हैं, सङ्ख्यात सङ्घात हैं, संख्यात पद हैं, संख्यात श्लोक हैं, सङ्ख्यात गाथायें हैं, संख्यात वेद (एक अर्थ को बताने-वाली वाक्य योजनायें) हैं, एवं सङ्ख्यात अनुयोगद्वार हैं। अब वक्तव्यता का समवतार के विषय में विचार किया जाता है। स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता भेद से वक्तव्यता तीन प्रकार की होती है। इनमें यह अध्ययन तीनों वक्तव्यताओं में उतरता है। अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार भेद से अर्थाधिकार दो प्रकार का है। इनमें निर्युक्तिकार ने अध्ययनार्थाधिकार कह दिया है और उद्देशार्थाधिकार भी गाथा द्वारा आगे चलकर बतायेंगे। अब निक्षेप का अवसर है। निक्षेप तीन प्रकार का होता है। ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न में यह अध्ययन है। उसका निक्षेप आवश्यक आदि सूत्रों में प्रधानरूप से कहा ही है ॥ २४ से २८॥नि०॥

तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनं तस्य च निक्षेप आवश्यकदौ प्रबन्धेनाभिहित एव । नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह-

णामं ठवणा दविए, खेते काले कुतित्थसंगारे । कुलगणसंकरगंडी, बोद्धव्यो भावसमए य ॥२९॥ नि०

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसंकरगण्डीभावभेदाद् द्वादशधा समयनिक्षेपः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो द्रव्यस्य सम्यगयनं-परिणतिविशेषः स्वभाव इत्यर्थः । तद्यथा- जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्तत्वम्, धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणः¹ अथवा यो यस्य द्रव्यस्यावसरो-द्रव्यस्योपयोगकाल इति, तद्यथा-

“वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं, गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते” ॥१॥

क्षेत्रसमयः क्षेत्रमाकाशं तस्य समयः स्वभावः यथा-

“एगेणयि से पुण्णे दोहिचि पुण्णे सयंपि माएज्जा । लक्खसएणवि पुण्णे, कोडिसहस्संपि माएज्जा”² ॥२॥

यदिवा देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपाः नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति । क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति । कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः, उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमय इति । अत्र च द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति । कुतीर्थसमयः पाषण्डिकानामात्मीयात्मीय आगमविशेषस्तदुक्तं वाऽनुष्ठानमिति । संगारः संकेतस्तद्रूपः समयः संगारसमयः - यथा सिद्धार्थसारथिदेवेन पूर्वकृतसंगारानुसारेण गृहीतहरिशवो बलदेवः प्रतिबोधित इति । कुलसमयः कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः । गणसमयो यथा मल्लानामयमाचारो- यथा यो ह्यनाथो मल्लो प्रियते स तैः संस्क्रियते पतितश्चोद्धियत इति । संकरसमयस्तु संकरो-भिन्नजातीयानां मीलकस्तत्र च समयः-एकवाक्यता, यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति । गण्डीसमयो- यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति । भावसमयस्तु नोआगत इदमेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः, शेषाणां तु शिष्यमतिविकासार्थमुपन्यास इति ॥२९॥नि०॥

नामनिष्पन्न निक्षेप में इस अध्ययन का ‘समय’ नाम है । उस समय का निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

‘नाम, ‘स्थापना, ‘द्रव्य, ‘क्षेत्र, ‘काल, ‘कुतीर्थ, ‘संगार, ‘कुल, ‘गण, ‘संकर, ‘गंडी और ‘भाव भेद से समयनिक्षेप बारह प्रकार का होता है ।

इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं । द्रव्य के सम्यग् अयन अर्थात् परिणामविशेष यानी स्वभाव को द्रव्यसमय कहते हैं । जैसे जीवद्रव्य का स्वभाव उपयोग है और पुद्गलद्रव्य का स्वभाव मूर्तत्व है । गति, स्थिति और अवकाश देना क्रमशः धर्म-अधर्म और आकाश के स्वभाव हैं । अथवा जिस द्रव्य का जो काल, उपयोग के योग्य है, वह उसका समय है ।

जैसे वर्षा ऋतु में [श्रावण भाद्रपद] नमक, शरद् ऋतु में जल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आँवले का रस, वसन्त में घृत और ग्रीष्म में [जेठ आषाढ] गुड़ अमृत हैं ।

अब क्षेत्रसमय बताया जाता है । क्षेत्र, आकाश का नाम है, आकाश के स्वभाव को क्षेत्रसमय कहते हैं।

आकाश, एक परमाणु से भी पूर्ण होता है, दो से भी पूर्ण होता है तथा सौ भी उसमें समा जाते हैं । वह सौ लाख से भी पूर्ण होता है तथा हजारों कोटि भी उसमें समा जाते हैं ।

अथवा देवकुरु आदि क्षेत्रों का यह स्वभाव है कि उनमें निवास करनेवाले प्राणी बड़े सुन्दर नित्यसुखी तथा निर्वैर होते हैं । अथवा धान्य आदि बोने के लिए खेत को शुद्ध करने का जो अवसर होता है उसे ‘क्षेत्रसमय’ कहते हैं । सुषम आदि आरा के प्रभाव विशेष को कालसमय कहते हैं । अथवा कमल के सौ पत्तों के बीधने

1. कालो भरो सुगंध चंदणादि तित्तो निबो कक्खडो पाहाणो चू. । 2. एकेनापि स पूर्णो द्वाभ्यामपि पूर्णः शतमपि मायात् । लक्षशतेनापि पूर्णः कोटीसहस्रमपि मायात् ॥

से व्यक्त होनेवाले कालविशेष को कालसमय कहते हैं। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र और काल की प्रधानता को लेकर द्रव्य, क्षेत्र और काल का समय समझना चाहिए। पाखंडियों का जो अपना-अपना आगम विशेष है, वह कुतीर्थसमय कहलाता है। अथवा पाखंडियों के आगम में कहे हुए अनुष्ठान को कुतीर्थसमय कहते हैं, संकेत को संगार कहते हैं। संगार रूप जो समय है, उसे संगार समय कहते हैं। जैसे सिद्धार्थ सारथिदेव ने पूर्वकृत संकेत के अनुसार हरि के शव को ग्रहण किये हुए बलदेव को प्रतिबोध दिया था। कुल के आचार को 'कुलसमय' कहते हैं। जैसे पितृशुद्धि शक जाति का और मंथनिकाशुद्धि अहीर जाति का कुलाचार है। गण यानी किसी संघ के आचार को गणसमय कहते हैं। जैसे मल्ल लोगों का यह आचार है कि जो अनाथ मल्ल मर जाता है, उसका दाह संस्कार मल्ल लोग ही करते हैं, और पतित मल्ल का वे उद्धार करते हैं। अब संकरसमय बताया जाता है- भिन्न जातिवालों के संमेलन को संकर कहते हैं। उस संकर का जो एकवाक्यता अर्थात् एकमत होकर रहना है, उसे संकरसमय कहते हैं। जैसे वाममार्ग आदि में अनाचार सेवन करते हुए भी उसे वे छिपाते हैं। तथा शाक्य लोग भोजन के समय गंडी का ताड़न करते हैं, वह गंडी समय कहा जाता है। भावसमय, जो आगम से यही अध्ययन है। भावसमय का ही यहाँ प्रस्ताव है, शेष समय तो शिष्य के बुद्धि विकासार्थ यहाँ कहे गये हैं ॥२९॥नि०॥



साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तोद्देशार्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह-

महपंचभूय एकप्पए य तज्जीवतच्छरीरे य । तह य अगागवाती, अत्तच्छट्ठो अफलवादी ॥३०॥ नि०
बीए नियईयाओ अण्णाणिय तह य नाणवाईओ । कम्मं चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खुसमयंमि ॥३१॥ नि०
तइए आहाकम्मं कडवाई जह य ते य यईओ । किच्चुयमा य चउत्थे परप्पवाई अथिरएसु ॥३२॥ नि०

अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकाः । तत्राद्यस्य षडर्थधिकारा आद्यगाथयाऽभिहिताः, तद्यथा पञ्चभूतानि-
पृथिव्यपूतेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वाद्भूतानि च महाभूतानि, इत्येकोऽयमर्थधिकारः । तथा
चेतनाचेतनं सर्वमेवात्मविवर्त इत्यात्माऽद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थधिकारो द्वितीयः । स चासौ जीवश्च तज्जीवः-
कायाकारो भूतपरिणामः, तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमिति यावदिति तृतीयोऽर्थधिकारः । तथाऽकारको जीवः
सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवं वादीति चतुर्थोऽधिकारः । तथाऽत्मा षष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत
इत्ययं पञ्चमोऽर्थधिकारः, तथाऽफलवादीति न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवं वादी च प्रतिपाद्यत इति
षष्ठोऽर्थधिकार इति । द्वितीयोद्देशके चत्वारोऽर्थधिकाराः, तद्यथा नियतिवादस्तथाऽज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते,
कर्मचयम्-उपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति 'भिक्षुसमये' शाक्यागमे, इति चतुर्थोऽर्थधिकारः । चातुर्विध्यं तु
कर्मणोऽविज्ञोपचितम्-अविज्ञानमविज्ञा तयोपचितम् अनाभोगकृतमित्यर्थः यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगात्
कर्मोपचीयते, तथा परिज्ञानं परिज्ञा केवलेन मनसा पर्यालोचनं, तेनाऽपि कस्यचित्प्राणिनो व्यापादनाभावात् कर्मोपचयाभाव
इति, तथा ईरणमीर्या गमनं तेन जनितमीर्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसन्धेरभावादिति।
तथा स्वप्रान्तिकं स्वप्रप्रत्ययं कर्म नोपचीयते यथा स्वप्रभोजने तृप्त्यभाव इति । तृतीयोद्देशके त्वयमर्थधिकारः, तद्यथा-
आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति । तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा- ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः
प्रधानादिकृतो वा । यथा च ते प्रवादिन आत्मीयमात्मीयं कृतवादं गृहीत्वोत्थितास्तथा भण्यन्ते इति द्वितीयोऽधिकारः।
चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयं, तद्यथा- अविरतेषु गृहस्थेषु यानि कृत्यान्यनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कर्तव्यैः
परप्रवादी परतीर्थिक उपमीयत इति ॥३०-३२॥

इदानीमनुगमः, स च द्वेधा-सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः तद्यथा निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम
उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्च । तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः, ओधनामनिष्पन्ननिक्षेपयोरन्तर्गतत्वात्, तथा
च वक्ष्यमाणस्य सूत्रस्य निक्षेप्यमानत्वात् । उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु षड्विंशतिद्वारप्रतिपादकाद्वाथाद्वयादवसेयः ।

तच्चेदम्- “उद्देशे निद्देशे¹ य”² इत्यादि । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति संभवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्त एव, तत्रास्त्रलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ।

अब पहले कहे हुए उद्देशकों का अर्थाधिकार बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं-

इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं । उनमें प्रथम उद्देशक के छः अर्थाधिकार पहली गाथा के द्वारा कहे गये हैं । जैसे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं । ये सर्वलोक व्यापी होने के कारण महान् अर्थाधिकार हैं। दूसरे उद्देशक में चार अर्थाधिकार हैं- जैसे कि नियतिवाद, अज्ञानिकमत और ज्ञानवादी का कथन और भूत है । इसलिए ये महाभूत कहे जाते हैं । यह पहला अर्थाधिकार है । चेतन और अचेतन जगत् के सभी पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं । इस प्रकार आत्माद्वैतवाद प्रतिपादन किया गया है, अतः यह दूसरा अर्थाधिकार है। वही जीव है और वही शरीर है अर्थात् शरीर के आकार में भूतों का परिणाम ही जीव है और वही शरीर है, तात्पर्य यह है कि जीव और शरीर एक हैं, यह तीसरा अर्थाधिकार है । तथा पाप और पुण्य सभी क्रियाओं को जीव नहीं करता है ऐसा कहनेवाला पुरुष, चौथा अर्थाधिकार है । पाँच महाभूत हैं और उनमें छद्मा आत्मा है, यह पाँचवाँ अर्थाधिकार है । किसी भी क्रिया का फल नहीं होता है, ऐसा कहने वाले का मत भी यहाँ कहा गया है, वह छद्मा है । दूसरे उद्देशक में चार अर्थाधिकार हैं, वह इस प्रकार- नियतिवाद, अज्ञानवादी और ज्ञानवादी प्रतिपादित किये जाते हैं । तथा शाक्यों के आगम में चार प्रकार का कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता है, यह चौथा अर्थाधिकार है । वे चार प्रकार के कर्म ये हैं-

(१) अविज्ञोपचित । अज्ञान को अविज्ञा कहते हैं । उससे किया हुआ कर्म अविज्ञोपचित कहलाता है । जो कर्म भूल से हो गया है, उसे ‘अविज्ञोपचित’ कहते हैं । जैसे माता के स्तन आदि से दबकर पुत्र की मृत्यु होने पर भी अज्ञान के कारण माता को कर्म का उपचय नहीं होता है । इसी तरह भूल से जीव हिंसा आदि होने पर भी कर्म का उपचय नहीं होता है । (२) दूसरा परिज्ञोपचित । केवल मन के द्वारा चिन्तन करना परिज्ञा कहलाता है, उससे भी किसी प्राणी का घात न होने के कारण कर्म का उपचय नहीं होता है । (३) तीसरा ईर्याप्रत्यय अर्थात् मार्ग में आने-जाने से जो जीव हिंसा होती है, उससे भी कर्म का उपचय नहीं होता है क्योंकि वहाँ मार्ग में जानेवाले का अभिप्राय जीवघात का नहीं होता । (४) चौथा स्वप्नान्तिक जैसे स्वप्न में भोजन करने से तृप्ति नहीं होती है, उसी तरह स्वप्न में किये हुए जीव हिंसा आदि से कर्म का उपचय नहीं होता है । तृतीय उद्देशक में आधाकर्म आहार का विचार किया गया है और वह आहार खानेवालों का दोष दिखाया गया है तथा कृतवादी का मत भी कहा गया है । कोई इस लोक को ईश्वरकृत और कोई प्रधानादिकृत कहते हैं । ये प्रावादुक अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए जिस प्रकार खड़े होते हैं, वह भी इस उद्देशक में कहा है, यह दूसरा अर्थाधिकार है । चतुर्थ उद्देशक का अर्थाधिकार यह है- अविरत यानी गृहस्थों में जो असंयमप्रधान अनुष्ठान हैं, वे ही परतीर्थिकों में भी विद्यमान हैं इसलिए परतीर्थी, गृहस्थ के तुल्य हैं ॥३०-३२॥

अब अनुगम बताया जाता है । अनुगम दो प्रकार का होता है । एक सूत्रानुगम और दूसरा निर्युक्त्यनुगम । इनमें निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकार का होता है जैसे कि- निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्त्यनुगम । इनमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम कथित प्रायः है, क्योंकि वह ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न निक्षेप में ही अन्तर्भूत है तथा आगे कहा जानेवाला सूत्र का निक्षेप भी आगे किया जायगा । उपोद्घात निर्युक्त्यनुगम को छब्बीस द्वार बतानेवालीं दो गाथाओं से जान लेना चाहिए । “उद्देशे निद्देशे” इत्यादि दो गाथाये हैं । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति का अनुगम तो सूत्र होने पर होता है और सूत्र, सूत्रानुगम होने पर होता है । उस सूत्रानुगम का अवसर आ ही गया है । अतः अस्त्रलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए । वह सूत्र यह है ।

1. उद्देशे निद्देशे य निग्गमे खित्तकालपुरिसे य । कारणपच्चयलक्खणनएसमोयारणानुमए ॥१॥

कि कइविहं कस्स कहिं केसु कंहं किच्चिरं हवइ कालं । कइसंतरमविरहिअं भवागरिस फासण निरुत्ती ॥२॥

उद्देशो निद्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालं पुरुषश्च । कारणं प्रत्ययो लक्षणं नयः समवतारोऽनुमतम् ॥१॥

कि कतिविधं कस्य क्व केसु कथं कियच्चिरं भवति कालम् । कति सान्तरमविरहितं भवा आकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः ॥

2. प्रसुतिर्निर्गममित्यर्थः - मेघच्छत्रे यथा चन्द्रो न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं तथा न भ्राजते विधौ ॥

3. संहिता लक्षिता “संहिया य पयं चैव पयत्थो पयविग्गहो । चालणा य पसिच्छी य छविहं विच्छि लक्षणं ॥१॥ इति व्याख्यालक्षणे तस्या एवादौ प्रतिपादनात्॥

श्रीसूत्रकृताङ्गे सटीकभाषानुवादसहिते

प्रथमाध्ययने स्वसमयवक्तव्यताधिकारः

¹बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।

किमाह बंधणं वीरो किंवा जाणं तिउट्टई ?

॥१॥

छाया - बुध्येतेति त्रोटयेद् बन्धनं परिहाय । किमाह बन्धनं वीरः किं वा जानंस्त्रोटयति ? ॥

व्याकरण - (बुज्झिज्जत्ति) क्रिया, विधिलिङ् । (तिउट्टिज्जा) क्रिया, विधिलिङ् । (बंधणं) कर्म । (परिजाणिया) पूर्वकालिक क्रिया । (किम्) बंधन का विशेषण । (बंधणं) कर्म (आह) क्रिया । (वीरो) 'आह' क्रिया का कर्ता । (किम्) प्रश्नार्थक कर्म विशेषण । (जाणं) कर्ता का विशेषण । (वा) अव्यय । (तिउट्टई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (बुज्झिज्जत्ति) मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए । (बंधणं परिजाणिया) बंधन को जानकर । (तिउट्टिज्जा) उसे तोड़ना चाहिए । (वीरो) वीर प्रभु ने । (बंधणं किमाह) बंधन का स्वरूप क्या बताया है । (वा) और (किं जाणं) क्या जानता हुआ पुरुष, (तिउट्टई) बंधन को तोड़ता है?

भावार्थ - मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए, तथा बन्धन का स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिए । वीर प्रभु ने बंधन का स्वरूप क्या बताया है? और क्या जानकर जीव बंधन को तोड़ता है ?

टीका - अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या-बुध्येतेत्यादि । सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गादौ वर्तते । अस्य चाचाराङ्गेन सहायं सम्बन्धः, तद्यथाऽऽचाराङ्गेऽभिहितम्- “जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहेण बंधो त्ति” इत्यादि, तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि, यदिवेह केषाञ्चिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवासिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनानां तूभाष्यां निःश्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते । तत्राऽपि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येतेत्यनेन ज्ञानमुक्तम् त्रोटयेदित्यनेन च क्रियोक्ता, तत्राऽयमर्थो- बुध्येत अवगच्छेद् बोधं विदध्यादित्युपदेशः, किं पुनस्तद् बुध्येतेति, आह- ‘बंधणं’ बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनं ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारं कर्म तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः परिग्रहारम्भादयो वा, न च बोधमात्रादभिलषितार्थावासिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति- तच्च बन्धनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रियया-संयमानुष्ठानरूपया त्रोटयेदपनयेदात्मनः पृथक् कुर्यात्परित्यजेद्वा, एवं चाभिहिते जम्बूस्वाम्यादिको विनेयो बन्धादिस्वरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ ³‘किमाह’ किमुक्तवान् बन्धनं वीरस्तीर्थकृत् किं वा जानन् अवगच्छेत्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा त्रुटयतीति ? श्लोकार्थः ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र की संहिता⁴ आदि क्रम से व्याख्या की जाती है । “बुध्येत” इत्यादि गाथा ‘सूत्रकृताङ्ग’ सूत्र के आदि में है । इस गाथा का आचाराङ्ग सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है - आचाराङ्ग सूत्र में कहा है कि “जीव, छः कायवाले होते हैं, उन जीवों के घात से कर्मबन्ध होता है” यह सब जानना चाहिए, यह इस गाथा के द्वारा बताया जाता है । अथवा कोई वादी ज्ञानमात्र से मुक्ति बतलाते हैं और कोई क्रिया मात्र से मुक्ति लाभ कहते हैं, परंतु जैन लोग, ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति मानते हैं । यह इस श्लोक के द्वारा बताया जाता है । उस पर भी ज्ञान के साथ की हुई क्रिया ही मोक्ष-फल देती है, इसलिए पहले ‘बुध्येत’ इस पद के द्वारा ज्ञान बताया गया है और ‘त्रोटयेत्’ के द्वारा क्रिया कही गयी है । बोध प्राप्त करना चाहिए, यह उपदेश इस (बुध्येत) का अर्थ

1. बुज्झिज्ज चू. । 2. किमाहु चू. । 3. एकान्त परोक्षे चू. । 4. संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥ पदों का स्पष्ट उच्चारण करना संहिता है । श्लोक के पदों को अलग-अलग बताना ‘पद’ है । पदों के अर्थ को पदार्थ कहते हैं । पदों का विग्रह करना पदविग्रह है । शिष्य के प्रश्न को ‘चालना’ कहते हैं । शिष्य के प्रश्न का उत्तर देना ‘प्रत्यवस्थान’ कहलाता है । इस प्रकार शास्त्र की व्याख्या छः प्रकार की होती है ।

है। वह क्या है जिसका बोध प्राप्त करना चाहिए? इसलिए कहते हैं कि “बंधन” अर्थात् जीव प्रदेश परस्पर अनुबोध रूप से जिसको स्थापित करता है, उसे बंधन कहते हैं अर्थात् जीव प्रदेश जिसमें स्वयं मिल जाता है और उसे भी अपने में मिला लेता है, वह ‘बंधन’ है। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म, बंधन है अथवा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण रूप मिथ्यात्व और अविरति आदि अथवा परिग्रह और आरंभ आदि बंधन हैं। इन बंधनों का बोध प्राप्त करना चाहिए यह उपदेश है। परंतु बोधमात्र से इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु क्रिया की भी आवश्यकता है। अतः शास्त्रकार क्रिया दिखलाते हैं। बंधन को जानकर विशिष्ट क्रिया से यानी संयम के अनुष्ठान से उसका विनाश करना चाहिए अथवा अपने से उसे अलग कर देना चाहिए। इस प्रकार कहने पर श्रीजम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग ने, बंधन के विशिष्ट स्वरूप को जानने के लिए श्रीसुधर्मास्वामी से पूछा कि “तीर्थंकर वीर प्रभु ने बन्धन का स्वरूप क्या बताया है और क्या जानकर जीव बन्धन को तोड़ता है अर्थात् स्वयं उससे पृथक् हो जाता है?” यह इस श्लोक का अर्थ है।



- बन्धनप्रश्नस्वरूपनिर्वचनायाह-

- बन्धन का स्वरूप बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि । अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ॥२॥

छाया - चित्तवन्तमचित्तं वा परिगृह्य कृशमपि । अन्नं वा अणुजाणाति, एवं दुःखाद्वा मुच्यते ॥

व्याकरण - (चित्तमंतं) कर्म । (अचित्तं) कर्म । (वा) अव्यय । (परिगिज्झ) पूर्वकालिक क्रिया । (किसां) कर्म । (अवि) अव्यय । (अन्नं) कर्म । (वा) अव्यय । (अणुजाणाइ) क्रिया । (एवं) अव्यय । (दुक्खा) अपादान (ण) अव्यय । (मुच्चइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (चित्तमंतं) चित्तवान् अर्थात् ज्ञानयुक्त द्विपद चतुष्पद आदि प्राणी (वा) अथवा (अचित्तं) चैतन्य रहित सोना चाँदी आदि। (किसामवि) तथा तुच्छ वस्तु भूसा आदि अथवा स्वल्प भी । (परिगिज्झ) परिग्रह रखकर । (वा) अथवा (अन्नं) दूसरे को परिग्रह रखने की (अणुजाणाइ) अनुज्ञा देकर (एवं) इस प्रकार (दुक्खा) दुःख से (ण मुच्चइ) जीव मुक्त नहीं होता है ।

भावार्थ - जो पुरुष, द्विपद, चतुष्पद आदि चेतन प्राणी को, अथवा चैतन्य रहित सोना, चाँदी आदि पदार्थों को, अथवा तृण भूसा आदि तुच्छ पदार्थों को भी परिग्रह रूप से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है ।

टीका - इह बन्धनं कर्म तद्धेतवो वाऽभिधीयन्ते, तत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति निदानमेव दर्शयति, तत्राऽपि सर्वारम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इति कृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान्। चित्तमुपयोगो ज्ञानं तद्विद्यते यस्य तच्चित्तवत् - द्विपदचतुष्पदादि, ततोऽन्यदचित्तवत्-कनकरजतादि, तदुभयरूपमपि परिग्रहं परिगृह्य, कृशमपि स्तोकमपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः, यदिवा कसनं कसः परिग्रहबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति यावत्, तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्यान्वा वा ग्राहयित्वा गृह्यतो वाऽन्याननुज्ञाय दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वाऽसातोदयादिरूपं तस्मान्न मुच्यत इति, परिग्रहाग्रह एव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति । तथा चोक्तम् -

“ममामिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युज्जयः ।
यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थात्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते” ॥१॥

तथा च -

“द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधि-
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रट्पुः।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः
प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो गृह इव क्लेशाय नाशाय च” ॥२॥

तथा च परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद् बन्धनान्न मुच्यत इति ॥२॥

टीका - यहाँ, कर्म अथवा कर्म के कारण बंधन कहे जाते हैं। कारण के बिना कार्य का जन्म नहीं होता है, इसलिए शास्त्रकार पहले बन्धन के कारण को ही दर्शाते हैं। उसमें भी सभी आरम्भ, कर्म के कारणरूप हैं और वे आरम्भ, प्रायः “यह मैं हूँ और यह मेरी वस्तु है” इस परिग्रहबुद्धि से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए शास्त्रकार ने पहले परिग्रह को ही दिखलाया है। उपयोग अर्थात् ज्ञान को ‘चित्त’ कहते हैं। वह ज्ञान, जिसमें रहता है, उसे ‘चित्तवत्’ कहते हैं। द्विपद और चतुष्पद आदि प्राणी चित्तवत् कहलाते हैं। उनसे भिन्न वस्तु ‘अचित्तवत्’ है। वह सोना, चाँदी आदि पदार्थ हैं। इन दोनों प्रकार की वस्तु को ममत्वबुद्धि से ग्रहण करना, तथा तुच्छ वस्तु तृण और भूसा आदि को भी परिग्रहरूप से ग्रहण करना, अथवा किसी वस्तु को परिग्रह बुद्धि से ग्रहण करने के लिए उस वस्तु के पास जीव के जाने का परिणाम होना, यह सब परिग्रह रखना है। इस प्रकार जो पुरुष स्वयं परिग्रह को ग्रहण करता है अथवा दूसरे को परिग्रह ग्रहण कराता है अथवा परिग्रह ग्रहण करते हुए पुरुष को अनुज्ञा देता है, वह पुरुष दुःख देनेवाले अष्टविध कर्म अथवा उन कर्मों के फलरूप जो असातोदय आदि हैं, उनसे मुक्त नहीं होता है। वस्तुतः परिग्रह में आग्रह रखना ही अनर्थ का मूल है। जैसा कि कहा है—

“यह मैं हूँ और यह मेरा है” यह अमिमानरूपी दाहज्वर जब तक मनुष्य में बना रहता है तब तक उसके लिए काल का मुख ही शरण है, शान्ति की आशा नहीं है।

तथापि यश और सुख की इच्छा रखनेवाले और अन्त में अनर्थ को प्राप्त करनेवाले मूढ़ जीव, इस दुःखद परिग्रह को बड़ी कठिनाई से उपार्जन किया करते हैं ॥१॥

यह परिग्रह, द्वेष का घर है, धीरता का हास करता है, क्षमा का शत्रु है, चित्तविक्षेप का मित्र है, मद का घर है, ध्यान का कष्टदायी शत्रु है, दुःख का जन्मदाता है, सुख का विनाशक है और पाप का खास निवासस्थान है। यह परिग्रह दुष्ट गृह के समान चतुर पुरुष को भी क्लेश देता है और उसका नाश कर डालता है ॥२॥

अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा होती है और परिग्रह नष्ट होने पर शोक होता है तथा प्राप्त परिग्रह की रक्षा में कष्ट होता है और परिग्रह के उपभोग से भी तृप्ति नहीं होती है, इसलिए परिग्रह रहने पर दुःखस्वरूप बंधन से मुक्ति नहीं हो सकती है ॥२॥



— परिग्रहवतश्चावश्यंभाव्यारम्भस्तस्मिँश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह —

— परिग्रही पुरुष के द्वारा आरम्भ अवश्य होता है और आरम्भ होने पर प्राणातिपात होता है, यह दर्शाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं।

सयं तिवायए पाणे, अदुवा ऽत्रेहिं घायए । हणंतं वा ऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

छाया — स्वयमतिपातयेत्प्राणानथवाऽन्यैर्घातयेत् । म्रन्तं वाऽणुजानाति वैरं वर्धयत्यात्मनः ॥३॥

व्याकरण — (सयं) अव्यय है। (तिवायए) क्रिया। (पाणे) कर्म। (अदुवा) अव्यय। (अत्रेहिं) प्रयोज्य (कर्ता) है। (घायए) प्रेरणार्थक क्रिया विधि लिङ्। (हणंतं) कर्म। (अणुजाणाइ) क्रिया (वा) अव्यय। (वेरं) कर्म। (वड्ढइ) क्रिया। (अप्पणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद

अन्वयार्थ — (सयं) स्वयं-अपने आप (पाणे) प्राणियों को (तिवायए) जो मारता है (अदुवा) अथवा (अत्रेहिं) दूसरे के द्वारा (घायए) घात कराता है (वा) अथवा (हणंतं) प्राणी का घात करते हुए पुरुष को (अणुजाणाइ) अनुज्ञा देता है वह (अप्पणो) अपना (वेरं) वैर (वड्ढइ) बढ़ाता है।

भावार्थ — जो पुरुष स्वयं प्राणियों का घात करता है अथवा दूसरों के द्वारा घात कराता है अथवा प्राणियों का

घात करते हुए पुरुषों को अनुज्ञा देता है वह, मारे जाने वाले प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है ।

टीका - यदिवा-प्रकारान्तरेण बन्धनमेवाह- 'सयं तीत्यादि,' स परिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणि च द्वेषमुपगतस्ततः स्वयमात्मना 'त्रिभ्यो' मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलशरीरेभ्यो वा 'पातयेत्' च्यावयेत् प्राणान् प्राणिनः, अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति, प्राणाश्चामी -

“पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः ।

प्राणा दृश्यते मगवद्विरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥१॥

तथा स परिग्रहाग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति अपरैरपि घातयति, घृतश्चान्यान् समनुजानीते, तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्द्देन जन्मान्तरशतानुबन्ध्यात्मनो वैरं^१ वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परारूपाद् बन्धनान्न मुच्यत इति । प्राणातिपातस्य चोपलक्षणार्थत्वान्मृषावादादयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥३॥

टीकार्थ - अथवा सूत्रकार 'सयं' इत्यादि गाथा के द्वारा दूसरे प्रकार से बंधन का ही स्वरूप बतलाते हैं। वह परिग्रही पुरुष स्वयं असंतुष्ट होकर फिर परिग्रह के उपार्जन में तत्पर होता है और उपार्जित परिग्रह में उपद्रव करने वाले पर वह द्वेष करता है । इस द्वेष के कारण वह स्वयं प्राणी को मन, वचन और काय अथवा आयु, बल और शरीर इन तीनों से नष्ट करता है । अथवा 'तिवायए' इस पद में अकार के लोप होने से 'अतिपातयेत्' यह जानना चाहिए अतः वह परिग्रही पुरुष, प्राणों का विनाश करता है, यह इसका अर्थ है । 'प्राण' ये हैं -

पांच इन्द्रिय, तीन प्रकार का बल, उच्छ्वास, निश्वास और आयु, तीर्थकर मगवान् ने ये दश प्राण कहे हैं, इन प्राणों का वियोग करना हिंसा है ।

परिग्रह में आग्रह रखने वाला वह पुरुष अपने आप ही प्राणियों का घात नहीं करता है, किंतु दूसरे द्वारा भी घात करवाता है और प्राणियों का घात करने वाले दूसरे को अनुमति भी देता है । इस प्रकार वह पुरुष प्राणियों को घात करने, कराने और अनुमति देने रूप तीनों करणों से प्राणियों का घात करके सैकड़ों जन्म के लिए उन प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है । इस कारण वह पुरुष, दुःख परम्परारूप बन्धन से मुक्त नहीं होता है। यहाँ प्राणातिपात उपलक्षण^२ है इसलिए मृषावाद आदि भी बन्ध के कारण जानने चाहिए ॥३॥



- पुनर्बन्धनमेवाश्रित्याह -

- फिर बन्धन के विषय में ही सूत्रकार कहते हैं -

जस्मिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे । ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहि मुच्छिए ॥४॥

छाया - यस्मिं कुले समुत्पन्नो यैर्वा संवसेन्नरः । ममायं लुप्यते बालः, अब्येष्टव्येषु मूर्च्छितः ॥

व्याकरण - (जस्मिं) अधिकरण का विशेषण । (कुले) अधिकरण । (समुप्पन्ने) कर्ता का विशेषण । (जेहिं) सहायक तृतीयांत । (वा) अव्यय । (संवसे) क्रिया । (नरे) कर्ता । (मम) सम्बन्ध षष्ठ्यंत । (लुप्पई) क्रिया । (बाले) कर्ता । (अण्णे अण्णेहि) अधिकरण । (मुच्छिए) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (नरे) मनुष्य (जस्मिं) जिस (कुले) कुल में (समुप्पन्ने) उत्पन्न है (जेहिं वा) अथवा जिसके साथ (संवसे) निवास करता है (ममाइ) उनमें ममत्व बुद्धि रखता हुआ वह (लुप्पई) पीड़ित होता है । (बाले) वह अज्ञानी (अण्णे अण्णेहि) दूसरी दूसरी वस्तुओं में (मुच्छिए) मूर्च्छित है ।

भावार्थ - मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न हुआ है और जिसके साथ निवास करता है, उनमें ममता रखता हुआ वह पीड़ित होता है । वह मूर्ख अन्य-अन्य पदार्थों में आसक्त है ।

टीका - 'जस्मि' मित्यादि, यस्मिन् राष्ट्रकुलादौ कुले जातो यैर्वा सह पांसुक्रीडितैर्वयस्यैर्भार्यादिभिर्वा सह

संवसेन्नरः, तेषु मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावयस्यादिषु ममायमिति-ममत्ववान् स्निहान् लुप्यते विलुप्यते । ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्य्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो बाध्यते-पीड्यते, कोऽसौ ? 'बालः-अज्ञः-सदसद्विवेक-रहितत्वात्, अन्येष्वन्येषु च मूर्च्छितो गृद्धोऽध्युपपन्नो ममत्वबहुल इत्यर्थः । पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति ॥४॥

टीकार्थ - मनुष्य, जिस राठौर आदि कुल में उत्पन्न हुआ है और साथ में धूलि क्रीड़ा किये हुए जिन मित्रों और भार्या आदि के साथ वह निवास करता है, उन माता-पिता-भाई-भगिनी-भार्या और मित्र आदि में "ये मेरे हैं" ऐसी ममता रखकर उनमें स्नेह करता हुआ, वह दुःखित होता है । वह पुरुष, ममता से उत्पन्न कर्म के द्वारा नरक, तिर्य्यञ्च मनुष्य और अमर (देव) रूप संसार में भ्रमण करता हुआ पीड़ित होता है । वह कौन है? वह बाल अर्थात् अज्ञानी है क्योंकि उसको सत् और असत् का विवेक नहीं है । वह अन्य-अन्य वस्तुओं में आसक्त रहता हुआ, उनमें बहुत ममता रखता है । वह पहले माता-पिता में स्नेह करता है, इसके पश्चात् भार्या में स्नेह करता है फिर वह पुत्र आदि में स्नेह करता है ॥४॥



- साम्प्रतं यदुक्तं प्राक् 'किंवा जानन् बन्धनं त्रोटयतीति' अस्य निर्वचनमाह -

- पहले कहा है कि "क्या जानकर जीव बंधन को तोड़ता है ।" इसका समाधान देने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं न ताणइ ।

२संखाए जीवियं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्ठई

॥५॥

छाया - वित्तं सोदर्याश्चैव सर्वमेतन्न त्राणाय । संख्याय जीवितं चैव कर्मणस्तु त्रुट्यति ॥

व्याकरण - (वित्तं सोयरिया) कर्ता (चेव) अव्यय (सव्वमेयं) सर्वनाम, कर्ता का विशेषण (न) अव्यय (ताणइ) चतुर्थ्यन्त । (संखाए) पूर्वकालिक क्रिया (जीवियं) कर्म (चेव) अव्यय (कम्मुणा) करण अथवा अपादान । (उ) अव्यय (तिउट्ठई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (वित्तं) धन दौलत (चेव) और (सोयरिया) सहोदर भाई-भगिनी आदि (एवं सव्वं) ये सब (ण ताणइ) रक्षा के लिए नहीं हैं । (संखाए) यह जानकर (जीवियं चेवं) तथा जीवन को भी स्वल्प जानकर जीव, (कम्मुणा उ) कर्म से (तिउट्ठई) पृथक् हो जाता है ।

भावार्थ - धन, दौलत और भाई, भगिनी आदि ये सब रक्षा के लिए समर्थ नहीं होते हैं, तथा जीवन भी अल्प है, यह जानकर जीव, कर्म से पृथक् हो जाता है ।

टीका - वित्तं द्रव्यं तच्च सचित्तमचित्तं वा, तथा सोदर्या भ्रातृ-भगिन्यादयः, सर्वमपि च 'एतद्' वित्तादिकं संसारान्तर्गतस्यासुमतोऽतिकटुकाः शारीरमानसीर्वेदनाः समनुभवतो न त्राणाय रक्षणाय भवतीत्येतत्संख्याय ज्ञात्वा तथा जीवितं च प्राणिनां स्वल्पमिति संख्याय ज्ञ परिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु सचित्ताचित्तपरिग्रहप्राण्युपघात-स्वजनस्नेहादीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय कर्मणः सकाशात् 'त्रुट्यति' अपगच्छत्यसौ, तु अवधारणे त्रुट्येदेवेति । यदि वा कर्मणा क्रियया संयमानुष्ठानरूपया बन्धनात् त्रुट्यति कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ - द्रव्य को 'वित्त' कहते हैं । वह सचित्त हो अथवा अचित्त हो, तथा भाई-बहिन आदि सहोदर गण, ये सब, अतिकष्टदायी शारीरिक और मानसिक पीड़ा भोगते हुए संसारी प्राणी की रक्षा के लिए समर्थ नहीं होते हैं, यह जानकर, तथा प्राणियों का जीवन भी स्वल्प है, यह ज्ञपरिज्ञा से जानकर पश्चात् प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा सचित्त, अचित्त परिग्रह, जीवघात और स्वजनवर्ग के स्नेह आदि बन्धनस्थानों को छोड़कर जीव कर्म से पृथक् हो जाता है । 'तु' शब्द अवधारणार्थक है । इसलिए वह जीव अवश्य कर्म से पृथक् हो जाता है । यह अर्थ अथवा उक्त बात को जानकर, जीव संयम के अनुष्ठानरूप क्रिया द्वारा बन्धन से छूट जाता है अर्थात् कर्म से

पृथक् हो जाता है, यह अर्थ है ॥५॥



- अध्ययनार्थाधिकाराभिहितत्वात्स्वसमयप्रतिपादनानन्तरं परसमयप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह -

- प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार परसमयवक्तव्यता भी है । यह अध्ययन के अर्थाधिकार में कहा है । अतः स्वसमय कहने के पश्चात्, अब परसमय बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एगं गंधे विउक्कम्म, एगे समण-माहणा ।

अयाणंता विउस्सित्ता सत्ता कामेहि माणवा

॥६॥

छाया - एतान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य एके श्रमणब्राह्मणाः । अज्ञानन्तो व्युत्सिताः सक्ताः कामेषु मानवाः॥

व्याकरण - (एगं गंधे) कर्म (विउक्कम्म) पूर्वकालिक क्रिया । (एगे समण-माहणा) कर्ता (अयाणंता) कर्ता का विशेषण (विउस्सित्ता) कर्ता का विशेषण (सत्ता) कर्ता का विशेषण (कामेहि) अधिकरण (माणवा) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (एगे समण-माहणा) कोई कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण, (एगं गंधे) इन ग्रंथों को (विउक्कम्म) छोड़कर (विउस्सित्ता) स्वसिद्धान्तों में अत्यंत बद्ध हैं । (अयाणंता) ये अज्ञानी (माणवा) मनुष्य (कामेहि) कामभोग में (सत्ता) आसक्त हैं ।

भावार्थ - कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण इन ग्रन्थों को छोड़कर अपने सिद्धान्तों में अत्यंत बद्ध हैं । वे अज्ञानी मनुष्य, कामभोग में आसक्त हैं ।

टीका - एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य परित्यज्य स्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सक्ताः 'सिताः' बद्धाः एके, न सर्वे, इति सम्बन्धः । ग्रन्थातिक्रमश्चेतेषां तदुक्तार्थानभ्युपगमात् । अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितः, तद्यथा- जीवास्तित्वे सति ज्ञानावरणीयादि कर्म बन्धनम्, तस्य हेतवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादादयः परिग्रहारम्भादयश्च, तत् त्रोटनं च सम्यग्दर्शनाद्युपायेन, मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिकः, तदेवमेके श्रमणाः शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः¹ 'एतान्' अर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्य परमार्थमज्ञानानाः, विविधम्-अनेकप्रकारम् उत्-प्राबल्येन सिताः बद्धाः स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः । तथा च शाक्या एवं प्रतिपादयन्ति, यथा-

"सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतो नास्त्यात्मा कश्चित्, किन्तु विज्ञानमेवैकं विवर्तत इति, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यादि ।"

तथा साङ्ख्या एवं व्यवस्थिताः-

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः तस्मात् षोडशकादपि पञ्चभूतानि, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यादि ।"

वैशेषिकाः पुनराहुः- "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्थाः" इति । तथा नैयायिकाः- प्रमाणप्रमेयादीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति व्यवस्थिताः । तथा मीमांसकाः-चोदनालक्षणो धर्मो न च सर्वज्ञः कश्चिद् विद्यते मुक्त्यभावश्चेत्येवमाश्रिताः । चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तो-यथा नास्ति कश्चित् परलोकयायी भूतपञ्चकाद् व्यतिरिक्तो जीवाख्यः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापे स्त इत्यादि । एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः 'मानवाः' पुरुषाः 'सक्ता' गृद्धा अध्युपपन्नाः कामेषु, इच्छामदनरूपेषु, तथा चोचुः-

"एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः । मदे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥१॥"

"पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।

नहि मीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलौवर्म॥२॥

एवं ते तन्त्रान्तरीयाः स्वसमयार्थवासितान्तःकरणाः सन्तो भगवदर्हदुक्तं ग्रन्थार्थमज्ञातपरमार्थाः समतिक्रम्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु सिताः- संबद्धाः कामेषु च सक्ता इति ॥६॥

टीकार्थ - कोई पुरुष इन पूर्वोक्त ग्रन्थों को छोड़कर अपनी रुचि के अनुसार रचे हुए ग्रन्थों में बद्ध हैं। परंतु कोई ही ऐसे हैं सब नहीं। "ये लोग पूर्वोक्त ग्रन्थों का उल्लंघन करते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि ये लोग पूर्वोक्त ग्रन्थों में कहे हुए सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करते हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थों में यह कहा है कि "जीव का अस्तित्व होने पर ज्ञानावरणीय आदि कर्म, बंधन है और उस कर्म के कारणरूप मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद आदि तथा परिग्रह और आरंभ आदि भी बन्धन हैं। इस बन्धन का सम्यग्दर्शन आदि उपाय के द्वारा खण्डन होता है और मोक्ष का भी अस्तित्व है, इत्यादि," परंतु कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण इन अर्हत्कथित ग्रन्थों को अस्वीकार करके परमार्थ को न जानते हुए अनेक प्रकार से अपने सिद्धान्तों में अत्यंत आग्रह रखते हैं। शाक्य लोग कहते हैं कि-

"सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और ज्ञान का आधारभूत कोई आत्मा नहीं है किन्तु एक विज्ञान ही नाना रूपों में परिणत होता रहता है। तथा सभी संस्कार (पदार्थ) क्षणिक हैं इत्यादि।"

एवं सांख्यवादी पदार्थों की व्यवस्था इस प्रकार करते हैं- "सत्त्व, रज और तमस् की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति से महत् यानी बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धि से अहंकार और अहंकार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं। उन सोलह गण से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। चैतन्य, पुरुष का स्वरूप है इत्यादि।" वैशेषिक कहते हैं कि- "द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ हैं। नैयायिक, अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा प्रमाण प्रमेयादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह मानते हैं। मीमांसक कहते हैं कि- "अज्ञात अर्थ को बोधित करनेवाला वैदिकवाक्य 'चोदना' कहलाता है, उस चोदना के द्वारा बोधित अर्थ धर्म है। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है तथा मुक्ति का भी अभाव है इत्यादि। चार्वाकों ने इस प्रकार कहा है कि परलोक में जानेवाला, पाँच महाभूतों से भिन्न कोई जीव नाम का पदार्थ नहीं है और पाप-पुण्य भी नहीं हैं इत्यादि। इस प्रकार का सिद्धान्त मानकर ये लोकायतिक (चार्वाक) पुरुष, इच्छा मदनरूप कामभोग में आसक्त रहते हैं। उन्होंने कहा भी है (एतावानेव) चार्वाकाचार्य्य बृहस्पति अपनी बहिन से कहते हैं कि-

है मर्द ! जितना देखने में आता है उतना ही लोक है। जैसे मूर्ख मनुष्य पृथ्वी पर उखड़े हुए मनुष्य के पंजे को मेडिये के पैर के चिह्न बताते हैं, उसी तरह लोग स्वर्ग-नरक आदि की मिथ्या कल्पना किया करते हैं ॥१॥

हे सुन्दरि ! उत्तमोत्तम मोजन खाओ और पीओ। जो समय चला गया वह तुम्हारा नहीं है, हे मीरु ! गया हुआ समय लौटकर नहीं आता है तथा यह शरीर भी पाँच महाभूतों का पुञ्ज ही है ॥२॥

इस प्रकार अपने सिद्धान्तों से वासित हृदयवाले अन्यदर्शनी, भगवान् अरिहन्त के कहे हुए ग्रन्थों को छोड़कर परमार्थ को न जानते हुए अपने ग्रन्थों में बद्ध और कामभोग में आसक्त रहते हैं ॥६॥



- साम्प्रतं विशेषेण सूत्रकार एव चार्वाकमतमाश्रित्याह -

- अब सूत्रकार ही विशेष रूप से चार्वाकमत का आश्रय लेकर कहते हैं -

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।

पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा

॥७॥

छाया - सन्ति पञ्च महाभूतानीहेकेषामारख्यातानि। पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपञ्चमानि ॥

व्याकरण - (संति) क्रिया (पंच महब्भूया) कर्ता। (इह) अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय (मेगेसि) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहिया) महाभूत का विशेषण। शेष सब महाभूत के विशेषण (वा) अव्यय।

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (पंच) पाँच (महब्भूया) महाभूत (संति) हैं (एगेसि) किन्हींने (आहिया) कहा है। (पुढवी) पृथिवी (आउ)

जल (तेज वा) और तेज (वाउ) वायु (आगासपंचमा) और पाँचवाँ आकाश ।

भावार्थ - पञ्च महाभूतवादियों का कथन है कि इस लोक में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश ये पाँच महाभूत हैं ।

टीका- 'संति' विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम्, 'इह' अस्मिन् लोके 'एकेषां' भूतवादिनाम् 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि स्वयमङ्गीकृतान्यन्येषां च प्रतिपादितानि । तानि चामूनि, तद्यथा-पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपं, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं सुषिरलक्षणमिति, तच्च पञ्चमं येषां तानि तथा, एतानि 'साङ्गोपाङ्गानि प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणावसेयत्वाच्च न कैश्चिदपहनोतुं शक्यानि । ननु च साङ्ख्यादिभिरपि भूतान्यभ्युपगतान्येव, तथाहि साङ्ख्यास्तावदेवमूचुः, तद्यथा- सत्त्वरजस्तमोरूपात् प्रधानान्महान्, बुद्धिरित्यर्थः, महतोऽहङ्कारः- अहमिति प्रत्ययः, तस्मादप्यहङ्कारात्षोडशको गण उत्पद्यते, स चायम्-पञ्च स्पर्शनादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा- गन्धरसरूप-स्पर्शशब्दतन्मात्राख्यानि । तत्र गन्धतन्मात्रापृथिवी, गन्धरसरूपस्पर्शवती । रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः, रूपतन्मात्रातेजो रूपस्पर्शवत्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः स्पर्शवान्, शब्दतन्मात्रादाकाश गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति । तथा वैशेषिका अपि भूतान्यभिहितवन्तः, तद्यथा-पृथिवीत्वयोगात्पृथिवी, सा च परमाणुलक्षणा नित्या, द्व्यणुकादिप्रक्रमनिष्पन्नकार्यरूपतया त्वनित्या । चतुर्दशभिर्गुणै रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्ववेगाख्यैरुपेता, तथाऽप्ययोगादापः, ताश्च रूपरसस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवेगवत्यः, तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एवेति, तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः, तच्च रूपस्पर्शसङ्ख्या-परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाख्यैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत् । तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति । वायुत्वयोगाद् वायुः, स चानुष्णशीतस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगाख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान्, हृत्कम्पशब्दानुष्णशीतस्पर्शल्लिङ्गः, आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा, एकत्वात्तस्य, तच्च सङ्ख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत्, शब्दलिङ्गं चेति । एवमन्यैरपि वादिभिर्भूतसद्भावाश्रयणे किमिति लोकायतिकमतापेक्षया भूतपञ्चकोपन्यास इति ? उच्यते-सांख्यादिभिर्हि प्रधानात् साहङ्कारिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमभ्युपेयते, लोकायतिकैस्तु भूतपञ्चकव्यतिरिक्तं नात्मादिकं किञ्चिदभ्युपगम्यते, इत्यतस्तन्मताश्रयणे-नैव सूत्रार्थो व्याख्यायत इति॥७॥

टीकार्थ - जो महान् भूत हैं, उनको 'महाभूत' कहते हैं । ये महाभूत सर्वलोकव्यापी हैं । इसलिए इनमें महत्त्व विशेषण दिया है । इन महाभूतों का अस्तित्व कहने से भूतों का अभाव बतानेवाले दार्शनिकों का मत खण्डित समझना चाहिए । इस लोक में भूतवादी तथा उनके तीर्थ के स्थापक अथवा भूतवादी उन बृहस्पतिमतानुयायी पुरुषों ने पाँच महाभूतों को स्वयं अङ्गीकार किया है और दूसरों को भी उपदेश दिया है । वे महाभूत ये हैं - (१) पृथिवी कठिन स्वरूपवाली है । (२) जल द्रवस्वरूप है । (३) तेज उष्णरूप है । (४) वायु चलनस्वभाव है । (५) आकाश, छिद्रस्वरूप है । इन भूतों में आकाश पाँचवाँ भूत है । ये पाँचो भूत साङ्गोपाङ्ग प्रसिद्ध हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चय करने योग्य हैं, इसलिए ये किसी के द्वारा मिथ्या नहीं कहे जा सकते हैं ।

(शंका) सांख्य आदि दर्शनों ने भी भूतों को स्वीकार किया ही है क्योंकि सांख्यवादी इस प्रकार कहते हैं कि- सत्त्व-रज और तमोरूप प्रकृति से 'महान्' यानी बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्व से - "मैं" यह ज्ञानरूप अहङ्कार उत्पन्न होता है तथा उस अहङ्कार से सोलह पदार्थों का गण उत्पन्न होता है । वह गण यह है- स्पर्शन आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा, और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय, ग्यारहवाँ मन, और पाँच तन्मात्राये । पाँच तन्मात्राये ये हैं- गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा । इनमें गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न हुई है । वह पृथिवी गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली है । रसतन्मात्रा से जल

उत्पन्न हुआ है। वह रस, रूप और स्पर्श गुणवाला है। रूप तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति हुई है। वह रूप और स्पर्श गुणवाला है। स्पर्श तन्मान्त्रा से वायु उत्पन्न हुआ है, उसका स्पर्श गुण है। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न हुआ है। वह गंध, रस, रूप और स्पर्श से वर्जित है। इसी तरह वैशेषिकों ने भी भूतों का कथन किया है। जैसे कि पृथिवीत्वरूप धर्म के सम्बन्ध से पृथिवी होती है। परमाणुरूप वह पृथिवी नित्य है और द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न होनेवाली कार्यरूपा वह पृथ्वी अनित्य है। वह पृथ्वी ¹रूप, ²रस, ³गंध, ⁴स्पर्श, ⁵संख्या, ⁶परिमाण, ⁷पृथक्त्व, ⁸संयोग, ⁹विभाग, ¹⁰परत्व, ¹¹अपरत्व, ¹²गुरुत्व, ¹³द्रवत्व और ¹⁴वेग नामक चौदह गुणों से युक्त है। तथा जलत्व रूप धर्म के सम्बन्ध से जल होता है। वह भी ¹रूप, ²रस, ³स्पर्श, ⁴संख्या, ⁵परिमाण, ⁶पृथक्त्व, ⁷संयोग, ⁸विभाग, ⁹परत्व, ¹⁰अपरत्व, ¹¹गुरुत्व, ¹²स्वाभाविकद्रवत्व, ¹³स्नेह और ¹⁴वेग नामक गुणों से युक्त है। उस जल का रूप शुक्ल ही है, स्पर्श शीत ही है। तेजस्वरूप धर्म के सम्बन्ध से तेज होता है। वह ¹रूप, ²स्पर्श, ³संख्या, ⁴परिमाण, ⁵पृथक्त्व, ⁶संयोग, ⁷विभाग, ⁸परत्व, ⁹अपरत्व, ¹⁰नैमित्तिक द्रवत्व और ¹¹वेग नामक ग्यारह गुणों से युक्त है। उसका रूप शुक्ल और भास्वर (चमकीला) है तथा स्पर्श उष्ण ही है। वायुत्वरूप धर्म के सम्बन्ध से वायु होता है। वह, ¹अनुष्णशीतस्पर्श, (न गरम न ठंडा) ²संख्या, ³परिमाण, ⁴पृथक्त्व, ⁵संयोग, ⁶विभाग, ⁷परत्व, ⁸अपरत्व और ⁹वेग नामक नव गुणों से युक्त है। हृदय का कम्पन, शब्द और अनुष्णशीतस्पर्श, उसके लिङ्ग (बोधक) हैं। आकाश, यह पारिभाषिक नाम है क्योंकि आकाश एक है। वह, ¹संख्या, ²परिमाण, ³पृथक्त्व, ⁴संयोग, ⁵विभाग और ⁶शब्द नामक छः गुणों से युक्त है और शब्द उसका लिङ्ग (बोधक) है। इसी तरह दूसरे वादियों ने भी भूतों का अस्तित्व स्वीकार किया है, ऐसी दशा में लोकायतिक मत की अपेक्षा से ही पाँच भूतों का कथन क्यों किया गया ?

(समाधान) कहते हैं कि सांख्य आदि दार्शनिक प्रकृति से अहंकार के साथ दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति तथा काल, दिशा और आत्मा आदि दूसरे पदार्थ भी मानते हैं परन्तु लोकायतिक लोग पाँच महाभूतों से भिन्न आत्मा आदि पदार्थ नहीं मानते हैं, इसीलिए लोकायतिक मत की अपेक्षा से ही सूत्रार्थ की व्याख्या की जाती है ॥७॥



- यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह-ए ए पंचमहभूया इत्यादि ।

- जिस प्रकार यह लोकायतिक मत है, वैसा दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं- “ए ए पंच महभूया इत्यादि।”

ए ए पंच महभूया, तेभ्यो एगो ति आहिया ।

अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो

॥८॥

छाया - एतानि पञ्च महाभूतानि, तेभ्य एक इत्यारख्यातवन्तः । अथ तेषां विनाशेन विनाशो भवति देहिणः ॥

व्याकरण - (ए) महाभूत का विशेषण सर्वनाम । (पंच) महाभूत का विशेषण । (महभूया) कर्ता । (तेभ्यो) सर्वनाम अपादानकारक (एगो) सर्वनाम चेतन का बोधक (आहिया) चार्वाक का विशेषण । (अह) अव्यय (तेसिं) विनाश का कर्ता (विणासेणं) हेत्वर्थक तृतीयान्त (विणासो) होइ क्रिया का कर्ता । (होइ) क्रिया (देहिणो) विनाश का कर्ता ।

अन्वयार्थ - (ए) ये (पंच) पाँच (महभूया) महाभूत हैं । (तेभ्यो) इनसे (एगो ति) एक आत्मा उत्पन्न होता है, यह (आहिया) वे, कहते हैं । (अह) इसके पश्चात् (तेसिं) उन भूतों के (विणासेणं) नाश से (देहिणो) आत्मा का (विणासो) नाश (होइ) होता है ।

भावार्थ - पूर्व गाथा में कहे हुए पृथिवी आदि पाँच महाभूत हैं । इन पाँच महाभूतों से एक आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा लोकायतिक कहते हैं । इन महाभूतों के नाश होने से उस आत्मा का भी नाश हो जाता है, यह वे मानते हैं ।

टीका - ‘एतानि’ अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि, तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्य एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति । न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित् परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते । तथा (ते) हि एवं प्रमाणयन्ति- न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त

आत्माऽस्ति तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकं, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य सम्बन्धाभावाद् व्यभिचारसंभवः । सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः । तथा चोक्तम्—

“हस्तस्पर्शादित्वाद्येन विषमे पथि धावता । अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः” ॥१॥

अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि, साक्षादर्थसंबन्धाभावाद्धस्तस्पर्शनेनेव प्रवृत्तिरिति । तस्मात् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणं, यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते, तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति । तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं, तत्कार्यत्वाद्, घटादिवदिति । तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽभावाद्धूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः, जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति । केषाञ्चिल्लोकायतिकानामाकाशस्याऽपि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्धूतपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति ।

ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह—

अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य ‘विनाशोऽपगमे’ वायोस्तेजसश्चोभयोर्वा ‘देहिने’ देवदत्ताख्यस्य ‘विनाशोऽपगमो’ भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तं चैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति ।

अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिरुदाह—

“पञ्चहं संजोए अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो । पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो” ॥३३॥ नि०

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां संयोगे कायाकारपरिणामे चैतन्यादिकः, आदिशब्दाद् भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः, दृष्टान्तस्त्वभ्यूहः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानम् ।

तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः— यदेतद्धूतानां संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एवाहोस्वित् परस्परापेक्षया पारतन्त्र्य इति ? । किं चातः ? । न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह “अण्णगुणाणं चेति” चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि तथाहि— आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आपः पक्वगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः, अवगाहदानगुणमाकाशमिति । यदिवा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैकपरिहान्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि । ‘च’ शब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थः चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावात् तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति । प्रयोगस्त्वत्र— भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्, यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्रापूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति । यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं, तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति । अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह— “पंचिंदियठाणाणं”त्ति, पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि— अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावात् भूतसमुदाये चैतन्यम्—इदमत्र हृदयं—लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि, तेषां च यानि स्थानानि—उपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वात् भूतसमुदाये चैतन्यमिति । इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि, तद्यथा— श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्यापः स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति । प्रयोगश्चात्र नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति, तेषामचेतनगुणारब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणारब्धं तत्तदचेतनं यथा घटपटादीनि, एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभाव एव साधितो भवति । पुनर्हेत्वन्तरमाह— “ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णोत्ति” इहेन्द्रियाणि प्रत्येकभूतात्मकानि तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टृणि, तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीति, अतो मया पञ्चाऽपि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्टृ भवितव्यम्,

तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति । प्रयोगः पुनरेवं- न भूतसमुदाये चैतन्यं तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे सति संकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृहीयाद् देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनाऽपि गृह्येत, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति । ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः, यदा पुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादाविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानाऽपि मदशक्तिरिति, तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति ? अत्रोत्तरं गाथोपात्तचशब्दाक्षिप्तमभिधीयते- यत्तावदुक्तं यथा 'भूतेभ्यः परस्परसव्य-पेक्षसंयोगभाग्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, तत्र विकल्पयामः- किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसङ्गो, न चान्यत् पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्, तेन च तस्याग्रहणात्, प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्याऽपि ग्रहणमस्तु । अथ अभिन्नो भूतेभ्यो संयोगः, तत्राप्येतच्चिन्तनीयम्- किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्त्यचेतनावन्ति वा ? यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिः, तथा (च) समुदायस्य पञ्चप्रकार-चैतन्यापत्तिः । अथाचेतनानि, तत्र चोक्तो दोषो, न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत् तत्समुदाये भवदुपलभ्यते, सिकतासु तैलवदित्यादिना । यदप्यत्रपूर्वोक्तं-यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्युक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती च शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि- किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं च, उदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम् । किञ्च-भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूतानां सद्भावात् । नैतदस्ति तत्र मृतकाये वायोस्तेजसो वाऽभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि- मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः, कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति । अथ सूक्ष्मः कश्चिद् वायुविशेषोऽग्निरा ततोऽपगत इति मतिरिति, एवं च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भवतीति, यत्किञ्चिदेतत् । तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भावः, पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः । अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते । तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति । समुपलभ्यते चायं शरीरेषु, तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहायाङ्गीक्रियतामिति ॥३३॥

यच्चोक्तं प्राक्- 'न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेवैकमित्यादि,' तत्र प्रतिविधीयते- यत्तावदुक्तं 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं नानुमानादिक' मित्येतदनुपासितगुरोर्वचः, तथाहि- अर्थाविसंवादकं प्रमाणमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्यते^१-काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति- "प्रमाणमेताः, अर्थाविसंवादकत्वाद्, अनुभूतप्रत्यक्षव्यक्तिवत्", न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशः, तासां स्वसंविनिष्ठत्वान्मूकत्वाच्च प्रत्यक्षस्य । तथा नानुमानं प्रमाणमित्यनुमानेनैवानुमाननिरासं कुर्वन्चार्वाकः कथं नोन्मत्तः स्याद् ? एवं ह्यसौ तदप्रमाणं प्रतिपादयेद् यथा- नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वात्, अनुभूतानुमानव्यक्तिवदिति, एतच्चानुमानम्, अथ परप्रसिद्धयैतदुच्यते, तदप्युक्तं, यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणमप्रमाणं वा ? प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ?, परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेत्, तदप्यसाम्प्रतं, यदि नाम परो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणमित्यध्यवस्यति, किं भवताऽतिनिपुणेनाऽपि तेनैवासौ प्रतिपाद्यते ? यो ह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकामेनाऽपि बुद्धिमता गुड एव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पाय्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्तमानं वा ?, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नाऽपि निवर्तमानं, यतस्तच्च नाऽस्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसङ्गतं, तथाहि- व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽपि (वि) निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाकदर्शिप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः सम्भाव्यते तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ? तदेवं स्वर्गादेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणा-न्तरमभ्युपगतम्, अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति, तेनाऽऽत्मा सेत्स्यति, किं पुनस्तदिति चेद्, उच्यते, अस्त्यात्मा, असाधारण-तद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत्, चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते, स्पर्शनादीन्द्रियासाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्या त्वनुमीयते, तथाऽऽत्माऽपि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणगुण इत्येतत् पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम् । तथाऽस्त्यात्मा, समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसङ्कलनाप्रत्ययसद्भावात्, पञ्चगवाक्षाऽन्याऽन्योपलब्धार्थसंकलनाविधायकेकदेवदत्तवत् । तथाऽऽत्मा, अर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थ-स्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत् । तथा अर्थापत्त्याऽप्यात्माऽस्तीत्यवसीयते । तथाहि- सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादिक्रियाणां सद्भाव इति, अतः सामर्थ्यादवसीयते- अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, स चाऽऽत्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादि-पूर्विकाऽन्याऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या, तस्यास्त्विदं लक्षणम् -

प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्राऽर्थो नान्यथामवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, सार्थापत्तिरुदाहृता ॥१॥

तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयं, स चायमागमः “अस्थि मे आया उववाइए^१” इत्यादि । यदिवा किमत्रापरप्रमाण-चिन्तया ? सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते, तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवात्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन पटादिप्रत्यक्षवत्, तथाहि- अहं सुख्यहं दुःख्येवमाद्यहं प्रत्यक्षग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्षः, अहं प्रत्यक्षस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद् भेदेन निर्दिश्यमानत्वाद्, इत्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति । तथा यदुक्तं ‘न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदि’ति, एतदप्यसमीचीनं, हेतोरसिद्धत्वात्, तथाहि- न भूतानां चैतन्यं कार्यं, तेषामतद्गुणत्वात्, भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च, इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम् ।

ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्विज्ञेनाश्रितेन ? यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनान्तर्गडुकल्पेनेति, तथाहि- ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनैः कायाकारपरिणतैः सह सम्बन्धे सति सुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्यन्ति, तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति, तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ?

अत्रोच्यते, न ह्यात्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते । तथाहि- प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेत्तुरभावान्मया पञ्चाऽपि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति । आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेदेवं सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात् । न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यमात्मना गुणिना भाव्यमिति । स च न सर्वव्यापी तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात्, घटवत् । नाऽपि श्यामाक तन्दुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा, तावन्मात्रस्योपात्तशरीराव्यापित्वात् । त्वक्पर्यन्तशरीराव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात् । तस्मात्स्थितमिदम्-उपात्तशरीरत्वक्पर्यन्तव्याप्यात्मेति । तस्य चानादिकर्मसम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरुध्यते । कर्मसम्बन्धाच्च सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रि-चतुष्पञ्चेन्द्रियपर्यासापर्यासाद्यवस्था बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति । तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाद्यभावः । एकान्तनित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभावः स्यात्, तस्मात् स्यादनित्यः स्यान्नित्य आत्मेत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥८॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त पृथिवी आदि, जो पाँच महाभूत हैं, इनके शरीर रूप में परिणत होने पर भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है । अतः दूसरे वादियों द्वारा कल्पित, पाँच भूतों से भिन्न, परलोक में जानेवाला, सुख-दुःख भोगनेवाला, जीव नामक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, यह लोकायतिक लोग कहते हैं । वे लोग इसको इस प्रकार प्रमाणित करते हैं- “पृथिवी आदि से भिन्न ‘आत्मा’ नाम का कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसका बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है । प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही है । अनुमान आदि प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनुमान आदि में पदार्थ का इन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है । इसलिए उनका मिथ्या होना संभव है । जब कि अनुमान आदि मिथ्या भी हो सकते हैं, तथा उनमें बाध और असंभव दोष भी हो सकते हैं, तो उनमें प्रमाण

का लक्षण नहीं घटता है और प्रमाण का लक्षण न घटने से किसी भी अनुमान आदि में विश्वास नहीं किया जा सकता है । कहा भी है-

(हस्तस्पर्शादिव) जैसे विषममार्ग में, हाथ के स्पर्श से दौड़ते हुए अंधे मनुष्य का गिरना दुर्लभ नहीं है, इसी तरह अनुमान के बल से पदार्थ की सिद्धि करनेवाले पुरुष से भूल होना कोई कठिन नहीं है ।

यहाँ 'अनुमान' आगम आदि का भी उपलक्षण है । आगम आदि में भी पदार्थ का इन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बंध न होने के कारण हाथ के स्पर्श से अंधे मनुष्य के समान ही प्रवृत्ति होती है । तस्मात् प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है । उस प्रत्यक्ष के द्वारा भूतों से भिन्न आत्मा का ग्रहण नहीं होता है । शरीर के रूप में परिणत पंच महाभूतों के समूह में जो चैतन्य पाया जाता है वह, शरीर के रूप में परिणत पंच महाभूतों से ही प्रकट होता है, जैसे मद्य के अंगों के मिलने पर उनमें मदशक्ति प्रकट होती है । तथा चैतन्यशक्ति, पंच महाभूतों से भिन्न नहीं है क्योंकि वह, पंच महाभूतों का ही कार्य है । जैसे पृथिवी से उत्पन्न घटादि कार्य पृथिवी से भिन्न नहीं है । इस प्रकार पञ्च महाभूतों से भिन्न आत्मा न होने के कारण पञ्च महाभूतों से ही चैतन्य-शक्ति प्रकट होती है, जैसे जल से बुदबुद आदि प्रकट होते हैं । कोई लोकायतिक, आकाश को भी भूत मानते हैं, इसलिए इस गाथा में पाँच भूतों का कथन दोष के लिए नहीं है ।

(शङ्का) यदि पाँच भूतों से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है तो "वह मर गया" यह व्यवहार कैसे हो सकता है ?

(समाधान) शरीर के रूप में परिणत पञ्च महाभूतों से चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन महाभूतों में से किसी के नाश होने पर वायु अथवा तेज अथवा दोनों के हट जाने पर देवदत्त नामक देही का नाश होता है, इसी कारण "वह मर गया" यह व्यवहार होता है, परन्तु कोई जीव नामक पदार्थ शरीर से अलग चला जाता है, यह नहीं है । यही भूतों से अभिन्न चैतन्य शक्ति माननेवाले लोकायतिकों का पूर्वपक्ष है ।

इस मत का समाधान देने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं- (पञ्चणहं) पृथिवी आदि पाँच महाभूतों के परस्पर संयोग होने पर अर्थात् शरीर रूप में परिणत होने पर उनसे चैतन्यगुण तथा आदि शब्द से बोलना, चलना आदि गुण भी उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, यह निर्युक्तिकार प्रतिज्ञा करते हैं । इस गाथा में कहे हुए 'अन्य' आदि, हेतु रूप से कहे गये हैं । दृष्टान्त स्वयं जान लेना चाहिए, वह सुलभ होने के कारण नहीं कहा गया है ।¹

इस विषय में चार्वाक से यह पूछना चाहिए कि- भूतों का संयोग होने पर जो यह चैतन्यशक्ति प्रकट होती है, वह, क्या इन भूतों के संयोग होने पर भी स्वतन्त्रता से ही प्रकट होती है अथवा परस्पर संयोग की अपेक्षा परतन्त्रता से प्रकट होती है ? । इससे क्या ? । समाधान यह है कि- पञ्चभूत, स्वतन्त्रता से चैतन्य शक्ति को नहीं प्रकट कर सकते हैं, अत एव निर्युक्तिकार कहते हैं कि- (अण्णगुणाणं च) अर्थात् जिनका गुण चैतन्य से अन्य है, वे 'अन्यगुण' कहलाते हैं । (पृथिवी आदि, अन्य गुणवाले हैं) क्योंकि आधार देना और काठिन्य, पृथिवी का गुण है । जल का गुण द्रवत्व है । तेज का गुण पाचन है, वायु का गुण चलन है, अवगाहदान- स्थान देना- आकाश का गुण है । अथवा पूर्वोक्त गन्ध आदि क्रमशः एक-एक को छोड़कर पृथिवी आदि के गुण हैं । ये गुण चैतन्य से भिन्न हैं । इस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ चैतन्य से भिन्न गुणवाले हैं । इस गाथा में कहा हुआ 'च' शब्द, दूसरे विकल्प के वक्तव्य को सूचित करता है । चार्वाक को पृथिवी आदि से चैतन्य गुण की उत्पत्ति सिद्ध करनी है, परन्तु पृथिवी आदि महाभूतों का गुण चैतन्य से भिन्न है । इस प्रकार इन भूतों में जब कि प्रत्येक का चैतन्य गुण नहीं है तब फिर इनके समुदाय से भी चैतन्य गुण की सिद्धि नहीं हो सकती है । यहाँ अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए । स्वतन्त्र भूतसमुदाय धर्मी-पक्ष रूप से ग्रहण किया जाता है और उस भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं है, यह साध्य धर्म है । पृथिवी आदि का गुण चैतन्य से भिन्न है, (यह हेतु है) ।

1. पाँच महाभूतों के संयोग से चैतन्य गुण उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि पाँच महाभूतों का चैतन्य गुण नहीं है । अन्य गुणवाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुणवाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे बाळु के ढेर से तेल पैदा नहीं होता । बालु में स्निग्ध गुण न होने के कारण जैसे उससे तेल पैदा नहीं होता, उसी तरह पाँच महाभूतों में चैतन्य न होने के कारण उनके संयोग से चैतन्य गुण उत्पन्न नहीं हो सकता । यह निर्युक्तिकार का आशय है ।

भिन्नगुणवाले पदार्थों का जो-जो समुदाय है, उस-उस समुदाय में अपूर्वगुण की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे बालु के ढेर से स्निग्धगुणवाले तेल की उत्पत्ति नहीं होती है, अथवा घट-पट के समुदाय से खम्भा आदि की उत्पत्ति नहीं होती है। शरीर में चैतन्य देखा जाता है; वह चैतन्य, आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं। यही सिद्ध करने के लिए निर्युक्तिकार दूसरा हेतु भी बतलाते हैं- (पंचिन्द्रियठाणाणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियों के जो उपादान कारण हैं, उनका गुण चैतन्य न होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता है। यहाँ कहने का आशय यह है- लोकायतिक लोग, इन्द्रियों से भिन्न कोई दृष्टा नहीं मानते हैं, इसलिए उनके मत में इन्द्रिय ही द्रष्टा हैं। उन इन्द्रियों के जो उपादान कारण हैं, वे ज्ञानरूप नहीं हैं इसलिए भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता है। इन्द्रियों के उपादान कारण ये हैं- श्रोत्रेन्द्रिय का उपादान आकाश है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय छिद्ररूप है। घ्राणेन्द्रिय का उपादान पृथिवी है, क्योंकि घ्राणेन्द्रिय पृथिवीस्वरूप है। चक्षुरिन्द्रिय का उपादान तेज है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तेजोरूप है। इसी तरह रसनेन्द्रिय का जल और स्पर्शनेन्द्रिय का वायु उपादान कारण हैं। यहाँ अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए- इन्द्रियाँ चैतन्य गुणवाली नहीं हैं क्योंकि वे अचेतन गुणवाले पदार्थों से बनी हैं। अचेतन गुणवाले पदार्थों से जो-जो बना होता है, वह सब अचेतन गुणवाला होता है, जैसे घटःपट आदि। इस प्रकार भी भूतसमुदाय में चैतन्य गुण का अभाव सिद्ध होता है। फिर निर्युक्तिकार दूसरा हेतु बतलाते हैं- (ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो) इन्द्रियाँ प्रत्येक भूतस्वरूप हैं। चार्वाक के मत में दूसरा द्रष्टा न होने के कारण वे ही द्रष्टा हैं। वे इन्द्रियाँ, प्रत्येक अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं। दूसरी इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है, इसलिए अन्य इन्द्रिय द्वारा ज्ञात अर्थ को अन्य इन्द्रिय नहीं जान सकती है, ऐसी दशा में “मैंने पाँच ही विषय जाने” यह सम्मेलनात्मक ज्ञान चार्वाक के मत में नहीं हो सकता है। परन्तु यह सम्मेलनात्मक ज्ञान अनुभव किया जाता है, इसलिए इन्द्रियों से भिन्न कोई एक द्रष्टा अवश्य होना चाहिए। उस द्रष्टा का ही चैतन्य गुण है, भूत समुदाय का नहीं। यहाँ अनुमान का प्रयोग यह है- “भूत समुदाय का चैतन्यगुण नहीं है, क्योंकि भूतों से बनी हुई इन्द्रियाँ, एक-एक विषय का ग्राहक होकर भी सब विषयों के मेलनरूप ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि दूसरे द्वारा जाने हुए अर्थ को दूसरा भी जाने, तो देवदत्त द्वारा जाने हुए अर्थ को यज्ञदत्त भी जानने लगेगा, परन्तु यह देखा नहीं जाता है और इष्ट भी नहीं है।

शङ्का - “शरीर रूप में परिणत महाभूत, स्वतन्त्र रूप से चैतन्यगुण उत्पन्न करते हैं” इस पक्ष में यह दोष है परन्तु जब मिले हुए पञ्च महाभूत परस्पर की अपेक्षा से अर्थात् परस्पर संयोग के कारण चैतन्यगुण उत्पन्न करते हैं, जैसे मिले हुए मद्य के अङ्ग किण्व और जल आदि, परस्पर संयोग के कारण प्रत्येक में न रहनेवाली भी मदशक्ति को उत्पन्न करते हैं, यह पक्ष माना जाता है तब पूर्वोक्त दोष का अवकाश कहाँ है ?।

समाधान - इसका उत्तर गाथा में आये हुए ‘च’ शब्द से आक्षेप करके दिया जाता है- यह जो तुमने कहा है कि “मिले हुए पञ्च महाभूतों से परस्पर संयोग के कारण चैतन्य गुण उत्पन्न होता है” इसका समाधान हम विकल्प के द्वारा देते हैं। मिले हुए पञ्चमहाभूत, जिस संयोग के कारण चैतन्य गुण उत्पन्न करते हैं, वह संयोग उन पञ्च महाभूतों से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि वह संयोग उन महाभूतों से भिन्न है तब तो छट्ठा भूत एक, संयोग भी होना चाहिए परन्तु तुम्हारे मत में पाँच महाभूतों से भिन्न संयोग नामक छठे भूत को ग्रहण करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि तुमने एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है और उस प्रत्यक्ष से संयोग का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि उस संयोग को ग्रहण करने के लिए तुम दूसरा प्रमाण अङ्गीकार करो तब तो उसी दूसरे प्रमाण से जीव का भी ग्रहण समझो।

यदि उस संयोग को भूतों से अभिन्न कहो तो भी यह सोचना चाहिए कि- प्रत्येक भूत, चेतन हैं, अथवा अचेतन हैं ? यदि प्रत्येक भूतों को चेतन कहो तब एक इन्द्रिय की सिद्धि होगी (भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करनेवाली पाँच इन्द्रियों की सिद्धि न हो सकेगी।) ऐसी दशा में पाँच भूतों के समुदाय रूप शरीर का चैतन्य, पाँच प्रकार का होगा।

यदि प्रत्येक भूतों को अचेतन मानो तो इस पक्ष में दोष “जो गुण प्रत्येक में नहीं है, वह उसके समुदाय से भी

उत्पन्न नहीं होता है, जैसे बालु के ढेर से तेल की उत्पत्ति नहीं होती है" इत्यादि ।

तथा चार्वाक ने जो पूर्व में यह कहा है कि- "मद्य के प्रत्येक अङ्गों में न रहनेवाली भी मदशक्ति समुदाय से प्रकट होती है ।" यह भी अयुक्त है क्योंकि किण्व आदि मद्य के अङ्गों में कुछ मदशक्ति अवश्य होती है। किण्व में भूख दूर करने की भ्रमि (शिर में चक्कर) उत्पन्न करने की शक्ति होती है । एवं जल में भी प्यास बुझाने की शक्ति होती है । अतः प्रत्येक भूतों को चेतन नहीं मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समता नहीं हो सकती। यदि भूतों को चेतन मानो तो मरण नहीं हो सकता क्योंकि मरे हुए शरीर में भी पञ्च महाभूत विद्यमान रहते हैं। यदि कहो कि "यह नहीं है क्योंकि मरे हुए शरीर में वायु या तेज नहीं होते हैं, इसलिए मरण होता है" तो यह अशिक्षित पुरुष का प्रलाप है क्योंकि मरे हुए शरीर में सूजन पाई जाती है, इसलिए उसमें वायु का अभाव नहीं है । तथा पाचनस्वरूप कोथ (मवाद उत्पन्न होना) तेज का कार्य है, इसलिए उसमें अग्नि का भी अभाव नहीं है । यदि कहो कि- "उस शरीर से कोई सूक्ष्म वायु अथवा सूक्ष्म तेज निकल जाता है इसलिए मरण होता है" तो इस प्रकार तुम दूसरे नाम से जीव को ही स्वीकार करते हो, इसलिए यह कोई दूसरी बात नहीं है?

तथा भूतों के समुदाय मात्र से चैतन्यगुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि पृथिवी आदि भूतों को एकत्र कर देने पर उनसे चैतन्यगुण उत्पन्न नहीं होता है । यदि कहो कि- "शरीर रूप में परिणत होने पर पञ्च महाभूतों से चैतन्यगुण की उत्पत्ति होती है, तो यह भी नहीं है, क्योंकि दीवाल पर लिपकर बनाई हुई लेप्यमयप्रतिमा में समस्त भूतों के होने पर भी जड़ता ही पायी जाती है । (चैतन्य नहीं पाया जाता) अतः पूर्वोक्त रीति से अन्वयव्यतिरेक के द्वारा विचार करने पर भूतों का धर्म चैतन्यगुण नहीं हो सकता, परन्तु यह शरीरों में पाया जाता है, अतः पारिशेष्यात् यह जीव का ही गुण है, भूतों का नहीं, अतः अपने दर्शन का पक्षपात छोड़कर तुम को यह जैन दर्शन स्वीकार करना चाहिए ।

लोकायतिक ने पहले जो यह कहा है कि- "पृथिवी आदि भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है क्योंकि उस आत्मा का बोधक कोई प्रमाण मिलता नहीं है और प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही है इत्यादि" इसका समाधान दिया जाता है- यह जो कहा है कि "एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, दूसरे अनुमान आदि प्रमाण नहीं हैं" यह गुरु की उपासना नहीं किये हुए पुरुष का प्रलाप है । जो अर्थ को ठीक-ठीक बतलाता है, उसे प्रमाण कहते हैं । प्रत्यक्ष, प्रमाण है, यह भी इस प्रकार बताया जाता है- किन्हीं प्रत्यक्ष व्यक्तियों को धर्मी (पक्ष) रूप से लेकर उनकी प्रमाणता इस प्रकार सिद्ध की जाती है कि- "ये प्रमाण हैं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष व्यक्ति, अर्थ को ठीक-ठीक बतलाते हैं, जैसे अनुभव की हुई प्रत्यक्षव्यक्ति ।" जो प्रत्यक्षव्यक्ति, अपने आत्मा में ज्ञात है, उसके द्वारा वह प्रत्यक्ष कर्ता दूसरे के प्रति व्यवहार नहीं कर सकता क्योंकि वह प्रत्यक्षव्यक्ति, उस प्रत्यक्ष कर्ता की ही बुद्धि में स्थित है और प्रत्यक्ष मूक होता है । तथा "अनुमान प्रमाण नहीं है" यह भी अनुमान के द्वारा ही अनुमान का खण्डन करता हुआ चार्वाक कैसे उन्मत्त नहीं हो सकता ? चार्वाक, अनुमान को इस प्रकार अप्रमाण कह सकता है, जैसे कि- "अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह अर्थ को ठीक-ठीक नहीं बतलाता, जैसे अनुभव की हुई अनुमान व्यक्ति।"

1. अपना प्रत्यक्ष, अपने ही अनुभव में आता है, दूसरे की बुद्धि में नहीं आ सकता और ऐसा कोई साधन भी नहीं है, जिससे अपना प्रत्यक्ष दूसरे की बुद्धि में भी स्थापित किया जा सके । वाणी द्वारा समझाकर अपना प्रत्यक्ष दूसरे को बताया जाता है और उससे श्रोता को ज्ञान भी होता है परन्तु वह ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं है, वह तो शब्द सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान है, उसे शब्दबोध कहते हैं । प्रत्यक्षज्ञान वह है जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा अपने अनुभव में आता है । वह अनुभव अपनी ही बुद्धि में रहता है, दूसरे की बुद्धि में नहीं रखा जा सकता, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान को गूंगे की तरह कहते हैं । वह प्रत्यक्ष, प्रमाण है, यह बात प्रत्यक्ष कर्ता ही जानता है, दूसरा पुरुष नहीं जानता क्योंकि दूसरे पुरुष की बुद्धि में वह प्रत्यक्ष स्थित नहीं है, अतः दूसरे पुरुष के प्रति अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता वाणी द्वारा कहकर समझाई जाती है । वह वाणी अनुमान के अङ्गस्वरूप पञ्चावयवात्मक वाक्य है । जैसे कि- "मेरा यह प्रत्यक्ष, प्रमाण है क्योंकि यह अर्थ को ठीक-ठीक बतलाता है, जैसे मेरा अनुभव किया हुआ पटप्रत्यक्ष । मेरा अनुभव किया हुआ पटप्रत्यक्ष ने जैसे सत्य अर्थ को बताया था, इसी तरह यह घटप्रत्यक्ष भी सत्य अर्थ को बताता है, अतः सत्य अर्थ को बताने के कारण यह घट प्रत्यक्ष भी प्रमाण है, इस प्रकार अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पड़ता है, अतः अनुमान को प्रमाण न मानना अज्ञान का फल है ।

परन्तु यह भी अनुमान ही है । यदि कहो कि दूसरे लोग अनुमान को प्रमाण मानते हैं, इसलिए उनकी प्रसिद्धि से हम भी अनुमान का आश्रय लेकर ही अनुमान का खण्डन करते हैं, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि परमतप्रसिद्ध अनुमान तुम्हारे मत में प्रमाण है या नहीं ? यदि प्रमाण है तो तुम अनुमान को अप्रमाण कैसे कहते हो ? और यदि अनुमान प्रमाण नहीं है तो उसके द्वारा तुम दूसरे को क्यों समझाते हो ? यदि कहो कि “दूसरा अनुमान को प्रमाण मानता है, इसलिए हम अनुमान के द्वारा ही उसे समझाते हैं ।” तो यह भी असङ्गत है क्योंकि दूसरा पुरुष मूर्खतावश यदि अप्रमाण को ही प्रमाण मानता है तो तुम अति निपुण होकर भी उसी अप्रमाण के द्वारा उसे क्यों समझाते हो ? यदि कोई मूर्ख गुड़ को ही विष मानता है, तो क्या बुद्धिमान् पुरुष भी उसे मारने के लिए गुड़ ही देता है ? अतः प्रत्यक्ष की प्रमाणता और अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध करते हुए तुम्हारे निकट, तुम्हारी इच्छा न होने पर भी अनुमान की प्रमाणता बलात् आ जाती है ।

तथा स्वर्ग और मोक्ष का निषेध, तुम किस प्रमाण से करते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वर्ग और मोक्ष का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष, स्वर्ग और मोक्ष में प्रवृत्त होकर उनका निषेध करेगा अथवा उनसे निवृत्त होकर ? स्वर्ग और मोक्ष में प्रवृत्त होकर प्रत्यक्ष उनका निषेध नहीं कर सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष का अभावविषयकवस्तु के साथ विरोध होता है, अर्थात् जो वस्तु नहीं है, उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है। तुम्हारे मत में स्वर्ग और मोक्ष आदि जब कि हैं ही नहीं, तो उनमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है और स्वर्ग तथा मोक्ष में जब कि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं है तो प्रत्यक्ष, प्रवृत्त होकर स्वर्ग और मोक्ष आदि का निषेध कैसे कर सकता है ? प्रत्यक्ष, निवृत्त होकर स्वर्ग और मोक्ष आदि का निषेध करता है, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि स्वर्ग आदि जब प्रत्यक्ष नहीं है, तब प्रत्यक्ष से उनका निश्चय हो यह नहीं हो सकता । बात यह है कि- व्यापक पदार्थ की निवृत्ति होने पर व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति मानी जाती है परन्तु सामने के पदार्थ को बतानेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण, समस्त वस्तुओं का व्यापक नहीं है अर्थात् वह समस्त पदार्थों का ज्ञान करानेवाला नहीं है, अतः प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने पर पदार्थ की निवृत्ति हो जाय अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं वह वस्तु न हो, यह कैसे हो सकता है ? अतः स्वर्ग आदि का प्रतिषेध करते हुए चार्वाक ने अवश्य ही दूसरा प्रमाण भी स्वीकार कर लिया । तथा दूसरे के अभिप्राय का ज्ञान मानने के कारण चार्वाक ने स्पष्ट ही दूसरा प्रमाण मान लिया । अन्यथा चार्वाक ने दूसरे को समझाने के लिए शास्त्र की रचना क्यों की है ? अतः इस विषय में विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न दूसरा प्रमाण भी सिद्ध होता है । अतः उस प्रमाण से आत्मा भी सिद्ध होगा। वह कौन सा प्रमाण है ? कहते हैं- आत्मा का अस्तित्व है, क्योंकि उसका असाधारण गुण पाया जाता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय । चक्षुरिन्द्रिय, अति सूक्ष्म होने के कारण साक्षात् ज्ञात नहीं होती है, परन्तु जैसे स्पर्शन आदि इन्द्रियों से न होने योग्य रूप विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति से वह अनुमान की जाती है इसी तरह आत्मा भी पृथिवी आदि में न होनेवाले चैतन्य गुण को देखकर अनुमान किया जाता है । चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है, यह पृथिवी आदि भूत समुदाय में चैतन्य गुण का निराकरण करने से जानना चाहिए । तथा आत्मा अवश्य है, क्योंकि समस्त इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए अर्थों का सम्मेलनात्मक¹ ज्ञान देखा जाता है, जैसे पाँच गवाक्षों (खिड़कियों) के द्वारा जाने हुए अर्थों को मिलानेवाला एक देवदत्त होता है । तथा पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला आत्मा है, इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय के नाश होने पर भी उसके द्वारा जाने हुए अर्थ का स्मरण होता है, जैसे गवाक्ष

1. “मैंने पाँच ही विषयों को जाना” यह ज्ञान, सम्मेलनात्मक ज्ञान है । यह ज्ञान, सब विषयों को जाननेवाला एक आत्मा माने बिना नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ही प्रत्यक्ष करती है । आँख, रूप ही देखती है, स्पर्श आदि नहीं जानती । तथा स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को ही प्रत्यक्ष करती है, रूप आदि को नहीं जानती, ऐसी दशा में उक्त सम्मेलनात्मक ज्ञान, इन्द्रियों का नहीं कहा जा सकता है, अतः इन्द्रियों के द्वारा सब अर्थों को प्रत्यक्ष करनेवाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए । वह आत्मा ही सब विषयों को प्रत्यक्ष करता है और पाँच खिड़कियों के समान पाँच इन्द्रियाँ उसके प्रत्यक्ष के साधन हैं ।

(खिड़की) नष्ट होने पर भी उसके द्वारा जाने हुए अर्थ को देवदत्त स्मरण¹ करता है ।

इसी तरह अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । जैसे कि- लेप्यकर्म आदि में, पृथिवी आदि भूतसमुदाय होते हुए भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रियायें नहीं होती हैं, इससे निश्चित होता है कि- सुख, दुःख और इच्छा आदि क्रियाओं का समवायी कारण, भूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है । वह पदार्थ आत्मा है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानादिमूलक अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि समझनी चाहिए।

उस अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण यह है- (प्रमाणषट्क) अर्थात् “जिस पदार्थ का अन्य पदार्थ के बिना न होना छः ही प्रमाणों से निश्चित है, वह पदार्थ अपनी सिद्धि के लिए जो अन्य अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करता है, उसे अर्थापत्ति², कहते हैं ।” तथा आगम से भी आत्मा का अस्तित्व जानना चाहिए । वह आगम यह है- (अथि मे) अर्थात् “परलोक में जानेवाली मेरी आत्मा है” इत्यादि । अथवा आत्मा का साधन करने के लिए दूसरा प्रमाण ढूँढने की क्या आवश्यकता है ? सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा का ज्ञान गुण, प्रत्यक्ष है और वह ज्ञान गुण, अपना गुणी आत्मा से अभिन्न है । इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष ही है, जैसे रूप आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने पर पट आदि प्रत्यक्ष होता है । आशय यह है कि- “मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ” इत्यादि । “मैं” इस ज्ञान से ग्रहण किया जाने वाला आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि “मैं” यह ज्ञान, आत्मा का ही ज्ञानरूप है । तथा “मेरा यह शरीर है, मेरा पुराना कर्म है” इत्यादि, व्यवहारों से आत्मा शरीर से पृथक् बतलाया जाता है । इसी तरह आत्मा की सिद्धि के लिए दूसरे प्रमाण भी स्वयं जान लेने चाहिए।

तथा चार्वाकों ने जो यह कहा है कि- “चैतन्य पाँच महाभूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह महाभूतों का कार्य है, जैसे घट आदि” । यह भी असङ्गत है क्योंकि इसमें हेतु असिद्ध है । जैसे कि- भूतों का कार्य चैतन्य नहीं है, क्योंकि भूतों का चैतन्य गुण नहीं है, यह पहले ही “भूतों का कार्य चैतन्य मानने पर ‘मैं पाँच ही विषयों को जानता हूँ’, यह सम्मेलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है, इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा बता दिया गया है । अतः भूतों से भिन्न, ज्ञान का आधार आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध हुआ ।

शङ्का - ज्ञानों का आधारभूत और ज्ञान से भिन्न आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि ज्ञान से ही सभी सम्मेलनात्मक ज्ञान आदि भी सिद्ध हो सकते हैं । अतः शरीर की मेदग्रन्थि की तरह एक व्यर्थ आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? । ज्ञान से ही सभी व्यवहार हो सकता है । यह इस प्रकार समझना चाहिए। ज्ञान ही चैतन्यरूप है उसका, शरीर रूप में परिणत अचेतन भूतों के साथ सम्बन्ध होने पर सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रिया उत्पन्न होती हैं, तथा उसी को सम्मेलनात्मक ज्ञान होता है और वही ज्ञान दूसरे भव में भी जाता है । इस प्रकार सब विषयों की व्यवस्था हो जाने पर आत्मा की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

समाधान- इसका समाधान बताया जाता है । ज्ञान का आधारभूत, ज्ञान से भिन्न आत्मा माने बिना अनेक वस्तुओं का सम्मेलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है । जैसे कि- प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं, दूसरी इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है, ऐसी दशा में सब विषयों को जानने वाला किसी एक आत्मा के न होने से “मैंने पाँच ही विषय जाने” यह सम्मेलनरूप ज्ञान नहीं हो सकता है । यदि कहो

1. जो पुरुष, किसी पदार्थ को देखता है, वही दूसरे समय में उस पदार्थ को स्मरण करता है, परन्तु जो देखता नहीं है, वह स्मरण नहीं कर सकता है । देवदत्त ने जो देखा है, उसे वही स्मरण कर सकता है, यज्ञदत्त उसे नहीं कर सकता है । देवदत्त ने नेत्र द्वारा जिस पदार्थ को कभी देखा है, उसको वह, नेत्र नष्ट होने पर भी स्मरण करता है, यह अनुभव सिद्ध है । यदि नेत्र द्वारा पदार्थ को देखनेवाला नेत्र से भिन्न आत्मा नहीं है तो नेत्र नष्ट होने पर नेत्र के द्वारा देखे हुए अर्थ को देवदत्त कैसे स्मरण कर सकता ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करनेवाला इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा अवश्य है । जैसे पाँच खिड़कियों के द्वारा देवदत्त वस्तु को प्रत्यक्ष करता है, उसी तरह वह आत्मा पाँच इन्द्रियों के द्वारा रूप आदि विषयों को प्रत्यक्ष करता है।
2. “पीनोऽयं देवदत्तोः दिवा न भुङ्क्ते” अर्थात् यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है । बिना खाये कोई मोटा नहीं हो सकता है, यह सभी प्रमाणों से निश्चित है। परन्तु यहाँ देवदत्त का दिन में खाना निषेध किया है और साथ ही उसे मोटा भी कहा है । परन्तु खाये बिना वह मोटा नहीं हो सकता है । इसलिए जाना जाता है कि वह रात में भोजन करता है । यहाँ रात में देवदत्त का भोजन करना कहा नहीं है, तो भी वह अर्थापत्ति प्रमाण से जाना जाता है । यही अर्थापत्ति का उदाहरण है ।

कि एक आलय विज्ञान भी है, अतः उससे सम्मेलनात्मक ज्ञान भी होगा, तो तुमने आत्मा का ही एक दूसरा नाम आलयविज्ञान रखा है । ज्ञान गुण है, वह गुणी के बिना नहीं हो सकता है । इसलिए ज्ञान गुण का गुणी आत्मा अवश्य होना चाहिए । वह आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, क्योंकि उसका गुण स्वरूप ज्ञान, सब जगह नहीं पाया जाता है, जैसे घट का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता है । तथा वह आत्मा श्यामाक (धान्य विशेष) के दाने के बराबर अथवा अंगूठे के पर्व के समान भी नहीं है, क्योंकि इतना छोटा आत्मा, ग्रहण किये हुए शरीर को व्याप्त नहीं कर सकता है । उस आत्मा का चर्मपर्यन्त समस्त शरीर में व्याप्त होना पाया जाता है । अतः सिद्ध होता है कि वह आत्मा चर्मपर्यन्त समस्त शरीर व्यापी है । संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बँधा हुआ है । वह कभी-भी अपने स्वरूप में स्थित नहीं है, इसलिए अमूर्त होने पर भी उस आत्मा का मूर्त कर्म के साथ संबंध होने में कोई विरोध नहीं आता है । कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण उस आत्मा की सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं । वह आत्मा यदि एकान्त क्षणिक हो तो ध्यान, अध्ययन, श्रम और प्रत्यभिज्ञा (पहिचानना) आदि नहीं हो सकते हैं और एकान्त नित्य होने पर नारक, तिर्यक्, मनुष्य और अमरगति रूप उसका परिणाम नहीं हो सकता है । तस्मात् वह आत्मा कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है । अतः इस विषय में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ॥८॥



- साम्प्रतमेकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्रदर्शितं पूर्वपक्षयितुमाह-

- अब सूत्रकार, प्रथम उद्देशक के अर्थाधिकार में कहे हुए एकात्माद्वैतवाद को पूर्वपक्ष में रखते हुए कहते हैं-

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।

एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ

॥९॥

छाया - यथा च पृथिवीस्तूप एको बान्ना हि दृश्यते । एवं भोः । कृत्स्नो लोकः, विद्वान् बान्ना हि दृश्यते ॥

व्याकरण - (जहा य) अव्यय (पुढवीथूभे) प्रथमान्त दीसइ क्रिया का कर्म (एगे) पुढवीथूभे का विशेषण । (नाणाहि) अव्यय (दीसइ) क्रिया, कर्मवाच्य । (एवं) अव्यय (भो !) सम्बोधनार्थ अव्यय (कसिणे लोए) विन्नू का विशेषण (विन्नू) दीसइ क्रिया का कर्म । (नाणाहि) अव्यय (दीसइ) कर्मवाच्य क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (एगे य) एक ही (पुढवीथूभे) पृथिवीसमूह (नाणाहि) नानारूपों में (दीसइ) देखा जाता है । (भो) हे जीवों! (एवं) इसी तरह (विन्नू) आत्मस्वरूप (कसिणे) समस्त (लोए) लोक (नाणाहि) नानारूपों में (दीसइ) देखा जाता है ।

भावार्थ - जैसे, एक ही पृथिवीसमूह, नानारूपों में देखा जाता है, उसी तरह एक आत्मस्वरूप यह समस्त जगत् नाना रूपों में देखा जाता है ।

टीका - दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः, यथेत्युपप्रदर्शने, च शब्दोऽपिशब्दार्थे, स च भिन्नक्रम एगे इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथ्वीस्तूपः पृथिवीसंघाताख्योऽवयवी, स चैकोऽपि यथा नानारूपः- सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते, न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवति, 'एवम्' उक्तरीत्या 'भो' इति परामन्त्रणे, कृत्स्नोऽपि लोकः-चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते, इदमत्र हृदयम्- एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्यादिभूताद्याकारतया नाना दृश्यते, न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति, तथा चोक्तम्-

“एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥९॥”

तथा 'पुरुष एवेदं ग्रिं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' इत्यात्माद्वैतवादः ॥९॥

टीकार्थ - दृष्टान्त के बल से ही पदार्थ का स्वरूप जाना जाता है, इसलिए सूत्र में पहले दृष्टान्त का

कथन किया है। गाथा में 'यथा' शब्द दृष्टान्त का द्योतक है। 'च' शब्द अपि शब्द के अर्थ में आया है। उसका क्रम भिन्न है। इसलिए 'च' शब्द को 'एके' पद के पश्चात् समझना चाहिए। पृथिवी रूप जो समूह है अथवा पृथिवी का समूह रूप जो अवयवी है, वह एक होने पर भी जैसे नदी, समुद्र, पर्वत और नगर की स्थिति के आधार आदि रूप से विचित्र देखा जाता है, अथवा नीचा, ऊँचा, मृदु, कठिन, रक्त और पीत भेद से नाना प्रकार का देखा जाता है फिर भी इस भेद के कारण उस पृथिवी तत्त्व का भेद नहीं होता है। इसी प्रकार हे शिष्यों! चेतन और अचेतन रूप यह समस्त लोक एक आत्मा ही है। कहने का आशय यह है कि— एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा, पृथिवी आदि भूतों के आकार में नाना प्रकार का देखा जाता है, परन्तु इस भेद के कारण उस आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता है। जैसा कि कहा है—

(एक एव ही) एक ही आत्मा सभी भूतों में स्थित है। वह एक होकर भी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान नाना रूप में दीखाई देता है।

तथा (पुरुष०) इस जगत् में जो हो चुका है और जो आगे होनेवाला है वह सब पुरुष (आत्मा) ही है। वही आत्मा देवत्व का अधिष्ठाता है और वही प्राणियों के भोग के लिए कारणावस्था को छोड़कर जगत् रूप को धारण करता है।

'वह गतिशील है और गतिरहित भी है वह दूर है, और निकट भी है। वह सब के अन्दर है और बाहर भी है। यह आत्माद्वैतवाद समाप्त हुआ ॥९॥



— अस्योत्तरदानायाह ।

— इस आत्माद्वैतवाद का उत्तर देने के लिए कहते हैं —

एवमेवेति जप्सन्ति, मन्दा आरम्भणिस्सिआ ।

एगे किच्चा सयं पावं, तिक्वं दुक्खं नियच्छइ

॥१०॥

छाया - एवमेक इति जल्पन्ति मन्दा आरम्भणिःश्रिताः । एके कृत्वा स्वयं पापं, तीव्रं दुःखं नियच्छन्ति ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय । (एगे) कर्ता । (त्ति) अव्यय । (जप्सन्ति) क्रिया । (मन्दा आरम्भणिस्सिआ) कर्ता के विशेषण । (एगे) कर्ता । (सयं) अव्यय । (किच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (पावं) कर्म (तिक्वं) दुःख का विशेषण । (दुक्खं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (एगे) कोई (मन्दा) अज्ञानी पुरुष (त्ति) एक ही आत्मा है यह (जप्सन्ति) बतलाते हैं । परन्तु (आरम्भणिस्सिआ) आरम्भ में आसक्त (एगे) कोई पुरुष ही (पावं) पाप (किच्चा) करके (सयं) स्वयं (तिक्वं) तीव्र (दुक्खं) दुःख को (नियच्छइ) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - कोई अज्ञानी पुरुष, एक ही आत्मा है, ऐसा कहते हैं, लेकिन आरम्भ में आसक्त रहनेवाले जीव ही पाप कर्म करके स्वयं दुःख भोगते हैं, दूसरे नहीं ।

टीका - 'एव'मिति अनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपप्रदर्शनम् 'एके' केचन पुरुषकारणवादिनो 'जल्पन्ति' प्रतिपादयन्ति, किंभूतास्ते इत्याह- 'मन्दा' जडाः सम्यक्परिज्ञानविकलाः, मन्दत्वं च तेषां युक्तिविकलात्माद्वैतपक्षसमाश्रयणात्, तथाहि- यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः- प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' केचन आरम्भे- प्राण्युपमर्दनकारिणि व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः सम्बद्धा अध्युपपन्नाः, ते च संरम्भसमारम्भात्मैः कृत्वा उपादाय स्वयमात्मना पापमशुभ-प्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छतीति । आर्षत्वादबहुवचनार्थे एकवचनमकारि ततश्चायमर्थो- निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यंतया गच्छन्ति- प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इति, एतन्न स्याद्, अपि त्वेकेनापि अशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसम्बन्धः स्याद्, एकत्वादात्मन इति, न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि- य एव कश्चिदसमज्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवनुपलभ्यते नान्य इति, तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावः, तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च

स्यादिति । एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते, तद्यथा- पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते, यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्, न चैवं, तस्मान्नैक आत्मा । भूतानां चान्यान्यगुणत्वं न स्याद्, एकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात् । तथा पञ्चेन्द्रियस्थानानां- पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञात्वा विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद् यद्येक एवात्मा स्यादिति ॥१०॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'एवं' शब्द, पूर्वोक्त आत्माद्वैतवाद को प्रदर्शित करने के लिए आया है । पुरुष (ब्रह्म) को जगत् का कारण बतानेवाले कोई, इस प्रकार कहते हैं । वे, कैसे हैं ? यह सूत्रकार बतलाते हैं - वे मन्द-जड़-अर्थात् सम्यग् विवेक से रहित हैं । उनकी मूर्खता यह है कि- वे युक्तिरहित एकात्मवाद को मानते हैं । एकात्मवाद इस प्रकार युक्तिरहित है- यदि आत्मा एक ही है, बहुत नहीं है तो प्राणियों के विनाश रूप व्यापार में आसक्त जो किसान आदि प्राणी हैं, वे संरम्भ¹, समारम्भ² और आरम्भ³ के द्वारा स्वयं पाप उपार्जन करके अशुभ प्रकृति रूप असाता का उदयरूप तीव्र दुःख को अथवा तीव्र दुःख के अनुभवस्थान नरक आदि को प्राप्त करते हैं। यहाँ बहुवचन के अर्थ में आर्ष होने के कारण एकवचन किया है, इसलिए इसका यह अर्थ है कि- जो आरम्भ में आसक्त हैं, वे ही नरक आदि स्थानों को अवश्य प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं करते । यह नहीं हो सकता किन्तु एक के अशुभ कर्म करने पर शुभ कर्म करनेवाले सभी पुण्यात्माओं को भी तीव्र दुःख होना चाहिए, क्योंकि सब का आत्मा एक है, परन्तु यह नहीं देखा जाता है, किन्तु जो पुरुष, निन्दित कर्म करता है, वही इस लोक में उस कर्म के अनुसार फल भोगता हुआ पाया जाता है, दूसरा नहीं ।

तथा आत्मा को सर्वव्यापी मानने पर बन्ध और मोक्ष का अभाव होगा । एवं जिसको शास्त्र का उपदेश किया जाता है और जो शास्त्र का उपदेश करता है, उन दोनों का भेद न रहने के कारण शास्त्र की रचना भी नहीं हो सकती। इस विषय से मिलनेवाली होने के कारण पूर्वोक्त निर्युक्तिगाथा का ही यहाँ भी व्याख्यान किया जाता है । जैसे कि- शरीर रूप में परिणत पृथिवी आदि पाँच भूतों में चैतन्य पाया जाता है, परन्तु यदि एक ही व्यापक आत्मा है, तो घट आदि में भी चैतन्य पाया जाना चाहिए । परन्तु घट आदि में चैतन्य नहीं पाया जाता है, इसलिए आत्मा एक नहीं है । तथा एक आत्मा होने पर पृथिवी आदि भूतों का भिन्न-भिन्न गुण नहीं हो सकता है क्योंकि वे, एक आत्मा से भिन्न नहीं हैं । तथा यदि एक ही आत्मा हो तो पाँच इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होनेवाले रूपादि विषयों में दूसरे पुरुष के द्वारा जाने हुए विषय को दूसरा पुरुष नहीं जानता है, यह भी नहीं हो सकता⁴ ॥१०॥



- साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह -

- अब सूत्रकार, तज्जीवतच्छरीरवादी के मत को पूर्वपक्ष में रखने के लिए कहते हैं -

पतेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पण्डिआ ।

सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया

॥११॥

छाया - प्रत्येकं कृत्स्ना आत्मनः, ये बाला ये च पण्डिताः ।

सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति, न सन्ति सत्त्वा औपपातिकाः ॥

1. प्राणियों के विनाश का विचार करना 'संरम्भ' है ।
2. जिससे प्राणियों का विनाश होता है वह व्यापार करना समारम्भ है ।
3. सावध अनुष्ठान करना आरम्भ है ।
4. सब प्राणियों का एक आत्मा है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि जो पुरुष पाप कर्म करता है, वही दुःख भोगता है, दूसरा नहीं भोगता है । परन्तु सब का आत्मा एक होने पर जो पापी नहीं है, उस आत्मा को भी दुःख होना चाहिए, क्योंकि पापी का आत्मा के साथ उसके आत्मा का कोई भेद नहीं है । तथा आत्मा को सर्व-व्यापक मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर रूप में परिणत पाँच भूतों में ही चैतन्य पाया जाता है, घट-पट आदि पदार्थों में नहीं । अतः आत्मा सर्वव्यापक नहीं है तथा देवदत्त के ज्ञान को यज्ञदत्त नहीं जानता है, यह निर्विवाद है । यदि सब का आत्मा एक है तो देवदत्त का ज्ञान, यज्ञदत्त को भी होना चाहिए परन्तु नहीं होता है, अतः सबका एक आत्मा मानना अयुक्त है। यही यहाँ के मूल और टीका का आशय है ।

व्याकरण - (पत्तेअं) अव्यय । (कसिणे) आत्मा का विशेषण (आया) संति क्रिया का कर्ता (जे बाला जे पंडिआ) 'जे' सर्वनाम 'बाला' 'पंडिआ' आत्मा के विशेषण हैं । (संति) क्रिया (पिच्चा) पूर्वकालिक क्रिया । (न) अव्यय (ते) सर्वनाम, आत्मा का बोधक है । (सत्तोववाइया) 'उववाइया' सत्त्व का विशेषण । 'सत्ताः' कर्ता (न) अव्यय (अत्थि) क्रिया ।

भावार्थ - जो अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी हैं, उन सबका आत्मा भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है । मरने के पश्चात् आत्मा नहीं रहता है । अतः परलोक में जानेवाला कोई नित्य पदार्थ नहीं है ।

टीका - तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः- यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते अभिव्यज्यते वा, तेनैकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः, ये 'बाला' अज्ञा ये च 'पण्डिताः' सदसद्विवेकज्ञास्ते सर्वे पृथग्व्यवस्थिताः, नह्येक एवात्मा सर्वव्यापित्वेनाऽभ्युपगन्तव्यो, बालपण्डिताद्य-विभागप्रसङ्गात् ।

ननु प्रत्येकशरीराश्रयत्वेनात्मबहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याह- 'सन्ति' विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते, तथाहि- कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघटने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते^१, इत्येतदेव दर्शयति- 'पिच्चा न ते संतीति' 'प्रेत्य' परलोके न ते आत्मानः 'सन्ति' विद्यन्ते, परलोकानुयायी शरीराद्विन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येवमत आह- 'नत्थि सत्तोववाइया' 'अस्ति' शब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः । तदयमर्थः- 'न सन्ति' न विद्यन्ते 'सत्ताः' प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका- भवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्यार्थः । तथाहि तदागमः- "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सङ्ज्ञाऽस्तीति" ।

ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेष इति ? अत्रोच्यते, भूतवादिनो भूतान्येव कायाकारपरिणतानि धावनवल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्ति, अस्य तु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याख्य आत्मोत्पद्यते-ऽभिव्यज्यते वा, तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥११॥

टीकार्थ - तज्जीवतच्छरीरवादियों का यह मन्तव्य है- शरीर रूप में परिणत पाँच महाभूतों से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है, अथवा प्रकट होती है । अतः प्रत्येक शरीर में प्रत्येक आत्मा जुदा-जुदा है । सभी आत्मा, इसी तरह स्थित हैं । अज्ञानी और सत् तथा असत् का भेद जाननेवाले ज्ञानी, सभी भिन्न-भिन्न हैं । सर्वव्यापी एक ही आत्मा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञानी और अज्ञानी का विभाग नहीं हो सकता । कहते हैं कि- "आर्हतों को भी प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् स्थित बहुत आत्मा मानना अभीष्ट ही है, फिर तुम उक्तमतवादी का ही यह सिद्धान्त क्यों कहते हो ?" यह शङ्का करके सूत्रकार कहते हैं कि- "संति" अर्थात् जब तक शरीर विद्यमान रहता है, तब तक ही आत्मा भी स्थित रहता है, परन्तु शरीर का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि शरीर रूप में परिणत पञ्चमहाभूतों से चैतन्य प्रकट होता है और उनके अलग-अलग होने पर वह चैतन्य नष्ट हो जाता है, क्योंकि शरीर से निकलकर अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य नहीं देखा जाता है, यह तज्जीवतच्छरीरवादियों का मत है । यही दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि- "पिच्चा न ते संति" । अर्थात् अपने कर्मों का फल भोगनेवाला परलोकगामी शरीर से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है, यह तज्जीव-तच्छरीरवादियों का आशय है । ऐसा क्यों है ? इसलिए कहते हैं कि- 'नत्थि सत्तोववाइया' । इस वाक्य में 'अस्ति' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है । उसे बहुवचनार्थक समझना चाहिए । अतः इसका अर्थ यह है- औपपातिक^१- अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जानेवाले प्राणी नहीं हैं । यह तज्जीवतच्छरीरवादी का तात्पर्य है । जैसा कि

1. विचरने प्र० । 2. पलक्ष्यते प्र० । 3. "स एव जीवस्तदेव शरीरमिति वदितुं शीलमस्येति तज्जीवतच्छरीरवादी" अर्थात् वही जीव है और वही शरीर है, जो यह बतलाता है । उसे 'तज्जीवतच्छरीरवादी' कहते हैं । यद्यपि पूर्वोक्त भूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहता है, तथापि उसके मत में पाँच भूत ही शरीर रूप में परिणत होकर सब क्रियाएँ करते हैं । परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में यह नहीं है । वह शरीर रूप में परिणत पाँच भूतों से चैतन्य-शक्ति की उत्पत्ति मानता है । यही इसका भूतवादी से भेद है ।

3. एक भव से दूसरे भव में जाना 'उपपात' कहलाता है और जो एक भव से दूसरे भव में जाता है, उसे 'औपपातिक' कहते हैं ।

उनका यह आगम है-

(विज्ञानघन एव) अर्थात् विज्ञान का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् नष्ट हो जाता है । अतः मरण के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता ।

शङ्का - पूर्वोक्त भूतवादी के मत से तज्जीवतच्छरीरवादी के मत की क्या विशेषता है ?

समाधान - "शरीर रूप में परिणत पाँच महाभूत ही दौड़ना, बोलना आदि क्रिया करते हैं ।" यह पूर्वोक्त भूतवादी का मत है । परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी, शरीर रूप में परिणत पाँच महाभूतों से चैतन्यशक्ति रूप आत्मा की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानता है तथा उन भूतों से इस चैतन्य को अभिन्न कहता है । यही इसका पूर्वोक्त भूतवादी से भेद है ॥११॥

- एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह-

- तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में पूर्वोक्त प्रकार से धर्मरूप आत्मा के न होने से उसके धर्म का भी अभाव है, यह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं-

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो परे । सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

छाया - नास्ति पुण्यं वा पापं वा, नास्ति लोक इतः परः । शरीरस्य विनाशेन, विनाशो भवति देहिणः ॥

व्याकरण - (नत्थि) क्रिया (पुण्णे पावे) कर्ता (वा) अव्यय । (इतो) अपादान (परे) लोक का विशेषण । (लोए) कर्ता (नत्थि) क्रिया (सरीरस्स) कर्तृषष्ठ्यन्त (विणासेणं) हेतु तृतीयान्त (देहिणो) कर्तृषष्ठ्यन्त (विणासो) कर्ता (होइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (पुण्णे व) पुण्य (पावे वा) अथवा पाप (नत्थि) नहीं हैं । (इतो) इस लोक से (परे) दूसरा (लोए) लोक (नत्थि) नहीं है । (सरीरस्स) शरीर के (विणासेणं) नाश से (देहिणो) आत्मा का (विणासो) नाश (होइ) होता है ।

भावार्थ - पुण्य और पाप नहीं हैं । इस लोक से भिन्न दूसरा लोक भी नहीं है । शरीर के नाश से आत्मा का भी नाश होता है ।

टीका - पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं तद्विपरीतं पापमेतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात् तदभावाच्च नास्ति अतः अस्माल्लोकात् 'परः' अन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति । अत्र चार्थे सूत्रकारः कारणमाह- 'शरीरस्य' कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन 'विनाशः', अभावो 'देहिणः', आत्मनोऽप्यभावो भवति यतः, न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीति । अतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति । अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा- यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद्विद्यते तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति । तथा यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमेव सर्वं नान्तः कश्चित्सारोऽस्ति, एवं भूतसमुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माख्यः पदार्थ उपलभ्यते, यथा वाऽलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति, एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति । यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाकारतया विज्ञानमनुभूयतेऽन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति । तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिः स्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चासौ तथा, यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एवमन्येऽपि गन्धर्वनगरादयः स्वस्वरूपेणातथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायस्य कायाकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति ।

अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्रादर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नोल्लिङ्गितानीति ।

ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न स्तः तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते?

तद्यथा कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी, सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीति, एवं-प्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति ? अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि- कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनादिविलेपनानुभोगमनुभवति धूपाद्यामोदं च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः यदुदयात्स तादृग्विधावस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यं, तथा चोक्तम्-

“कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ।”

इति तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम् ॥१२॥

टीकार्थ - जिससे जीव, उन्नति प्राप्त करता है, उसे 'पुण्य' कहते हैं, उस पुण्य से जो विपरीत है यानी जिससे जीव अवनति प्राप्त करता है, उसे 'पाप' कहते हैं । पुण्य और पाप ये दोनों ही नहीं हैं, क्योंकि इनका धर्मरूप आत्मा ही नहीं है, और आत्मा के अभाव होने से इस लोक से भिन्न दूसरा लोक भी नहीं है जहाँ पुण्य, पाप का फल भोगा जाता है (यह तज्जीवतच्छरीरवादी कहते हैं ।) इस विषय में कारण बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं- 'सरीरस्स' अर्थात् शरीर के रूप में स्थित पाँच महाभूतों के नाश होने से अर्थात् उनके अलग-अलग हो जाने से आत्मा का भी नाश हो जाता है, अतः शरीर नष्ट होने पर उससे निकलकर आत्मा परलोक में जाकर पुण्य- पाप का फल अनुभव करता है, यह बात नहीं है । अतः धर्मरूप आत्मा न होने के कारण उसके धर्मरूप पुण्य- पाप का भी अस्तित्व नहीं है । (यह तज्जीवतच्छरीरवादी का मत है ।) इस विषय में बहुत से दृष्टान्त वे देते हैं। जैसे कि- जल का बुद्बुद् जैसे जल से भिन्न वस्तु नहीं है, उसी तरह पाँच भूतों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है । तथा, जैसे केले के खम्भे के बाहरी छिलकों को उतारते जाने पर सब छिलके ही छिलके रह जाते हैं, उनसे भिन्न साररूप पदार्थ केले के अन्दर नहीं होता है, इसी तरह शरीर सम्बन्धी पाँचभूतों के अलग-अलग होने पर उनसे भिन्न कोई साररूप आत्मा नहीं पाया जाता । तथा, जिस तरह आग का गोला, घूमने पर चक्रबुद्धि उत्पन्न करता है । इसी तरह भूतसमुदाय, बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रिया करता हुआ 'जीव' होने का भ्रम उत्पन्न करता है। तथा जिस तरह स्वप्न में घट-पट आदि बाहरी पदार्थों के बिना भी बाहरी पदार्थों के रूप में उनका ज्ञान अनुभव किया जाता है, इसी तरह आत्मा के बिना भी भूतसमुदाय में आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है । तथा जिस प्रकार अति निर्मल होने के कारण दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से दिखता हुआ बाहर का पदार्थ भी दर्पण के अन्दर रहा हुआ सा प्रतीत होता है, परन्तु वह दर्पण के अन्दर नहीं है, तथा जिस तरह ग्रीष्म ऋतु में पृथिवी की गर्मी से हिलती हुई सूर्य की किरणें जल रूप विज्ञान उत्पन्न करती हैं, एवं दूसरे गन्धर्व नगर आदि, जैसे उस आकार का न होकर भी वैसे प्रतीत होते हैं, इसी तरह भूतसमुदाय के शरीर रूप में परिणत होने पर उनसे भिन्न न होता हुआ भी आत्मा उनसे भिन्न होने का भ्रम उत्पन्न करता है ।

कोई टीकाकार, इन दृष्टान्तों को बतानेवाले कतिपय सूत्रों की व्याख्या करते हैं, परन्तु हमने सूत्रादर्शों में और पुरानी टीकाओं में उन सूत्रों को नहीं देखा है, इसलिए उन्हें नहीं लिखा है ।

(शङ्का) यदि पाँच भूतों से भिन्न कोई आत्मा नाम का अलग पदार्थ नहीं है और उसके किये हुए पुण्य, पाप भी नहीं हैं तो यह विचित्र जगत् किस तरह हो सकता है ? । इस जगत् में कोई धनवान्, कोई दरिद्र, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई सुरूप, कोई मन्दरूप, कोई रोगी, कोई नीरोगी, इस प्रकार जगत् की विचित्रता क्यों होती है ?

(समाधान) कहते हैं कि यह सब स्वभाव से होता है । जैसे कि- किसी पत्थर के टुकड़े की देवमूर्ति बनायी जाती है और वह मूर्ति, कुंकुम, अगर, चन्दन आदि विलेपनों को भोगती है और धूप आदि के सुगन्ध का भी अनुभव करती है, तथा दूसरे पत्थर के टुकड़े पर पैर धोना आदि कार्य किये जाते हैं, परन्तु इसमें उन पत्थरों के टुकड़ों का कोई पुण्य, पाप नहीं है, जिसके उदय से उनकी वैसी अवस्थाएँ होती हैं, अतः सिद्ध होता है कि स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता होती है । कहा भी है-

कण्टक की तीक्ष्णता, मोर की विचित्रता और मुरगें का रंग, यह सब स्वभाव से ही होते हैं । यह तज्जीवतच्छरीरवादि का मत कहा गया ॥१२॥

- इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह-

- अब सूत्रकार अकारकवादियों का मत बताने के लिए कहते हैं -

कुर्व्वं च कारयं चेव, सव्वं कुर्व्वं न विज्जई ।

एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ

॥१३॥

छाया - कुर्व्वंश्च कारयंश्चेव, सर्वां कुर्व्वंश्च विद्यते । एवमकारक आत्मा, एवं ते तु प्रगल्भिताः ॥

व्याकरण - (कुर्व्वं) आत्मा का विशेषण प्रथमान्त पद है । (कारयं) यह भी कर्त्ता का विशेषण प्रथमान्त है । (सव्वं) कर्म द्वितीयान्त है । (चेव) अव्यय है । (विज्जई) क्रिया है । (न, एवं) अव्यय । (अकारओ) आत्मा का विशेषण । (अप्पा) कर्त्ता । (एवं) अव्यय (ते) अकारकवादियों का परामर्शक सर्वनाम (पगब्भिआ) अकारकवादियों का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (कुर्व्वं) क्रिया करनेवाला । (कारयं चेव) और दूसरे द्वारा क्रिया करानेवाला तथा (सव्वं) सब क्रियाओं को (कुर्व्वं) करनेवाला (अप्पा) आत्मा (न विज्जई) नहीं है । (एवं) इस प्रकार (अकारओ) आत्मा अकारक यानी क्रिया का कर्त्ता नहीं है (ते उ) वे अकारकवादी (एवं) इस प्रकार कहने की (पगब्भिआ) धृष्टता करते हैं ।

भावार्थ - आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है और दूसरे के द्वारा भी नहीं कराता है तथा वह सब क्रियायें नहीं करता है । इस प्रकार वह आत्मा 'अकारक' यानी क्रिया का कर्त्ता नहीं है, ऐसा अकारकवादी सांख्य आदि कहते हैं ।

टीका - 'कुर्व्वन्निति स्वतन्त्रः कर्त्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्तत्त्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, पूर्वशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको द्वितीयः समुच्चयार्थः, ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन [जपास्फटिक-न्यायेन च] भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति- 'सव्वं कुर्व्वं न विज्जई' ति 'सर्वा' परिस्पन्दादिकां देशादेशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्व्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्तम्-

"अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा साङ्ख्यनिदर्शने" इति । 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति, 'ते' साङ्ख्याः, तु शब्दः पूर्वभ्यो व्यतिरेकमाह, ते पुनः साङ्ख्या एवं 'प्रगल्भिताः' प्रगल्भवन्तो धाष्टर्यवन्तः सन्तो भूयोभूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा "प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" इत्याद्यकारकवादिमतमिति ॥१३॥

टीकार्थ - यहाँ 'कुर्व्वन्' पद के द्वारा स्वतंत्र कर्त्ता का कथन किया है । आत्मा, अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है, इसलिए वह कर्त्ता नहीं हो सकता है और इसी कारण वह दूसरे के द्वारा क्रिया करानेवाला भी नहीं हो सकता है । इस गाथा में पहला 'च' शब्द आत्मा के भूत और भविष्यत् कर्तृत्व का निषेधक है और दूसरा 'च' शब्द समुच्चयार्थक है । इस प्रकार इस गाथा का अर्थ यह है कि- आत्मा स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है और दूसरे को भी किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करता है, आत्मा मुद्राप्रतिबिम्बोदय^१ न्याय और जपास्फटिक^२ न्याय से यद्यपि स्थिति क्रिया और भोग क्रिया करता है, तथापि वह समस्त क्रिया का कर्त्ता नहीं है । यह सूत्रकार (उनकी मान्यता) दिखलाते हैं- "सव्वं कुर्व्वं न विज्जई" अर्थात् वह आत्मा, एक देश से अन्य देश में जाना आदि सभी क्रियाओं को नहीं करता है, क्योंकि सर्वव्यापी और अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह वह निष्क्रिय है । कहा भी है- (अकर्त्ता निर्गुणो) अर्थात् सांख्यवादियों के मत में आत्मा अकर्त्ता निर्गुण और कर्म फल का भोक्ता

1. किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए प्रयत्न नहीं करती है किन्तु प्रयत्न के बिना ही वह उस चित्र में स्थित रहती है ।

इसी तरह आत्मा अपनी स्थिति के लिए प्रयत्न किये बिना ही स्थित रहता है । यही मुद्रा प्रतिबिम्बोदय न्याय का अर्थ है ।

2. स्फटिकमणि के पास लाल फूल रख देने पर वह लाल-सा प्रतीत होता है । वस्तुतः वह लाल नहीं किन्तु शुक्ल ही रहता है, तथापि लाल फूल की छाया पड़ने से वह लाल हुआ सा जान पड़ता है, इसी तरह सांख्यमत में आत्मा भोगरहित है तथापि बुद्धि के संसर्ग से बुद्धि का भोग आत्मा में प्रतीत होता है । इसी कारण आत्मा का भोग माना जाता है । यही जपास्फटिक न्याय का अर्थ है ।

है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है। इस गाथा में 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतवादियों से सांख्यवादियों का भेद बतलाने के लिए है। वे सांख्यवादी पूर्वोक्त रीति से आत्मा को अकर्ता, कहने की धृष्टता करते हुए भिन्न-भिन्न स्थलों पर बार-बार यह कहते हैं कि- प्रकृति, क्रिया करती है और पुरुष (आत्मा) उस क्रिया का फल भोगता है, तथा बुद्धि से ज्ञात अर्थ को आत्मा अनुभव करता है। यह अकारकवादी का मत कहा गया।



- साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निराचिकीर्षुराह-

- अब सूत्रकार, तज्जीवतच्छरीरवादी तथा अकारकवादी के मत को खण्डन करने के लिए कहते हैं-

जे ते उ वाङ्मो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ! ।

तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभनिस्सिया

॥१४॥

छाया - ये ते तु वादिन एवं, लोकस्तेषां कुतः स्यात् ? तमसस्ते तमो याज्जि, मब्दा आरम्भनिःश्रिताः ॥

व्याकरण - (जे ते) सर्वनाम, (वाङ्मो) कर्ता (लोए) कर्ता (तेसिं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त, सर्वनाम, वादियों का परामर्शक। (कओ) अव्यया (सिया) क्रिया (ते मंदा आरंभनिस्सिया) वादी का विशेषण (तमाओ) अपादान (तमं) कर्म (जंति) क्रिया।

अन्वयार्थ - (जे ते उ) जो वे, (वाङ्मो) वादी (एवं) इस प्रकार कहते हैं (तेसिं) उनके मत में (लोए) यह लोक, (कओ) कैसे (सिया) हो सकता है। (मंदा) मूर्ख (आरंभनिस्सिया) आरम्भ में आसक्त (ते) वे वादी (तमाओ) एक अज्ञान से निकलकर (तमं) दूसरे अज्ञान को (जंति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - जो लोग आत्मा को अकर्ता कहते हैं, उन वादियों के मत में यह चतुर्गतिक संसार कैसे हो सकता है ? वस्तुतः वे, मूर्ख तथा आरम्भ में आसक्त हैं, अतः वे एक अज्ञान से निकलकर दूसरे अज्ञान को प्राप्त करते हैं।

टीका - तत्र ये तावच्छरीराव्यतिरिक्तात्मवादिनः, 'एव' मिति पूर्वोक्तया नीत्या भूताव्यतिरिक्तात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते- तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्- 'यथा न शरीराद्विज्ञोऽस्त्यात्मे'ति, तदसङ्गतं, यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति, तच्चेदम्- विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाऽविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारस्य च सकर्तृत्वेन व्याप्तेः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकानीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टं, यथा दण्डादिकमिति, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वाऽनुपपत्तिः, यथाऽऽकाशस्य, हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति, तथा विद्यमाना-ऽऽदातृकमिदमिन्द्रियविषयकदम्बकम्, आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्राऽऽदानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता-ग्राहको दृष्टः, यथा संदंशकायस्पिण्डयोस्तद्विज्ञोऽयस्कार इति, यश्चात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता-ग्राहकः स तद्विज्ञ आत्मेति, तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वादोदनादिवत्, अत्र च कुलालादीनां मूर्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्मापि तथैव स्यादिति धर्मिविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धा शङ्का न विधेया, संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्यो-ऽन्यानुवेधतः (बन्धतः) कथञ्चिन्मूर्तत्वाद्यभ्युपगमादिति, तथा यदुक्तम् 'नास्ति सत्त्वा औपपातिका' इति तदप्ययुक्तं, यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत्, तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत्, तथाहि-तदहर्जातबालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने, इति, अतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः, तच्चान्यद्विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति। तथा यदभिहितं, 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति, तत्राप्ययमर्थो- 'विज्ञानघनो' विज्ञानपिण्ड आत्मा 'भूतेभ्य उत्थाये'ति प्राक्तनकर्मवशात्तथा-विधकायाकारपरिणते भूतसमुदाये तद्वद्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्मापि तदनु तेनाकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति। तथा यदुक्तम्- 'धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरभाव'

इति, तदप्यसमीचीनं, यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च । यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलक्षकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तदपि तद्धोक्तकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्तमिति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति । येऽपि बहवः कदलीस्तम्भादयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति, इत्यलमतिप्रसङ्गेन । शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति । तदेवं 'तेषां' भूतव्यतिरिक्तात्मनिहववादिनां योऽयं 'लोकः', चतुर्गतिकसंसारो भवाद्वान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्यादित्या जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च स एवम्भूतो लोकस्तेषां 'कुतो भवेत् ?' कयोपपत्त्या घटेत ? आत्मनोऽनभ्युपगमात्, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'ते च' नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाऽभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः सञ्चिन्वन्तीत्युक्तं भवति, यदि वा- तम इव तमो- दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्- एवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरव- कालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः । किमिति ? यतस्ते 'मन्दा' जडा मूर्खाः सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात्तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे-व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः- सम्बद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिश्रिता इति । तथा तज्जीवतच्छरीरवादिमतं निर्युक्तिकारोऽपि निराचिकीर्षुराह- 'पंचणह' मित्यादिगाथा (॥३३॥ प्राग्वदत्रापि ॥

साम्प्रतमकारकवादिमतमाश्रित्यायमनन्तर (रोक्त) श्लोको भूयोऽपि व्याख्यायते- ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः तेषां य एष 'लोको' जरामरणशोकाक्रन्दनहर्षा- दिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः सोऽयमेवम्भूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे 'कुतः' कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चित्कुतश्चित्त्यादित्यर्थः, ततश्च दृष्टेष्टबाधरूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं-निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति, किमिति ? यतो 'मन्दा' जडाः प्राण्यपकारकाऽऽरम्भनिश्रिताश्च ते इति । अधुना निर्युक्तिकारो-ऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह-

को वेण्ई अकयं ? कयनासो पंचहा गई नत्थि । देवमणुस्सगयाऽऽगइ जाईसरणाइयाणं च ॥३४॥ नि०

आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ?, तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति, अथाकृतमप्यनुभूयेत तथा सत्यकृतागमकृतनाशापत्तिः स्यात्, ततश्च एककृतपातकेन सर्वः प्राणिगणो दुःखितः स्यात् पुण्येन च सुखी स्यादिति, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चात्मनः 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा च गतिर्न भवेत्, ततश्च भवतां सांख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षा-भोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारियमनियमाद्यनुष्ठानं, तथा-

“पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।

जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥” इत्यादि

सर्वमपार्थक्यमाप्नोति तथा देवमनुष्यादिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः, तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणा-भावाज्जातिस्मरणादिका च क्रिया नोपपद्यते, तथा आदिग्रहणात् 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते', इति भुजिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न प्राप्नोति, तस्या अपि क्रियात्वादिति, अथ- 'मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग' इति चेद्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येप्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव, तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥३४॥

ननु च भुजिक्रियामात्रेण प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः तथापि न तावन्मात्रेणास्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि ?, समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह-

ण ढ अफलथोवऽणिच्छितकालफलतणमिहं अदुमहेऊ । णादुद्धथोवदुद्धतणे णगावित्तणे हेऊ ॥३५॥ नि०

‘न हु’ नैवाफलत्वं द्रुमाऽभावे साध्ये हेतुर्भवति, नहि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमः अन्यदा त्वद्रुम इति भावः, एवमात्मनोऽपि सुसाद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं तथापि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति, तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाऽभावसाधनायालं, स्वल्पफलोऽपि हि पनसादिवृक्षव्यपदेशभागभवत्येव, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव, कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्-स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव, यथैककार्षापणधनो न धनित्व (व्यपदेश)-मास्कन्दति, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इति, एतदप्यचारु, यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया ¹चो (ऽत्रो) पगम्यते समस्तपुरुषापेक्षया वा ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा सिद्धसाध्यता, यतः- सहस्रादिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ, अथ समस्तपुरुषापेक्षया तदसाधु, यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव, तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियापेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते न काचित्क्षतिः सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेव, इत्यलमतिप्रसङ्गेन, एवमनिश्चिताकालफलत्वाख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाऽभावसाधकम् इत्यादि योज्यम्, एवमदुग्धत्वस्तोक-दुग्धत्वरूपावपि हेतु न गोत्वाऽभावं साधयतः, उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजना कार्येति ॥३५॥१४॥

टीकार्थ - तज्जीवतच्छरीरवादी और अकारकवादी इन दोनों में से पहले, शरीर से अभिन्न आत्मा माननेवाले जो लोग, पूर्वोक्त रीति से आत्मा को भूतों से अभिन्न मानते हैं, उनका मत तिरस्कृत किया जाता है। इस विषय में उन्होंने जो यह कहा है कि- “शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है” यह असंगत है, क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न है, इस बात को सिद्ध करनेवाला प्रमाण पाया जाता है। वह प्रमाण, यह है- यह शरीर, किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है, क्योंकि यह आदिवाला और नियत आकारवाला है। इस जगत् में जो-जो पदार्थ, आदिवाला, तथा नियत आकारवाला होता है, वह किसी कर्ता का किया हुआ होता है, जैसे घट। जो पदार्थ, किसी कर्ता का किया हुआ नहीं होता है वह, आदिवाला तथा नियत आकारवाला नहीं होता है, जैसे आकाश। अतः जो पदार्थ, आदिवाला तथा नियत आकारवाला होता है, वह अवश्य किसी कर्ता का किया हुआ होता है, यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नहीं होता है, वहाँ व्याप्य भी नहीं होता है (इसलिए यदि शरीर किसी का किया हुआ न होगा तो वह आदिवाला तथा नियत आकारवाला भी न हो सकेगा क्योंकि किसी कर्ता से किया जाना व्यापक धर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्य धर्म है) यह, सर्वत्र योजना करनी चाहिए। तथा इन्द्रियों का कोई अधिष्ठाता अवश्य है, क्योंकि इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं। इस जगत् में जो-जो करण (साधन) होता है, उसका अधिष्ठाता कोई अवश्य होता है, जैसे दण्ड आदि साधनों का अधिष्ठाता कुम्हार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं है, वह करण नहीं हो सकता है, जैसे आकाश का कोई अधिष्ठाता नहीं है, इसलिए वह करण नहीं है। इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिए उनका अधिष्ठाता आत्मा है, वह आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। तथा इन्द्रिय और विषयसमूह को ग्रहण करनेवाला कोई अवश्य है, क्योंकि इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव देखा जाता है। जहाँ-जहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य कोई ग्रहण करनेवाला पदार्थ होता है, जैसे सणसी और लोहपिण्ड को ग्रहण करनेवाला उनसे भिन्न लोहार होता है। अतः इन्द्रियरूप साधनों से जो विषयों को ग्रहण करता है, वह इन्द्रिय और विषयों से भिन्न आत्मा है। तथा इस शरीर का भोग करनेवाला कोई अवश्य है, क्योंकि यह शरीर भ्रात आदि के समान भोग्य पदार्थ है। पूर्वोक्त दृष्टान्त में कुम्हार आदि, मूर्त, अनित्य तथा अवयवी हैं। यह देखकर आत्मा भी मूर्त, अनित्य और अवयवी क्यों नहीं ? ऐसी विरुद्ध शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संसारी आत्मा, कर्म से परस्पर मिलकर कथञ्चित् मूर्त आदि भी माना जाता है।

तथा यह जो कहा है कि- “परलोक में जानेवाला कोई पदार्थ नहीं है”, यह भी अयुक्त है क्योंकि उसी दिन जन्मे हुए बच्चे की स्तन पीने की इच्छा देखी जाती है। वह इच्छा पहले पहल नहीं हुई है किन्तु वह, उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है, क्योंकि वह इच्छा है। (जो-जो इच्छा होती है, वह दूसरी इच्छापूर्वक ही होती है।) जैसे कुमार (५-७ वर्ष के बालक) की इच्छा। तथा बालक का विज्ञान, अन्यविज्ञानपूर्वक है, क्योंकि वह विज्ञान है। जो-जो विज्ञान है, वह अन्य विज्ञान-पूर्वक ही होता है, जैसे कुमार का विज्ञान। आशय यह है कि- उसी दिन का जन्मा हुआ बच्चा जब तक “यह वही स्तन है” ऐसा निश्चय नहीं कर लेता है, तब तक रोना

छोड़कर वह स्तन में मुख नहीं लगाता है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि बालक में विज्ञान का लेश अवश्य है । वह विज्ञानलेश, अन्यविज्ञानपूर्वक है और वह अन्यविज्ञान, दूसरे भव का विज्ञान है, अतः परलोक में जानेवाला पदार्थ अवश्य है, यह सिद्ध होता है ।¹

तथा तज्जीवतच्छरीरवादियों ने जो यह कहा है कि- (विज्ञानघन एव) अर्थात् “विज्ञानपिण्ड आत्मा इन भूतों से उत्पन्न होकर इनके नाश होने पर नष्ट हो जाता है इत्यादि”, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस श्रुति का अर्थ यह है- “विज्ञानपिण्ड आत्मा, पूर्वभव के कर्मवश, शरीररूप में परिणत पाँच महाभूतों के द्वारा अपने कर्म का फल भोगकर उन भूतों के नाश होने पर उस रूप से नष्ट होकर फिर दूसरे पर्याय में उत्पन्न होता है ।” परंतु उन भूतों के साथ ही नष्ट हो जाता है, यह अर्थ नहीं है । तथा यह जो कहा है कि- “धर्मरूप आत्मा न होने से उसके धर्मरूप पाप-पुण्य भी नहीं हैं”, यह भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्तिसमूह के द्वारा धर्मरूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया है और धर्मरूप आत्मा सिद्ध होने पर उसके धर्मरूप पाप-पुण्य की सिद्धि भी समझनी चाहिए । तथा जगत् की विचित्रता देखने से भी पुण्य-पाप की सिद्धि होती है ? तज्जीवतच्छरीर-वादी ने स्वभाव से जगत् की विचित्रता सिद्ध करने के लिए जो पत्थर के टुकड़ों का दृष्टान्त दिया है, वह भी उन पत्थरों को भोग करनेवाले उनके स्वामियों के कर्मवश वैसा हुआ है, इसलिए पुण्य-पाप का अस्तित्व नहीं हटाया जा सकता है । तथा आपने आत्मा का अभाव सिद्ध करने के लिए जो केले के स्तम्भ आदि अनेक दृष्टान्त दिये हैं, वह भी आप की वाचालतामात्र है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्तिसमूह के द्वारा परलोक जानेवाला, भूतों से भिन्न, सार रूप आत्मा सिद्ध कर दिया गया है । अतः इस विषय में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

अब शेष सूत्र की व्याख्या की जाती है । एक भव से दूसरे भव में जानेवाला, चार प्रकार की गतिवाला एवं कोई सुभग, कोई दुर्भग, कोई सुरुप, कोई मन्दरूप, कोई धनवान्, कोई दरिद्र इत्यादि विचित्र रूपवाला यह लोक, भूतों से अतिरिक्त आत्मा न माननेवाले तज्जीवतच्छरीरवादियों के मत में किस प्रकार हो सकता है ? वे आत्मा नहीं मानते हैं, इसलिए उनके मत में पूर्वोक्त विचित्र जगत् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है । अतः वे नास्तिक, परलोक जानेवाला आत्मा न मानने के कारण पुण्य-पाप का भी अभाव मानकर इच्छानुसार कार्य करते हैं । इस कारण वे एक अज्ञानरूप अन्धकार से निकलकर फिर दूसरे अन्धकार को प्राप्त करते हैं । आशय यह है कि वे, ऐसा करके फिर भी ज्ञानावरणादिरूप बड़े से बड़े अन्धकार का सञ्चय करते हैं । अथवा जो अन्धकार के समान है, उसे यहाँ ‘तम’ कहा है । वह, नरकादि यातनास्थान है, क्योंकि दुःख के कारण उन स्थानों में सद् और असत् का विवेक नष्ट हो जाता है । उस नरकस्थान से निकलकर वे, उससे बड़े दूसरे नरक में जाते हैं । वे, सातवीं नरक भूमि में (१) रौरव, (२) महारौरव, (३) काल, (४) महाकाल और (५) अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में जाते हैं, यह अर्थ है । वे, इन नरकों में क्यों जाते हैं ? कहते हैं कि वे मूर्ख हैं, इसलिए युक्तिसिद्ध आत्मा को अपने मिथ्या आग्रह के कारण न मानकर वे, विचारशील पुरुषों के द्वारा निन्दित प्राणिहिंसा रूप व्यापार में आसक्त रहते हैं । तथा वे पाप-पुण्य का अभाव मानकर परलोक की परवाह न करते हुए आरम्भ में प्रवृत्त रहते हैं । इस तज्जीवतच्छरीरवादी के मत का खण्डन करने के लिए निर्युक्तिकार “पञ्चणहं” इत्यादि गाथा बतलाते हैं । यह (३३) गाथा पूर्ववत् यहाँ भी जाननी चाहिए ॥

अब अकारकवादी के मत को लेकर इस श्लोक की फिर व्याख्या की जाती है ।

ये जो अकारकवादी, नित्य, अमूर्त और सर्वव्यापी होने के कारण आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं, उनके मत में, जरा, मरण, शोक, रोदन और हर्षादिरूप तथा नरक, तिर्यक्, मनुष्य और अमरगति रूप यह लोक कैसे हो सकता है ? अर्थात् उत्पत्ति विनाशरहित स्थिर एक स्वभाववाला आत्मा स्वीकार करने पर पूर्वोक्त रूप जगत् किसी

1. जिस पदार्थ का जिसने कभी उपभोग नहीं किया है, उसकी इच्छा उसमें नहीं होती है । उसी दिन का जन्मा हुआ बालक माता के स्तन पीने की इच्छा करता है परन्तु उसने पहले कभी स्तन पान नहीं किया है फिर उस बालक को स्तन पीने की इच्छा क्यों हुई ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस बालक ने पूर्वजन्म में माता का स्तन पान किया है, इसीलिए उसको स्तन पान की फिर इच्छा हुई है । अतः परलोकगामी आत्मा अवश्य है, यह स्पष्ट सिद्ध है ।

प्रकार भी नहीं हो सकता है । अतः वे अकारकवादी, जो वस्तु देखी जाती है और जो इष्ट है, उनके बाधक रूप एक अज्ञान से निकलकर उससे भी निकृष्ट यातनास्थान को प्राप्त करते हैं । ऐसा क्यों होता है ? कहते हैं कि वे, मूर्ख सदा प्राणियों के अपकार रूप आरम्भ में लगे रहते हैं । अब निर्युक्तिकार, अकारकवादी के मत का खण्डन करने के लिए कहते हैं- “को वेई” अर्थात् यदि कर्ता नहीं है तो उसका किया हुआ कर्म भी नहीं है और जब आत्मा का किया हुआ कर्म नहीं है तो बिना कर्म किये उसका फल वह कैसे भोग सकता है ? आत्मा को कर्ता न मानने पर उसका सुख-दुःख भोगना नहीं हो सकता है । यदि कर्म किये बिना ही उसका फल सुख-दुःख भोगा जाय तो “अकृतागम, और कृतनाश” दोष आते हैं । (कर्म किये बिना ही उसका फल भोगना अकृतागम दोष है और किये हुए कर्म का फल न भोगना कृतनाश दोष कहलाता है ।) ऐसी दशा में एक प्राणी के द्वारा किये हुए पाप से सब प्राणी को दुःखी और एक के पुण्य से सभी प्राणी को सुखी हो जाना चाहिए । परन्तु यह कहीं नहीं देखा जाता है और ऐसा मानना इष्ट भी नहीं है । तथा आत्मा, यदि व्यापक और नित्य है तो उसकी नरक, तिर्यक्, मनुष्य, अमर और मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नहीं हो सकती है, ऐसी दशा में सांख्यवादी जो काषायवस्त्रधारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्नभोजन तथा पञ्चरात्र (ग्रन्थ विशेष) के उपदेशानुसार यम-नियम आदि का अनुष्ठान करते हैं, यह सब व्यर्थ ही है । तथा “पच्चीस तत्त्वों को जाननेवाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे और वह जटी हो, मुण्डी हो अथवा शिखाधारी हो मुक्ति को प्राप्त करता है ।” यह कथन भी निरर्थक ही है । तथा सर्वव्यापी होने के कारण देवता और मनुष्य आदि गतियों में आत्मा का जाना-आना भी नहीं हो सकता तथा नित्य होने के कारण विस्मृति न होने से उस आत्मा में जातिस्मरण आदि क्रिया भी नहीं हो सकती । तथा ‘आदि’ ग्रहण से वे जो “प्रकृति कर्म करती है और पुरुष उसका फल भोगता है”, इस प्रकार आत्मा में भोगक्रिया मानते हैं, वह भी नहीं हो सकता क्योंकि भोगक्रिया भी क्रिया ही है और सांख्यवादी आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं, अतः आत्मा में भोग होना सम्भव नहीं है । यदि कहो कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति जैसे बाहर रहकर भी दर्पण में दिखाई देती है, उसी तरह आत्मा में न होता हुआ भी भोग आत्मा में प्रतीत होता है, तो यह, तुम्हारे मूर्ख मित्र ही मानेंगे क्योंकि यह कथन युक्तिरहित होने के कारण कथनमात्र है । तथा प्रतिबिम्ब का उदय भी एक प्रकार की क्रिया ही है, वह विकार रहित नित्य आत्मा में कैसे हो सकती है ? इसलिए यह युक्ति भी निर्बल है ॥३४॥ यदि कहो कि आत्मा में भोगक्रिया और प्रतिबिम्ब की उदय क्रिया होती है, इसलिए वह इन क्रियाओं की अपेक्षा से यद्यपि सक्रिय है तथापि इतने मात्र से हम उसे सक्रिय नहीं मान सकते, किन्तु समस्त क्रिया करने पर उसे सक्रिय मान सकते हैं तो ऐसी आशंका पर निर्युक्तिकार कहते हैं- “ण हु” अर्थात् फलवान् न होना, वृक्ष के अभाव का साधक नहीं है, क्योंकि जब वृक्ष, फलयुक्त हो तब वृक्ष कहलाये और जब फल युक्त न हो तब वृक्ष न कहलाये, ऐसा नहीं होता, इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओं में यद्यपि आत्मा कथञ्चित् निष्क्रिय होता है तथापि इतने मात्र से वह निष्क्रिय कहलाये, ऐसा नहीं हो सकता । तथा थोड़े फलों से युक्त होना वृक्ष के अभाव का साधक नहीं है, क्योंकि थोड़े फलवाले कटहल आदि भी वृक्ष ही कहलाते हैं । इसी तरह थोड़ी क्रियावाला भी आत्मा क्रियावान् ही है, निष्क्रिय नहीं है, कदाचित् आप यह समझते हैं कि- “थोड़ी क्रिया करनेवाला निष्क्रिय ही है, जैसे एक पैसावाला पुरुष, धनवान् नहीं कहलाता, इसी तरह थोड़ी क्रियावाला होने के कारण आत्मा भी क्रियावान् नहीं कहला सकता, किन्तु वह निष्क्रिय ही है ।” तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि- आपने यह दृष्टान्त किसी खास पुरुष की अपेक्षा से दिया है अथवा समस्त पुरुषों की अपेक्षा से दिया है ? । यदि आपने किसी खास पुरुष की अपेक्षा से अर्थात् जिस के पास हजारों रुपये हैं, उसकी अपेक्षा से यदि एक पैसावाले को निर्धन कहा है तो यह सर्वमान्य अर्थ को ही आपने सिद्ध किया है, क्योंकि हजारों रुपयेवाले पुरुष की अपेक्षा से वह एक पैसावाला निर्धन है । यह सभी मानते हैं, लेकिन यदि आप समस्त पुरुषों की अपेक्षा से एक पैसावाले को निर्धन कहते हैं तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसके पास एक पैसा भी नहीं है ऐसे जो लोग फटे-पुराने चीथड़े पहनकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी अपेक्षा से वह एक पैसावाला भी धनवान् ही है । इसी तरह विशिष्ट शक्तिवाले पुरुष की क्रिया के हिसाब से यदि आप आत्मा को क्रिया रहित कहते हैं, तब तो कोई क्षति नहीं है, परन्तु यदि आप सामान्य की अपेक्षा से आत्मा को क्रिया रहित कहते हैं तब तो यह

बात असङ्गत है, क्योंकि सामान्य की अपेक्षा से आत्मा क्रियावान् ही है। अतः इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह जो वृक्ष निश्चित रूप से फल नहीं देता है तथा समय पर फल नहीं देता है, वह भी वृक्ष से भिन्न नहीं हो जाता है, किन्तु वह वृक्ष ही है, इत्यादि दृष्टान्त भी यहाँ समझना चाहिए। तथा जो गाय, दूध नहीं देती है अथवा जो थोड़ा दूध देती है वह गाय से भिन्न नहीं हो जाती, इत्यादि दृष्टान्त देकर भी पूर्वोक्त रीति से दार्ष्टान्त की योजना कर लेनी चाहिए¹ ॥३५॥१४॥



- साम्प्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह -

- शास्त्रकार आत्मषष्ठवादी का मत पूर्वपक्ष रूप से बताने के लिए कहते हैं।

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसि आहिया।

आयच्छो पुणो² आहु, आया लोगे य सासए

॥१५॥

छाया - संति पञ्च महाभूतानि, इहेकेषामाख्यातानि। आत्मषष्ठानि पुनराहुः आत्मा लोकश्च शाश्वतः॥

व्याकरण - (संति) क्रिया (पंच) महाभूत का विशेषण। (महब्भूया) संति क्रिया का कर्ता। (इह) अव्यय (एगेसि) कर्ता (आहिया) महाभूत का विशेषण। (आयच्छो) महाभूत का विशेषण। (पुणो) अव्यय। (आहु) क्रिया (आया लोगे) कर्ता (य) अव्यय (सासए) आत्मा और लोक का विशेषण।

अन्वयार्थ - (महब्भूया) महाभूत (पंच संति) पाँच हैं (आयच्छो) और आत्मा छद्मा है (एगेसि) किन्ही का (आहिया) यह कथन है। (पुणो) फिर (आहु) वे कहते हैं कि- (इह) इस जगत् में (आया) आत्मा (लोगे य) और लोक (सासए) नित्य हैं।

भावार्थ - कोई कहते हैं कि इस लोक में महाभूत पाँच और छद्मा आत्मा है। फिर वे कहते हैं कि आत्मा और लोक नित्य हैं।

टीका - 'संति' विद्यन्ते 'पञ्च महाभूतानि' पृथिव्यादीनि 'इह' अस्मिन् संसारे 'एकेषां' वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणां च, एतद् आख्यातम्, आख्यातानि वा भूतानि, ते च वादिन एवमाहुः- एवमाख्यातवन्तः, यथा 'आत्म-षष्ठानि' आत्मा षष्ठो येषां तानि आत्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्ते, इति, एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति- आत्मा 'लोकश्च' पृथिव्यादिरूपः 'शाश्वतः', अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं' पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरविनश्वरत्वमिति ॥१५॥

टीकार्थ - वेदवादी, सांख्य और वैशेषिक कहते हैं कि- "इस जगत् में पृथिवी आदि पाँच महाभूत हैं और छद्मा आत्मा है।" दूसरे वादियों के मत में जैसे ये, अनित्य हैं, वैसे इनके मत में अनित्य नहीं हैं। यह दिखलाते हैं- पृथिवी आदि लोक तथा आत्मा शाश्वत यानी अविनाशी हैं। इनमें आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापक और अमूर्त होने के कारण नित्य है और अपने स्वरूप से नष्ट न होने के कारण पृथिवी आदि अविनाशी हैं ॥१५॥



1. यहाँ की निर्युक्ति गाथा तथा उसकी टीका देखने से यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ की निर्युक्ति और टीका, प्रस्तुत विषय से अनमेल अर्थ को बता रहे हैं, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत विषय यह है- "अल्प क्रियावाला भी क्रियावान् है।" इसके लिए दृष्टान्त यही होना चाहिए कि अल्प फलवाला वृक्ष भी जैसे फलवाला ही कहलाता है, तथा अल्प दूध वाली गाय भी जैसे दूधवाली ही कहलाती है, उसी तरह अल्प क्रियावाला भी आत्मा क्रियावाला ही है। निष्क्रिय नहीं है। परन्तु ऐसा न कहकर इन लोगों ने जो यह कहा है कि- अल्प फलवाला वृक्ष भी वृक्ष ही है, अवृक्ष नहीं है" यह देखकर संशय हो सकता है कि यह दृष्टान्त, दार्ष्टान्त से नहीं मिलता है, क्योंकि दार्ष्टान्त में अल्प क्रियावान् होने से आत्मा का अभाव नहीं बताया है, किन्तु उसका निष्क्रिय होना कहा है, इसलिए दृष्टान्त में भी वृक्ष का अभाव न कहकर उसको अल्प फलवाला होने से फल रहित न होना ही बताना चाहिए। तथापि निर्युक्ति और टीकाकार का आशय कथञ्चित् यही समझना चाहिए, इसलिए कोई दोष नहीं है।

2. पुणेगाऽऽहु। 3. वैशेषिकाणां प्र०।

- शाश्वतत्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह -

- पृथिवी आदि नित्य हैं, यह बताने के लिए फिर सूत्रकार कहते हैं-

दुहओ [ते] ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।

सव्वेऽवि सव्वहा भावा नियत्तीभावमागया

॥१६॥

छाया - द्विधाऽपि न विनश्यन्ति, न चोत्पद्यतेऽसन् । सर्वेऽपि सर्वथा भावाः नियतीभावमागताः ॥

व्याकरण - (दुहओ) अव्यय । (ण) अव्यय (विणस्संति) क्रिया (नो य) अव्यय (उप्पज्जए) क्रिया (असं) कर्म (सव्वे) भाव का विशेषण (सव्वहा) अव्यय । (नियत्तीभावं) आगया का कर्म (आगया) भाव का विशेषण । (भावा) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (दुहओ) दोनों प्रकार से, वे पूर्वोक्त छः ही पदार्थ (ण विणस्संति) नष्ट नहीं होते हैं । (असं) तथा अविद्यमान पदार्थ (नो य उप्पज्जए) उत्पन्न नहीं होता है । (सव्वे वि) सभी (भावा) पदार्थ (सव्वहा) सर्वथा (नियत्तीभावं) नित्यता को (आगया) प्राप्त हैं ।

भावार्थ - पृथिवी आदि पाँच महाभूत तथा छद्वा आत्मा, कारण-वश या बिना कारण दोनों ही प्रकार से नष्ट नहीं होते हैं । तथा असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है । सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं ।

टीका - 'ते' आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्था 'उभयत' इति निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति, यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः, तथा च ते ऊचुः -

'जातिरेव हि भावानां, विनाशो हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात्स केन च ? ॥१॥'

यथा च वैशेषिकाणां लकुटादिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः, तेनोभयरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः, यदिवा- 'दुहओ' ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति, तथाहि- पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि स्वरूपापरित्यागतया नित्यानि, 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति कृत्वा, आत्माऽपि नित्य एव, अकृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः, तथा चोक्तम्-

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥२॥

'अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥३॥

[भगवद्गीता अ.-२, श्लोक २३-२४]

एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावाद् असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः, यदि च असदुत्पद्येत खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति, तथा चोक्तम् -

'असदकरणादुपादानग्रहणाद् सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥'

एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात्, यदि चासदुत्पद्येत ततो यतः कुतश्चिदेव स्यात्, नावश्यमेतदर्थिना मृत्पिण्डोपादानमेव क्रियेत, इति, अतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति एवं च कृत्वा सर्वेऽपि भावाः-पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः 'नियतिभावं' नित्यत्वमागता नाभावरूपतामभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते, आविर्भाव-तिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति, तथा चाभिहितम्- "नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इत्यादि ।

अस्योत्तरं निर्युक्तिकृदाह- 'को वेएई'त्यादि प्राक्तन्येव गाथा, सर्वपदार्थनित्यत्वाऽभ्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावस्तदभावाच्च को वेदयति ?, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः, एवं च सति कृतनाशः स्यात्, तथा असतश्चोत्पादाऽभावे येयमात्मनः पूर्वभवपरित्यागेनापरभवोत्पत्तिलक्षणा पञ्चधा गतिरुच्यते सा न स्यात्, ततश्च मोक्षगतेरभावाद्दीक्षादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्येत, तथाऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वे चात्मनो देवमनुष्यगत्यागती तथा विस्मृतेरभावात् जातिस्मरणादिकं च न प्राप्नोति, यच्चोक्तं 'सदेवोत्पद्यते' तदप्यसत्, यतो यदि सर्वथा सदेव कथमुत्पादः ?' उत्पादश्चेद् न तर्हि सर्वथा सदिति, तथा चोक्तम्-

1. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ इति पाठभेदो गीतायाम् ।

“कर्मगुणव्यापदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमसद्विज्ञेयं क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ॥१॥”

तस्मात्सर्वपदार्थानां कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यं, तथा चाभिहितम्-

“सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योऽधित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥”

इति, तथा

“नान्वयः स हि भेदत्वाच्च भेदोऽन्वयवृत्तिः । मूढेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥२॥” ॥१६॥

टीकार्थ - पृथिवी आदि पाँच महाभूत और छट्ठा आत्मा, बिना कारण विनाश अथवा कारण से विनाश, इन दोनों ही प्रकार के विनाशों से नष्ट नहीं होते हैं। बौद्ध लोग बिना कारण ही अपने आप पदार्थों का विनाश मानते हैं। जैसा कि वे कहते हैं,

“जातिरेव हि” अर्थात् पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है। जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट न हुआ, वह पीछे किस कारण से नष्ट हो सकता है।

तथा वैशेषिक लोग लाठी आदि के प्रहार से पदार्थों का नाश मानते हैं, इसलिए इनके मत में नाश सहेतुक होता है। इन दोनों प्रकार के नाशों से आत्मा और लोक का नाश नहीं होता। यह आत्मषष्ठवादियों का आशय है। अथवा पृथिवी आदि पाँच महाभूत, अपने अचेतनस्वभाव से तथा आत्मा अपने चेतनस्वभाव से कभी नष्ट नहीं होता इसलिए ये कभी नष्ट नहीं होते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ते इसलिए ये नित्य हैं, तथा यह जगत् कभी-भी अन्य तरह का नहीं होता है, इसलिए नित्य है। तथा आत्मा किसी का किया हुआ नहीं है, इत्यादि कारण से वह भी नित्य है। जैसा कि कहा है-

“नैनं छिन्दन्ति” अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं भीगा सकता, वायु, शोषण नहीं कर सकता। यह आत्मा छिद नहीं सकता, यह भेदन नहीं किया जा सकता है।

यह विकार रहित, नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन कहा जाता है।

पृथिवी आदि पाँच महाभूत तथा छट्ठा आत्मा नित्य हैं, इसलिए असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, सभी पदार्थ सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। जो पदार्थ असत् है, उसमें कर्ता, करण आदि कारकों का व्यापार नहीं हो सकता है। इसलिए सत् पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त मानना चाहिए। यदि असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति हो, तो खर विषाण (गधे के सींग) आदि की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। अत एव कहा है कि-

“असदकरणात्” अर्थात् जो वस्तु नहीं होती, वह नहीं की जा सकती जैसे गधे के सींग नहीं किये जा सकते, इससे सिद्ध होता है कि जो वस्तु होती है, वही की जाती है। असत् वस्तु नहीं की जा सकती है। “उपादान-ग्रहणात्” कर्ता, किसी वस्तु को बनाने के लिए उसके उपादान को ही ग्रहण करता है। यदि असत् की भी उत्पत्ति हो तो उपादान के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु की जानी चाहिए। इस प्रकार तेल निकालने के लिए तिल ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? मिट्टी से भी तेल निकाल लेना चाहिए। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपादान में विद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति होती है। असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। “सर्वसम्भवाभावात्” यदि असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति हो तो वृक्ष की लकड़ी से पुतली ही क्यों बनाई जाती है। गेहूँ, चना, कपड़ा, घट आदि भी क्यों नहीं बना लिये जाते? अतः कारण में दूसरे रूप से, स्थित पदार्थ ही किया जाता है, असत् पदार्थ नहीं किया जा सकता, यह सिद्ध है। “शक्तस्य शक्यकरणात्” मनुष्य की शक्ति से जो साध्य होता है, उसी को वह करता है। जो उसकी शक्ति से साध्य नहीं होता, उसे वह नहीं करता। यदि असत् की भी उत्पत्ति हो तो अशक्य पदार्थ को भी कर्ता क्यों नहीं कर देता? अतः असत् की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध है। “कारण-भावाच्च सत्कार्यम्” पीपल के बीज से पीपल ही उत्पन्न होता है। आम का अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है। यदि कारण में न रहनेवाला भी कार्य उत्पन्न हो तो पीपल के बीज से आम का अङ्कुर क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता है? अतः सिद्ध होता है कि कारण में स्थित पदार्थ की ही उत्पत्ति होती

है। असत् की उत्पत्ति नहीं होती है।

इस प्रकार मृत्पिण्ड में भी घट विद्यमान रहता है, क्योंकि घट बनाने के लिए मृत्पिण्ड को ही ग्रहण करते हैं। यदि असत् की भी उत्पत्ति होती तो वह घट जिस किसी पदार्थ से भी बना लिया जाता, उसके लिए खासकर मृत्पिण्ड लेने की ही आवश्यकता न होती। अतः कारण में विद्यमान कार्य ही उत्पन्न होता है यह निश्चित है। इस प्रकार पृथिवी आदि पाँच महाभूत और छद्वा आत्मा ये सभी पदार्थ, नित्य हैं। ये अभाव रूप में होकर भाव रूप में नहीं आते हैं। जगत् में जो उत्पत्ति और विनाश व्यवहार होता है वह भी वस्तु की प्रकटता और अप्रकटता को लेकर ही होता है। अत एव कहा है कि-

“नासतो” असत् पदार्थ का भाव नहीं है अर्थात् जो वस्तु नहीं है, वह होती नहीं है और सत् पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता है।

इसका उत्तर देने के लिए निर्युक्तिकार, पूर्वोक्त “को वेई” इत्यादि पूर्वोक्त [३४] गाथा ही कहते हैं- यदि सभी पदार्थों को नित्य माना जाय तो कर्तृत्वपरिणाम नहीं हो सकता और आत्मा का कर्तृत्व परिणाम न होने पर उसको कर्मबन्ध भी नहीं हो सकता और कर्मबन्ध न होने पर कौन सुख-दुःख भोग सकता है ?। अर्थात् कोई भी सुख-दुःख नहीं भोग सकता। परंतु ऐसा मानने पर कृतनाश दोष आता है अर्थात् किये हुए कर्म का फल भोगना पड़ता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त नष्ट होता है। तथा असत् की उत्पत्ति न मानने पर पूर्व भव को छोड़कर दूसरे भावों में उत्पत्ति रूप इस आत्मा की जो पाँच प्रकार की गति बतायी जाती है, वह नहीं हो सकती है। ऐसी दशा में मोक्षगति न होने के कारण दीक्षा आदि क्रिया का अनुष्ठान करना निरर्थक ही ठहरता है। तथा इस आत्मा को उत्पत्ति-विनाश रहित स्थिर, एक स्वभाववाला मानने पर इसका देव, मनुष्य आदि भवों में जाना, आना नहीं हो सकता है तथा विस्मृति न होने से जातिस्मरण आदि ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः आत्मा को एकान्त नित्य कहना मिथ्या है। तथा सत् ही उत्पन्न होता है, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि वह सर्वथा सत् है तो उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और यदि उत्पत्ति होती है तो वह सर्वथा सत् नहीं हो सकता है। अत एव कहा है कि-

“कर्मगुणव्यपदेशः” अर्थात् जब तक घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है, तब तक उनके द्वारा जलाहरण आदि कार्य नहीं किये जा सकते हैं तथा उनके गुण भी नहीं पाये जाते हैं एवं उनका घट आदि नाम भी नहीं होता है। (मृत्पिण्ड से जल नहीं लाया जा सकता है और वह घट के गुणों से युक्त भी नहीं होता है तथा वह घट नाम से नहीं कहा जाता है।) तथा घट बनानेवाले की क्रिया में प्रवृत्ति भी घट न होने पर ही होती है, घट बन जाने पर नहीं होती है। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् समझना चाहिए।

अतः सभी पदार्थों को कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य मानना चाहिए और “सदसत्कार्यवाद” सिद्धान्त मानना चाहिए। कहा है कि-

“सर्वव्यक्तिषु” अर्थात् सभी पदार्थ क्षण-क्षण बदलते रहते हैं तथापि उनमें भेद प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि पदार्थों का अपचय और उपचय यद्यपि होता रहता है परन्तु उनकी आकृति और जाति सदा वही बनी रहती है। तथा-

“नान्वयः” कारण के साथ कार्य का एकान्त अभेद नहीं है क्योंकि उनमें भेद प्रतीत होता है तथा एकान्त भेद भी नहीं है क्योंकि कार्य में कारण अनुगत रहता है, अतः मृत्तिका के साथ भेदाभेद सम्बन्ध रखनेवाला घट एक दूसरी जाति का पदार्थ है ॥१६॥



- साम्प्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन्निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह-

- अब सूत्रकार, बौद्ध मत को पूर्वपक्ष रूप से कहते हुए निर्युक्तिकार द्वारा कहे हुए अफलवाद को प्रकट करने के लिए कहते हैं-

पंच खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो ।

अण्णो अणण्णो ^१णेवाहु हेउयं च^२ अहेउयं

॥१७॥

छाया - पञ्च स्कन्धान् वदन्त्येके बालास्तु क्षणयोगिनः । अव्यमनव्यं नेवाहुहेतुकं चाहेतुकम् ॥

व्याकरण - (पंच) खंड का विशेषण (खंडे) वयन्ति क्रिया का कर्म (वयंति) क्रिया (एगे) बाल का विशेषण । (बाला) कर्ता (उ) अव्यय (खणजोइणो) खंड का विशेषण । (अण्णो, अणण्णो, हेउयं अहेउयं) कर्म, आत्मा के विशेषण । (णेव) अव्यय । (आहु) क्रिया।

अन्वयार्थ - (एगे उ बाला) कोई अज्ञानी (खणजोइणो) क्षणमात्र रहनेवाले (पंच) पाँच (खंडे) स्कन्ध (वयंति) बताते हैं । (अण्णो) भूतों से भिन्न (अणण्णो) तथा अभिन्न (हेउयं च) कारण से उत्पन्न तथा (अहेउयं) बिना कारण उत्पन्न आत्मा (णेवाहु) नहीं कहते हैं ।

भावार्थ - कोई अज्ञानी क्षणमात्र स्थित रहनेवाले पाँच स्कन्धों को बतलाते हैं । भूतों से भिन्न अथवा अभिन्न, कारण से उत्पन्न अथवा बिना कारण उत्पन्न आत्मा, वे नहीं मानते हैं ।

टीका - 'एके' केचन वादिनो बौद्धाः 'पञ्च स्कन्धान् वदन्ति' रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति, तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च १ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः २ रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ३ संज्ञास्कन्धः संज्ञानिमित्तोद्ग्राहणात्मकः प्रत्ययः ४ संस्कारस्कन्धः पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ५ । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाऽभावात्, नाप्यनुमानेन, न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला- यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानाद् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति, तथा ते स्कन्धाः 'क्षणयोगिनः' परमनिरुद्धः कालः क्षणः क्षणेन योगः- सम्बन्धः क्षणयोगः स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः, क्षणमात्रावस्थायिन इत्यर्थः, तथा च तेऽभिदधति स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वर-स्वभावो वा ? यद्यविनश्वरस्ततस्तद्व्यापिन्याः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याऽभावः प्रसजति, तथाहि-यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति, स च नित्योऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तते यौगपद्येन वा ? न तावत् क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा न वा?, यदि विद्यते किमिति क्रमकरणम् ?, सहकार्यपेक्षयेति चेत् तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न वा ? यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ?, यदि परित्यागेन ततोऽतादवस्थापत्तेरनित्यत्वम्, अथ पूर्वस्वभावा-परित्यागेन ततोऽतिशयाऽभावात् किं सहकार्यपेक्षया ?, अथ अकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते, तदयुक्तम्, यतः-

“अपेक्षेत परं कश्चिदपि कुर्वीत किञ्चन । यदकिञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥१८॥”

अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते, तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः । अथाऽसौ नित्यो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्यात् तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणाद् द्वितीयादिक्षणेऽकर्तृत्वमायातं, तथा च सैवानित्यता । अथ तस्य तत्त्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेऽपि कुर्यात्, तदसाम्प्रतम्, कृतस्य करणाभावादिति । किञ्च द्वितीयादिक्षणाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्त्वभावत्वात्, अतत्त्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति । तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति । अथानित्यस्वभावः समुत्पद्यते, तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम्, तथा-चोक्तम्-

“जातिरेव हि भावानां विनाशो हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत् पश्चात्तत्र केन च” ॥१९॥

ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः, तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्या-नामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति एतच्चानुपासितगुरोर्वचः, तथाहि तेन मुद्रादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते? किमत्र प्रष्टव्यम् ? अभावः क्रियते, अत्र च प्रष्टव्यो देवानां प्रियः, अभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयमुत प्रसज्यप्रतिषेध इति ? तत्र यदि पर्युदासस्ततोऽयमर्थो भावादन्त्योऽभावो भावान्तरं-घटात्पटादिः सोऽभाव इति, तत्र

भावान्तरे यदि मुद्रादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति । अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाऽयमर्थो-विनाशहेतु-रभावं करोति, किमुक्तं भवति ? भावं न करोतीति, ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात्, न च घटादेः पदार्थस्य मुद्रादिना करणं, तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्, अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् कुतस्तत्र कारकाणां व्यापारः ?, अथ तत्राऽपि कारकव्यापारो भवेत् खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारकाणीति । तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवानित्यताक्रोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थित-मिति । 'तु' शब्दः पूर्ववादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः, तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति 'अण्णो अण्णो' इति । ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तो यथा च चार्वाका भूताव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा 'नैवाहुः' नैवोक्तवन्तः, तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इति यावत्, तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवं तमात्मानं ते बौद्धाः नाभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥

टीकार्थ - कोई वादी- बौद्ध, पाँच स्कन्ध बतलाते हैं । वे कहते हैं कि इस जगत् में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नामक पाँच ही स्कन्ध हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मा नाम का स्कन्ध नहीं है । पृथिवी और धातु आदि तथा रूप आदि को 'रूप स्कन्ध' कहते हैं । तथा सुख, दुःख और असुख, अदुःख के अनुभव को 'वेदना स्कन्ध' कहते हैं । एवं रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान को 'विज्ञान-स्कन्ध' कहते हैं । तथा संज्ञा के कारण वस्तु विशेष के बोधक शब्द को 'संज्ञा-स्कन्ध' कहते हैं । तथा पाप-पुण्य आदि धर्मसमूह को 'संस्कार स्कन्ध' कहते हैं । इन पाँच स्कन्धों से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जाता है तथा उस आत्मा के साथ नियत सम्बन्ध रखनेवाला कोई लिङ्ग भी गृहीत नहीं होता इसलिए अनुमान द्वारा भी वह आत्मा नहीं जाना जा सकता । प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर पदार्थ को सत्य बतानेवाला कोई तीसरा प्रमाण भी नहीं है । (अतः पाँच स्कन्धों से भिन्न आत्मा नहीं है), इस प्रकार बालक के समान पदार्थ ज्ञानरहित बौद्धगण कहते हैं । तथा बौद्धों के माने हुए वे पूर्वोक्त पाँच स्कन्ध' क्षणयोगी हैं । परमसूक्ष्म काल को 'क्षण' कहते हैं, उस क्षण के साथ सम्बन्ध को 'क्षणयोग' कहते हैं । जो पदार्थ उस क्षण के साथ सम्बन्ध रखता है, उसको 'क्षणयोगी' कहते हैं । जो पदार्थ क्षणमात्र स्थित रहता है, वह क्षणयोगी कहलाता है, यह अर्थ है । पदार्थ क्षणमात्र स्थित रहते हैं, इस विषय को सिद्ध करने के लिए, बौद्धगण यह कहते हैं- अपने कारणों से उत्पन्न होते हुए पदार्थ में क्या नश्वर स्वभाव उत्पन्न होता है, अथवा अनश्वरस्वभाव उत्पन्न होता है? यदि अनश्वर स्वभाव उत्पन्न होता है तो पदार्थ में व्यापक होकर रहनेवाली अर्थक्रिया, क्रमशः या एक साथ उस पदार्थ में नहीं हो सकती इसलिए व्यापक रूप उस 'अर्थ क्रिया के अभाव होने से व्याप्य रूप उस पदार्थ का भी अभाव होगा क्योंकि जो पदार्थ, वस्तु की क्रिया करता है, वही वस्तुतः सत् है । इसलिए वह नित्य^२ (अविनश्वर स्वभाववाला) पदार्थ क्रिया करने में

1. वस्तु की क्रिया को अर्थक्रिया कहते हैं । जैसे आग की क्रिया है जलाना, पानी की क्रिया है प्यास बुझाना, इत्यादि । जो जलाना रूप क्रिया करती है वह आग है और जो प्यास बुझाने की क्रिया करता है वह पानी है । जो जलाना रूप क्रिया नहीं करती है वह आग नहीं है और जो प्यास बुझाने की क्रिया नहीं करता है वह पानी नहीं है । आशय यह है कि- जो वस्तु की क्रिया करता है वही वस्तु है परन्तु जो वस्तु की क्रिया नहीं करता है वह वस्तु नहीं है । इससे यह सिद्ध होता है कि क्रिया करना ही वस्तु का लक्षण है । इसलिए जो क्रिया करता है, वही वस्तु है और जो क्रिया नहीं करता वह वस्तु नहीं है । अपने कारणों से उत्पन्न होता हुआ पदार्थ यदि अविनश्वर स्वभाव उत्पन्न हो तो वह न तो क्रमशः क्रिया कर सकता है और न एक साथ ही सब क्रिया कर सकता है, क्योंकि उसका स्वभाव बदलता नहीं है और स्वभाव बदले बिना वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं को कर नहीं सकता अतः अविनश्वर स्वभाववाले पदार्थ द्वारा क्रिया न हो सकने से वह कोई वस्तु ही नहीं हो सकती है, यह यहाँ की टीका का आशय है । अविनश्वर स्वभाववाला पदार्थ एक साथ या क्रमशः कोई क्रिया नहीं कर सकता है, यह टीकाकार स्वयं इसके आगे बता रहे हैं ।

2. जिसका स्वभाव न बदले वह पदार्थ नित्य कहा जाता है । यदि पदार्थ नित्य है तो उससे कोई भी क्रिया नहीं हो सकती है क्योंकि पदार्थ का स्वभाव परिवर्तन हुए बिना उससे कोई भी कार्य नहीं हो सकता । पृथिवी और जल के संयोग से यदि बीज के स्वभाव का परिवर्तन न हो तो उससे अङ्कुर कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता इससे सिद्ध होता है कि सहकारी कारण के संयोग से कारण द्रव्य का स्वभाव अवश्य परिवर्तित होता है । जिसका स्वभाव परिवर्तित होता है, उसी को अनित्य कहते हैं । इस जगत् का पदार्थमात्र ही परिवर्तनशील है। अतः उनकी अनित्यता स्पष्ट है ।

एकसाथ प्रवृत्त होता है ? अथवा क्रमशः प्रवृत्त होता है । यदि कहो कि वह क्रमशः क्रिया करने में प्रवृत्त होता है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह जिस समय एक क्रिया करने के लिए प्रवृत्त होता है, उस समय उसमें दूसरी क्रिया करने का स्वभाव है या नहीं ? यदि है तो वह एक ही साथ दूसरी क्रियाओं को भी क्यों नहीं कर देता? क्रमशः क्यों करता है ? यदि कहो कि उस पदार्थ का दूसरी क्रिया करने का स्वभाव है तो उस समय भी अवश्य है, परन्तु सहकारी कारण की अपेक्षा से वह क्रमशः क्रियाओं को करता है, एक साथ नहीं करता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह सहकारी कारण उस पदार्थ में कुछ विशेषता उत्पन्न करता है या नहीं? यदि विशेषता उत्पन्न करता है, तो वह विशेषता उस पदार्थ के पहले स्वभाव को हटाकर उत्पन्न होती है या हटाए बिना ही उत्पन्न होती है ? यदि उसके पहले स्वभाव को हटाकर उसमें विशेषता उत्पन्न होती है तो वह पदार्थ, पहला स्वभाव न होने के कारण अनित्य सिद्ध होता है, नित्य नहीं हो सकता । यदि कहो कि उस पदार्थ के पहले स्वभाव का परित्याग नहीं होता है तो सहकारी कारण के द्वारा उसमें कोई विशेषता उत्पन्न नहीं की जाती यह सिद्ध होता है। ऐसी दशा में सहकारी की अपेक्षा करने की क्या आवश्यकता है ?। यदि कहो कि- “सहकारी कारण कुछ भी उपकार नहीं करता फिर भी विशिष्ट कार्य के लिए उसकी अपेक्षा की जाती है ।” तो यह भी अयुक्त है क्योंकि-

(अपेक्षेत परं) जो पदार्थ कुछ उपकार करता है, उसी की अपेक्षा की जाती है परन्तु जो कुछ उपकार नहीं करता उसकी अपेक्षा कोई क्यों करेगा ?

यदि कहो कि उस पदार्थ का एक क्रिया करते समय दूसरी क्रिया करने का स्वभाव नहीं होता है इसलिए वह एक क्रिया करने के समय दूसरी क्रिया नहीं करता है तब तो स्पष्ट ही उस पदार्थ की नित्यता नष्ट हो जाती है । (क्योंकि स्वभाव भेद ही अनित्यता का लक्षण है ।) यदि कहो कि- “वह नित्य पदार्थ, एक साथ ही सब क्रियाओं को, कर देता है” तब तो प्रथम क्षण में ही सब क्रिया हो जाने के कारण द्वितीय आदि क्षण में वह पदार्थ अकर्ता सिद्ध होता है । अतः प्रथम क्षण में क्रिया का कर्ता होकर द्वितीयादि क्षण में अकर्ता होना ही उस पदार्थ की अनित्यता है । यदि कहो कि उस पदार्थ का स्वभाव वही रहता है, इसलिए द्वितीयादि क्षण में भी वह उन्हीं क्रियाओं को बार-बार करता है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि जो एक बार किया जा चुका है, उसका फिर किया जाना नहीं होता । तथा वह पदार्थ यदि एक ही साथ सब क्रियाओं को कर देता है तो द्वितीयादि क्षण में होनेवाले पदार्थ भी प्रथम क्षण में ही हो जाने चाहिए क्योंकि द्वितीयादि क्षण में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को उत्पन्न करने का स्वभाव उस वस्तु में प्रथम क्षण में भी विद्यमान है । यदि प्रथम क्षण में उस वस्तु का वह स्वभाव नहीं है, तब तो उसकी अनित्यता स्पष्ट है । इस प्रकार क्रमशः या एक साथ अर्थ-क्रिया न कर सकने के कारण अपने कारणों से नित्य पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध है । इस प्रकार जब कि अनित्य स्वभाव ही पदार्थ उत्पन्न होना सिद्ध होता है, तब सभी पदार्थ, क्षणमात्र स्थित रहते हैं । यह हमारा कथन निर्विघ्न सिद्ध होता है । कहा भी है-

(जातिरेव) पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है । जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता वह पीछे कैसे नष्ट हो सकता है ?

शङ्का - यद्यपि पदार्थ अनित्य हैं तथापि जब जिसका नाश कारण उपस्थित होता है तब उसका नाश होता है, अतः अपने-अपने नाश कारण की अपेक्षा से नष्ट होनेवाले अनित्य पदार्थ क्षणविनाशी नहीं हो सकते ।

समाधान - यह, गुरु की उपासना नहीं किये हुए पुरुष का वचन है क्योंकि घट आदि के नाश का कारण मुद्गर आदि, घट आदि का क्या करता है ? इसमें क्या पूछना है ? । मुद्गर आदि घट का अभाव करता है । ऐसा

कहनेवाले मूर्ख से कहना चाहिए कि- “अभाव” शब्द में ‘नञ्’ पर्युदास है अथवा प्रसज्य है ? यदि पर्युदास है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक भाव से भिन्न दूसरा भाव (पदार्थ) अभाव है । जैसे यहाँ घट से भिन्न पट आदि घट का अभाव है । उस पट आदि में यदि मुद्गर का व्यापार होता है तो वह मुद्गर घट का क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं करता है । यदि अभाव पद का अर्थ पर्युदास न मानकर प्रसज्य प्रतिषेध अर्थ मानो तो यह अर्थ होगा कि- “विनाश का कारण मुद्गर आदि भाव (वस्तु) को नहीं उत्पन्न करता है ।” इस प्रकार अभाव शब्द के द्वारा क्रिया का ही प्रतिषेध किया जाता है, परन्तु मुद्गर आदि पदार्थ घटादि पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि घटादि पदार्थ अपने कारणों से ही उत्पन्न हुए हैं । यदि कहो कि भाव (पदार्थ) के अभाव को ‘अभाव’ कहते हैं । वह अभाव मुद्गर के द्वारा किया जाता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव, अवस्तु तथा नीरूप है । उसमें कारकों का व्यापार कैसे हो सकता है ? यदि अभाव में भी कारकों का व्यापार हो तो गधे के सींग में भी कारकों का व्यापार होना चाहिए । अतः विनाश का कारण मुद्गर आदि, कुछ नहीं करता है, किन्तु पदार्थ अपने स्वभाव से ही अनित्य उत्पन्न होते हैं और उनके क्षणिक होने में कोई बाधक नहीं है, इसलिए वे क्षणिक हैं । इस गाथा में ‘तु’ शब्द पूर्वोक्त मतवादियों से इस मत का भेद बताने के लिए है । यही भेद इस श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा बतलाते हैं- “अण्णो अण्णो”, जैसे पाँच भूत और छट्ठा आत्मा को माननेवाले सांख्यवादी भूतों से भिन्न आत्मा मानते हैं, तथा जैसे चार्वाक पाँच भूतों से अभिन्न आत्मा स्वीकार करते हैं, उस तरह ये बौद्धगण नहीं मानते हैं । ये बौद्धगण शरीर रूप में परिणत पाँच भूतों से उत्पन्न अथवा आदि-अन्त रहित नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं ॥१७॥



- तथाऽपरे बौद्धाश्चातुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह-

- तथा दूसरे बौद्ध इस जगत् को चार धातुओं से उत्पन्न बतलाते हैं । यह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं ।

पुढवी ^२आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।

चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु ^३यावरे

॥१८॥

छाया - पृथिव्यापस्तेजश्च तथा वायुश्चेकतः । चत्वारि धातो रूपाणि, एवमाहुरपरे ॥

व्याकरण - (पुढवी, आउ, तेऊ, वाऊ) ये सभी प्रथमान्त, और अर्धाक्षित धातु के विशेष्य हैं । (एगओ) अव्यय (चत्तारि) रूप का

1. “नञर्थो द्वौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्”- अर्थात् नञ् दो प्रकार के होते हैं, एक पर्युदास और दूसरा प्रसज्य । इनमें पर्युदास सदृश पदार्थ का बोधक होता है और प्रसज्य, क्रिया का निषेध करता है । जैसे “अब्राह्मणमानय” अर्थात् अब्राह्मण को लाओ । यहाँ अब्राह्मण पद से ब्राह्मणभिन्न और ब्राह्मण के समान क्षत्रिय आदि का बोध होता है । इसलिए कहनेवाले का आशय यह है कि ब्राह्मण के समान क्षत्रिय आदि को लाओ । यहाँ नञ् पर्युदास है । प्रसज्य का उदाहरण यह है- “अश्राद्ध-भोजी ब्राह्मणः असूर्य्यम्पश्याः राजदाराः” अर्थात् यह ब्राह्मण श्राद्धभोजन नहीं करता है तथा राजा की स्त्रियाँ सूर्य को नहीं देखती हैं । यहाँ नञ् श्राद्धभोजन रूप क्रिया और सूर्य के दर्शन रूप क्रिया का प्रतिषेध करता है इसलिए यह नञ् प्रसज्यप्रतिषेध है । प्रस्तुत विषय में जो अभाव शब्द है उसकी व्याख्या भी पर्युदास और प्रसज्य रूप दो प्रकार का नञर्थ होने से दो प्रकार की हो सकती है । यदि पर्युदास मानें तो “विनाश-हेतुरभावं करोति” इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि विनाश का कारण दण्ड, घटरूप भाव से भिन्न दूसरे भाव पट आदि पदार्थ को उत्पन्न करता है । ऐसी दशा में वह घट का कुछ नहीं करता यह बात सिद्ध होती है, अतः मुद्गर आदि के द्वारा घट का नाश किया जाता है यह कथन असम्मत है, यह बौद्धों का आशय है ।

यदि अभाव शब्द में पर्युदास न मान कर प्रसज्य माने तब इसका अर्थ यह होगा कि- “विनाश का कारण मुद्गर आदि घटरूप भाव को उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि प्रसज्य क्रिया का प्रतिषेधक होता है । ऐसी दशा में भी घट के साथ दण्ड आदि का कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता । अतः दण्ड आदि से घट का नाश कहना मिथ्या है । यह बौद्ध का आशय है ।

2. आऊय तेऊ य चू० । 3. जाणगा चू० ।

विशेषण है (स्व) कर्ता (धाउणो) रूप का विशेषण सम्बन्धषष्ठ्यन्त (एवं) अव्यय । (यावरे) कर्ता (आहंसु) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (पृथ्वी) पृथिवी (आउ) जल (य) और (तेऊ) तेज (तहा) तथा (वाऊ य) वायु (चत्तारि) ये चार (धाउणो) धातु के (स्व) रूप हैं । (एगओ) ये शरीर रूप में एक होने पर जीव संज्ञा को प्राप्त करते हैं । (एवं) इस प्रकार (यावरे) दूसरे बौद्धों ने (आहंसु) कहा है।

भावार्थ - पृथिवी, जल, तेज, और वायु ये चार, धातु के रूप हैं । ये जब शरीर रूप में परिणत होकर एकाकार हो जाते हैं, तब इनकी जीव संज्ञा होती है, यह दूसरे बौद्ध कहते हैं ।

टीका - पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति । धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम् 'एगओ' त्ति, यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते । तथा चोचुः- "चातुर्धातुकमिदं शरीरम्, न तदव्यतिरिक्त आत्माऽस्ती"ति । 'एवमाहंसु यावरेत्ति' अपरे बौद्धविशेषा एवम् 'आहुः' अभिहितवन्त इति । क्वचिद् 'जाणगा' इति पाठः । तत्राऽप्ययमर्थो 'जानका' ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एवमाहुरिति सम्बन्धनीयम् । अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम् । सर्व एव वा पूर्ववादिनोऽफलवादिनो द्रष्टव्याः, कैश्चिदात्मनो नित्यस्याविकारिणोऽभ्युपगतत्वात्, कैश्चित्त्वात्मन एवानभ्युपगमादिति । अत्रोत्तरदानार्थं प्राक्तन्येव निर्युक्तिगाथा "को वेएइ" इत्यादि व्याख्यायते, यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादि गाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति । तदेवमात्मनोऽभावाद् योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम् ? ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत् न, तस्याऽपि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः । क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासङ्गतेः कृतनाशाकृताभ्यागमापत्तिरिति । ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति चेत् तस्याऽपि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतत् । पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्, तथा चोक्तम्-

"यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्धत्ते, कार्पास्ये रक्तता यथा ? ॥१॥"

अत्रापीदं विकल्प्यते-सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा ? यदि व्यतिरिक्ता, वासकत्वाऽनुपपत्तिः, अथाव्यतिरिक्ता, क्षणवत् क्षणक्षयित्वं तस्याः, तदेवमात्माऽभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्याद्, अस्ति च सुखदुःखानुभवो, अतोऽस्त्यात्मेति । अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानाम् स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः सङ्कलनाप्रत्ययो न स्यात् । आलयविज्ञानाद् भविष्यतीति चेदात्मैव तर्हि संज्ञान्तरेणाभ्युपगत इति । तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्-

"इत एकवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ।" ॥१॥

तथा-

"कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तन्मृगवन्त्यात्मनिगर्हणेन ।

प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि" ॥२॥

इत्येवमादि । तथा यदुक्तं क्षणिकत्वं साधयता यथा 'पदार्थः कारणेभ्य उत्पद्यमानो नित्यः समुत्पद्यतेऽनित्यो वे'त्यादि, तत्र नित्येऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कारकाणां व्यापाराभावादतिरिक्ता वाचोयुक्तिरिति नित्यत्वपक्षानुत्पत्तिरेव । यच्च नित्यत्वपक्षे भवताऽभिहितं 'नित्यस्य न क्रमेणार्थक्रियाकारित्वं नाऽपि यौगपद्येनेति' तत्क्षणिकत्वेऽपि समानं, यतः क्षणिकोऽप्यर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण यौगपद्येन वाऽवश्यं सहकारिकारणसव्यपेक्ष एव प्रवर्तते, यतः सामग्री जनिका, नह्येकं किञ्चिदिति । तेन च सहकारिणा न तस्य कश्चिदतिशयः कर्तुं पाय्यते, क्षणस्याविवेकत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, क्षणानां च परस्परपकारकोपकार्यत्वानुपपत्तेः सहकारित्वाभावः, सहकार्यनपेक्षायां च प्रतिविशिष्टकार्यानुपपत्तिरिति । तदेवमनित्य एव कारणेभ्यः पदार्थः समुत्पद्यत इति द्वितीयपक्षसमाश्रयणमेव, तत्राऽपि चैतदालोचनीयं- किं क्षणक्षयित्वेनानित्यत्वमाहोस्वित् परिणामानित्यतयेति ? तत्र क्षणक्षयित्वे कारणकार्याभावात् कारकाणां व्यापार एवानुपपन्नः कुतः क्षणिकानित्यस्य कारणेभ्य उत्पाद इति ? । अथ पूर्वक्षणादुत्तरक्षणोत्पादे सति कार्यकारणभावो भवतीत्युच्यते, तदयुक्तं, यतोऽसौ पूर्वक्षणो विनष्टो वोत्तरक्षणं जनयेदविनष्टो वा ? । न तावद् विनष्टः, तस्यासत्त्वा-

ज्जनकत्वानुपपत्तेः नाऽप्यविनष्टः, उत्तरक्षणकाले पूर्वक्षणव्यापारसमावेशात्क्षणभङ्गभङ्गापत्तेः । पूर्वक्षणो विनश्यंस्तूत्तरक्षणमुत्पादयिष्यति तुलान्तयोर्नामोन्नामवदिति चेत् एवं तर्हि क्षणयोः स्पष्टैवैककालताऽऽश्रिता । तथाहि- याऽसौ विनश्यदवस्था, साऽवस्था तुरभिन्ना, उत्पादावस्थाऽप्युत्पित्सोः, ततश्च तयोर्विनाशोत्पादयोर्योगपद्याभ्युपगमे तद्धर्मिणोरपि पूर्वोत्तरक्षणयोरेककालावस्थायित्वमिति । तद्धर्मताऽनभ्युपगमे च विनाशोत्पादयोरवस्तुत्वापत्तिरिति । यच्चोक्तम्- “जातिरेव हि भावानामि”त्यादि, तत्रेदमभिधीयते- यदि जातिरेव- उत्पत्तिरेव भावानां-पदार्थानामभावे हेतुः, ततोऽभावकारणस्य सन्निहितत्वेन विरोधेनाघ्रातत्वादुत्पत्त्यभावः । अथोत्पत्त्युत्तरकालं विनाशो भविष्यतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति उत्पत्ति-क्रियाकाले तस्याऽभूतत्वात्पश्चाच्च भवन्नन्तर एव भवति न भूयसा कालेनेति किमत्र नियामकम् ? विनाशहेत्वभाव इति चेत्, यत उक्तम्- “निर्हेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धितेति”, एतदप्ययुक्तं, यतो घटादीनां मुद्रादिव्यापारानन्तरमेव विनाशो भवन् लक्ष्यते । ननु चोक्तमेवात्र तेन मुद्रादिना घटादेः किं क्रियते ? इत्यादि, सत्यमुक्तं, इदमयुक्तं तूक्तं, तथा हि- अभाव इति प्रसज्यपर्युदासविकल्पद्वयेन योऽयं विकल्पितः, पक्षद्वयेऽपि च दोषः प्रदर्शितः सोऽदोष एव । यतः पर्युदासपक्षे कपालाख्यभावान्तरकरणे घटस्य च परिणामानित्यतया तद्रूपतापत्तेः कथं मुद्रादेर्घटादीन् प्रत्यक्षित्त्वरत्नम् ? प्रसज्यप्रतिषेधस्तु भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधात्मकोऽत्र नाश्रीयते, किं तर्हि ? प्रागभाव-प्रध्वंसाभावेतरेतरात्यन्ताभावानां चतुर्णां मध्ये प्रध्वंसाभाव एवेहाश्रीयते । तत्र च कारकाणां व्यापारो भवत्येव, यतोऽसौ वस्तुनः पर्यायोऽवस्थाविशेषो नाभावमात्रं, तस्य चावस्थाविशेषस्य भावरूपत्वात्पूर्वोपमर्देन च प्रवृत्तत्वाद्य एव कपालादेरुत्पादः स एव घटादेर्विनाश इति विनाशस्य सहेतुकत्वमवस्थितम्, अपि च कादाचित्कत्वेन विनाशस्य सहेतुकत्वमवसेयमिति । पदार्थव्यवस्थार्थं चावश्यमभावचातुर्विध्यमाश्रयणीयम् । तदुक्तम् -

“कार्यद्रव्यमनादिः स्यात् प्रागभावस्य निह्वे । प्रध्वंसस्य चाभावस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ? ॥१॥”

“सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे” इत्यादि । तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति । एवं च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी, भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि, तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति । तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वात् ‘चतुर्धातुकमात्रं, शरीरमेवेद’मित्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१८॥

टीकार्थ - पृथिवी धातु है, जल धातु है, तेज धातु है, और वायु धातु है । ये चारों पदार्थ जगत् को धारण और पोषण करते हैं, इसलिए धातु कहलाते हैं । ये चारों धातु जब एकाकार होकर शरीर रूप में परिणत होते हैं, तब इनकी जीव संज्ञा होती है । जैसा कि वे कहते हैं- “चातुर्धातुकमिदं शरीरम्” अर्थात् यह शरीर चार धातुओं से बना है, अतः इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा नहीं है । इस प्रकार दूसरे बौद्ध कहते हैं । कहीं ‘जाणगा’ यह पाठ मिलता है, इस पाठ का अर्थ यह है कि- “हमलोग बड़े ज्ञानी हैं ।” इस अभिमान रूप अग्नि से जले हुए वे बौद्ध ऐसा कहते हैं । ये बौद्ध अफलवादी हैं, क्योंकि क्रिया करने के क्षण में ही इनके मत में आत्मा सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिए उस आत्मा का क्रिया फल के साथ संबंध नहीं होता है । अथवा पूर्वोक्त सभी मतवाले अफलवादी हैं, क्योंकि कोई विकार रहित नित्य आत्मा स्वीकार करते हैं और कोई आत्मा ही नहीं मानते हैं । इस विषय का समाधान देने के लिए पूर्वोक्त ‘को वेई’ इत्यादि पूर्वोक्त निर्युक्ति [३४] गाथा की ही व्याख्या की जाती है । यदि पाँच स्कन्धों से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है तो आत्मा न होने से सुख-दुःख का अनुभव कौन करता है ? इत्यादि रूप से पूर्ववत् पूर्वोक्त निर्युक्ति गाथा की व्याख्या करनी चाहिए । तथा यदि आत्मा नहीं है तो अपने अनुभव से सिद्ध सुख-दुःख का अनुभव किसको होगा ? यह विचार करना चाहिए । यदि कहो कि यह सुख-दुःख का अनुभव विज्ञान स्कन्ध का है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विज्ञान स्कन्ध भी क्षणिक है और ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता है । तथा जो पदार्थ क्रिया करता है और जो पदार्थ उस क्रिया का फल भोगता है, इन दोनों का परस्पर अत्यन्त भेद होने के कारण

कृतनाश और अकृतागम रूप दोष तुम्हारे मत में आते हैं । (क्रिया करनेवाला अपनी क्रिया का फल नहीं भोगता है, यह कृतनाश दोष है और जो क्रिया नहीं करता है, वह उस क्रिया का फल भोगता है, यह 'अकृतागम' दोष है ।) यदि कहो कि ज्ञान संतान (ज्ञान का सिलसिला) एक है, इसलिए जो ज्ञान संतान क्रिया करता है, वही उसका फल भोगता है, इसलिए हमारे मत में कृतनाश और अकृतागम दोष नहीं आते हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान संतान भी प्रत्येक ज्ञानों से भिन्न नहीं है । अतः उस ज्ञान संतान से भी कुछ फल नहीं है । यदि कहो कि पूर्व पदार्थ, उत्तर पदार्थ में अपनी वासना को स्थापित करके नष्ट होता है, जैसा कि कहा है- "यस्मिन्नेव हि संताने" अर्थात् जिस ज्ञान संतान में कर्म वासना स्थित रहती है, उसी में फल उत्पन्न होता है, जैसे जिस कपास में लाली होती है, उसी में फल उत्पन्न होता है, तो यहाँ भी यह विकल्प खड़ा किया जाता है, क्या वह वासना, उस क्षणिक पदार्थ से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो वह वासना उस क्षणिक पदार्थ को वासित नहीं कर सकती और यदि वह अभिन्न है तो उस क्षणिक पदार्थ के समान वह भी क्षणक्षयिणी है । अतः आत्मा न होने पर सुख-दुःख का भोग नहीं हो सकता परन्तु सुख-दुःख का भोग अनुभव किया जाता है । अतः आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध होता है । यदि आत्मा न हो तो गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द इन पाँच विषयों का अनुभव होने के पश्चात्- "मैंने पाँच ही विषय जाने" यह संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय का ज्ञान अपने विषय से भिन्न विषय में प्रवृत्त नहीं होता है । यदि कहो कि आलयविज्ञान से संकलनात्मक ज्ञान होगा तो इस प्रकार तुमने दूसरे नाम से आत्मा को ही अंगीकार किया है । तथा बौद्धागम भी आत्मा का प्रतिपादन करता है । वह आगम यह है-

(इत एकनवते) अर्थात् हे भिक्षुओं ! इस कल्प से एकानवे कल्प में मेरी शक्ति के द्वारा एक पुरुष मारा गया था । अतः उस कर्म का फलस्वरूप मेरे पैर में कांटे का वेध हुआ है ।

(कृतानि कर्माण्यति) मनुष्य के द्वारा किया हुआ दारुण कर्म, आत्मनिन्दा से कम हो जाता है और प्रकाश करने से तथा उसका प्रायश्चित्त करने से एवं फिर उसे न करने से वह अत्यन्त नष्ट हो जाता है, यह मैं कहता हूँ ।

इस प्रकार बौद्धागम भी आत्मा का समर्थन करता है । तथा "पदार्थ क्षणिक है", यह सिद्ध करते हुए बौद्धों ने जो यह कहा है कि- "अपने कारणों से उत्पन्न होता हुआ पदार्थ नित्य उत्पन्न होता है अथवा अनित्य उत्पन्न होता है ?" यह विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि नित्य पदार्थ, उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाला होता है । इसलिए उसमें कारणों का व्यापार होना सम्भव नहीं है, अतः नित्य पदार्थ की उत्पत्ति मानकर उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में नित्यत्व पक्ष का कथन अयुक्त है । तथा नित्य पक्ष में दोष बताते हुए जो आपने यह कहा है कि- "नित्य पदार्थ न तो क्रमशः क्रिया कर सकता है और न एक ही साथ क्रिया कर सकता है ।" यह दोष आपके क्षणिकत्व पक्ष में भी समान ही है, क्योंकि क्रमशः अथवा एक साथ क्रिया के लिए प्रवृत्त होता हुआ क्षणिक पदार्थ भी अवश्य सहकारी कारण की अपेक्षा रखता है, क्योंकि सामग्री कार्य्य को उत्पन्न करती है, कोई एक पदार्थ उत्पन्न नहीं करता है । परन्तु वह सहकारी कारण उस क्षणिक पदार्थ में कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ दुर्विज्ञेय होने के कारण विशेषता स्थापन करने योग्य नहीं होता । तथा क्षणिक पदार्थ, एक दूसरे का उपकारक अथवा उपकार्य्य नहीं हो सकता ऐसी दशा में उनका सहकारी होना भी नहीं बनता और सहकारी के बिना विशिष्ट कार्य्यों की उत्पत्ति हो नहीं सकती । इसलिए पदार्थों को क्षणिक न मानकर अनित्य मानना ही ठीक है । पदार्थ अपने कारणों से उत्पन्न होता हुआ अनित्य उत्पन्न होता है, यह दूसरा पक्ष मानना ही युक्ति-संगत है ।

इस पक्ष में भी यह विचार करना चाहिए कि पदार्थ क्षणमात्र में ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिए वे अनित्य हैं ? अथवा वे नाना रूपों में परिणत होते रहते हैं, इसलिए अनित्य हैं ? । यदि यह माना जाय कि पदार्थ, क्षणमात्र में ही नष्ट हो जाते हैं । इसलिए वे अनित्य हैं तो इस पक्ष में कोई पदार्थ न तो किसी पदार्थ का कारण हो सकता है और न कोई किसी का कार्य्य हो सकता है क्योंकि सभी पदार्थ क्षणमात्र ही स्थित रहते हैं । फिर वे किसी का कारण या कार्य्य कैसे हो सकते हैं ? । तथा उन क्षण-विनाशी पदार्थों में कारकों का व्यापार भी सम्भव

नहीं है। ऐसी दशा में क्षण में नष्ट होनेवाले अनित्य पदार्थों की कारणों से उत्पत्ति होती है, यह कैसे हो सकता है ?। यदि कहो कि क्षणमात्र स्थित रहनेवाले पहले पदार्थ से उत्तर पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसलिए क्षणिक पदार्थों में परस्पर कारण-कार्य्य भाव हो सकता है तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि पहला क्षणिक पदार्थ, स्वयं नष्ट होकर उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है अथवा नष्ट न होकर उत्पन्न करता है ?। यदि वह स्वयं नष्ट होकर उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह नहीं हो सकता है क्योंकि जो स्वयं नष्ट हो गया है, वह दूसरे को किस तरह उत्पन्न कर सकता है ?। यदि कहो कि पहला पदार्थ स्वयं नष्ट न होकर उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर पदार्थ के काल में पूर्व पदार्थ का व्यापार विद्यमान होने से तुम्हारा क्षणभङ्ग-वादरूप सिद्धान्त ही नहीं रह सकता। यदि कहो कि जैसे तराजू का एक पलड़ा, स्वयं नीचा होता हुआ दूसरे पलड़े को ऊपर उठाता है, उसी तरह पहला पदार्थ स्वयं नष्ट होता हुआ उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर स्पष्ट ही तुम दोनों पदार्थों को एक काल में स्थित रहना स्वीकार करते हो, जो क्षणभङ्गवाद सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जिस पदार्थ का नाश होता है, उसकी वह नाशावस्था उससे भिन्न नहीं है, इसी तरह उत्पन्न होते हुए पदार्थ की उत्पत्ति अवस्था भी उस पदार्थ से भिन्न नहीं है।

ऐसी दशा में उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पर उनके धर्मरूप पूर्व और उत्तर पदार्थ की भी एक काल में स्थिति सिद्ध होगी। यदि उत्पत्ति और विनाश को, उन पदार्थों का धर्म न मानो तो उत्पत्ति और विनाश, कोई वस्तु ही सिद्ध न होंगे। तथा यह जो कहा है कि- “पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है।” इसका समाधान यह है कि यदि पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति ही न होनी चाहिए क्योंकि उनके विनाश का कारण उनकी उत्पत्ति उनके निकट विद्यमान है। यदि कहो कि- “उत्पत्ति के पश्चात् पदार्थ का विनाश होता है।” तो वह विनाश, उत्पत्ति के समय न होकर जब पश्चात् होता है तब वह उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही होगा, चिर काल के पश्चात् न होगा इसका क्या कारण है ? यदि कहो कि- “विनाश का कारण न होने के कारण चिरकाल के बाद विनाश नहीं होता है।” जैसा कि कहा है- “विनाश बिना ही कारण होता है। इसलिए वह स्वाभाविक है।” तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि मुद्गर आदि के प्रहार के पश्चात् ही घट आदि का विनाश देखा जाता है। यदि कहो कि हमने पहले यह कहा है कि- “मुद्गर आदि घट का क्या कर सकते हैं, इत्यादि” सो ठीक है, आपने कहा अवश्य है परन्तु अयुक्त कहा है क्योंकि अभाव शब्द में पर्य्युदास और प्रसज्य रूप जो आपने दो विकल्प किये हैं और दोनों पक्षों में दोष भी दिखाया है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव शब्द का पर्य्युदास अर्थ मानने पर घट से भिन्न कपाल रूप पदार्थ को मुद्गर उत्पन्न करता है। और घट, परिणामी अनित्य है, इसलिए वह कपाल रूप में परिणत होता है, अतः मुद्गर आदि घट का कुछ नहीं करते यह किस प्रकार हो सकता है ?। क्रिया को प्रतिषेध करनेवाला प्रसज्य-प्रतिषेध तो यहाँ नहीं माना जाता है किन्तु प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव रूप चार अभावों में से यहाँ प्रध्वंसाभाव का ग्रहण किया जाता है। उस प्रध्वंसाभाव में कारकों का व्यापार होता ही है, क्योंकि वह वस्तुतः पदार्थ का पर्य्याय यानी अवस्थाविशेष है, अभाव मात्र नहीं है, वह अवस्थाविशेष भाव रूप है। इसलिए वह पूर्व अवस्था को नष्ट कर के उत्पन्न होता है। इसलिए कपाल आदि की जो उत्पत्ति है, वही घट आदि का विनाश है। अतः विनाश कारणवश होता है, यह सिद्ध है। तथा विनाश कभी-कभी होता है, सदा नहीं होता है, इस कारण भी वह सहेतुक है, यह सिद्ध होता है। तथा पदार्थों की व्यवस्था के लिए अवश्य चार प्रकार के अभावों को मानना चाहिए। कहा भी है- “कार्य्यद्रव्यम्” अर्थात् प्रागभाव¹ न मानने पर कार्य्यद्रव्य अनादि हो जायगा और प्रध्वंस² न मानने पर वस्तु का अन्त न होगा तथा अन्योन्याभाव³ न मानने पर

1. उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य के अभाव को ‘प्रागभाव’ कहते हैं। जो घट कल होनेवाला है, उसका आज अभाव है। इस अभाव को ‘प्रागभाव’ कहते हैं। यदि यह अभाव न माना जाय तो उत्पत्ति के पहले भी कार्य्य का सद्भाव होने से सभी पदार्थ आदि रहित हो जायेंगे परन्तु आदि रहित है नहीं। अतः पदार्थों की आदि सिद्ध करने के लिए ‘प्रागभाव’ मानना आवश्यक है।
2. (प्रध्वंस) उत्पत्ति के पश्चात् पदार्थ का नाश हो जाना ‘प्रध्वंसाभाव’ कहलाता है। यदि यह न माना जाय तो सभी पदार्थ अन्तरहित हो जायेंगे। अतः इसे स्वीकार करना चाहिए।
3. (अन्योन्याभाव) एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से भिन्नता को ‘अन्योन्याभाव’ कहते हैं। यदि यह न माना जाय तो सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न न होकर एक स्वरूप हो जायेंगे, इसलिए इसका स्वीकार भी आवश्यक है। जो पदार्थ तीनों काल में नहीं होता है उसका अभाव ‘अत्यन्ताभाव’ कहलाता है, जैसे आकाश पुष्प और खरविषाण का अभाव अत्यन्ताभाव है।

एक वस्तु सर्व वस्तु स्वरूप हो जायगी इत्यादि । इस प्रकार क्षणभंगवाद विचारसंगत न होने से 'वस्तु परिणामी और अनित्य हैं ।' यह पक्ष मानना ही ठीक है ।

इस प्रकार यह आत्मा, परिणामी, ज्ञान का आधार, दूसरे भवों में जानेवाला और भूतों से कथंचित् भिन्न है । तथा शरीर के साथ मिलकर रहने के कारण वह, कथंचित् शरीर से अभिन्न भी है । वह आत्मा नारक, तिर्य्यक्, मनुष्य और अमरगति के कारण रूप कर्मों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में बदलता रहता है । इसलिए वह सहेतुक भी है । तथा आत्मा के निज स्वरूप का कभी नाश नहीं होता है । इसलिए वह नित्य तथा निर्हेतुक भी है । इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा सिद्ध होने पर भी उसे चार धातुओं से बना हुआ शरीर-मात्र बताना पागल की बड़बड़ाहट के समान अयुक्त है । अतः बुद्धिमान् को वह नहीं सुनना चाहिए ॥१८॥



- साम्प्रतं पञ्चभूतात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाऽभ्युपगमं दर्शयितुमाह-

- अब सूत्रकार, पंचभूतात्मवादी, आत्माद्वैतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, और क्षणिकपञ्चस्कन्धवादी, इन सब को अफलवादी बताने के लिए, तथा इन लोगों का अपने-अपने दर्शनों के प्रति जो मन्तव्य है वह बताने के लिए कहते हैं-

‘अगारमावसन्तावि आरण्या वावि १पव्वया ।

२इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा ३विमुच्चई

॥१९॥

छाया - अगारमावसन्तोऽपि आरण्या वाऽपि प्रव्रजिताः । इदं दर्शनमापन्नाः सर्वदुःखात्प्रमुच्यते ॥

व्याकरण - (अगारं) कर्म (आवसन्ता) कर्ता का विशेषण (अवि) अव्यय (आरण्या, पव्वया) कर्ता का विशेषण (इमं दरिसणं) कर्म (आवण्णा) कर्ता का विशेषण (सव्वदुक्खा) अपादान (विमुच्चई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अगारं) घर में (आवसन्तावि) निवास करनेवाले (आरण्या वावि) अथवा वन में निवास करनेवाले (पव्वया) अथवा प्रव्रज्या धारण किये हुए पुरुष (इमं दरिसणं) इस दर्शन को (आवण्णा) प्राप्त कर (सव्वदुक्खा) सब दुःखों से (विमुच्चई) मुक्त हो जाते हैं ।

भावार्थ - घर में निवास करनेवाले गृहस्थ, तथा वन में रहनेवाले तापस, एवं प्रव्रज्या धारण किये हुए मुनि जो कोई इस मेरे दर्शन को प्राप्त करते हैं, वे सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं, यह वे अन्यदर्शनी कहते हैं ।

टीका - अगारं गृहं तद् ‘आवसन्तः’ तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः, आरण्या वा तापसादयः प्रव्रजिताश्च ४शाक्यादयः अपिः संभावने, इदं ते संभावयन्ति यथा- इदम् अस्मदीयं दर्शनम् ‘आपन्ना’ आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतं, तथाहि- पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डनदण्डाजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चननाग्न्यतपश्चरण-कायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते, तथा चोचुः

“तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चनम् । अद्रिहीत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥१९॥”

इति, सांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एवं सम्भावयन्ति यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धादिप्रतिपादक-मापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेकशारीरमानसातीतिव्रतरासातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, सकलद्वन्द्वविनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥१९॥

टीकार्थ - घर को ‘अगार’ कहते हैं, उसमें निवास करनेवाले गृहस्थ, तथा वन में रहनेवाले तापस आदि, एवं प्रव्रज्या धारण किये हुए शाक्य आदि, यह विश्वास रखते हैं कि हमारे दर्शन को स्वीकार किये हुए पुरुष सब

दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ 'अपि' शब्द संभावना अर्थ में है। सूत्र में आर्षत्वात् बहुवचन के स्थान में एकवचन किया है। पञ्चभूतवादी और तज्जीवतच्छरीरवादी का यह आशय है कि- जो लोग हमारे दर्शन का आश्रय लेते हैं, वे गृहस्थ रहते हुए, शिरोमुण्डन, दण्ड-चर्मधारण, जटाधारण, काषायवस्त्र और गुदड़ी धारण, केश का लुञ्चन, नंगा रहना, तप करना, आदि दुःख रूप शरीर क्लेशों से बच जाते हैं। जैसा कि वे कहते हैं- (तपांसि) अर्थात् तप तो नाना प्रकार की यातना (दुःख भोग) है और संयम धारण करना भोग से वंचित रहना है। तथा अग्निहोत्र आदि कर्म लड़कों के खेल के समान व्यर्थ है। मोक्ष को स्वीकार करनेवाले सांख्यवादी आदि इस प्रकार आशा करते हैं कि- अकर्तृत्ववाद, अद्वैतवाद और पञ्चस्कन्धात्मवाद को प्रतिपादन करनेवाले हमारे दर्शन को अङ्गीकार करके जो लोग प्रव्रज्या धारण करते हैं, वे जन्म, जरा, मरण, गर्भ-परम्परा तथा अनेक-विध अतितीव्र शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होकर सब बखेड़ों से रहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१९॥



- इदानीं तेषामेवाफलवादित्वाविष्करणायाह -

- पूर्वोक्त मतवादी, सभी अफलवादी हैं। यह प्रकट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

ते णावि सन्धिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा । जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं न ते ओघन्तरा आख्याताः ॥

व्याकरण - (ते) सर्वनाम, कर्ता का विशेषण (ण अवि) अव्यय (सन्धिं) कर्म (णच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (धम्मविओ) जन का विशेषण (वाइणो) कर्म (एवं) अव्यय (न) अव्यय (ओहंतरा) कर्म का विशेषण (आहिया) कर्म वाच्य क्रिया ।

अन्वयार्थ - (ते) वे पूर्वोक्त मतवादी-अन्यदर्शनी- (सन्धिं) सन्धि को (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। (ते जणा) तथा वे लोग (धम्मविओ) धर्म जाननेवाले (न) नहीं हैं (एवं) पूर्वोक्त रूप (वाइणो) अफलवाद का समर्थन करनेवाले (जे ते उ) जो अन्यदर्शनी हैं (ते) उन्हें तीर्थंकर ने (ओहंतरा) संसार को पार करनेवाला (न आहिया) नहीं कहा है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त अन्यदर्शनी, सन्धि को जानकर क्रिया में प्रवृत्त नहीं हैं तथा अफलवाद का समर्थन करनेवाले वे, संसार को पार करनेवाले नहीं कहे गये हैं ।

टीका - ते-पञ्चभूतवाद्याद्याः नाऽपि नैव सन्धिं छिद्रं विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा, तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः, भावसन्धिश्च ज्ञानावरणादिरूपकर्मविवररूपः । तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताः, णमिति वाक्यालङ्कारे, यथाऽऽत्मकर्मणोः सन्धिर्द्विधाभावलक्षणो भवति तथा अबुद्धवैव ते वराका दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवंभूतास्तथा प्रतिपादितं लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदिवा सन्धानं सन्धिः- उत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवमतस्ते न सम्यग् धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो-निपुणाः 'जनाः' पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति । तथाहि- क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वाऽन्यथाऽन्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति, यत्फलाभावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशक-परिसमाप्त्यवसानेन दर्शयति- 'ये ते त्विति' तु शब्दश्चशब्दार्थे, य इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते । ये च ते एवमनन्तरोक्त-प्रकारवादिनो नास्तिकादयः, 'ओघो' भवौघः-संसारस्तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थः ॥२०॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त, पञ्चभूत आदि को बतानेवाले अन्यदर्शनी, सन्धि नहीं जानते हैं। सन्धि, छिद्र का नाम है। वह द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें दीवार आदि के जोड़ को 'द्रव्यसन्धि' कहते हैं और ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के विवर को 'भावसन्धि' कहते हैं। उस सन्धि को जाने बिना ही वे अन्यदर्शनी क्रिया में प्रवृत्त हैं। 'णं' शब्द, वाक्यालङ्कार में आया है। आशय यह है कि- आत्मा जिस तरह कर्म रहित हो सकता है, उसे जाने बिना ही वे दुःख से मुक्त होने के लिए प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार वे अन्य दर्शनी ऐसे हैं, सो संक्षेप से पहले कह दिया गया है और आगे चलकर भी कहा जायगा। अथवा उत्तरोत्तर अधिक अधिक पदार्थ जानना सन्धि कहलाता है। उस सन्धि को जाने बिना ही वे क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। वे पञ्चभूतवादी आदि पूर्वोक्त सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं इसलिए वे धर्म का सम्यग् निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।

वस्तुतः क्षान्ति आदि, दश प्रकार का धर्म है, उस धर्म को जाने बिना ही वे अन्यदर्शनी दूसरे-दूसरे धर्मों का कथन करते हैं। परन्तु उनके कहे हुए धर्म का कोई फल नहीं होता है इसलिए वे, अफलवादी हैं, यह उद्देशक के अन्तिम ग्रन्थ के द्वारा शास्त्रकार बतलाते हैं- 'ये ते त्विति' यहाँ 'तु' शब्द 'च' शब्द के अर्थ में आया है, उसका प्रयोग 'ये' शब्द के पश्चात् करना चाहिए। इस प्रकार इसका अर्थ यह है कि- पूर्वोक्त मतों को माननेवाले वे नास्तिक आदि, संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं। यह श्लोक का अर्थ है ॥२०॥



ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा

॥२१॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं, न ते संसारपारगाः ॥

व्याकरण - (ते) सर्वनाम, अन्यतीर्थी का बोधक है (ण अवि) अव्यय (संधिं) कर्म (णच्चा) क्रिया (ते धम्मविओ) जन का विशेषण (जणा) कर्ता (जे, ते) सर्वनाम, वादी का विशेषण (वाइणो) कर्ता (उ) अव्यय (एवं) अव्यय (वाइणो) कर्ता (संसारपारगा) वादी का विशेषण (न) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (ते) वे अन्यतीर्थी (णावि संधिं णच्चा) सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं। (ते जणा धम्मविओ ण) तथा वे, धर्म जाननेवाले नहीं हैं। (जे ते उ एवं वाइणो) जो पूर्वोक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं (न ते संसारपारगा) वे संसार को पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं। वे धर्म नहीं जानते हैं। तथा पूर्वोक्त सिद्धान्त को माननेवाले वे अन्यतीर्थी संसार को पार नहीं कर सकते हैं ।



ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते गम्भस्स पारगा

॥२२॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं, न ते गम्भस्स पारगाः ॥

व्याकरण - पूर्ववत् ।

अन्वयार्थ - (ते) वे, (संधिं) सन्धि को (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रिया में प्रवृत्त हैं। (ते जणा) वे लोग (धम्मविओ) धर्म के ज्ञाता (न) नहीं हैं। (जे जो ते उ) वे (एवं) ऐसे (वाइणो) वादी हैं (ते) वे (न गम्भस्स पारगा) गर्भ को पार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं। तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं। एवं पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्त को माननेवाले वे अन्यतीर्थी गर्भ को पार नहीं कर सकते हैं ॥२२॥



ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा

॥२३॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं, न ते जम्भनः पारगाः ॥

व्याकरण - पूर्ववत् ।

अन्वयार्थ - (ते) वे, (संधिं) सन्धि को (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रिया में प्रवृत्त हैं। (ते जणा धम्मविओ न) और वे लोग धर्म के ज्ञाता नहीं हैं। (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले (ते जम्मस्स पारगा न) जन्म को पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं और वे धर्म को नहीं जानते हैं। पूर्वोक्त

मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी जन्म को पार नहीं कर सकते हैं ॥२३॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा

॥२४॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं, न ते दुःखस्य पारगाः ॥

व्याकरण - पूर्ववत् ।

अन्वयार्थ - (ते) वे अन्यतीर्थी (णावि संधिं णच्चा णं) सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं । (ते जणा धम्मविओ न) और वे धर्म को नहीं जानते हैं । (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या सिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी (दुक्खस्स पारगा न) दुःख को पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं । पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी दुःख को पार नहीं कर सकते हैं ॥२४॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा

॥२५॥

छाया - ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः । ये ते तु वादिन एवं, न ते मारस्य पारगाः ॥

व्याकरण - पूर्ववत् ।

अन्वयार्थ - (ते) वे अन्यतीर्थी (णावि संधिं णच्चा णं) सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं । (ते जणा धम्मविओ न) वे लोग धर्म नहीं जानते हैं । (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी (न मारस्स पारगा) मृत्यु को पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हैं । वे धर्म को नहीं जानते हैं, अतः पूर्वोक्त मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे लोग मृत्यु को पार नहीं कर सकते हैं ।

टीका - तथा च न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे मतवादी, संसार, गर्भ, जन्म, दुःख और मृत्यु को पार नहीं कर सकते हैं ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥

- यत्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह -

- पूर्वोक्त मिथ्या-सिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले अन्यतीर्थी जो क्लेश पाते हैं, उसे बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोति पुणो पुणो । संसारचक्कवालंमि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

छाया - नानाविधानि दुःखाव्यनुभवन्ति पुनः पुनः । संसारचक्रवाले मृत्युव्याधिजराकुले ॥ इति ब्रवीमि।

व्याकरण - (नाणाविहाइं) दुःख का विशेषण (दुक्खाइं) अनुभव का कर्म । (अणुहोति) क्रिया (पुणो पुणो) अव्यय (संसारचक्कवालंमि) अधिकरण (मच्चुवाहिजराकुले) अधिकरण का विशेषण

अन्वयार्थ - (मच्चुवाहिजराकुले) मृत्यु, व्याधि और वृद्धता से पूर्ण (संसारचक्कवालंमि) संसार रूपी चक्र में, वे अन्यतीर्थी (पुणो पुणो) बार-बार (नाणाविहाइं) नाना प्रकार के (दुक्खाइं) दुःखों को (अणुहोति) अनुभव करते हैं ।

भावार्थ - मृत्यु, व्याधि और वृद्धता से परिपूर्ण इस संसाररूपी चक्र में वे अन्यतीर्थी बार-बार नाना प्रकार के

दुःखों को भोगते हैं ।

टीका - 'नानाविधानि' बहुप्रकाराणि 'दुःखानि' असातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः । तथाहि- नरकेषु करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्तायःशाल्मलीसमालिङ्गनादीनि तिर्यक्षु च शीतोष्णदमनाङ्कनताडनाऽतिभारोपणक्षुत्तृडादीनि मनुष्येषु, इष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगशोकाक्रन्दनादीनि । देवेषु चाभियोग्येष्वर्थाकिल्बिषिकत्वच्यवनादीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि ये ते एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्थं सर्वेषूत्तरश्लोकार्थेष्वेव योज्यम्, शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥२६॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त अन्यतीर्थी, असातोदय-रूप नाना प्रकार के दुःखों को बार-बार भोगते हैं । वे, नरक में आरा के द्वारा चीरे जाते हैं, कुम्भीपाक में पकाये जाते हैं, गर्म लोहे में साट दिये जाते हैं तथा शाल्मलि वृक्ष से आर्लिगन कराये जाते हैं । तथा तिर्यक् योनि में जन्म लेकर शीत, उष्ण, दमन, अङ्कन, (चिह्नयुक्त किया जाना) ताड़न, अतिभार वहन, और क्षुधा, तृषा का कष्ट सहन आदि दुःखों को भोगते हैं । एवं मनुष्य जन्म में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शोक और रोदन आदि दुःखों को भोगते हैं । तथा देवता होकर अभियोगीपन, ईर्ष्या, किल्बिषीपन और पतन (गिरना) आदि अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं । आशय यह है कि मिथ्या सिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी पूर्वोक्त दुःखों का बार-बार अनुभव करते हैं । इस श्लोक के उत्तरार्थ का सभी श्लोकों के उत्तरार्थ के साथ संबन्ध करना चाहिए । शेष उद्देश की समाप्ति पर्यन्त सुगम है ॥२६॥



उच्चावयाणि गच्छन्ता, गर्भमेस्सन्ति णंतसो ।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे

॥२७॥

ति वेमि पढममज्झयणे पढमी उद्देशो समत्तो ॥ ग्रन्थान्तं (२७)

छाया - उच्चावयाणि गच्छन्तो गर्भमेष्पन्त्यन्तशः । ज्ञातपुत्रो महावीर एवमाह जिणोत्तमः ॥ इति

व्याकरण - (उच्चावयाणि) गमन क्रिया का कर्म (गच्छन्ता) अन्यतीर्थी कर्ता का विशेषण (णंतसो) अव्यय (गम्भ) कर्म (एस्सन्ति) क्रिया (नायपुत्ते, जिणोत्तमे) महावीर के विशेषण (महावीरे) कर्ता (एवं) अव्यय (आह) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (जिणोत्तमे) जिणोत्तम (महावीरे) श्री महावीर स्वामी ने (एवमाह) यह कहा है कि (उच्चावयाणि) ऊँच नीच गतियों में (गच्छन्ता) भ्रमण करते हुए वे अन्यतीर्थी (णंतसो) अनन्तबार (गम्भमेस्सन्ति) गर्भवास को प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ - ज्ञातपुत्र जिणोत्तम श्री महावीर स्वामी ने कहा है कि- पूर्वोक्त अफलवादी ऊँच-नीच गतियों में भ्रमण करते हुए बार-बार गर्भवास को प्राप्त करेंगे ।

टीका - नवरम् 'उच्चावयाणी' ति अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति, गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भाद्गर्भमेष्पन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेदमिति ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह- ब्रवीम्यहं तीर्थङ्कराज्ञया, न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम् एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः ॥२७॥

इति समयाख्यप्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहते हैं कि वे पूर्वोक्त अन्यतीर्थी ऊँच-नीच नाना योनियों में भ्रमण करते हुए अनन्तकाल तक निरन्तर एक गर्भ से निकलकर दूसरे गर्भ में निवास करते रहेंगे । यह, मैं अपनी इच्छा से नहीं किंतु तीर्थङ्कर की आज्ञा से कहता हूँ । जिसने तीर्थङ्कर से साक्षात् सुना है, वही मैं यह कहता हूँ । इस कथन से क्षणभङ्गवाद का निराकरण समझना चाहिए । (क्योंकि क्षणभङ्गवाद मानने पर जिसने तीर्थङ्कर से सुना था, वही इस समय कहता है, यह नहीं हो सकता है क्योंकि सुननेवाला तो उसी समय नष्ट हो गया, वह इस समय है ही नहीं, फिर वह इस समय कैसे कह सकता है ? अतः क्षणभङ्गवाद मिथ्या समझना चाहिए ।)

इस प्रकार 'समय' नामक प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

अथ प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः प्रारम्भ्यते

उक्तः प्रथमोद्देशकस्तदनु द्वितीयोऽभिधीयते, तस्य चायमभिसम्बन्धः— इहानन्तरोद्देशके स्वसमयपरसमयप्ररूप-
पणा कृता, इहाप्यध्ययनार्थाधिकारत्वात् सैवाभिधीयते, यदिवाऽनन्तरोद्देशके भूतवादादिमतं प्रदर्श्य तन्निराकरणं कृतं,
तदिहापि तदवशिष्टनियतिवाद्यादिमिथ्यादृष्टिमतान्युपदर्श्य निराक्रियन्ते । अथवा प्रागुद्देशकेऽभ्यधायि यथा 'बन्धनं
बुध्येत तच्च त्रोटयेदिति' तदेव च बन्धनं नियतिवाद्यभिप्रायेण न विद्यत इति प्रदर्श्यते— तदेवमनेकसम्बन्धेनायातस्या—
स्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

प्रथम उद्देशक कहा जा चुका । इसके पश्चात् दूसरा कहा जाता है । इसका प्रथम उद्देशक के साथ सम्बन्ध
यह है— प्रथम उद्देशक में स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है, वही इस दूसरे उद्देशक में भी
की जाती है, क्योंकि प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त की व्याख्या ही है । अथवा प्रथम
अध्ययन में भूतवादी आदि का मत बताकर उसका खण्डन किया गया है, अब इस अध्ययन में उनसे शेष रहे
नियतिवादी आदि मिथ्यादृष्टियों का मत बताकर उसका खण्डन किया जायगा । अथवा प्रथम उद्देशक में कहा है
कि— “मनुष्य को बन्धन का स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिए” परंतु नियतिवादी आदि परतीर्थियों के सिद्धान्त-
नुसार बन्धन का ही अस्तित्व नहीं है । यह इस उद्देशक में दिखाया जायगा । इस प्रकार अनेक सम्बन्ध से आये
हुए इस उद्देशक के चार अनुयोगद्वारों का वर्णन करके सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुण के साथ सूत्र का उच्चारण
करना चाहिए, वह सूत्र यह है -

आघायं 'पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया ।

वेदयन्ति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पन्ति ठाणओ

॥१॥

छाया - आख्यातं पुनरेकेषामुपपन्नाः पृथग्जीवाः । वेदयन्ति सुखं दुःखमथवा लुप्यन्ते स्थावतः ॥

व्याकरण - (आघायं) क्रिया (पुण) अव्यय (एगेसिं) कर्ता (उववण्णा) जीव का विशेषण (पुढो) अव्यय (जिया) कर्ता (सुहं दुक्खं) कर्म
(वेदयन्ति) क्रिया (अदुवा) अव्यय (लुप्पन्ति) क्रिया (ठाणओ) अपादान ।

अन्वयार्थ - (पुण) फिर (एगेसिं) किन्हीं का (आघायं) कहना है कि (जिया) जीव (पुढो) अलग-अलग हैं (उववण्णा) यह युक्ति से
सिद्ध होता है । (सुहं दुक्खं) वे जीव पृथक्-पृथक् ही सुख दुःख (वेदयन्ति) भोगते हैं (अदुवा) अथवा (ठाणओ) अपने स्थान से (लुप्पन्ति) अन्यत्र
जाते हैं ।

भावार्थ - किन्हीं का कहना है कि जीव, पृथक्-पृथक् हैं, यह युक्ति से सिद्ध होता है तथा वे पृथक्-पृथक् ही
सुख-दुःख भोगते हैं अथवा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं ।

टीका - अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रैः सम्बन्धो वक्तव्यः, तत्रानन्तरसूत्र सम्बन्धोऽयम्—इहानन्तरसूत्रे, इदमभिहितं—
यथा पञ्चभूतस्कन्धादिवादिनो मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानोऽसद्ग्रहाभिनिविष्टाः परमार्थावबोधविकलाः सन्तः संसारचक्र-
वाले व्याधिमृत्युजराकुले उच्चावचानि स्थानानि गच्छन्तो गर्भमेष्यन्त्यन्वेषयन्ति वाऽनन्तश इति, तदिहापि नियत्यज्ञा-
निज्ञानचतुर्विधकर्मपचयवादिनां तदेव संसारचक्रवालभ्रमणगर्भान्वेषणं प्रतिपाद्यते । परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु 'बुज्जेज्जे'-
त्यादि तेन च सहायं सम्बन्धः— तत्र बुध्येतेत्येतत् प्रतिपादितम्, इहापि यदाख्यातं नियतिवादिभिस्तद् बुध्येत, इत्येवं
मध्यसूत्रैरपि यथासंभवं सम्बन्धो लगनीय इति । तदेवं पूर्वोत्तरसम्बन्धसम्बद्धस्यास्य सूत्रस्याधुनाऽर्थः प्रतन्यते—पुनः
शब्दः पूर्ववादिभ्यो विशेषं दर्शयति, नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातं, अत्र च 'अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका
भवन्तीति' ख्याते र्धातोर्भावे निष्ठाप्रत्ययः, तद्योगे कर्तरि षष्ठी ततश्चायमर्थः— तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं,
तेषामयमाशय इत्यर्थः । तद्यथा— 'उपपन्नाः' युक्त्या घटमानका इति अनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं

भवति, युक्तिस्तु लेशतः प्राग्दर्शितैव प्रदर्शयिष्यते च । पृथक्-पृथक्, नारकादिभवेषु शरीरेषु वेति, अनेनाऽप्यात्माऽद्वैतवादिनिरासोऽवसेयः । के पुनस्ते पृथगुपपन्नाः? तदाह-जीवाः प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः, अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमतापक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः । तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च वेदयन्ति अनुभवन्ति । न वयं प्रतिप्राणि-प्रतीतं सुख-दुःखानुभवं निह्नुमहे, अनेन चाकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति । अकर्तृव्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः तथैतदस्माभिर्नापलप्यते 'अदुवे'ति अथवा ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति 'विलुप्यन्ते' उच्छिद्यन्ते स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः । ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां न निषिध्यत इति श्लोकार्थः ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का अनन्तर^१सूत्र और परम्पर^२ सूत्रों के साथ सम्बन्ध बताना चाहिए । अनन्तर सूत्र के साथ इसका सम्बन्ध यह है- अनन्तर सूत्र में कहा है कि पञ्चभूत-वादी तथा पञ्चस्कन्धवादी आदि की बुद्धि मिथ्यात्व के द्वारा नष्ट हो गयी है, इसलिए वे मिथ्या पदार्थ में आग्रह रखते हैं । अतः वस्तुतत्त्व के ज्ञान से रहित वे लोग व्याधि, मृत्यु और वृद्धता से युक्त संसार रूपी चक्र में ऊँच-नीच योनियों में भ्रमण करते हुए अनन्तकाल तक एक गर्भ से दूसरे गर्भ में निवास करते रहेंगे । वही यहाँ भी, "नियतिवादी, अज्ञानवादी और चतुर्विध कर्म को बन्धनदाता नहीं माननेवाले अन्य दर्शनियों का संसार चक्र में भ्रमण करना और एक गर्भ से दूसरे गर्भ में निवास करना बतलाया जाता है ।" "बुद्धिज्जा" इत्यादि सूत्र परम्पर सूत्र हैं । उसके साथ इसका सम्बन्ध यह है- "बुद्धिज्जा" इत्यादि सूत्र में कहा है कि- "जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए ।" यहाँ भी नियतिवादियों ने जो कहा है, उसका बोध प्राप्त करना चाहिए । (यह इस सूत्र का उक्तसूत्र के साथ सम्बन्ध है । इसी तरह बीच के सूत्रों के साथ इसका भी सम्बन्ध जैसा संभव हो लगा लेना चाहिए । इस प्रकार पूर्व और उत्तर सूत्रों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले इस सूत्र का अर्थ, विस्तार सहित कहा जाता है- यहाँ 'पुनः' शब्द, पूर्ववादियों से नियतिवादी की विशेषता दिखलाता है, कोई नियतिवादी यह कहते हैं, जिनके कर्म की अविवक्षा की जाती है, वे धातु भी अकर्मक हो जाते हैं । इसलिए यहाँ 'आख्यातम्', इस पद में भाव में निष्ठा प्रत्यय हुआ है और उसके योग में 'एगेसि' इस पद में कर्तरि षष्ठी हुई है । इस प्रकार इसका अर्थ यह है कि- इन नियतिवादियों ने यह कहा है अर्थात् उनका आशय है, यह अर्थ है । युक्ति से जीवों की सिद्धि होती है । इस कथन से पञ्चभूतात्मवादी और तज्जीवतच्छरीरवादी का मत खण्डित हो जाता है । जिस युक्ति से पूर्वोक्त मत खण्डित हो जाता है, वह युक्ति पहले कुछ बता दी गयी है और आगे चलकर भी बतायी जायगी । जीवगण अलग-अलग नरक आदि भावों में अथवा शरीरों में जन्म धारण करते हैं । इस कथन से आत्माऽद्वैतवादी के मत का निराकरण समझना चाहिए । युक्ति से पृथक्-पृथक् सिद्ध होनेवाले वे कौन हैं ? वे जीव अर्थात् प्राणी हैं, जो सुख-दुःख भोगते हैं । इस कथन से पञ्चस्कन्ध से भिन्न जीव को न माननेवाले बौद्धों के मत का खण्डन समझना चाहिए । वे जीव, प्रत्येक शरीर में अलग-अलग निवास करते हुए सुख-दुःख भोगते हैं । प्रत्येक प्राणियों के अनुभव से सिद्ध सुख और दुःख के अनुभव को हम मिथ्या नहीं कह सकते । इस कथन से जीव को कर्ता नहीं माननेवालों के मत का खण्डन समझना चाहिए क्योंकि पाप-पुण्य का कर्ता तथा विकार सहित आत्मा न होने पर सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता है । अथवा वे प्राणी सुख-दुःख को भोगते हैं और अपनी आयु से अलग हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान (भव) को भेज दिये जाते हैं । इसको भी हम मिथ्या नहीं कहते हैं । इस प्रकार जीवों के एक भव से दूसरे भव में जाने का हम निषेध नहीं करते हैं, यह श्लोक का अर्थ है ?



- तदेवं पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनिरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह-

- इस प्रकार पञ्चभूतवादी आदि के मत का निराकरण करके, नियतिवादी जिस सिद्धान्त को मानते हैं, उसे दो श्लोकों के द्वारा दर्शाने के लिए सूत्रकार कहते हैं

1. जो सूत्र, किसी सूत्र के अत्यन्त निकट होता है अर्थात् बीच में दूसरे सूत्र का व्यवधान नहीं होता है, वह सूत्र अनन्तर सूत्र कहलाता है।
2. जिन सूत्रों के मध्य में दूसरे सूत्र भी होते हैं, उनको परम्परसूत्र कहते हैं ।

न तं सयं कडं दुखं, ¹कओ अन्नकडं च णं ?

सुहं वा ²जइ वा दुखं, सेहियं वा असेहियं

॥२॥

छाया - न तत् स्वयं कृतं दुःखं कुतोऽव्यक्तं च ? । सुखं वा यदि वा दुःखं, सैद्धिकं वाऽसैद्धिकम् ॥



सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया ।

संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि³ आहिअं

॥३॥

छाया - स्वयं कृतं नाऽन्यैर्वेदयन्ति पृथज्जीवाः । साङ्गतिकं तत्तथा तेषामिहेकेषामारब्धातम् ॥

व्याकरण - (तं) दुःख का विशेषण सर्वनाम (न) अव्यय (कडं) दुःख का विशेषण (कओ) अव्यय (अन्नकडं) दुःख का विशेषण (वा) अव्यय (सेहियं) (असेहियं) ये दोनों ही सुख और दुःख के विशेषण हैं । (सयं) कर्तृशक्ति प्रधान अव्यय (अण्णेहिं) 'कृत' का कर्ता । (वेदयंति) क्रिया (पुढो) अव्यय (जिया) कर्ता (संगइअं) (तं) सुख-दुःख के विशेषण (तहा) अव्यय (तेसिं) सम्बन्ध षष्ठ्यंत (इह) अव्यय (एगेसि) कर्तृ षष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया-वाचक पद ।

अन्वयार्थ - (तं) वह (दुखं) दुःख (सयं) स्वयं (कडं) किया हुआ (न) नहीं है (अन्नकडं) दूसरे का किया हुआ (कओ) कहाँ से हो सकता है ? (सेहियं वा) सिद्धि से उत्पन्न (असेहियं) अथवा सिद्धि के बिना उत्पन्न (सुहं वा) सुख (दुखं) अथवा दुःख, (जिसे) (जिया) प्राणी (पुढो) अलग-अलग (वेदयंति) भोगते हैं (सयं) स्वयं (अण्णेहिं) अथवा दूसरे द्वारा (कडं न) किया हुआ नहीं है (तं) वह (तेसिं) उनका (तहा) वैसा (संगइअं) नियति कृत है (इह) इस लोक में (एगेसि) किन्हीं का (आहिअं) कथन है ।

भावार्थ - बाह्य कारणों से अथवा बिना कारण उत्पन्न सुख-दुःख को जो प्राणी वर्ग भोगते हैं, वह उनका अपना तथा दूसरे का किया हुआ नहीं है । वह उनका नियति कृत है । यह नियतिवादी कहते हैं ।

टीका - यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं दुःखं स्थानविलोपनं वा न तत् स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितम् । दुःखमिति कारणे कार्योपचाराद् दुःखकारणमेवोक्तम्, अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाद्यपि ग्राह्यम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति, तथा कुतोऽन्येन कालेश्वरस्वभावकर्मादिना च कृतं भवेत्, 'ण' मित्यलङ्कारे, तथाहि- यदि पुरुषकारकृतं सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिसदृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत् । कस्यचित्तु सेवादिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलाऽवासिर्दृश्यत इति, अतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि ? नियतेरेवेति । एतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते । नाऽपि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति नाऽभेदे, तथाहि- अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च, तथेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः, यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा ? यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः, अथामूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्, अपि च यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तृत्व, अथाऽसौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादिजगद्वैचित्र्यं न घटां प्राश्नति, ततो नेश्वरः कर्तेति । तथा स्वभावस्याऽपि सुखदुःखादिकर्तृत्वानुपपत्तिः, यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नो-ऽभिन्नो वा ? यदि भिन्नो न पुरुषाश्रिते सुखदुःखे कर्तृमलं, तस्माद्भिन्नत्वादिति । नाऽप्यभिन्नः, अभेदे पुरुष एव स्यात् तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते, यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्नमभिन्नं वा भवेत् ? अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः, अथ भिन्नं तत्किं सचेतनमचेतनं वा ? यदि सचेतनमेकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वमिति । एतच्चोत्तरत्र व्यासेन प्रतिपादयिष्यत इत्यलं प्रसङ्गेन । तदेवं सुखं सैद्धिकं सिद्धावपवर्गलक्षणायां भवं यदिवा दुःखमसातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकं, यदिवोभयमप्येतत्सुखं दुःखं वा स्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं तथा कशाताडनाङ्गनादिसिद्धौ भवं सैद्धिकं, तथा असैद्धिकं सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम्

एव दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्तिशूलादिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं, तदेतदुभयमपि न स्वयं पुरुषकारेण कृतं नाऽप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं वेदयन्त्यनुभवन्ति 'पृथज्जीवाः' प्राणिन इति । कथं तर्हि तत्तेषामभूद् ? इति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति 'संगइयं'ति, सम्यक्स्वपरिणामेन गतिः- यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवं सा सङ्गतिर्नियतिस्तस्यां भवं साङ्गतिकं यतश्चैवं न पुरुषकारादिकृतं सुखदुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं सांगतिकमित्युच्यते । 'इह' अस्मिन् सुखं- दुःखानुभववादे एकेषां वादिनामाख्यातं तेषामयमभ्युपगमः । तथा चोक्तम्-

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥३॥

टीकार्थ - प्राणिवर्ग जो सुख-दुःख अनुभव करते हैं अथवा एक भव से दूसरे भव में जाते हैं, यह उनके अपने उद्योग के द्वारा किया हुआ नहीं है । इस गाथा में कारण में कार्य का उपचार करके दुःख शब्द से दुःख का कारण ही कहा गया है । यह दुःख शब्द उपलक्षण है । इसलिए इससे सुख आदि का भी ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार कहना यह है कि- यह जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह जीवों के उद्योग रूप कारण से उत्पन्न किया हुआ नहीं है । तथा वह काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि अन्य पदार्थ के द्वारा भी किया हुआ किस प्रकार हो सकता है ? 'ण' शब्द वाक्यालङ्कार के लिए आया है । यदि अपने-अपने उद्योग के प्रभाव से सुख आदि मिले तो, सेवक, वणिक (बनियाँ) और किसान आदि का उद्योग समान होने पर फल में विभिन्नता तथा फल की अप्राप्ति न हो । किसी को तो सेवा आदि व्यापार न करने पर भी विशिष्ट फल की प्राप्ति देखी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि उद्योग से कुछ प्राप्त नहीं होता । किन्तु नियति (भाग्य) से सुख आदि मिलते हैं । यह दूसरे श्लोक के अन्त में कहेंगे । काल, सुख-दुःख आदि का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह एकरूप है, इसलिए काल के द्वारा जगत् में फल की विचित्रता नहीं हो सकती । कारण का भेद होने पर कार्य में भेद होता है । कारण भेद न होने पर कार्य भेद नहीं होता है, क्योंकि विरुद्ध धर्म का आश्रय होना, अथवा कारण का भेद होना यही भेद अथवा भेद का कारण है । इसी तरह सुख-दुःख ईश्वर-कृत भी नहीं हैं, क्योंकि वह ईश्वर मूर्त है अथवा अमूर्त ? यदि वह मूर्त है तो प्राकृत (साधारण) पुरुष के समान वह सब पदार्थ का कर्ता नहीं हो सकता । यदि वह अमूर्त है तो आकाश की तरह वह सुतरां क्रिया रहित है । तथा वह ईश्वर यदि रागयुक्त है तब तो हम लोगों के समान होने के कारण वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता । यदि वह वीतराग है तो वह सूरूप, कुरूप, धनवान् और दरिद्ररूप यह विचित्र जगत् को कर नहीं सकता । अतः ईश्वर कर्ता नहीं है । तथा स्वभाव भी सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव पुरुष से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि स्वभाव पुरुष से भिन्न है तो वह पुरुष के सुख दुःखों को उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि वह पुरुष से भिन्न है । यदि स्वभाव पुरुष से अभिन्न नहीं है तब तो वह पुरुष ही है और पुरुष सुख-दुःख का कर्ता नहीं है, यह कहा ही गया है । कर्म भी सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह कर्म, पुरुष से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि कर्म पुरुष से अभिन्न है तब तो वह पुरुष मात्र ही है और इस पक्ष में "पुरुष सुख-दुःख का कर्ता नहीं है ।" यह पूर्वोक्त दोष आता है । यदि वह कर्म पुरुष से भिन्न है तो वह सचेतन है अथवा अचेतन है ? यदि सचेतन है तो एक शरीर में दो चेतन मानने पड़ेंगे । यदि कर्म अचेतन है तब तो वह पाषाण खण्ड के समान स्वयं परतन्त्र है फिर वह सुख-दुःख का कर्ता कैसे हो सकता है ? यह आगे चलकर विस्तार के साथ कहा जायगा, इसलिए यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है ।

मोक्ष को सिद्धि कहते हैं । उस मोक्ष में जो सुख उत्पन्न होता है उसे 'सैद्धिक' कहते हैं । असिद्धि नाम संसार का है, उस संसार में जो असाता का उदय स्वरूप दुःख उत्पन्न होता है, उसे 'असैद्धिक' कहते हैं । अर्थात् सांसारिक दुःख को असैद्धिक कहते हैं । अथवा सुख और दुःख, ये दोनों ही सैद्धिक और असैद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं । फूलमाला, चन्दन और सुन्दर स्त्री आदि के उपभोग रूप सिद्धि से उत्पन्न सुख 'सैद्धिक' है तथा चाबुक से मारना और गर्म लोह से दागना आदि सिद्धि से उत्पन्न दुःख 'सैद्धिक' है एवं जिस का बाह्यकारण ज्ञात नहीं है ऐसा जो आनन्दरूप सुख मनुष्य के हृदय में अचानक उत्पन्न होता है वह 'असैद्धिक' सुख है । तथा ज्वर,

शिरःपीड़ा और शूल आदि दुःख जो अपने अङ्ग से उत्पन्न होते हैं वे 'असैद्धिक' दुःख हैं । ये दोनों ही सुख और दुःख पुरुष के अपने उद्योग से उत्पन्न नहीं होते हैं तथा ये काल आदि किसी अन्य पदार्थ के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किये जाते हैं । इन दोनों प्रकार के सुख-दुःखों को प्राणी अलग-अलग भोगते हैं । ये सुख-दुःख, प्राणियों को क्यों होते हैं ? यह बताने के लिए नियतिवादी अपना अभिप्राय प्रकट करता है "संगइयं" इत्यादि ।

सम्यग् अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे 'सङ्गति' कहते हैं । भाव यह है कि- जिस जीव को जिस समय जहाँ जिस सुख-दुःख को अनुभव करना होता है, वह सङ्गति कहलाती है । वह नियति है, उस नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे 'साङ्गतिक' कहते हैं ।

पूर्वोक्त प्रकार से प्राणियों के सुख-दुःख आदि उनके उद्योग द्वारा किये हुए नहीं किन्तु उनकी नियति द्वारा किये हुए हैं, इसलिए वे 'साङ्गतिक' कहलाते हैं । प्राणियों को सुख-दुःख का अनुभव क्यों होता है ? इस विवादास्पद विषय में नियतिवादीयों का यह मन्तव्य है । जैसा कि कहा है-

भाग्यबल से शुभ अथवा अशुभ जो भी मिलनेवाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है । महान् प्रयत्न करने पर भी जो होनेवाला नहीं है, वह नहीं होता है और जो होनेवाला है, उसका नाश नहीं होता है ॥१॥३॥



- एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाह -

- इस प्रकार शास्त्रकार दो श्लोकों के द्वारा नियतिवादियों का मत लिखकर, अब उसका उत्तर देने के लिए कहते हैं-

^१एवमेयाणि जंपंता, बाला ^२पण्डिअमाणिणो ।

निययानिययं संतं, ^३अयाणंता अबुद्धिया

॥४॥

छाया - एवमेतानि जल्पन्तो बालाः पण्डितमानिनः । नियतानियतं सन्तमजानन्तोऽबुद्धिकाः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (एयाणि) कर्म (जंपंता) नियतिवादी का विशेषण (पण्डिअमाणिणो) नियतिवादी का विशेषण (निययानिययं संतं) कर्म (अयाणंता अबुद्धिया) नियतिवादी का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (एयाणि) इन बातों को (जंपंता) कहते हुए नियतिवादी (बाला) अज्ञानी हैं (पण्डिअमाणिणो) तथापि वे अपने को पण्डित मानते हैं (निययानिययं संतं) सुख दुःख आदि को नियत तथा अनियत दोनों ही प्रकार का (अयाणंता) नहीं जानते हुए वे नियतिवादी (अबुद्धिया) बुद्धिहीन हैं ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से नियतिवाद का समर्थन करनेवाले नियतिवादी अज्ञानी होकर भी अपने को पण्डित मानते हैं । सुख-दुःख नियत तथा अनियत दोनों ही प्रकार के हैं, परन्तु बुद्धिहीन नियतिवादी यह नहीं जानते हैं ।

टीका - एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने । एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाश्रितानि वचनानि जल्पन्तोऽभिदधतो बाला इव बाला अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा, किमिति त एवमुच्यन्ते ? इति तदाह- यतो 'निययानिययं संतमिति' सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्-अवश्यंभाव्युदय-प्रापितं तथा अनियतम्-आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सन्नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादि-कारणमबुद्धिकाः बुद्धिरहिता भवन्तीति, तथाहि- आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते, तथा किञ्चिदनियतिकृतं च- पुरुषकारकालेश्वर-स्वभावकर्मादिकृतं, तत्र कथञ्चित् सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं भवति क्रिया च पुरुषकारायत्ता प्रवर्तते, तथा चोक्तम्-

"न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कर्त्तव्यं तिलेभ्यः प्राप्नुमर्हति ?" ॥१॥

१. एवमेताई चू. । २. पण्डितवादिणो चू. । ३. अयाणमाणा चू. ।

यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव, यतस्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्वति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चाऽस्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव । तथा कालोऽपि कर्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागनागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्भुवो न सर्वदेति, यच्चोक्तं- 'कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत' इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाऽभ्युपगम्यतेऽपि तु कर्माऽपि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः । तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः, तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव । यच्चात्र मूर्तामूर्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति । स्वभावस्याऽपि कथञ्चित् कर्तृत्वमेव, तथाहि- आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोगीतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्तत्वं चेत्येवमादि स्वभावापादितम् । यदपि चात्रात्मव्यतिरेकाव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं तददूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेतदपि स्वभावापादितमेवेति । तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति । तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्बुद्धिकाः भवन्तीत्यवसेयम् ॥४॥

टीकार्थ - इस गाथा में पूर्वोक्त नियतिवादी के कथन को प्रदर्शित करने के लिए 'एवं' शब्द आया है। पूर्वोक्त नियतिवाद सम्बन्धी वचनों को कहनेवाले नियतिवादी सत् और असत् के विवेक से रहित बालक के समान अज्ञ होते हुए भी अपने को पण्डित मानते हैं । नियतिवादियों को अज्ञानी और पण्डितमानी क्यों कहा जाता है? इसका समाधान देने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि- "नियतानियतं संतं"। अर्थात् कोई सुख आदि नियत अवश्य होनेवाले यानी उदय को प्राप्त होते हैं तथा कोई अनियत यानी अपना उद्योग और ईश्वर आदि के द्वारा किये हुए अनियत होते हैं, तथापि नियतिवादी सभी सुख-दुःखों को एकान्त रूप से नियतिकृत ही बतलाते हैं, इसलिए सुख-दुःख के कारण को न जाननेवाले वे नियतिवादी बुद्धि हीन हैं । आर्हतों का मत है कि कुछ सुख-दुःख आदि नियति से ही होते हैं, क्योंकि उन सुख-दुःखों के कारण स्वरूप कर्म का किसी अवसर विशेष में अवश्य उदय होता है, इसलिए वे सुख-दुःख नियतिकृत हैं । तथा कोई सुख-दुःख, नियतिकृत नहीं होते हैं, किंतु पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के द्वारा किये हुए होते हैं । अतः आर्हत लोग सुख-दुःख आदि को कथञ्चित् उद्योगसाध्य भी मानते हैं । कारण यह है कि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है और वह क्रिया उद्योग के आधीन है । अत एव कहा है कि-

"न दैवमिति" इत्यादि । अर्थात् जो भाग्य में है वही होगा, यह सोचकर उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि उद्योग के बिना तिलों में से तेल कौन प्राप्त कर सकता है ? । नियतिवादी ने जो यह दोष दिया है कि "उद्योग समान होने पर भी फल में विचित्रता देखी जाती है", वस्तुतः यह दूषण नहीं है क्योंकि उद्योग की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है तथा समान उद्योग करने पर भी जो किसी को फल नहीं मिलता है, वह उसके अदृष्ट (भाग्य) का फल है । उस अदृष्ट को भी हम लोग (आर्हत) सुख-दुःख आदि का कारण मानते हैं । इसी तरह काल भी कर्ता है । क्योंकि बकुल, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग और आम आदि वृक्षों में विशिष्ट काल में ही फूल फल की उत्पत्ति होती है, सर्वदा नहीं होती है । नियतिवादियों ने जो यह कहा है कि- "काल एकरूप है, इसलिए उससे विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।" यह भी हम लोगों के लिए दोष नहीं है क्योंकि हम लोग एकमात्र काल को ही कर्ता नहीं मानते हैं, अपितु कर्म को भी कर्ता मानते हैं । अतः कर्म की विचित्रता के कारण जगत् की विचित्रता होती है । इसलिए हमारे आर्हतों के मत में कोई दोष नहीं है । तथा ईश्वर भी जगत् का कर्ता है क्योंकि आत्मा ही भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता हुआ सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर है । वह ईश्वर सुख-दुःख की उत्पत्ति का कर्ता है । यह सर्वमतवादियों के मत में निर्विवाद सिद्ध है । "सुख-दुःख का कर्ता ईश्वर है ।" इस मत को दूषित करने के लिए नियतिवादी ने जो "आत्मा मूर्त है अथवा अमूर्त है" इत्यादि दूषण दिया है, वह दूषण भी आत्मा को ईश्वर मान लेने पर दूर हट जाता है । तथा स्वभाव भी कथञ्चित्

कर्ता है क्योंकि आत्मा का उपयोग स्वरूप तथा असंख्य-प्रदेशी होना, एवं पुद्गलों का मूर्तत्व एवं धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का गति-स्थिति का सहायक होना और अमूर्त होना यह सब स्वभावकृत ही है। “स्वभाव आत्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न है” इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा नियतिवादी ने जो स्वभाव कर्तृत्व में दोष बताया है, वह भी दोष नहीं है क्योंकि स्वभाव आत्मा से भिन्न नहीं है और आत्मा कर्ता है, यह हमने स्वीकार किया है। अतः आत्मा का कर्तृत्व भी स्वभाव कृत ही है। तथा कर्म भी कर्ता है ही, क्योंकि वह जीव-प्रदेश के साथ परस्पर मिलकर रहता हुआ कथंचित् जीव से अभिन्न है और उसी कर्म के वश आत्मा, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और अमरगति में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख को भोगता है। इस प्रकार नियति और अनियति इन दोनों का कर्तृत्व युक्ति से सिद्ध होते हुए भी केवल नियति को ही कर्ता मानने वाले नियतिवादी बुद्धि हीन हैं, यह जानना चाहिए ॥४॥



- तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाह -

- इस प्रकार युक्ति के द्वारा नियतिवाद को दूषित करके सूत्रकार नियतिवादियों का विनाश दिखाने के लिए कहते हैं।

एवमेगे उ पासत्था, ¹ते भुज्जो विप्पगम्भिआ ।

एवं ²उवट्ठिआ संता, ³ण ते दुक्खविमोक्खया

॥५॥

छाया - एवमेके तु पार्श्वस्थास्ते भूयो विप्रगल्भिताः । एवमुपस्थिताः सन्तो न ते दुःखविमोक्षकाः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (एगे) पार्श्वस्थ का विशेषण (पासत्था) कर्तृवाचक प्रथमान्त (ते) पार्श्वस्थपरामर्शकसर्वनाम (भुज्जो) क्रिया विशेषण (विप्पगम्भिया) पार्श्वस्थ का विशेषण (एवं) अव्यय (उवट्ठिआ, संता, ते, दुक्खविमोक्खया) ये सब पार्श्वस्थ के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (एगे उ) कोई (पासत्था) पार्श्वस्थ कहते हैं (ते) वे (भुज्जो) बार-बार (विप्पगम्भिया) नियतिमात्र को कर्ता कहने की धृष्टता करते हैं (एवं) इस प्रकार (उवट्ठिआ संता) अपने सिद्धान्तानुसार परलौकिक क्रिया में उपस्थित होकर भी (ते) वे (दुक्खविमोक्खया) दुःख छुड़ाने में समर्थ (न) नहीं हैं ।

भावार्थ - नियति को ही सुख-दुःख का कर्ता माननेवाले नियतिवादी पूर्वोक्त प्रकार से एकमात्र नियति को ही कर्ता बताने की धृष्टता करते हैं । वे अपने सिद्धान्तानुसार परलोक की क्रिया में प्रवृत्त होकर भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकते हैं ।

टीका - एवमिति पूर्वाऽभ्युपगमसंसूचकः, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतिमेवाऽवश्यम्भाव्येव कालेश्वरादेर्निराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः । तुरवधारणे, त एव नान्ये, किं विशिष्टाः पुनस्ते इति दर्शयति युक्तिकदम्बकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रिया-वैयर्थ्यं, यदि वा- पाश इव पाशः- कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः । अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि । ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्याऽपि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धाष्टर्योपगताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवर्तन्ते । धाष्टर्याश्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपत्तिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति । ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो नात्मदुःखविमोक्षकाः । असम्यक्प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति । गता नियतिवादिनः ॥५॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'एवं' शब्द, पूर्वोक्त नियतिवादी के मन्तव्य को सूचित करता है । सभी वस्तु नियत और अनियत दोनों प्रकार की हैं, तथापि कोई पुरुष, काल और ईश्वर आदि को छोड़कर केवल नियति यानी अवश्य-म्भावी को ही बिना कारण कर्ता मानते हैं । यहाँ 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में है, इसलिए वे नियतिवादी ही ऐसा मानते हैं, दूसरे नहीं । वे नियतिवादी कैसे हैं ? यह सूत्रकार दिखलाते हैं- वे नियतिवादी पार्श्वस्थ हैं । जो युक्ति-समूह से बाहर रहता है, उसे 'पार्श्वस्थ' कहते हैं । अथवा वे नियतिवादी परलोक की क्रिया से बाहर रहते हैं,

1. अजाणता चू । 2. पुवट्ठिता चू । 3. दुःखविमोयगा चू ।

क्योंकि वे लोग जब नियति को ही सबका कर्ता मानते हैं, तब फिर उनकी परलोक की क्रिया व्यर्थ ठहरती है। अथवा जो पाश के समान है, उसे 'पाश' कहते हैं। वह पाश, कर्मबन्धन है। वह कर्मबन्धन, यहाँ युक्ति रहित नियतिवाद का निरूपण करना है, उसमें स्थित वे नियतिवादी पाशस्थ हैं। दूसरे एकान्तवादी जो काल तथा ईश्वर आदि को ही सबका कर्ता मानते हैं, उन्हें भी पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ समझना चाहिए। वे नियतिवादी "सब कुछ नियति से ही होता है", इस सिद्धान्त को मानकर भी अनेक प्रकार की अथवा विशेष रूप से धृष्टता करते हुए परलोक साधक क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। उनकी धृष्टता तो यह है कि वे "सब कुछ नियति से ही होता है" इस सिद्धान्त को मानते हुए भी इस सिद्धान्त के विरोधी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। अतः परलोक साधक क्रिया में प्रवृत्त होकर भी वे अपने आत्मा को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते हैं। वे सम्यक् प्रकार से (ज्ञानपूर्वक) क्रिया में प्रवृत्त नहीं हैं, इसलिए वे अपने आत्मा को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते। नियतिवादी का मत समाप्त हुआ ॥५॥



- साम्प्रतमज्ञानिमितं दूषयितुं दृष्टान्तमाह -

- अब अज्ञानियों के मत को दूषित करने के लिए सूत्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं -

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण ¹वज्जिआ ।

असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो

॥६॥

छाया - जविणो मृगा यथा सन्तः परित्राणेन वर्जिताः । अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितान्यशङ्किनः ॥

परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।

अण्णाणभयसंविग्गा संपलिति तहिं तहिं

॥७॥

छाया - परित्राणितानि शङ्कमानाः पाशितान्यशङ्किनः । अज्ञानभयसंविग्नाः सम्पर्ययन्ते तत्र तत्र ॥

व्याकरण - (जविणो) मृग का विशेषण (मिगा) कर्ता (जहा) अव्यय (संता) मृग का विशेषण (परिताणेण) वर्जन क्रिया का कर्ता (वज्जिआ) मृग का विशेषण (असंकियाइं) कर्म (संकंति) क्रिया (संकिआइं) कर्म (असंकिणो) मृग का विशेषण (परियाणिआणि) कर्म (संकंता) मृग का विशेषण (पासिताणि) कर्म (असंकिणो) मृग का विशेषण (अण्णाणभयसंविग्गा) मृग का विशेषण (तहिं तहिं) अव्यय (संपलिति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (परिताणेण) रक्षक से (वज्जिआ) वर्जित (जविणो) चञ्चल (मिगा) मृग (असंकियाइं) शङ्का के अयोग्य स्थान में (संकंति) शङ्का करते हैं। (संकियाइं) और शङ्का के योग्य स्थान में (असंकिणो) शङ्का नहीं करते हैं। (परियाणिआणि) रक्षायुक्त स्थान को (संकंता) शंकास्पद जानते हुए और (पासिताणि) पाशयुक्त स्थान को (असंकिणो) शङ्का रहित समझते हुए (अण्णाणभयसंविग्गा) अज्ञान और भय से उद्विग्न वे मृग (तहिं तहिं) उन-उन पाशयुक्त स्थानों में ही (संपलिति) जा पड़ते हैं।

भावार्थ - जैसे रक्षक हीन, अति चञ्चल मृग, शङ्का के अयोग्य स्थान में शङ्का करते हैं और शङ्कायुक्त स्थान में शङ्का नहीं करते हैं। इस प्रकार रक्षायुक्त स्थान में शङ्का करनेवाले और पाशयुक्त स्थान में शङ्का नहीं करनेवाले, अज्ञान और भय से उद्विग्न वे मृग, पाश युक्त स्थान में ही जा पड़ते हैं। इसी तरह अन्यदर्शनी रक्षायुक्त स्याद्वाद को छोड़कर अनर्थयुक्त एकान्तवाद का आश्रय लेते हैं।

टीका - यथा जविणो वेगवन्तः सन्तो मृगा आरण्याः पशवः परि-समन्तात् त्रायते रक्षतीति परित्राणं तेन वर्जिता रहिताः परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा- परितानं वागुरादिबन्धनं तेन तर्जिता भयं ग्राहिताः सन्तो भयोद्-भ्रान्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यग्विवेकविकला अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्काहीणि तान्येव शङ्कन्तेऽनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्काहीणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वान्तानि शङ्कितानि शङ्कायोग्यानि वागुरादीनि तान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणाः तत्र तत्र पाशादिके सम्पर्ययन्त इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥६॥

पुनरप्येतदेवातिमोहाविष्करणायाह- परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि तथा, परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्धिपर्यस्तबुद्धयः त्रातर्यपि भयमुत्प्रेक्षमाणाः तथा पाशितानि पाशोपेतानि-अनर्थापादकान्यशङ्कि-नस्तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च संविगति सम्यग्व्याप्ताः वशीकृताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तथा परित्राणोपेतं पाशाद्यनर्थोपेतं वा सम्यग्विवेकेनाजानानास्तत्र तत्रानर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने सम्पर्ययन्ते-सम् एकीभावेन परि-समन्तादयन्ते यान्ति वा गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः, यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानिकास्त्राणभूताऽनेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाऽभ्युपगमेनानाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते, शङ्कनीयं च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते, ते एवंभूताः परित्राणाहोऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्याऽघटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तो-ऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु कर्मबन्धनस्थानेषु सम्पर्ययन्त इति ॥७॥

टीकार्थ - जैसे वेगवान् मृग अर्थात् जङ्गली पशु परित्राण (रक्षक) रहित होते हैं । जो चारों तरफ से रक्षा करता है, उसे 'परित्राण' कहते हैं, उससे वे रहित होते हैं अर्थात् उनका कोई रक्षक नहीं होता है । अथवा पाश आदि बन्धन को 'परितान' कहते हैं । उस परितान से भय पाये हुए वे पशु भय से चञ्चल नेत्र तथा उद्विग्न हृदयवाले हो जाते हैं । वे सम्यक् विवेक से रहित होकर कूटपाश आदि से रहित तथा शङ्का के अयोग्य स्थानों में ही शङ्का करते हैं । वे उस स्थान को अनर्थजनक मानते हैं और जो शंका करने योग्य पाश बन्धन आदि है, उनमें शङ्का नहीं करते । अतः वे पशु, पाश आदि बन्धनों में ही जा पड़ते हैं, यह अगले श्लोक से सम्बन्ध करना चाहिए ॥६॥

फिर भी सूत्रकार इसी अतिमोह को प्रकट करने के लिए कहते हैं- अति मूर्खता के कारण विपरीत ज्ञानवाले, तथा जो स्थान रक्षा युक्त है, उसी में शङ्का करनेवाले अर्थात् जो रक्षा करनेवाला है उसमें भी भय की शङ्का करनेवाले, एवं अनर्थ-जनक पाशयुक्त स्थान में शङ्का नहीं करनेवाले, अज्ञान और भय से पूर्ण हृदय वे पशु जैसे शङ्कनीय अथवा अशङ्कनीय तथा रक्षायुक्त और पाश आदि अनर्थ युक्त स्थान को अच्छी तरह विवेक के साथ नहीं जानते हुए अनर्थ बहुल पाश-वागुरा आदि बन्धनों में ही जा पड़ते हैं । इस प्रकार दृष्टान्त बताकर नियतिवादी आदि तथा एकान्त अज्ञानवादियों को दार्ष्टान्तरूप से योजना करनी चाहिए । क्योंकि वे भी एकान्तवादी अज्ञानी हैं । वे, रक्षायुक्त अनेकान्तवाद से वर्जित हैं । अनेकान्तवाद, सब दोषों से रहित है और काल तथा ईश्वर आदि को भी कारण मानने के कारण अशङ्कनीय है, तथापि वे उसमें शङ्का करते हैं । नियतिवाद तथा अज्ञानवाद एकान्तवाद है, इसलिए वे शङ्का के योग्य हैं, फिर भी वे उनमें शङ्का नहीं करते हैं । इस प्रकार परित्राणयोग्य अनेकान्तवाद में शङ्का करते हुए और युक्ति विरुद्ध तथा अनर्थपूर्ण एकान्तवाद को अशङ्कनीय समझते हुए, अज्ञान से ढँके हुए वे एकान्तवादी उन कर्म-बन्धनों के स्थानों में जाते हैं ॥७॥



- पूर्वदोषैरपरितुष्यन्नाचार्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तनदृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह -

- पूर्वोक्त दोषों से सन्तुष्ट न होकर आचार्य दूसरा दोष बताने के लिए पूर्वोक्त दृष्टान्त के विषय में फिर कहते हैं ।

अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए ।

¹मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहए

॥८॥

छाया - अथ तं प्लयेत बन्धमथो बन्धस्य वा व्रजेत् । मुञ्चेत्पदपाशात्तत्तु मब्धो न पश्यति ॥

व्याकरण - (अह) अव्यय (तं) बन्ध का विशेषण (बज्झं) कर्म (पवेज्ज) क्रिया । (अहे) अव्यय (बज्झस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (वा) अव्यय (वए) क्रिया (मुच्चेज्ज) क्रिया (पयपासाओ) अपादान (तं) कर्म (तु) अव्यय (मंदे) कर्ता (ण) अव्यय (देहए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् वह मृग (तं बज्झं) उस बंधन को (पवेज्ज) लंघन कर जाय (वा) अथवा (बज्झस्स) बन्धन

1. वधेज्ज चू. ।

के (अहे) नीचे होकर (वए) निकल जाय तो (पयपासाओ) पैर के बन्धन से (मुच्चेज्ज) छुट सकता है (तु) परंतु (तं) उसे (मंदे) वह मूर्ख मृग (ण देहए) नहीं देखता है ।

भावार्थ - वह मृग यदि कूदकर उस बन्धन को लाँघ जाय अथवा उसके नीचे से निकल जाय तो वह पैर के बन्धन से मुक्त हो सकता है, परन्तु वह मूर्ख मृग इसे नहीं देखता है ।

टीका - अथ अनन्तरमसौ मृगस्तद् 'बज्झमिति' बद्धं-बन्धनाकारेण व्यवस्थितं वागुरादिकं वा बन्धनं बन्धकत्वाद् बन्धमित्युच्यते तदेवभूतं कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत् तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत्, तस्य वध्यदिर्बन्धनस्याधो(वा) गच्छेत् तत एवं क्रियमाणेऽसौ मृगः पदे पाशः पदपाशो-वागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत, यदि वा पदं-कूटं पाशः प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत, क्वचित्पदपाशादीति पठ्यते, आदिग्रहणाद् वधताडनमारणादिकाः क्रियाः गृह्यन्ते, एवं सन्तमपि तमनर्थपरिहरणोपायं मन्दो जडोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥८॥

टीकार्थ - इसके पश्चात् वह मृग, बन्धनाकार में स्थित, अथवा जो वागुरा आदि बन्धन-बन्धन देने के कारण 'बन्ध' कहे जाते हैं, उनको कूदकर पार कर जाय अथवा चर्ममय उस बन्धन के नीचे होकर चला जाय, तो वह पदपाश रूप उस वागुरादि बन्धन से मुक्त हो सकता है । अथवा 'पद' कपट को कहते हैं और 'पाश, बन्धन का नाम प्रसिद्ध है, उन दोनों से वह मृग छुट सकता है । कहीं-कहीं, "पादपाशादि" यह पाठ है । यहाँ आदि शब्द से वध, ताड़न और मारण, आदि क्रियायें ली जाती हैं । वह अज्ञानी मृग, उक्त प्रकार से अनर्थ को दूर करने का उपाय होते हुए भी उसे नहीं देखता है ॥८॥



- कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामवाप्नोति तां दर्शयितुमाह -

- कूट-पाश आदि को न देखता हुआ वह मृग जिस अवस्था को प्राप्त करता है, उसे दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

¹अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते ।

स बद्धे पयपासेणं, तत्थ ²घायं नियच्छइ

॥९॥

छाया - अहिताऽऽत्माऽहितप्रज्ञानः विषमान्तेनोपागतः । स बद्धः पदपाशेन तत्र घातं नियच्छति ॥

व्याकरण - (अहिअप्पा) (अहियपण्णाणे) (विसमं तेणुवागते) ये तीनों मृग के विशेषण हैं । (स) मृग का विशेषण (पयपासेणं) बन्धन क्रिया का करण (बद्धे) मृग का विशेषण (तत्थ) अधिकरण (घायं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अहिअप्पा) अहितात्मा (अहियपण्णाणे) अहित ज्ञानवाला (विसमं तेणुवागते) कूटपाशादि युक्त विषम प्रदेश में प्राप्त होकर (स) वह मृग (तत्थ) वहाँ (पयपासेणं) पदबन्धन के द्वारा (बद्धे) बद्ध होकर (घायं) घात को (नियच्छइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थ - वह मृग अपना अहित करनेवाला और अहित बुद्धि से युक्त है, वह बन्धन युक्त विषम प्रदेशों में जाकर वहाँ पद बन्धन से बद्ध होकर नाश को प्राप्त होता है ।

टीका - स मृगोऽहितात्मा तथाऽहितं प्रज्ञानं-बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः, स चाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः, यदि वा विषमान्ते कूटपाशादिके आत्मानमनुपातयेत्, तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलान् अवस्थाविशेषान् प्राप्तः, तत्र बन्धने घातं विनाशं नियच्छति प्राप्नोतीति ॥९॥

टीकार्थ - वह मृग अहितात्मा अर्थात् अपना अहित करनेवाला है, तथा वह अहित प्रज्ञान अर्थात् अहित बुद्धिवाला है । वह कूटपाशादि युक्त विषम प्रदेश को प्राप्त करता है अथवा वह अपने को कूटपाश आदि से युक्त विषम प्रदेश में गिरा देता है और वहाँ वह गिरा हुआ, उस कूट आदि के द्वारा बाँधा जाकर पद-पाश आदि अनर्थ बहुल अवस्था विशेष को प्राप्त कर के उस बन्धन में विनाश को प्राप्त करता है ॥९॥

- एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह -

- इस प्रकार दृष्टान्त दिखलाकर सूत्रकार दार्ष्टान्त रूप अज्ञान का फल दिखाने के लिए कहते हैं -

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।

असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो

॥१०॥

छाया - एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनाव्याः । अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितान्यशङ्कितः ॥

व्याकरण - (एवं तु) अव्यय (एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया) श्रमण के विशेषण (समणा) कर्ता (संकंति) क्रिया (संकिआइं) कर्म (असंकिणो) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (एवं तु) इस प्रकार (एगे) कोई (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनाव्य (समणा) श्रमण (असंकिआइं) शङ्का रहित अनुष्ठानों में (संकंति) शङ्का करते हैं (संकिआइं) तथा शङ्का सहित अनुष्ठानों में (असंकिणो) शङ्का नहीं करते हैं ।

भावार्थ - इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अनाव्य कोई श्रमण शङ्का रहित अनुष्ठानों में शङ्का करते हैं और शङ्का योग्य अनुष्ठानों में शङ्का नहीं करते हैं ।

टीका - एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति तुरवधारणे, एवमेव श्रमणाः केचित् पाखण्डविशेषाश्रिता एके न सर्वे, किम्भूतास्ते, इति दर्शयति-मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः, तथा अनाव्या आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, न आर्या अनाव्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावद् । अज्ञानावृतत्वं च दर्शयति-अशङ्कितानि अशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि शङ्कमानाः, तथा शङ्कनीयानि अपायबहुलानि एकान्तपक्षसमाश्रयणानि अशङ्कितानि मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदाऽऽरम्भन्ते यद्यदनर्थाय सम्पद्यत इति॥१०॥

टीकाार्थ - जैसे अज्ञानी मृग अनेक प्रकार के अनर्थ को प्राप्त करते हैं, इसी तरह पाखण्डविशेष को स्वीकार करनेवाले कोई श्रमण अनेक अनर्थों को प्राप्त करते हैं, परन्तु सब नहीं । यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है । वे श्रमण कैसे हैं ? यह सूत्रकार दिखाते हैं । जिनकी दृष्टि, मिथ्या यानी विपरीत है, वे अज्ञानवादी अथवा नियतिवादी मिथ्या-दृष्टि हैं । जो सब वर्जनीय धर्मों से दूर रहता है, उसे आर्य कहते हैं, जो इससे भिन्न है, वे अनाव्य हैं । अर्थात् अज्ञान से आवृत होकर जो असत् अनुष्ठान करते हैं, वे अनाव्य हैं । पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अनाव्य हैं। अब सूत्रकार, "वे अन्यदर्शनी अज्ञान से ढँके हुए हैं" यह दिखलाते हैं । वे अन्यदर्शनी शङ्का के अयोग्य सुन्दर धर्म के अनुष्ठान आदि में शङ्का करते हैं तथा शङ्का करने योग्य और पाश से परिपूर्ण एकान्त पक्ष के स्वीकार में शङ्का नहीं करते हैं। मृग के समान मूर्ख वे अन्य दर्शनी जो-जो आरम्भ करते हैं, वह-वह अनर्थ के लिए होता है ॥१०॥



- शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्ययासमाह -

- अब सूत्रकार, शङ्का के योग्य और शङ्का के अयोग्य धर्मों की विपरीतता बतलाते हैं -

धम्मपण्णवणा ¹जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।

आरंभाइं न संकंति अवियत्ता अकोविआ

॥११॥

छाया - धर्मप्रज्ञापना या सा तां तु शङ्कन्ते मूढकाः । आरम्भाद्वा शङ्कन्ते अव्यक्ता अकोविदाः ॥

व्याकरण - (जा, सा,) सर्वनाम (धम्मपण्णवणा) कर्ता (तं) कर्म (तु) अव्यय (संकंति) क्रिया (मूढगा) कर्ता (आरंभाइं) कर्म (न) अव्यय (संकंति) क्रिया (अवियत्ता अकोविआ) अन्यतीर्थी के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (जा, सा,) जो वह (धम्मपण्णवणा) धर्म की प्रज्ञापना यानी प्ररूपणा है (तं तु) उसमें तो (मूढगा) वे मूर्ख (संकंति) शङ्का करते हैं (आरंभाइं) परन्तु आरम्भ में (न संकंति) शङ्का नहीं करते हैं (अवियत्ता) वे अविवेकी हैं (अकोविआ) शास्त्रज्ञ नहीं हैं ।

1. जा तु तीसे चू. ।

भावार्थ - मूर्ख, अविवेकी और शास्त्रज्ञान वर्जित वे अन्यतीर्थी, धर्म की जो प्ररूपणा है, उसमें शङ्का करते हैं और आरम्भ में शङ्का नहीं करते हैं ।

टीका - धर्मस्य-क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना-प्ररूपणा तां तु इति तामेव शङ्कन्तेऽसद्धर्मप्ररूपणेय-मित्येवमध्यवस्यन्ति ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तान्नाशङ्कन्ते, किमिति ? यतोऽव्यक्ताः मुग्धाः सहजस-द्विवेकविकलाः तथा अकोविदा अपण्डिताः सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥११॥

टीकार्थ - क्षान्ति आदि दश प्रकार का धर्म है, उसकी जो प्ररूपणा है, उसी में वे मूर्ख शङ्का करते हैं। उसे वे अधर्म की प्ररूपणा समझते हैं । तथा पाप के कारण स्वरूप आरम्भों में शङ्का नहीं करते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि वे स्वभावतः सद् विवेक से रहित हैं । तथा वे सत् शास्त्र के विवेक से वर्जित हैं ॥११॥



- ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति तदर्शनायाह-

- वे अज्ञानी जिस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उसे दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया ।

अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए

॥१२॥

छाया - सर्वात्मकं व्युत्कर्षं सर्वं छादकं विधूय । अप्रत्ययमकर्मांश एतमर्थं मृगस्त्यजेत् ॥

व्याकरण - (सव्वप्पगं, विउक्कस्सं, सव्वं णूमं, अप्पत्तियं) कर्म (विहूणिया) पूर्वकालिक क्रिया (अकम्मंसे) कर्ता (एयं अट्ठं) कर्म (मिगे) कर्ता (चुए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सव्वप्पगं) सर्वात्मक-लोभ (विउक्कस्सं) विविध प्रकार का उत्कर्ष, मान (सव्वं) सर्व (णूमं) माया (अप्पत्तियं) और क्रोध को (विहूणिया) त्यागकर (अकम्मंसे) जीव कर्मांश रहित होता है (एयं अट्ठं) परन्तु इस अर्थ को (मिगे) मृग के समान अज्ञानी जीव (चुए) त्याग देता है ।

भावार्थ - लोभ, मान, माया और क्रोध को छोड़कर जीव कर्मांश रहित होता है परन्तु मृग के समान अज्ञानी जीव, इसे छोड़ देता है ।

टीका - सर्वत्राऽप्यात्मा यस्याऽसौ सर्वात्मको लोभस्तं विधूयेति सम्बन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो, मान इत्यर्थः, तथा 'णूमं' ति माया तां विधूय तथा 'अप्पत्तियं' ति क्रोधं विधूय, कषायविधूननेन च मोहनीय-विधूननमावेदितं भवति, तदपगमाच्चाशेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह- 'अकर्मांश' इति न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः, स चाकर्मांशो विशिष्टज्ञानाद् भवति नाऽज्ञानादित्येव दर्शयति-एनमर्थं कर्माभावलक्षणं मृग इव मृगः- अज्ञानी 'चुए' ति त्यजेत् । विभक्तिविपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादथात् च्यवेत् भ्रश्येदिति ॥१२॥

टीकार्थ - जिसका आत्मा सर्वत्र है, उसे 'सर्वात्मक' कहते हैं । वह लोभ है । उस लोभ को छोड़कर यह सम्बन्ध है । तथा विविध प्रकार का उत्कर्ष यानी गर्व व्युत्कर्ष कहलाता है । वह मान है । तथा 'णूम' माया को कहते हैं । उस गर्व तथा माया को छोड़कर तथा क्रोध को छोड़कर जीव अकर्मांश यानी समस्त कर्मों से रहित होता है । यहाँ कषाय का त्याग कहने से मोहनीय कर्म का भी त्याग कहा गया है और मोहनीय कर्म के त्याग से समस्त कर्मों का अभाव कहा गया है । यह बताने के लिए कहते हैं 'अकम्मंसे' अर्थात् जिसका कर्म, अंश मात्र भी शेष नहीं है, उसे अकर्मांश कहते हैं । वह अकर्मांश विशिष्ट ज्ञान से होता है, अज्ञान से नहीं होता है । यही सूत्रकार दिखलाते हैं कि- "एयमट्ठं" अर्थात् इस कर्म के अभाव रूप अर्थ को मृग के समान अज्ञानी जीव त्याग देता है । अथवा विभक्ति का विपरिणाम करके यह अर्थ करना चाहिए कि इस अर्थ से अज्ञानी जीव, भ्रष्ट हो जाता है ॥१२॥



- भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह -

- और भी अज्ञानवादियों का दोष बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।

मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो

॥१३॥

छाया - य एतद्वाभिजाणन्ति मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः । मृगा वा पाशबद्धास्ते घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥

व्याकरण - (जे) मिथ्यादृष्टि का विशेषण सर्वनाम (एयं) कर्म (न) अव्यय (अभिजाणंति) क्रिया । (मिच्छदिट्ठी) कर्ता (अणारिया) मिथ्यादृष्टि का विशेषण (मिगा) उपमान कर्ता (वा) इवार्थक अव्यय (पासबद्धा ते) मिथ्यादृष्टि का विशेषण (घायं) कर्म (एसंति) क्रिया (णंतसो) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (जो) जो (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य पुरुष (एयं) इस अर्थ को (नाभिजाणंति) नहीं जानते हैं (मिगा वा) मृग के समान (पासबद्धा) पाश में बद्ध (ते) वे (णंतसो) अनन्तवार (घायं) घात को (एसंति) प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ - जो मिथ्यादृष्टि, अनार्य पुरुष इस अर्थ को नहीं जानते हैं, वे पासबद्ध मृग की तरह अनन्तवार घात को प्राप्त करेंगे ।

टीका - येऽज्ञानपक्षं समाश्रिता एनं कर्मक्षपणोपायं न जानन्ति, आत्मीयाऽसद्ग्रहग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्यास्ते मृगा इव पाशबद्धाः घातं विनाशमेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानाद् अनन्तशोऽविच्छेदेनेत्यज्ञान-वादिनो गताः ॥१३॥

टीकार्थ - अज्ञान पक्ष का आश्रय लिये हुए जो पुरुष, इस कर्मक्षपण के उपाय को नहीं जानते हैं, किन्तु अपने असत् आग्रह से ग्रसित मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य हैं, वे पासबद्ध मृग के समान घात के योग्य कर्म का अनुष्ठान करके अनन्त-काल के लिए घात यानी विनाश को प्राप्त करेंगे अथवा वे विनाश को ढूँढते हैं । अज्ञानवादी कहे गये ॥१३॥



- इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्दिभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह -

- अब सूत्रकार अज्ञानवादियों के मत को दूषित करने के लिए उनका मत बतलाते हैं । जिससे अज्ञानवादी अपने वचन में बँधकर इधर-उधर नहीं जा सकेंगे ।

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।

सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण

॥१४॥

छाया - ब्राह्मणाः श्रमणा एके सर्वे ज्ञानं स्वकं वदन्ति । सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः, न ते जानन्ति किञ्चन ॥

व्याकरण - (माहणा) कर्ता (समणा) कर्ता (एगे) माहण और समणा का विशेषण (सव्वे) विशेषण (सयं नाणं) कर्म (वए) क्रिया (सव्वलोगे) अधिकरण (अवि) अव्यय (जे) सर्वनाम (पाणा) कर्ता (ते) सर्वनाम, प्राणी का विशेषण (किंचण) अव्यय (न) अव्यय (जाणंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एगे) कोई (माहणा) ब्राह्मण (समणा) श्रमण (सव्वे) सब (सयं) अपना (नाणं) ज्ञान (वए) बताते हैं (तु) परन्तु (सव्वलोगेऽवि) सब लोक में (जे) जो (पाणा) प्राणी हैं (ते) वे (किंचण) कुछ (न) जाणंति नहीं जानते हैं ।

भावार्थ - कोई ब्राह्मण और श्रमण ये सभी अपना-अपना ज्ञान बताते हैं, परन्तु सब लोक में जितने प्राणी हैं वे सब कुछ नहीं जानते हैं ।

टीका - एके केचन ब्राह्मणविशेषास्तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं-हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं स्वकमात्मीयं वदन्ति न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन

प्रवृत्तत्वात्सत्यानि तस्मादज्ञानमेव श्रेयः किं ज्ञानपरिकल्पनयेति, एतदेव दर्शयति-सर्वस्मिन्नपि लोके ये प्राणाः प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाचं (च्यं) जानन्तीति विदन्तीति ॥१४॥

टीकार्थ - अज्ञानवादियों का कहना है कि- यद्यपि कोई ब्राह्मण विशेष तथा परिव्राजक, ये सभी हेय और उपादेय को प्रकट करनेवाले अपने-अपने ज्ञान को बतलाते हैं। (जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं।) परन्तु उनका ज्ञान परस्पर विरोधी होने के कारण सत्य नहीं है, इसलिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है। ज्ञान की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। यही सूत्रकार दिखलाते हैं- सब लोक में जितने प्राणी हैं, वे कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जानते हैं ॥१४॥



- यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह-

- उन ब्राह्मण और श्रमणों का गुरुपरम्परा से जो ज्ञान चला आ रहा है, वह भी मूल रहित होने के कारण सत्य नहीं हो सकता है। अज्ञानवादी के इस कथन को दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित करने के लिए सूत्रकार कहते हैं-

मिलक्खू अमिलक्खूस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।

ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए

॥१५॥

छाया - म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य यथोक्ताऽनुभाषकः । न हेतुं स विजानाति, भाषितन्त्वनुभाषते ॥

व्याकरण - (मिलक्खू) कर्ता (अमिलक्खूस्स) सम्बन्ध बोधकषष्ठन्त (जहा) अव्यय (वुत्ताणुभासए) कर्ता का विशेषण (ण) अव्यय (हेउं) कर्म (से) कर्ता का बोधक सर्वनाम (विजाणाइ) क्रिया (भासिअं) कर्म (अणुभासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (मिलक्खू) म्लेच्छ पुरुष (अमिलक्खूस्स) अम्लेच्छ यानी आर्य्य पुरुष के (वुत्ताणुभासए) कथन का अनुवाद करता है (से) वह (हेउं) कारण को (न विजाणाइ) नहीं जानता है (त) किन्तु (भासिअं) उसके भाषण का (अणुभासए) अनुवाद मात्र करता है ।

भावार्थ - जैसे म्लेच्छ पुरुष, आर्य्य पुरुष के कथन का अनुवाद करता है। वह उस भाषण का निमित्त नहीं जानता है किन्तु भाषण का अनुवाद मात्र करता है ।

टीका - यथा म्लेच्छ आर्य्यभाषाऽनभिज्ञः अम्लेच्छस्य आर्य्यस्य म्लेच्छभाषानभिज्ञस्य यद् भाषितं तद् अनुभाषते, अनुवदति केवलं, न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति, यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति । न च हेतुं निमित्तं निश्चयेनाऽसौ म्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति केवलं परमार्थशून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥१५॥

टीकार्थ - जैसे आर्य्यभाषा को न जाननेवाला म्लेच्छ पुरुष, म्लेच्छभाषा को न जाननेवाले अम्लेच्छ यानी आर्य्य पुरुष के भाषण का केवल अनुवाद करता है। परन्तु उसने इस विवक्षा से यह कहा है, यह उसका अभिप्राय वह अच्छी तरह से नहीं जानता है। वह म्लेच्छ, आर्य्य पुरुष के भाषण का कारण निश्चय रूप से नहीं जानता है, केवल अर्थ-ज्ञान शून्य उसके भाषण का अनुवाद मात्र करता है ॥१५॥



- एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह -

- इस प्रकार अज्ञानवादियों के पक्ष का दृष्टान्त बताकर अब उसकी दार्ष्टान्त में योजना करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सयं सयं ।

निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व अबोहिया

॥१६॥

छाया - एवमहानिकाः ज्ञानं वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम् । निश्चयार्थं न जानन्ति, म्लेच्छा इवाबोधिकाः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (अत्राणिया) कर्ता (नाणं) कर्म (वयंता) कर्ता का विशेषण (अवि) अव्यय (सयं सयं) अव्यय (निच्छयत्यं) कर्म (न) अव्यय (याणंति) क्रिया (मिलकषुव्व) उपमान कर्ता (अबोहिया) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (एवं) इसी तरह (अत्राणिया) ज्ञानहीन ब्राह्मण और श्रमण (सयं सयं नाणं वयंतावि) अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी (निच्छयत्यं) निश्चित अर्थ को (न याणंति) नहीं जानते हैं (मिलकषुव्व) किन्तु पूर्वोक्त म्लेच्छ की तरह (अबोहिया) ज्ञान रहित हैं ।

भावार्थ - इसी तरह ज्ञानवर्जित ब्राह्मण और श्रमण, अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी निश्चित अर्थ को नहीं जानते हैं, किन्तु आर्यभाषा का अनुवाद मात्र करनेवाला अर्थ-ज्ञानहीन पूर्वोक्त म्लेच्छ की तरह बोध रहित हैं ।

टीका - यथा म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद्भाषितमनुभाषते तथा अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणाः ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणाद् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि- ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्द्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते, 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती'ति न्यायात् । तथा चोक्तम्-

“सर्वज्ञोऽद्याविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुक्षुमिः । तदज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्मम्यते कथम्” ॥१॥

एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासम्भवान्निश्चयार्थमजानानाः म्लेच्छवदपरोक्त-मनुभाषन्त एव अबोधिका बोधरहिताः केवलमिति, अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगमस्तावत्तावद् गुरुतरदोषसम्भवः । तथाहि- योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति तस्य महानपराधो भवति यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीति, एवं चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥१६॥

टीकार्थ - जैसे म्लेच्छ पुरुष, अम्लेच्छ यानी आर्य पुरुष के भाषण का सत्य अर्थ न जानता हुआ केवल उसके भाषण का अनुवाद मात्र करता है, उसी तरह सम्यग् ज्ञान रहित कोई श्रमण और ब्राह्मण, अपने-अपने ज्ञान को प्रमाण रूप से कहते हुए भी परस्पर विरुद्ध अर्थ भाषण करने के कारण निश्चित अर्थ को नहीं जानते हैं । आशय यह है कि- वे अपने तीर्थङ्कर को सर्वज्ञ समझकर उनके उपदेश से क्रिया में प्रवृत्त होंगे परन्तु सर्वज्ञ की विवक्षा (अभिप्राय) को अर्वाग्दर्शी (सामने की वस्तु को देखनेवाला) पुरुष नहीं जान सकता क्योंकि जो सर्वज्ञ नहीं है, वह सर्वज्ञ को नहीं जान सकता । जैसा कि कहा है-

“जिसको सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान नहीं है, उसके पास यदि सर्वज्ञ हों तो भी “यह सर्वज्ञ है”, यह वह कैसे जान सकता है?” ॥

तथा दूसरे की चित्तवृत्ति दुर्ग्राह्य होती है और उपदेशक पुरुष की यथार्थवादिता भी जानना संभव नहीं है, अतः निश्चित अर्थ को न जाननेवाले ज्ञानवादी पूर्वोक्त म्लेच्छ पुरुष की तरह केवल दूसरे की उक्ति का अनुवाद मात्र करते हैं । परन्तु वस्तुतः वे बोध रहित हैं, तस्मात् अज्ञान ही श्रेष्ठ है । इसी तरह ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों गुरुतर दोष भी बढ़ता जाता है । जो जानकर दूसरे के शिर को पैर से स्पर्श करता है, उसका महान् अपराध होता है और जो भूल से दूसरे के शिर को पैर से स्पर्श करता है, उसका कुछ भी अपराध नहीं माना जाता है, अतः अज्ञान ही प्रधान है, ज्ञान नहीं ॥१६॥



- एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह -

- इस प्रकार अज्ञानवादी का मत बताकर शास्त्रकार उसे दूषित करने के लिए कहते हैं -

अत्राणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ ।

अप्पणो य परं नालं, कुतो अत्राणुसासिउं ?

॥१७॥

छाया - अज्ञानिकानां विमर्शः, अज्ञाने न विनियच्छति । आत्मनश्च परं नालं कुतोऽन्यान्नुशासितुम् ॥

व्याकरण - (अत्राणियाणं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (वीमंसा) कर्ता (अण्णाणे) अधिकरण (ण) अव्यय (विनियच्छइ) क्रिया (अप्पणो) (कर्म) (य) अव्यय (परं) कर्म (नालं) अव्यय (कुतो) अव्यय (अत्रा) कर्म (अणुसासिउं) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अत्राणियार्ण) अज्ञानवादियों का (वीमंसा) पर्यालोचनात्मक विचार (अण्णाणे) अज्ञान पक्ष में (न विनियच्छइ) युक्त नहीं हो सकता है (अप्पणो य) वे अज्ञानवादी अपने को भी (परं) अज्ञानवाद की (अणुसासिउं) शिक्षा देने के लिए (नालं) समर्थ नहीं है (अत्राणुसासिउं कुतो) फिर वे दूसरे को शिक्षा देने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ?

भावार्थ - "अज्ञान ही श्रेष्ठ है", यह पर्यालोचनात्मक विचार अज्ञान पक्ष में सङ्गत नहीं हो सकता है । अज्ञानवादी अपने को भी शिक्षा देने में समर्थ नहीं हैं, फिर वे दूसरे को शिक्षा कैसे दे सकते हैं ?

टीका - न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषान्तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्य संज्ञाशब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः, गौरखरवदरण्यमिति यथा, तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वादिनां, योऽयं विमर्शः पर्यालोचनात्मको मीमांसा वा मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा अज्ञाने अज्ञानविषये न 'णियच्छति' न निश्चयेन यच्छति- नावतरति, न युज्यत इति यावत्, तथाहि- यैवंभूता मीमांसा विमर्शो वा किमेतज्ज्ञानं सत्यमुतासत्यमिति ?, "यथा अज्ञानमेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञानातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति" सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न 'बुध्यते, एवंभूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति । अपि च- तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि परं प्रधानमज्ञानवादमिति शासितुमुपदेष्टुं नालं न समर्थास्तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं-समर्था भवेयुरिति ? यदप्युक्तम्- "छिन्नमूलत्वान्मलेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादिकम्" तदप्ययुक्तं यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते । तथा यदप्युक्तं "परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति तदप्यसत्, यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति । तथाऽन्यैरप्यभ्युधायि-

"आकारैरिङ्गितै र्गत्या, चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१॥१७॥

टीकार्थ - जो ज्ञान नहीं है, उसे 'अज्ञान' कहते हैं । वह अज्ञान जिसको है, उसे 'अज्ञानी' कहते हैं । अथवा अज्ञान शब्द संज्ञा शब्द है, इसलिए "गौरखरवदरण्यम्" की तरह इससे मत्वर्थीय प्रत्यय हुआ है । "अज्ञान ही श्रेष्ठ है", यह कहनेवाले वे अज्ञानवादी जो यह पर्यालोचनात्मक विचार करते हैं अथवा वे जो पदार्थ को निश्चय करने की इच्छा करते हैं, वह निश्चय रूप से अज्ञान विषय में सङ्गत नहीं हो सकता है, क्योंकि यह जो मीमांसा है अथवा विचार है कि- "यह ज्ञान सत्य है अथवा असत्य है, तथा अज्ञान ही श्रेष्ठ है, एवं ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों दोष बढ़ता है ।" यह विचार भी अज्ञानियों को करना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार का पर्यालोचनात्मक विचार भी ज्ञान रूप है । तथा वे अज्ञानवादी, उनके मत में प्रधान अज्ञानवाद की शिक्षा अपने को भी देने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि अज्ञान पक्ष का आश्रय लेने के कारण वे अज्ञानी हैं । इस प्रकार जब वे स्वयं अज्ञानी हैं तब उनका शिष्य बनकर जो उनके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते हैं, उनको वे अज्ञानवाद की शिक्षा किस तरह दे सकते हैं ? तथा उक्त अज्ञानवादियों ने जो यह कहा है कि- "सब उपदेश आदि, म्लेच्छ द्वारा किया हुआ आर्यभाषा का अनुवाद के समान निराधार हैं ।" यह भी अयुक्त है क्योंकि ज्ञान के बिना दूसरे की भाषा का अनुवाद भी नहीं किया जा सकता है । तथा उक्त अज्ञानवादी ने जो यह कहा है कि- "दूसरे की चित्तवृत्ति नहीं जानी जाती है, इसलिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है ।" यह भी अयुक्त है क्योंकि "अज्ञान ही श्रेष्ठ है" यह दूसरे को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होकर तुमने स्वयं दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान होना स्वीकार कर लिया है । (यदि दूसरे की चित्तवृत्ति नहीं जानी जाती है तो तुम्हारी चित्तवृत्ति को तुम्हारे शिष्य नहीं जान सकते हैं, फिर तुम उन्हें अज्ञानवादियों की शिक्षा क्यों देते हो ?) दूसरे की चित्तवृत्ति जानी जाती है, यह दूसरे मतवादियों ने भी स्वीकार किया है । जैसे कि-

(आकारैः) अर्थात् मनुष्य के आकार से, इङ्गित से, गति से, चेष्टा से, भाषण से, तथा नेत्र और मुख के विकार से, उसके अन्दर का मन जान लिया जाता है ॥१॥१७॥

- तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शासने कर्तव्ये यथा न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह-
- इस प्रकार वे बिचारे अज्ञानवादी अपने को तथा दूसरे को शिक्षा देने में जिस प्रकार समर्थ नहीं हैं,

1. तेषां मते सम्यक्तया न ज्ञायते न युज्यते, इति भावः ।

वह दृष्टान्त द्वारा बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए ।

¹दोवि एए अकोविया, तिच्चं सोयं नियच्छइ

॥१८॥

छाया - वने मूढो यथा जन्तुमूढनेत्रानुगामिकः । द्वावप्येतावकोविदौ तीव्रं शोकं नियच्छतः ॥

व्याकरण - (वणे) अधिकरण (मूढे) जन्तु का विशेषण (जहा) अव्यय (जंतू) कर्ता (मूढे णेयाणुगामिए) जन्तु का विशेषण (दोवि एए, अकोविया) ये तीनों पद मूढो के विशेषण हैं (तिच्चं) शोक का विशेषण (सोयं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (वणे) वन में (मूढे) दिशामूढ (जंतू) प्राणी (मूढे णेयाणुगामिए) दिशा मूढ नेता के पीछे चलता है तो (एए दोवि) वे दोनों ही (अकोविया) मार्ग नहीं जाननेवाले हैं, इसलिए वे (तिच्चं सोयं नियच्छइ) तीव्र शोक को अवश्य प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - जैसे वन में दिशामूढ प्राणी, दूसरे दिशामूढ प्राणी के पीछे चलता है, तो वे दोनों ही मार्ग न जानने के कारण, तीव्र दुःख को प्राप्त करते हैं ।

टीका - वनेऽटव्यां यथा कश्चिन्मूढो जन्तुः प्राणी दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग् ज्ञानानिपुणौ सन्तौ तीव्रमसह्यं स्रोतो गहनं शोकं वा नियच्छतो निश्चयेन गच्छतः प्राप्नुतः अज्ञानावृतत्वादेवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्तः परकीयं चाशोभनत्वेन जानानाः स्वयं मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥१८॥

टीकार्थ - जैसे जंगल में दिशा के निश्चय करने में असमर्थ कोई मूढ जीव, जब दूसरे मूढ के ही पीछे चलता है, तब वे दोनों ही मार्ग जानने में अच्छी तरह निपुण न होने के कारण असह्य दुःख या घोर जङ्गल को प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे अज्ञान से आवृत हैं, इसी तरह अपने मार्ग को शोभन तथा दूसरे के मार्ग को अशोभन समझते हुए वे अज्ञानवादी स्वयं मूढ हैं और दूसरे को भी मोहित करते हैं ॥१८॥



- अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह -

- इसी विषय में शास्त्रकार दूसरा दृष्टान्त देते हैं -

अंधो अंधं पहं णितो, दूरमध्वाणुगच्छइ । आवज्जे उत्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

छाया - अन्धोऽन्धं पन्थानं नयन् दूरमध्वानमनुगच्छति । आपद्यत उत्पथं जन्तुरथवा पन्थानमनुगामिकः ॥

व्याकरण - (अंधो) कर्ता (अंधं) कर्म (पहं) कर्म (णितो) कर्ता का विशेषण (दूरं) क्रिया विशेषण (अद्धा) कर्म (अणुगच्छइ) क्रिया (आवज्जे) क्रिया (उत्पहं) कर्म (जंतू) कर्ता (अदुवा) अव्यय (पंथाणुगामिए) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (अंधं) अंधे मनुष्य को (पहं) मार्ग में (णितो) ले जाता हुआ (अंधो) अंधा पुरुष (दूरं) जहाँ जाना है वहाँ से दूर तक (अद्धाणुगच्छइ) मार्ग में चला जाता है (जंतू) तथा वह प्राणी (उत्पहं) उत्पथ को (आवज्जे) प्राप्त करता है (अदुवा) अथवा (पंथाणुगामिए) अन्य मार्ग में चला जाता है ।

भावार्थ - जैसे स्वयं अंधा मनुष्य, मार्ग में दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ, जहाँ जाना है वहाँ से दूर देश चला जाता है, अथवा उत्पथ को प्राप्त करता है अथवा अन्य मार्ग में चला जाता है ।

टीका - यथाऽन्धः स्वयमपरमन्धं पन्थानं नयन् दूरमध्वानं विवक्षितादध्वनः परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः । अथवा परं पन्थानमनुगच्छेत्, न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥१९॥

टीकार्थ - जैसे स्वयं अंध मनुष्य, दूसरे अन्धे को मार्ग में ले जाता हुआ, जिस मार्ग से जाना है उससे भिन्न दूसरे मार्ग में चला जाता है तथा उत्पथ को प्राप्त करता है अथवा अन्य मार्ग में चला जाता है, परंतु जिस मार्ग से जाना है, उसी से नहीं जाता है ॥१९॥

- एवं दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह -

- इस प्रकार दृष्टान्त बताकर शास्त्रकार अब दार्ष्टान्त बताने के लिए कहते हैं -

एवमेगे गियायट्टी, धम्ममाराहगा वयं ।

अदुवा अहम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए

॥२०॥

छाया - एवमेके गियागार्थिनो धर्मारोहकाः, वयम् । अथवाऽऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वजुक् व्रजेयुः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (एगे) कर्ता का विशेषण (गियायट्टी) कर्ता का विशेषण (धम्म) कर्म (आराहगा) (वयं) कर्ता के विशेषण (अदुवा) अव्यय (अहम्मं) कर्म (आवज्जे) क्रिया (ण) अव्यय (ते) कर्ता का विशेषण (सव्वज्जुयं) कर्म (वए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (एगे) कोई (गियायट्टी) मोक्षार्थी कहते हैं कि (वयं) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं (अदुवा) परन्तु वे (अहम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते हैं (सव्वज्जुयं) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे नहीं प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - इस प्रकार कोई मोक्षार्थी कहते हैं कि- हम धर्म के आराधक हैं, परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे अधर्म को ही प्राप्त करते हैं । वे, सब प्रकार से सरल मार्ग संयम को प्राप्त नहीं करते हैं ।

टीका - एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, एवं भावमूढाः भावान्धाश्चैके आजीविकादयः गियायट्टी'त्ति गियागो-मोक्षः सद्धर्मो वा तदर्थिनः । ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येवं सन्धाय प्रव्रज्यायामुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादि-कायोपमर्देन पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति अन्येषां चोपदिशन्ति येनाऽभिप्रेतायाः मोक्षा-वासेर्भ्रश्यन्ति । अथवाऽऽस्तां तावद् मोक्षाभावः, त एवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापद्येरन्, सम्भावनायामुत्पन्नेन लिङ्प्रत्ययेनैतद्दर्शयति-एतदपरं तेषामनर्थान्तरं सम्भाव्यते यदुत विवक्षितार्थाभावतया विपरीतार्थावाप्तेः पापोपादानमिति । अपि च- त एवमसदनुष्ठायिन आजीविकादयो गोशालकमतानुसारिणोऽज्ञानवादप्रवृत्ताः सर्वैः प्रकारैर्ऋजुः-प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यकुटिलः सर्वजुः-संयमः सद्धर्मो वा तं सर्वजुक् ते 'न व्रजेयुः' न प्राप्नुयुरित्युक्तम्भवति । यदि वा-सर्वजुक् सत्यं तत्तेऽज्ञानान्धाः ज्ञानापलापिनो न वदेयुरिति एते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिभेदा भवन्ति, ते च भेदा अमुनोपायेन प्रदर्शनीयाः, तद्यथा-जीवादयो नव पदार्थाः, 'सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यः, सदवक्तव्यः, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्यः इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? असन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि । एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः । अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा-सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? एवमसतीसदसत्यवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किं वाऽनया ज्ञातयेति । शेषविकल्पत्रयं तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सम्भवतीति नोक्तम् । एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थो न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति, तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति ? तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति ॥२०॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'एवं' शब्द पूर्वोक्त अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए है । पूर्वोक्त प्रकार से जो भावमूढ़ और भावान्ध आजीविक आदि हैं वे, गियाग यानी मोक्ष अथवा सद्धर्म को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और वे "हम उत्तम धर्म के आराधक हैं ।" यह मानकर प्रव्रज्या धारण करते हैं । वे प्रव्रजित होकर भी पृथिवी जल और वनस्पतिकार्यों का विनाशपूर्वक पचन, पाचन आदि क्रिया में प्रवृत्त होकर स्वयं ऐसे कार्य का अनुष्ठान करते हैं और दूसरे को भी उपदेश करते हैं, जिससे वे इष्ट मोक्ष की प्राप्ति से भ्रष्ट हो जाते हैं । अथवा मोक्ष की प्राप्ति होना तो दूर रहा, वे इस प्रकार प्रवृत्ति करते हुए अधर्म-पाप को ही प्राप्त करते हैं । इस गाथा में 'आवज्जे', इस पद में सम्भावना अर्थ में लिङ् लकार हुआ है, इसके द्वारा शास्त्रकार यह दिखलाते हैं कि, उन आजीविकमत-वालों को यह दूसरा अनर्थ भी सम्भव है कि वे इष्ट अर्थ को न पाकर उससे विपरीत पापरूप अनर्थ को प्राप्त

करते हैं । इस प्रकार असत् कर्म का अनुष्ठान करनेवाले, अज्ञान को कल्याण का कारण बतानेवाले, गोशालकमतानुयायी आजीविक आदि, जो संयम-मार्ग अथवा सद्धर्म, मोक्षप्राप्ति के लिए सब प्रकार से सरल है, उसको प्राप्त नहीं करते हैं । अथवा अज्ञानान्ध तथा ज्ञान को मिथ्या बतानेवाले वे अन्यदर्शनी, मोक्ष-प्राप्ति के लिए सबसे सरल मार्ग जो सत्य है, उसे वे नहीं बोलते हैं । पूर्वोक्त अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण बतलाते हैं, उसके ६७ भेद होते हैं । उन भेदों को इस उपाय से जानना चाहिए । जैसे कि- सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य, इन सात प्रकारों से जीव आदि पदार्थ नहीं जाने जा सकते हैं और उनको जानने से भी कोई प्रयोजन नहीं है । इसका संचार इस प्रकार करना चाहिए-जीव सत् है, यह कौन जानता है ? और यह जानने से भी क्या फल है ? तथा जीव, असत् है यह कौन जानता है ? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार सदसत् आदि भेदों का भी जीव में संचार करना चाहिए । इसी तरह अजीव आदि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प कहने चाहिए, अतः नव सप्तक मिलकर अज्ञान के ६३ भेद होते हैं । इन ६३ भेदों में दूसरे ये चार और भी भेद मिलाये जाते हैं, जैसे कि- “(१) भाव की उत्पत्ति सत् होती है, यह कौन जानता है ? अथवा यह जानने से भी क्या फल है ? (२) तथा भाव की उत्पत्ति असत् होती है, यह कौन जानता है ? अथवा यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ? (३) तथा भाव की उत्पत्ति सदसत् होती है, यह कौन जानता है ? और यह जानने से भी क्या फल है ? (४) एवं भाव की उत्पत्ति अवक्तव्य होती है, यह कौन जानता है ? और यह जानने से भी क्या फल है ?” पूर्वोक्त सात विकल्पों में से चार विकल्प तो भावोत्पत्ति के विषय में कहे गये हैं, परन्तु शेष तीन विकल्प नहीं कहे गये हैं, क्योंकि शेष तीन विकल्प, पदार्थ की उत्पत्ति होने के पश्चात् उस पदार्थ के अवयव की अपेक्षा से होते हैं । इसलिए भावोत्पत्ति के विषय में वे सम्भव नहीं हैं । उक्त सात विकल्पों में जो पहला विकल्प है कि- “जीव सत् है, यह कौन जानता है ?” इसका अर्थ यह है कि किसी भी जीव को ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं है, जो वह अतीन्द्रिय जीव आदि पदार्थों को जान सकता है तथा उनको जानने से भी कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जीव, चाहे नित्य, सर्वगत, अमूर्त और ज्ञानादिगुणयुक्त हो अथवा इससे विपरीत हो, उससे किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है ॥२०॥



- पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह -

- और भी शास्त्रकार अज्ञानवादियों के मत में दोष बताने के लिए कहते हैं -

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।

अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई

॥२१॥

छाया - एवमेके वितर्काभिर्नाऽब्धं पर्युपासते । आत्मनश्च वितर्काभिरयमृजुहिं दुर्मतयः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (एगे दुम्मई) कर्ता के विशेषण (वियक्काहिं) हेतु तृतीयान्त (नो) अव्यय (अन्नं) कर्म (पज्जुवासिया) क्रिया (अप्पणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (य) अव्यय (वियक्काहिं) हेतु तृतीयान्त (अयमंजू हि) अज्ञानवाद का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (एगे दुम्मई) कोई दुर्बुद्धि (एवं) इस प्रकार के (वियक्काहिं) वितर्क के कारण (नो अन्नं पज्जुवासिया) दूसरे अर्थात् ज्ञानवादी की सेवा नहीं करते हैं (अप्पणो य) वे अपने (वियक्काहिं) वितर्क के कारण (अयमंजू हि) यह अज्ञानवाद ही यथार्थ है, यह मानते हैं ।

भावार्थ - कोई दुर्बुद्धि जीव, पूर्वोक्त विकल्पों के कारण ज्ञानवादी की सेवा नहीं करते हैं, वे उक्त विकल्पों के कारण “यह अज्ञानवाद ही सरल मार्ग है ।” यह मानते हैं ।

टीका - एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके-केचनाज्ञानिकाः वितर्काभिः मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं न पर्युपासते न सेवन्ते स्वावलेपग्रहग्रस्ताः वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञाः नापरः कश्चिदित्येवं नाऽन्यं पर्युपासत इति । तथाऽऽत्मीयैर्वितर्कैरेवमभ्युपगतवन्तो-यथा अयमेव अस्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको

मार्गः अञ्जूरिति निर्दोषत्वाद् व्यक्तः-स्पष्टः, परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः, ऋजुर्वा-प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायि-त्वात्, किमिति (ते) एवमभिधधति ? हि यस्मादर्थे यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्ध्य इत्यर्थः ॥२१॥

टीकार्थ - इस प्रकार-पूर्वोक्त नीति से कोई अज्ञानी अपने आप कल्पना की हुई असत्कल्पनाओं के कारण दूसरे किसी ज्ञानवादी आर्हत आदि की सेवा नहीं करते हैं । वे अपने अभिमानरूपी ग्रह से ग्रास किये हुए "हम ही तत्त्वज्ञानी हैं, दूसरा कोई भी नहीं है ।" यह समझकर दूसरे की सेवा नहीं करते हैं । तथा वे अपने वितर्क (कल्पना) के कारण यह मानते हैं कि- "यह हमारा अज्ञान मार्ग ही कल्याण का मार्ग है तथा यह दोषवर्जित और दूसरे मतवादियों से खण्डन करने योग्य नहीं है । तथा यह अज्ञान मार्ग ही उत्तमगुण युक्त और सत्य है, क्योंकि यह यथावस्थित अर्थ को बतलाता है ।" वे अज्ञानवादी ऐसा क्यों कहते हैं ? समाधान यह है कि-वे दुर्मति यानी विपरीत बुद्धिवाले हैं ॥२१॥



- साम्प्रतमज्ञानवादिनां ज्ञानवादी स्पष्टमेवानर्थाभिधित्सयाऽऽह -

- अब ज्ञानवादी, अज्ञानवादी का स्पष्ट रूप से अनर्थ बताने के लिए कहता है ।

एवं तक्काइ साहिंता धम्माधम्मे अकोविया ।

दुक्खं ते ^१नाइतुट्ठंति सउणी पंजरं जहा

॥२२॥

छाया - एवं तर्कैः साधयन्तो धर्माधर्मयोरकोविदाः । दुःखं ते जाति त्रोटयन्ति शकुनिः पञ्जरं यथा ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (तक्काइ) करण (साहिंता) अज्ञानवादी का विशेषण (धम्माधम्मे अकोविया) अज्ञानवादी का विशेषण (ते) अज्ञानवादी का विशेषण सर्वनाम (दुक्खं) कर्म (न) अव्यय (नाइतुट्ठंति) क्रिया (जहा) उपमावाचक अव्यय (सउणी) उपमान-कर्ता (पंजरं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (तक्काइ) तर्क के द्वारा (साहिंता) अपने मत को मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए (धम्माधम्मे अकोविया) धर्म तथा अधर्म को न जाननेवाले (ते) वे अज्ञानवादी (दुक्खं) दुःख को (नाइतुट्ठंति) अत्यन्त नहीं तोड़ सकते हैं (जहा) जैसे (सउणी) पक्षी (पंजरं) पीजरे को नहीं तोड़ सकता है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से अपने मत को मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए, धर्म तथा अधर्म को न जाननेवाले अज्ञानवादी, कर्म बन्धन को नहीं तोड़ सकते हैं, जैसे पक्षी पीजरे को नहीं तोड़ सकता है ।

यदि प्रत्येक भूतों को अचेतन मत्कर्त्या स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे क्षान्त्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमर्दापादिते पापे अकोविदा अनिपुणाः, दुःखमसातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति। अतिशयेनैतद् व्यवस्थितं तथा ते न त्रोटयन्ति-अपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह-यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालम्, एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥२२॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त न्याय से अपनी कल्पना के द्वारा अपने मत को मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए, तथा क्षान्ति आदि धर्म और जीवों के घात से उत्पन्न पाप को जानने में अनिपुण वे अज्ञानवादी, मिथ्यात्व आदि के द्वारा उत्पन्न कर्म-बन्धन को नहीं तोड़ सकते हैं । यह अत्यन्त निश्चित है । इस विषय में शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं- जैसे पीजरे में रहनेवाला पक्षी पीजरे को तोड़कर उससे अपने को मुक्त करने में समर्थ नहीं है, इसी तरह वह अज्ञानवादी संसार-रूपी पीजरे से अपने को मुक्त करने में समर्थ नहीं है ॥२२॥



- अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह -

- अब सूत्रकार सामान्य रूप से सभी एकान्तवादियों के मत को दूषित करने के लिए कहते हैं -

सयं सयं पसंसन्ता गरहन्ता परं वयं ।

जे उ तत्थ विउस्सन्ति ¹संसारं ते विउस्सिया

॥२३॥

छाया - स्वकं स्वकं प्रशंसन्तो गर्हयन्तः परं वचः । ये तु तत्र विद्वस्यन्ते संसारं ते व्युच्छ्रिताः ॥

व्याकरण - (सयं सयं) कर्म (पसंसन्ता) कर्ता का विशेषण (गरहन्ता) कर्ता का विशेषण (परं वयं) गर्हण क्रिया का कर्म (जे) कर्ता का बोधक सर्वनाम (उ) अव्यय (संसारं) कर्म (विउस्सिया) कर्ता का विशेषण (ते) कर्ता का बोधक सर्वनाम ।

अन्वयार्थ - (सयं सयं) अपने-अपने मत की (पसंसन्ता) प्रशंसा करते हुए (परं वयं) और दूसरे के वचन की (गरहन्ता) निन्दा करते हुए (जे उ) जो लोग (तत्थ) इस विषय में (विउस्सन्ति) अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं (ते) वे (संसारं) संसार में (विउस्सिया) अति दृढ़ रूप से बंधे हुए हैं ।

भावार्थ - अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के वचन की निन्दा करनेवाले जो अन्यतीर्थी अपने मत की स्थापना और पर मत के खण्डन करने में विद्वत्ता दिखाते हैं, वे संसार में दृढ़ रूप से बंधे हुए हैं ।

टीका - स्वकं स्वकमात्मीयमात्मीयं दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणाः निन्दन्तः परकीयां वाचं, तथा हि- साङ्ख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयविनश्वरं चेत्येवं वादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् साङ्ख्यान्, एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं 'ये' एकान्तवादिनः, तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, तत्रैव तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणाः, विद्वस्यन्ते विद्वांस इवाऽऽचरन्ति, तेषु वा विशेषेणोशन्ति-स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधम्-अनेकप्रकारम्, उत प्राबल्येन श्रिताः सम्बद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥२३॥

टीकाार्थ - अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हुए अन्यदर्शनीगण, दूसरे दार्शनिकों के वचन की निन्दा करते हैं । जैसे समस्त पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव माननेवाले साङ्ख्यवादी, "सब पदार्थ क्षणिक हैं और निरन्वय विनाशी हैं ।" ऐसा कहनेवाले बौद्धों की निन्दा करते हैं, तथा बौद्ध भी "नित्यपदार्थ न तो क्रमशः अर्थ क्रिया कर सकता है और न युगपत् कर सकता है ।" इत्यादि दोष देकर साङ्ख्यवादियों की निन्दा करते हैं । इसी तरह दूसरे दार्शनिकों को भी जानना चाहिए । यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक और भिन्न क्रम है, इसलिए अपने-अपने दर्शनों की प्रशंसा और दूसरों के वचनों की निन्दा करते हुए, जो एकान्तवादी विद्वान् के समान आचरण करते हैं अथवा अपने शास्त्र के पक्ष में विशिष्ट युक्तियाँ बतलाते हैं, वे ऐसा कहनेवाले अन्यदर्शनी, चारगतिवाले इस संसार में अनेक प्रकार से अति दृढ़ रूप से बंधे हैं । अथवा वे इस संसार में सदा निवास करते हैं । यह इस गाथा का अर्थ है ॥२३॥



- साम्प्रतं यदुक्तं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकारे 'कर्म-चयं न गच्छति चतुर्विधं भिक्षुसमय' इति तदधिकृत्याह-

- निर्युक्तिकार ने उद्देशक के अर्थाधिकार में जो यह कहा है कि- "चार प्रकार के कर्म बन्धनदाता नहीं होते हैं, यह भिक्षुओं का सिद्धान्त है ।" अब इसी विषय को लेकर सूत्रकार कहते हैं-

अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं ।

कम्मचिंतापणद्धाणं दुक्खखंधविवद्धणं संसारस्स पवड्डणं

॥२४॥

1. संसरते चू. ।

छाया - अथाऽपरं पुराऽऽख्यातं क्रियावादिदर्शनम् । कर्मचिन्ताप्रणष्टानां संसारस्य प्रवर्धनम् ॥

व्याकरण - (अह) अव्यय (अवरं) (पुरकबायं) (संसारस्स पवहुणं) ये क्रियावादी दर्शन के विशेषण हैं (किरियावाइदरिसणं) कर्ता (कम्मचिन्तापणट्ठाणं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (संसारस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (पवहुणं) दर्शन का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (अवरं) दूसरा (पुरकबायं) पूर्वोक्त (किरियावाइदरिसणं) क्रियावादियों का दर्शन है (कम्मचिन्तापणट्ठाणं) कर्म की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन (संसारस्स पवहुणं) संसार को बढ़ानेवाला है ।

भावार्थ - अब, दूसरा दर्शन, क्रियावादियों का है । कर्म की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन संसार को ही बढ़ानेवाला है ।

टीका - अथेत्यानन्तर्ये, अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् पुरा पूर्वमाख्यातं कथितम्, किं पुनस्तदित्याह- क्रियावादिदर्शनम्, क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनम्- आगमः क्रियावादिदर्शनम्, किं भूतास्ते क्रियावादिन इत्याह- कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः, प्रणष्टा-अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, यतस्तेऽविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्ति, अतः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, तेषां चेदं दर्शनम् दुःखस्कन्धस्य असातोदयपरम्परायाः, विवर्धनं भवति । क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः, ते ह्येवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ॥२४॥

टीकार्थ - 'अथ' शब्द आनन्तर्य्य अर्थ में आया है । अज्ञानवादियों के मत के पश्चात् यह दूसरा पूर्वोक्त क्रियावादियों का दर्शन है । जो लोग चैत्य-कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अङ्ग बतलाते हैं, उनके दर्शन को 'क्रियावादिदर्शन' कहते हैं । वे क्रियावादी कैसे हैं ? यह कहते हैं- ज्ञानावरणीय आदि कर्म की चिन्ता यानी विचार करना 'कर्मचिन्ता' कहलाती है । उससे जो रहित हैं, वे कर्मचिन्ता प्रणष्ट कहलाते हैं । बौद्ध भिक्षु, अज्ञान आदि से किये हुए चार प्रकार के कर्मों को बन्धन दाता नहीं मानते हैं, इसलिए वे कर्म की चिन्ता से रहित हैं । उनका यह दर्शन, दुःखस्कन्ध यानी असातोदय-रूप दुःख-परम्परा को बढ़ानेवाला है । कहीं-कहीं 'संसारवर्धनम्' यह पाठ है । इसका अर्थ यह है कि- चार प्रकार का कर्म-बन्धन दाता नहीं होता है, यह माननेवाले वे भिक्षु, संसार की वृद्धि ही करते हैं । उच्छेद नहीं करते हैं ॥२४॥



- यथा ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह -

- क्रियावादी, जिस प्रकार कर्म की चिन्ता से रहित हैं, सो बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

जाणं काएणऽणाउट्ठी, अबुहो जं च हिंसति ।

पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं

॥२५॥

छाया - जानन् कायेनानाकुट्ठी, अबुधो यं च हिनस्ति । स्पृष्टः संवेदयति परमव्यक्तं खलु सावधम् ॥

व्याकरण - (जाणं) कर्ता का विशेषण (काएण) करण (अणाउट्ठी) कर्ता का विशेषण (अबुहो) कर्ता का विशेषण (जं) कर्म (च) अव्यय (हिंसति) क्रिया (पुट्ठो) कर्ता का विशेषण (संवेदइ) क्रिया (परं) क्रिया विशेषण (अवियत्तं) (सावज्जं) कर्म के विशेषण (खु) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (जाणं) जो पुरुष, जानता हुआ मन से हिंसा करता है (काएणऽणाउट्ठी) परन्तु शरीर से नहीं करता है (य) और (अबुहो) नहीं जानता हुआ (जं हिंसइ) जो पुरुष शरीर से हिंसा करता है (परं पुट्ठो संवेदइ) वह केवल स्पर्श मात्र उसका फल भोगता है (खु) निश्चय (सावज्जं) वह सावध कर्म (अवियत्तं) व्यक्त-स्पष्ट नहीं है ।

भावार्थ - जो पुरुष क्रोधित होकर किसी प्राणी को मन से हिंसा करता है, परन्तु शरीर से नहीं करता है तथा जो शरीर से हिंसा करता हुआ भी मन से हिंसा नहीं करता है, वह केवल स्पर्श मात्र कर्म बन्ध को अनुभव करता है, क्योंकि उक्त दोनों प्रकार के कर्म बन्ध स्पष्ट नहीं होते हैं ।

टीका - यो हि जानन् अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति, कायेन चानाकुट्ठी 'कुट्ट-छेदने' आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते

यस्यासावाकुट्टी नाकुट्यनाकुट्टी, इदमुक्तम्भवति-यो हि कोपादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्तते न तस्यावद्यं, तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः । तथा अबुधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण यं च हिनस्ति प्राणिनं तत्राऽपि मनोव्यापाराभावात् कर्मोपचय इति । अनेन च श्लोकार्थेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा- “चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षुसमय” इति, तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं शेषं त्वीर्यापथस्वप्रान्तिकभेदद्वयं च शब्देनोपात्तं, तत्रेणमीर्या-गमनं तत्संबद्धः पन्था ईर्यापथस्त-त्प्रत्ययं कर्मैर्यापथम्-एतदुक्तं भवति पथि गच्छतो यथा कथञ्चिदनभिसन्धेर्यत् प्राणिव्यापादनं भवति तेन कर्मणश्चयो न भवति तथा स्वप्रान्तिकमिति-स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्रान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्रान्तिकं तदपि न कर्मबन्धाय, यथा स्वप्ने भुजिक्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति, कथं तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीति ? उच्यते, यद्यसौ हन्यमानः प्राणी भवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवं ज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुःष्याद् एतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा ततश्च कर्मोपचयो भवतीति, एषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः । अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद् भङ्गाः भवन्ति, तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः । तथा चोक्तम्-

“प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापाद्यते हिंसा ॥१॥”

किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव ? भवति काचिदव्यक्तमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चा-र्धमाह- ‘पुट्ठो’ति तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोत्थेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्रान्तिकेन च चतुर्विधेनाऽपि कर्मणा स्पृष्ट ईषच्छुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तस्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत् स्पर्शानन्तरमेव परिशततीत्यर्थः । अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति । एवं च कृत्वा तद् अव्यक्तम् अपरिस्फुटं, खुरवधारणे, अव्यक्तमेव, स्पष्टविपाकानुभवाभावात्, तदेवमव्यक्तं सहावद्येन-गर्हणेन वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकमेति ॥२५॥

टीकार्थ - जो पुरुष, जानता हुआ प्राणी की हिंसा करता है, परन्तु शरीर से अनाकुट्टी है अर्थात् शरीर से जीव हिंसा नहीं करता है, उसको कर्मबन्ध नहीं होता है । “कुट्ट” धातु का छेदन अर्थ है, वह छेदन जो करता है, उसे आकुट्टी कहते हैं । जो आकुट्टी नहीं है, उसे ‘अनाकुट्टी’ कहते हैं । आशय यह है कि, जो क्रोध आदि कारणवश, केवल मन के व्यापार से प्राणी की हिंसा करता है परन्तु शरीर से प्राणियों के अङ्गों का छेदन, भेदन रूप व्यापार, नहीं करता है, उसको अवद्य अर्थात् पाप कर्म का उपचय नहीं होता है । तथा जो पुरुष, नहीं जानता हुआ, केवल शरीर के व्यापार से प्राणी की हिंसा करता है, उसमें भी मन का व्यापार नहीं होने से कर्म का उपचय नहीं होता है । निर्युक्तिकार ने जो पहले यह कहा है कि- “चतुर्विध कर्म, उपचय को प्राप्त नहीं होता है, यह भिक्षुओं का सिद्धान्त है ।” उसमें परिज्ञोपचित और अविज्ञोपचित, ये दो भेद श्लोक के पूर्वार्ध द्वारा साक्षात् गृहीत हैं और शेष ईर्यापथ और स्वप्रान्तिक, ये दो भेद ‘च’ शब्द से संगृहीत हैं । यहाँ गमन को ‘ईर्या’ कहते हैं और तत्संबन्धी मार्ग को ‘ईर्यापथ’ कहते हैं । उस ईर्यापथ के कारण जो कर्म होता है, उसे ‘ईर्यापथ’ कहते हैं । आशय यह है कि- मार्ग में जाते समय जो बिना जाने प्राणी का घात हो जाता है, उससे कर्म का उपचय नहीं होता । तथा स्वप्रान्तिक कर्म भी बन्धन दाता नहीं होता । लोकोक्ति के अनुसार स्वप्न को ही स्वप्रान्त कहते हैं, वह स्वप्रान्त कर्म जिसमें विद्यमान है, उसे ‘स्वप्रान्तिक’ कहते हैं । वह स्वप्रान्तिक कर्म भी बन्ध का कारण नहीं होता है । जैसे स्वप्न में भोजन करने पर भी तृप्ति नहीं होती है, उसी तरह स्वप्न में किये हुए जीवघात से भी कर्मबन्ध नहीं होता है । उन भिक्षुओं को किसप्रकार कर्मबन्ध होता है ? कहते हैं कि वह मारा जाता हुआ यदि प्राणी होता है और मारनेवाले को यदि यह प्राणी है” ऐसा ज्ञान होता है तथा मारनेवाले की बुद्धि यह होती है कि “मैं इसे मारता हूँ” और इन सब के होते हुए यदि शरीर से वह मारने की चेष्टा करता है तथा चेष्टा होने पर भी यदि वह प्राणी मर जाता है तब हिंसा होती है और तभी कर्म का भी उपचय होता है । पूर्वोक्त इन बातों में से किसी एक के भी न होने पर न हिंसा होती है और नहीं कर्म का उपचय होता है । यहाँ जो पाँच पद

कहे गये हैं उनके ३२ भङ्ग होते हैं । उनमें प्रथम भङ्गवाला पुरुष, हिंसक है शेष ३१ भङ्गों में हिंसा नहीं होती है । कहा भी है—

“प्राणी, प्राणी का ज्ञान, घातक का चित्त, घातक की क्रिया और प्राण-वियोग, इन पाँच बातों से हिंसा उत्पन्न होती है ॥१॥

क्या परिज्ञोपचित आदि के द्वारा एकान्त रूप से कर्म का उपचय नहीं होता है ? कहते हैं कि उनसे कुछ अव्यक्त मात्रा में कर्मबन्ध होता है, यह दिखाने के लिए सूत्रकार श्लोक का उत्तरार्थ बताते हैं (पुटोत्ति) केवल-मनोव्यापार रूप परिज्ञोपचित कर्म तथा केवल शरीर की क्रिया से उत्पन्न अविज्ञोपचित कर्म, एवं ईर्यापथ तथा स्वप्नान्तिक कर्म इन चार प्रकार के कर्मों से थोड़ा स्पर्श पाया हुआ वह पुरुष तत्कर्मा होता है । वह स्पर्श मात्र उन कर्मों का विपाक अनुभव करता है, क्योंकि उनका विपाक अधिक नहीं होता है, जैसे दीवाल पर मारी हुई बालु की मुट्टी स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है, इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए उन कर्मों के उपचय का अभाव कहते हैं, परन्तु सर्वथा अभाव नहीं कहते हैं । इस प्रकार उक्त चतुर्विध कर्म, अव्यक्त हैं अर्थात् परिस्फुट नहीं हैं । यहाँ ‘खु’ शब्द अवधारणार्थक है । इसलिए उक्त चतुर्विध कर्म अव्यक्त ही हैं क्योंकि उनका विपाक स्पष्ट अनुभव नहीं किया जाता है । अतः परिज्ञोपचित आदि कर्म, अव्यक्त रूप से पाप सहित हैं ॥२५॥



— ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह —

— यदि पूर्वोक्त चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता है तो कर्म का उपचय किस प्रकार होता है ? यह शङ्का कर के उक्तमतवालों की ओर से सूत्रकार कहते हैं —

सन्तिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।

अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया

॥२६॥

छाया — सन्तीमानि त्रीण्यादानानि, येः क्रियते पापकम् । अभिक्रम्य च प्रेष्य च मनसाऽनुज्ञाय ॥

व्याकरण — (सन्ति) क्रिया (इमे तउ आयाणा) कर्ता (जेहिं) करण (पावगं) कर्म (कीरइ) क्रिया (अभिकम्मा) पूर्वकालिक क्रिया (पेसा) पूर्वकालिक क्रिया (मणसा) करण (अणुजाणिया) पूर्व कालिक क्रिया ।

अन्वयार्थ — (इमे) ये (तउ) तीन (आयाणा) कर्मबन्ध के कारण (सन्ति) हैं (जेहिं) जिनसे (पावगं) पाप कर्म (कीरइ) किया जाता है (अभिकम्मा य) किसी प्राणी को मारने के लिए आक्रमण करके (पेसा य) तथा प्राणी को मारने के लिए नौकर आदि को भेजकर (मणसा अणुजाणिया) एवं मन से अनुज्ञा देकर ।

भावार्थ — ये तीन कर्म बन्ध के कारण हैं, जिनसे पापकर्म किया जाता है— किसी प्राणी को मारने के लिए स्वयं उस पर आक्रमण करना तथा नौकर आदि को भेजकर प्राणी का घात कराना एवं प्राणी को घात करने के लिए मन से अनुज्ञा देना ।

टीका — सन्ति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि, एतदेव दर्शयति यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं, तानि चामूनि तद्यथा— अभिक्रम्येति आभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा— तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानं, अथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत् प्राणिव्यापादनं तद् द्वितीयं कर्मादानमिति, तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानं, परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः— तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति॥२६॥

टीकार्थ — ये तीन आदान हैं, जिनके द्वारा कर्मबन्ध होता है उन्हें ‘आदान’ कहते हैं ? यही सूत्रकार दिखलाते हैं— जिन आदानों के द्वारा पाप कर्म किये जाते हैं वे आदान ये हैं— (१) वध्य प्राणी को मारने की इच्छा से स्वयमेव उस प्राणी को मारना यह एक कर्मादान है (२) तथा प्राणी को मारने के लिए किसी नौकर आदि को

भेजकर उस प्राणी का घात कराना यह दूसरा कर्मादान है । (३) तथा प्राणी का घात करते हुए पुरुष को मन से अनुज्ञा देना यह तीसरा कर्मादान है । परिज्ञोपचित कर्म से इसका भेद यह है- परिज्ञोपचित कर्म में केवल मन से चिन्तन मात्र होता है । परन्तु इसमें दूसरे के द्वारा मारे जाते हुए प्राणी के विषय में उसके घात का अनुमोदन किया जाता है ॥२६॥



- तदेवं यत्र स्वयं कृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नाऽन्यत्रेति दर्शयितुमाह -

- इस प्रकार जहाँ प्राणिघात के विषय में स्वयं करना, कराना और अनुमोदन ये तीन होते हैं तथा क्लिष्ट अध्यवसाय से प्राणी का घात किया जाता है, वहीं कर्म का उपचय होता है अन्यत्र नहीं होता, यह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।

एवं^१ भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ

॥२७॥

छाया - एतानि तु त्रीण्यादानानि यैः क्रियते पापकम् । एवं भावविशुद्ध्या तु निव्वाणमभिगच्छति ॥

व्याकरण - (एते) सर्वनाम, कर्ता का विशेषण (उ) अव्यय (तउ) कर्ता का विशेषण (आयाणा) कर्ता (जेहिं) करण (कीरइ) क्रिया (पावगं) कर्म (एवं) अव्यय (भावविसोहीए) करण (निव्वाणं) कर्म (अभिगच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एते उ) ये (तउ) तीन (आयाणा) कर्मबन्ध के कारण हैं (जेहिं) जिनसे (पावगं) पाप कर्म (कीरइ) किया जाता है (एवं) इस प्रकार (भाव-विसोहीए) भाव की विशुद्धि से (निव्वाणं) मोक्ष को (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थ - ये तीन कर्म बन्ध के कारण हैं, जिनसे पाप कर्म किया जाता है । जहाँ ये तीन नहीं हैं तथा जहाँ भाव की विशुद्धि है, वहाँ कर्म बन्ध नहीं होता है, अपितु मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

टीका - तुरवधारणे, एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायसव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति । एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथा भावविशुद्ध्या अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोऽभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेन कर्मोपचयः, तदभावाच्च निव्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरतिस्वभावम् अभिगच्छति आभिमुख्येन प्राप्नोतीति ॥२७॥

टीकार्थ - यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है, अतः पूर्वोक्त ये ही तीन प्रत्येक तथा सम्पूर्ण, कर्मबन्ध के कारण हैं । इन तीनों में अध्यवसाय दुष्ट रहता है, इसलिए इनके द्वारा पाप कर्म का उपचय होता है । ऐसी स्थिति में जहाँ प्राणी के घात के प्रति करना, कराना और अनुमोदन ये तीन नहीं हैं, तथा रागद्वेष रहित बुद्धि से जो प्रवृत्ति करता है, वहाँ केवल मन से अथवा शरीर से अथवा मानसिक अभिप्राय रहित दोनों से प्राणातिपात हो जाने पर भी भाव विशुद्धि के कारण कर्म का उपचय नहीं होता है और कर्म का उपचय न होने के कारण जीव सब झंझटों से रहित मोक्ष को प्राप्त करता है ॥२७॥



- भावशुद्ध्या प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्राऽर्थे दृष्टान्तमाह -

- भावशुद्धि से प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष को कर्म बन्ध नहीं होता है । इस विषय में शास्त्रकार अन्य दर्शनी की ओर से कहते हैं -

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।

भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ

॥२८॥

१. भावणसुद्धीए चू. ।

छाया - पुत्रं पिता समारब्ध्याहारयेदसंयतः । भुञ्जानश्च मेधावी कर्मणा नोपलिप्यते ॥

व्याकरण - (पुत्रं) कर्म (पिया) कर्ता (समारब्ध) पूर्वकालिक क्रिया (आहारेज्ज) क्रिया (असंजए) कर्ता का विशेषण (भुंजमाणो) कर्ता का विशेषण (मेधावी) कर्ता का विशेषण (कम्मणा) करण (न) अव्यय (उपलिप्यइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (असंजए) संयमवर्जित (पिया) पिता (पुत्रं) पुत्र को (समारब्ध) मारकर (आहारेज्ज) खावे तो (भुंजमाणो य) खाता हुआ भी वह पिता (कम्मणा) कर्म से (नोपलिप्यइ) उपलिस नहीं होता है (मेधावी) इसी तरह साधु भी कर्म से उपलिस नहीं होता है ।

भावार्थ - जैसे विपत्ति के समय कोई गृहस्थ पिता अपने पुत्र को मारकर उसका माँस खाता है तो वह पुत्र का माँस खाकर भी कर्म से उपलिस नहीं होता है, इसी तरह राग-द्वेष रहित साधु भी माँस खाता हुआ कर्म से उपलिस नहीं होता है ।

टीका - पुत्रमपत्यं पिता जनकः समारब्ध्या व्यापाद्य आहारार्थं कस्याश्चित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्त-द्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि, च शब्दस्याऽपिशिद्बार्थत्वादिति तथा मेधाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थः, तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताशयपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति । यथा चाऽत्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति, तथाऽन्यस्याऽप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ॥२८॥

टीकार्थ - जैसे राग-द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति के समय उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर उसका माँस खाता हुआ भी कर्मबन्ध को नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि पुत्र के ऊपर उसका द्वेष नहीं है । इसी तरह साधु भी माँस खाता हुआ कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता है । यहाँ 'च' शब्द अपि शब्द के अर्थ में है । इस प्रकार चाहे गृहस्थ हो या साधु हो, जिसका भाव शुद्ध होता है, वह माँस खाता हुआ भी कर्म यानी पाप से लिप्त नहीं होता है । जैसे राग-द्वेष रहित पिता को पुत्र के घात करने पर भी कर्म बन्ध नहीं होता है । इसी तरह जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष रहित है, उसके द्वारा प्राणी का घात होने पर भी कर्म बन्ध नहीं होता है ॥२८॥



- साम्प्रतमेतद् दूषणायाह -

- अब इस मत को दूषित करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।

अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो

॥२९॥

छाया - मनसा ये प्रद्विषन्ति चित्तं तेषां न विद्यते । अनवद्यमतस्य तेषां न ते संवृतचारिणः ॥

व्याकरण - (मणसा) करण (जे) कर्ता (पउस्संति) क्रिया (चित्तं) कर्ता (तेसिं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (ण) अव्यय (विज्जइ) क्रिया (अणवज्जं) अस्ति क्रिया का कर्ता (अतहं) अनवद्य का विशेषण (तेसिं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (ते) सर्वनाम, अन्य तीर्थी का विशेषण (संवुडचारिणो) परतीर्थी का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (जे) लोग (मणसा) मन से (पउस्संति) किसी प्राणी पर द्वेष करते हैं (तेसिं) उनका (चित्तं) चित्त (ण विज्जइ) निर्मल नहीं है । (तेसिं अणवज्जमतहं) तथा उनको कर्म का उपचय न होना भी मिथ्या है (ते ण संवुडचारिणो) तथा वे संवर के साथ विचरने वाले नहीं हैं ।

भावार्थ - जो, मन से प्राणियों पर द्वेष करते हैं, उनका चित्त निर्मल नहीं है तथा मन से द्वेष करने पर पाप नहीं होता है, यह उनका कथन भी मिथ्या है, अतः वे संयम के साथ विचरनेवाले नहीं हैं ।

टीका - ये हि कुतश्चिन्निमित्तात् मनसा अन्तःकरणेन प्रादुःष्यन्ति प्रद्वेषमुपयान्ति तेषां वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेवं यत्तैरभिहितं- यथा केवलमनःप्रद्वेषेऽपि अनवद्यं कर्मोपचयाभाव इति, तत् तेषाम् अतथ्यमसदर्थं-

भिधायित्वं यतो न ते संवृतचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात्, तथाहि- कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं, यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाऽभावोऽभिहितः, ततश्च यत् यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति ।

ननु तस्याऽपि कायचेष्टारहितस्याकारणत्वमुक्तं, सत्यमुक्तं, अयुक्तं तूक्तं यतो भवतैव “एवं भावशुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छती”ति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि तथाऽन्यदप्यभिहितम् ।”

“चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ? ॥”

तथाऽन्यैरप्यभिहितं-

“मतिविभवं । नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसाम् । परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव ।

नरकनगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेकैः उपचितशुभशक्त्या सूर्यसंभेदिनोऽन्ये ॥१॥”

तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति । तथेय्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो याति ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव । अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम्-

“उच्चालियमि पाए इरियासमियरुस संकमट्टाए । वावज्जेज्ज कुलिङ्गी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥”

णेय तरुस तन्निमित्तो बन्धो सुहमोऽपि देसिओ समए । अणवज्जो उ पयोगेण सत्त्वभावेण सो जम्हा ॥२॥

स्वप्नान्तिकेष्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद् बन्धो भवत्येव, स च भवताऽभ्युपगत एव “अव्यक्तं तत्सावद्य” मित्यनेनेति । तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे बन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता “प्राणी प्राणिज्ञान” मित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदुक्तं “पुत्रं पिता समारभ्ये” त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूतावन्न कश्चिद् व्यापादयति, एवम्भूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता ? चित्तसंक्लेशे चाऽवश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोः संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः क्वचिदुच्यते, यथा “परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष” इति, तदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं, यतः परव्यापादिते पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता तस्याश्च कर्मबन्ध इति । तथा चाऽन्यैरप्यभिहितम्-

“अनुमन्ता विशासिता संहर्ता क्रयविक्रयी, संस्कर्ता चोपमोक्ता च घातकथाऽष्टघातकाः ॥१॥”

यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति । तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इति सुप्रतिष्ठितमिदमिति ॥२॥

टीकार्थ - जो मनुष्य, किसी कारण वश मन से प्राणी पर द्वेष करते हैं, उनका परिणाम प्राणी का वध करने का है, अतः उनका चित्त निर्मल नहीं है । तथा वे जो यह कहते हैं कि- “केवल मन के द्वारा द्वेष करने पर भी कर्म का उपचय नहीं होता है” उनका यह कथन मिथ्या है । इस कारण वे संयम का आचरण करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि उनका मन अशुद्ध है । वस्तुतः कर्म के उपचय करने में प्रधान कारण मन ही है, अतः एव उक्त वादियों ने भी मनोव्यापार रहित केवल शरीर के व्यापार से कर्म का उपचय न होना बताया है । जो जिसके होने पर होता है और न होने पर नहीं होता है, वह उसका प्रधान कारण है । (मन होने पर कर्म का उपचय होता है और नहीं होने पर नहीं होता है इसलिए कर्म के उपचय का प्रधान कारण मन ही है ।)

शङ्का - कहते हैं कि उक्तवादी ने शरीर चेष्टा के बिना केवल मनोव्यापार को कर्मोपचय का कारण न होना बताया है । (फिर तुम, कर्मोपचय का प्रधान कारण मन को वे भी मानते हैं, यह क्यों कहते हो ? ।)

समाधान - उक्तवादी ने यह अवश्य कहा है, परन्तु अयुक्त कहा है, क्योंकि आपने (उक्तवादी ने) ही कहा है कि- “इस प्रकार चित्त की विशुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है” ऐसा कहते हुए आपने (उक्तवादी ने)

1. उच्चालिते पादे ईर्यासमितेन संक्रमाथाय । व्यापाद्येत कुलिङ्गी- प्रियेत तं योगमासाद्य ॥१॥

न च तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि दिष्टः समये । अनवद्यस्तु प्रयोगेण सर्वभावेन स यस्मात् ॥१॥

ही मोक्ष का प्रधान कारण एक मन को ही बतलाया है। तथा उक्तवादी ने और भी कहा है—

“चित्तमेव” अर्थात् राग आदि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार है और वही चित्त, रागादि रहित होकर संसार का अन्त कहा जाता है।

तथा दूसरे दार्शनिकों ने भी कहा है कि—

“मतिविभव” अर्थात् हे मन ! मैं, तुझको नमस्कार करता हूँ। यद्यपि सभी पुरुष, समान हैं, परन्तु तू किसी के शुभ अंश में और किसी के अशुभ अंश में परिणत होते हो। यही कारण है कि कोई पुरुष, नरक रूपी नगर के मार्ग का पथिक होता है और बड़ी हुई शुभांश की शक्ति से कोई सूर्य का भेदन करता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आप के मन्तव्य से ही क्लिष्ट मनोव्यापार, कर्मबन्धन का कारण है, यह सिद्ध होता है। तथा ईर्यापथ में भी यदि उपयोग न रखकर चलता है, तो उपयोग न रखना ही चित्त की क्लिष्टता है, अतः उससे कर्मबन्ध होता ही है। यदि वह उपयोग रखकर चलता है, तो प्रमाद रहित होने के कारण उसे कर्मबन्ध नहीं होता है। जैसा कि कहा है —

ईर्या समिति से युक्त पुरुष पृथिवी पर रखने के लिए जब अपने पैर को उठाता है, तब उसके पैर के नीचे आकर यदि कोई सूक्ष्म जीव मर जाय तो उसको थोड़ा भी पाप नहीं होता है, यह सिद्धान्त में कहा है, क्योंकि वह पुरुष सब प्रकार से जीव रक्षा में उपयोग रखने के कारण पाप रहित है।

तथा चित्त की अशुद्धि के कारण स्वप्नान्तिक में भी कुछ कर्मबन्ध होता ही है। तथा आपने भी स्वप्नान्तिक में अव्यक्त पाप होता है, इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा यह स्वीकार किया है। इस प्रकार जब कि एक क्लिष्ट चित्त के व्यापार होने पर कर्मबन्ध होता है, तब आपने जो यह कहा है कि— “प्राणी प्राणिज्ञानम्” इत्यादि, यह सब असङ्गत है। तथा आपने यह जो कहा है कि— “पुत्रं पिता समारभ्य” इत्यादि (अर्थात् राग-द्वेष रहित पिता विपत्ति के समय पुत्र का माँस खाकर भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं करता है।) यह कथन भी विचार शून्य है क्योंकि जब तक “मैं मारता हूँ” ऐसा चित्त का परिणाम नहीं होता है तब तक कोई मारता नहीं है और “मैं मारता हूँ” यह चित्त का परिणाम किस प्रकार असंक्लिष्ट हो सकता है? चित्त की क्लिष्टता से अवश्य कर्मबन्ध होता है, इस विषय में आप और हम दोनों की सम्मति है। (अतः पुत्रघाती पिता को पाप रहित बताना असंगत है।) तथा किसी स्थान पर उक्तवादी ने जो यह कहा है कि— “जैसे दूसरे के हाथ से अङ्गार पकड़ने पर हाथ नहीं जलता है, उसी तरह दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी के माँस खाने से पाप नहीं होता है” यह भी उन्मत्त के प्रलाप के समान सुनने योग्य नहीं है क्योंकि दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी के माँस खाने पर भी उसमें अनुमति अवश्य होती है और अनुमति होने पर कर्मबन्ध भी अवश्य है। तथा दूसरे दर्शनवालों ने भी कहा है कि—

¹अनुमोदन करनेवाला, ²पशु के अङ्गों को काट कर अलग अलग करनेवाला, ³पशु को मारने के लिए उसे वध्य स्थान पर ले जानेवाला, तथा ⁴पशु को मारने के लिए उसे खरीदने वाला ⁵बेचनेवाला तथा ⁶पशु का माँस पकानेवाला, ⁷माँस खानेवाला, और ⁸मारनेवाला ये आठ, पशु के घात का पाप करते हैं।

तथा उक्तवादियों ने पशु का घात करने और कराने तथा अनुमति देने से जो पाप होना कहा है, यह उन्होंने जैनेन्द्र मत के अंश का आस्वादन किया है। अतः “चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता है।” यह कहनेवाले अन्यदर्शनी कर्म की चिन्ता से रहित हैं, यह सिद्ध है ॥२९॥



— अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरम्परां दर्शयितुमाह —

— अब शास्त्रकार इन क्रियावादियों की अनर्थ परम्परा बताने के लिए कहते हैं —

‘इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।

१सरणंति मन्त्रमाणा सेवन्ती पावगं जणा

॥३०॥

छाया - इत्येताभिश्च दृष्टिभिः सातागौरवनिश्चिताः । शरणमिति मन्त्रमाणाः सेवन्ते पापकं जनाः ॥

व्याकरण - (इच्छेयाहि) दृष्टि का विशेषण (य) अव्यय (दिट्ठीहिं) करण (सेवन्ती) क्रिया (सातागौरवनिश्चिता) जन का विशेषण (सरणं) कर्म (मन्त्रमाणा) जन का विशेषण (सेवन्ती) क्रिया (पावगं) कर्म (जणा) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (इच्छेयाहि) पूर्वोक्त इन (दिट्ठीहिं) दर्शनों के कारण (सातागौरवनिश्चिता) सुख भोग तथा मन बड़ाई में आसक्त अन्यदर्शनी जन (सरणंति मन्त्रमाणा) अपने दर्शन को अपना शरण मानते हुए (पावगं) पाप का (सेवन्ती) सेवन करते हैं ।

भावार्थ - पूर्वोक्त अन्यदर्शनी पूर्वोक्त इन दर्शनों के कारण सुखभोग तथा मान बड़ाई में आसक्त रहते हैं । वे अपने दर्शन को अपना रक्षक समझते हुए पाप कर्म का सेवन करते हैं ।

टीका - इत्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति दृष्टिभिः अभ्युपगमैस्ते वादिनः सातागौरवनिश्चिताः सुखशीलतायामासक्ताः यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणम् इदमस्मदीयं दर्शनमिति एवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वन्ते पापम् अवद्यम् एवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥३०॥

टीकार्थ - चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता है, इस पूर्वोक्त मन्त्रव्य के कारण सुखभोग तथा मान बड़ाई में आसक्त वे अन्यदर्शनी सब कुछ करते हैं, और जैसा मिले वैसा ही भोजन खाते हैं । वे अपने दर्शन को संसार से उद्धार करनेवाला मानते हैं, और ऐसा मानते हुए विपरीत अनुष्ठान के द्वारा पाप कर्म का सेवन करते हैं । इस प्रकार व्रतधारी होते हुए भी वे, प्राकृत (साधारण) पुरुष के समान ही हैं ॥३०॥



- अस्यैवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह -

- इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त कहते हैं -

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरुहिया ।

इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयई

॥३१॥

छाया - यथा आस्साविणिं नावं जात्यन्धो दुरुह्य । इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥

व्याकरण - (जहा) अव्यय (अस्साविणिं) नाव का विशेषण (णावं) कर्म (जाइअंधो) कर्ता (दुरुहिया) पूर्वकालिक क्रिया (इच्छई) क्रिया (पारं) कर्म (आगन्तुं) प्रयोजनार्थक क्रिया (अंतरा य) अव्यय (विसीयई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (जाइअंधो) जन्मान्ध पुरुष (अस्साविणिं) जिसमें जल प्रवेश करता है ऐसी (णावं) नौका पर (दुरुहिया) चढ़कर (पारं) पार (आगंतुं) जाने की (इच्छई) इच्छा करता है परन्तु (अन्तरा य) वह मध्य में ही (विसीयई) डूब जाता है ।

भावार्थ - जैसे जन्मान्ध पुरुष, जिसमें जल प्रवेश करता हो, ऐसी नौका पर चढ़कर पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच जल में ही डूब कर मर जाता है ।

टीका - आ-समन्तात्स्रवति तच्छीला वा आस्साविणी सच्छिद्रेत्यर्थः, तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य पारं तटं आगन्तुं प्राप्नुमिच्छत्यसौ, तस्याश्चास्साविणीत्वेनोदकप्लुतत्वाद् अन्तराले जलमध्ये एव विषीदति वारिणि निमज्जति तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥

टीकार्थ - जिसमें चारों तरफ से जल प्रवेश करता हो उसे 'आस्साविणी' कहते हैं, अर्थात् जिसमें छिद्र है, वह नाव आस्साविणी है । ऐसी नाव पर चढ़कर जैसे जन्मान्ध पुरुष नदी के पार जाना चाहता है । परन्तु आस्सा-विणी होने के कारण वह नाव जल से भर जाती है और वह जन्मान्ध पुरुष मध्य जल में ही डूब जाता है और मर जाता है ॥३१॥

१. हियं तु मण्णमाणा तु सेवन्ती अहियं जणा चू ।

- साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह -

- इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त के साथ मिलाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।

संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्ठंति

॥३२॥

(ग्रन्थाग्रं० ५९) ति बेमि इति प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः ।

छाया - एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः । संसारपारकाङ्क्षिणस्ते संसारमनुपर्यटन्ति ॥

इति ब्रवीमि

व्याकरण - (एवं तु) अव्यय (एगे, मिच्छदिट्ठी, अणारिया) श्रमण के विशेषण (समणा) कर्ता (संसारपारकंखी) श्रमण का विशेषण (संसारं) कर्म (अणुपरियट्ठंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एवं तु) इस प्रकार (एगे) कोई (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य (समणा) श्रमण (संसारपारकंखी) संसार से पार जाना चाहते हैं, परन्तु (ते) वे (संसारं) संसार में ही (अणुपरियट्ठंति) पर्यटन करते हैं ।

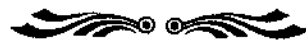
भावार्थ - इस प्रकार कोई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संसार से पार जाना चाहते हैं, परन्तु वे संसार में ही भ्रमण करते हैं ।

टीका - एवमिति यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयस्तथा पिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण संसारपारकाङ्क्षिणो मोक्षा-भिलाषुकाः अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनाऽनिपुणत्वाच्छासनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसरणरूपमनुपर्यटन्ति। भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणदौर्गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते, न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्ति, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥

इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्याध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - जैसे जन्मान्ध मनुष्य, छिद्रवाली नाव पर चढ़कर नदी को पार करने में समर्थ नहीं होता । उसी तरह विपरीत दृष्टिवाले तथा माँसाहार का समर्थन करने के कारण अनार्य शाक्य भिक्षु आदि अपने दर्शन के अनुराग से संसार से पार जाना और मोक्ष सुख प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु उनका शास्त्र, “चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता है ।” यह शिक्षा देने के कारण संसार से पार करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए वे चतुर्गतिक रूप संसार में ही भ्रमण करते हैं । वे बार-बार संसार में ही जन्म, जरा, मरण और दुर्गति आदि क्लेश को भोगते हुए अनन्त काल तक संसार में ही निवास करते हैं परन्तु वे मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं । यह मैं कहता हूँ, यह पूर्ववत् जानना चाहिए ।

श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त हुआ ।



अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशक आरम्भ्यते -

द्वितीयोद्देशकानन्तरं तृतीयः समारम्भ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः- अध्ययनार्थाधिकारः स्वसमयपरसमयप्ररूपणेति, तत्रोद्देशकद्वयेन स्वपरसमयप्ररूपणा कृता अत्रापि सैव क्रियते । अथवाऽऽद्ययोरुद्देशकयोः कुदृष्टयः प्रतिपादिताः तद्दोषाश्च तदिहाऽपि तेषामाचारदोषः प्रदर्श्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्या-ऽस्खलितगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ।

अब प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है -

द्वितीय उद्देशक कहने के पश्चात् अब तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है- प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार स्वसमय और परसमय की प्ररूपणा है । अतः पहले के दो उद्देशकों में स्वसमय और परसमय की प्ररूपणा की गयी है । अब इस उद्देशक में भी वही की जाती है । अथवा पहले के दो उद्देशकों में कुदृष्टियों का कथन किया है और उनके दोष भी बताये हैं । अब इस उद्देशक में उनका आचार दोष बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशक के चार अनुयोग द्वारों को बताकर अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है -

जं किंचि उ पूङ्कडं, सङ्ढीमागंतुमीहियं ।

सहस्संतरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवइ

॥१॥

छाया - यत्किञ्चित्पूतिकृतं श्रद्धावताऽऽगन्तुकेभ्य ईहितं । सहस्राब्तरितं भुञ्जीत द्विपक्षं चैव सेवते ॥

व्याकरण - (जं, किंचि) कर्म का विशेषण (पूङ्कडं) कर्म का विशेषण (सङ्ढी) उत्पादन रूप क्रिया का कर्ता (आगंतु) सम्प्रदान (ईहियं) कर्म विशेषण (सहस्संतरियं) कर्म विशेषण (भुंजे) क्रिया (दुपक्खं) कर्म (सेवइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जं किंचि उ पूङ्कडं) जो आहार थोड़ा भी-आधा कर्म के कण से भी मिश्रित तथा अपवित्र है (सङ्ढी) एवं श्रद्धावान् पुरुष ने (आगंतुमीहियं) आनेवाले मुनियों के लिए बनाया है (सहस्संतरियं भुंजे) उस आहार को जो पुरुष हजार घर का अन्तर देकर भी खाता है (दुपक्खं चेव सेवइ) वह गृहस्थ और साधु दोनों के पक्ष का सेवन करता है ।

भावार्थ - जो आहार आधाकर्मी आहार के एक कण से भी युक्त तथा अपवित्र है, और श्रद्धावान् गृहस्थ के द्वारा आनेवाले मुनियों के लिए बनाया गया है, उस आहार को जो पुरुष, हजार घर का अन्तर देकर भी खाता है । वह साधु और गृहस्थ दोनों के पक्षों का सेवन करता है ।

टीका - अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशकपर्यन्तसूत्रेऽभिहितम् “एवं तु श्रमणा एके इत्यादि तदिहाऽपि सम्बध्यते, एके श्रमणाः यत्किञ्चित् पूतिकृतं भुञ्जानाः संसारं पर्यटन्तीति । परम्परसूत्रे त्वभिहितं बुद्ध्यज्ज” इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तदबुध्येतेति । एवमन्यैरपि सूत्रैरुत्प्रेक्ष्य सम्बन्धो योज्यः । अधुना सूत्रार्थः प्रतीयते यत्किञ्चिदिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं तदपि पूतिकृतमाधाकर्मादिसिक्थेनाप्युपसृष्टम् आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयंकृतम् अपितु श्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य ईहितं चेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो भुञ्जीत अभ्यवहरेदसौ द्विपक्षं गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं चाऽऽसेवते । एतदुक्तं भवति एवं भूतमपि परकृतमपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते? ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः । यदि वा द्विपक्षमिति ईर्यापथः साम्परायिकं च, अथवा पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते, तथाचागमः-

“आहाकम्मं णं भुञ्जमाणे समणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! अट्टकम्मपगडीओ बंधइ सिढिलबंधणबद्धाओ

घणियबंधणबद्धाओ करेइ चियाओ करेइ उवचियाओ करेइ हस्सठिइयाओ दीहठिइयाओ करेइ ।^{११} इत्यादि,
ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूध्या वा आधाकर्म भुञ्जानाः द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का अनन्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध है- अनन्तर उद्देशक के अन्तिम सूत्र में कहा है कि- “एवं तु श्रमणा एके” इत्यादि । इसका सम्बन्ध यहाँ भी होता है, इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि कोई श्रमण जो थोड़ा भी अपवित्र पूतिकृत आहार खाते हैं । वे संसार भ्रमण करते हैं । तथा परम्पर सूत्र में कहा है कि- “मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए इत्यादि” अतः जो आहार थोड़ा भी आधाकर्म आदि से युक्त है, उसका बोध प्राप्त करना चाहिए । यह सम्बन्ध यहाँ मिलाना चाहिए । इसी तरह दूसरे सूत्रों के साथ भी इस सूत्र का सम्बन्ध स्वयं जान लेना चाहिए । अब इस सूत्र का अर्थ बतलाया जाता है- जो आधाकर्म आदि आहार थोड़ा भी दोषवाला है तो जो बहुत हैं, उसका तो कहना ही क्या ? जो आहार थोड़ा भी आधाकर्म आहार के एक कण से भी युक्त है, तथा श्रद्धालु गृहस्थ के द्वारा आनेवाले मुनियों के निमित्त बनाया गया है, स्वयं किया हुआ भी नहीं है, ऐसे आहार को भी जो हजार घर का अन्तर देकर भी खाता है, वह पुरुष गृहस्थ और साधु दोनों के पक्षों को सेवन करता है । आशय यह है कि जो आहार आगन्तुक यतियों के लिए श्रद्धालु गृहस्थ ने बनाया है, हजार घर अन्तर देकर भी उस आहार के एक कण से युक्त आहार भी जो खाता है, वह साधु और गृहस्थ दोनों पक्षों को सेवन करता है, ऐसी दशा में स्वयं सम्पूर्ण आहार तैय्यार कर के जो उसे खाते हैं । ऐसे शाक्यभिक्षु आदि की तो बात ही क्या है ? वे तो सुतरां साधु और गृहस्थ इन दोनों पक्षों का सेवन करते हैं । अथवा ईर्यापथ और साम्प्रायिक को द्विपक्ष कहते हैं । अथवा पूर्वोक्त पूतिकृत आहार को खानेवाला पुरुष, पहले बाँधी हुई कर्म प्रकृति को निकाचित आदि अवस्थाओं में पहुँचाता है और फिर नवीन कर्म प्रकृति बाँधता है । आगम में लिखा है कि-

“आहाकम्पं” इत्यादि अर्थात् “हे भगवन् ! जो श्रमण आधाकर्म आहार का सेवन करता है, वह कितनी कर्म प्रकृतियों को बाँधता है ? हे गौतम ! वह श्रमण आठ कर्म प्रकृतियों को बाँधता है । वह ढीले बन्धन में बाँधे हुए कर्मों को दृढ़ बन्धन में बाँधता है तथा वह कर्मों का चय और उपचय करता है । एवं ह्रस्वस्थितिवाली कर्म प्रकृति को दीर्घस्थितिवाली बनाता है ।”

(इस शास्त्रोक्त अर्थ के अनुसार) आधाकर्म आहार का सेवन करनेवाले शाक्य भिक्षु आदि परतीर्थी तथा स्वयूधिक लोग, साधु तथा गृहस्थ इन दोनों पक्षों का सेवन करते हैं, यह सूत्रार्थ है ॥१॥



- इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह -

- सुख का अन्वेषण करनेवाले इन आधाकर्म आहार सेवन करनेवाले पुरुषों को जो कटु फल प्राप्त होता है । उसे प्रकट करने के लिए शास्त्रकार दो श्लोकों के द्वारा दृष्टान्त बताते हैं -

तमेव अविद्याणंता, विसमंसि अकोविया ।

मच्छा वेसालिया चेव उदगस्सऽभियागमे

॥२॥

उदगस्स पभावेण, सुखंसिग्घं तमिति उ ।

ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही

॥३॥

छाया - तमेवाविद्यानन्तो विषमे ऽकोविदाः । मत्स्याः वैशालिकाश्चैवोदकस्याभ्यागमे ॥

उदकस्य प्रभावेण शुष्कं घन्तमेत्यतु । ढङ्केश्व कङ्केश्वामिषार्थिभिस्ते दुःखिनः ॥

1. आधाकर्म भुञ्जानः श्रमणः कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति ? गौतम ! अष्ट कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, शिथिलबन्धनबद्धा गाढबन्धनबद्धाः करोति, चिताः करोति, उपचिताः करोति ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः करोति । 2. सुखंसि घन्तमेति तु ।

व्याकरण - (तं) कर्म (एव) अव्यय (अवियाणंता) आधाकर्म आहार खानेवाले का विशेषण (विसमंसि) अधिकरण (अकोविया) आधाकर्म आहार खानेवाले का विशेषण (मच्छा) उपमान कर्ता (वेसालिया) मत्स्य का विशेषण (उदगस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (अभियागमे) भाव लक्षण सप्तम्यन्त पद (पभावेण) करण (सुखं सिग्धं) कर्म विशेषण (ढंकेहि कंकेहि) हेतु तृतीयान्त (आमिसत्थेहिं) ढंक कङ्क का विशेषण (ते दुही) वैशालिकमत्स्य के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (तमेव) उस आधाकर्म आदि आहार के दोषों को (अवियाणंता) नहीं जानते हुए तथा (विसमंसि अकोविया) संसार अथवा अष्टविध कर्म के ज्ञान में अनिपुण वे अन्यतीर्थी (उदगस्सऽभियागमे) जल की बाढ़ आने पर (वेसालिया मच्छा चैव) वैशालिक मत्स्य की तरह दुःखी होते हैं (उदगस्स पभावेण) जल के प्रभाव से (सुखं सिग्धं) सूखे हुए तथा गीले स्थान को (तमिति उ) प्राप्त कर के जैसे वैशालिक मत्स्य (आमिसत्थेहिं) मांसार्थी (ढंकेहि कंकेहि) ढंक और कङ्क के द्वारा (दुही) दुःखी होते हैं । (उसी तरह आधाकर्म आहार सेवन करनेवाले दुःखी होते हैं ।)

भावार्थ - आधा कर्म आहार के दोषों को न जाननेवाले एवं चतुर्गतिक संसार तथा अष्टविध कर्म के ज्ञान में अकुशल आधाकर्म आहार खानेवाले पुरुष इस प्रकार दुःखी होते हैं, जैसे जल की बाढ़ आने पर जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान पर गयी हुई विशाल जातिवाली मछली माँसाहारी ढङ्क और कंक आदि के द्वारा दुःखी की जाती है ।

टीका - तमेवाधाकर्मोपभोगदोषमजानानाः विषमः- अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्नकोविदाः, कथमेष कर्मबन्धो भवति ? कथं वा न भवति ? केनोपायेन संसारार्णवस्तीर्य्यत इत्यत्राकुशलाः, तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिताः दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह- यथा मत्स्याः पृथुरोमाणो विशालः- समुद्रस्तत्र भवाः वैशालिकाः विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव [वा] वैशालिकाः- बृहच्छरीरास्ते एवं भूताः महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेला (यामागता) यां सत्यां प्रबलमरुद्देगोद्धूतोत्तुङ्गकल्लोलमालाऽपनुत्राः सन्त उदकस्य प्रभावेन नदीमुखमागताः पुनर्वेलाऽपगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते सति बृहत्त्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त, आमिषगृध्नुभिर्दङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमानाः महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाः घातं विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे, त्राणाभावाद्धिनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥२॥३॥

टीकार्थ - आधाकर्म आहार सेवन के उस दोष को न जाननेवाले, तथा कोटि भव के द्वारा भी जिनसे मुक्ति पाना कठिन है, ऐसे आठ प्रकार के कर्म बन्धनों को जानने में अनिपुण अथवा चतुर्गतिक संसार के ज्ञान में अप्रवीण, एवं यह कर्मबन्ध कैसे होता है ? और कैसे नहीं होता ? तथा इस संसार सागर को कैसे पार किया जा सकता है ? इस विषय के ज्ञान में अकुशल वे पुरुष कर्म पाश में बँधे हुए इसी संसार सागर में दुःख पाते रहते हैं। इस विषय में शास्त्रकार दृष्टान्त देते हैं- जैसे बड़ी रोमवाली समुद्र में उत्पन्न अथवा विशाल नामक विशिष्ट जाति में उत्पन्न मछली अथवा बृहत् शरीरवाली मच्छली समुद्र के तरङ्ग आने पर वेगवान् पवन के द्वारा टकराई हुई ऊँची तरङ्गों की माला (समूह) से ताड़ित होकर नदी के तट पर चली जाती है और उस तरङ्ग के हट जाने पर वह जल, जब शीघ्र ही सूख जाता है, तब वह मच्छली बृहत् शरीर होने के कारण उस नदी के तट पर ही पड़ी हुई, माँस लोभी ढङ्क, कङ्क एवं दूसरे चर्बी और माँस लोभी मनुष्यों के द्वारा जीवित ही काटी जाती है और वह रक्षक रहित होकर दुःख पाती हुई मृत्यु को प्राप्त होती है । यहाँ 'तु' शब्द एवकारार्थक है इसलिए रक्षक न होने से वह नाश को ही प्राप्त होती है, यह दो गाथाओं का अर्थ है ॥२॥३॥



- एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह -

- इस प्रकार दृष्टान्त बताकर अब दार्ष्टान्त में योजना करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं

एवं तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।

मच्छा वेसालिया चैव, घातमेस्सन्ति णंतसो

॥४॥

छाया - एवं तु श्रमणा एके वर्तमानसुखेषिणः । मत्स्याः वैशालिकाश्चैव घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥

व्याकरण - (एवं, तु) अव्यय (वट्टमाणसुहेसिणो) (एगे) श्रमण के विशेषण (वेसालिया) मत्स्य का विशेषण (मच्छा) उपमान कर्ता (समणा) कर्ता (च, इव) अव्यय (णंतसो) अव्यय (घातं) कर्म (एस्संति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एवं तु) इस प्रकार (वट्टमाणसुहेसिणो) वर्तमान सुख की इच्छा करनेवाले (एगे समणा) कोई श्रमण (वेसालिया मच्छा) चैव वैशालिक मत्स्य के समान (णंतसो) अनन्तबार (घातमेस्संति) घात को प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ - इसी तरह वर्तमान सुख की इच्छा करनेवाले कोई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार घात को प्राप्त होंगे ।

टीका - यथैतेऽनन्तरोक्ताः मत्स्यास्तथा श्रमणाः श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा किम्भूतास्ते इति दर्शयति-वर्तमानमेव सुखमाधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शीलं येषां ते वर्तमानसुखैषिणः समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवाः, वैशालिकमत्स्या इव घातं विनाशम् एष्यन्ति अनुभविष्यन्ति अनन्तशोऽरहदृष्टीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वाणाः न ते संसाराम्बोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥४॥

टीकार्थ - जैसे पूर्वोक्त वैशालिक मत्स्य घात को प्राप्त होता है, इसी तरह शाक्य पाशुपत आदि अथवा कोई स्वयूथिक श्रमण घात को प्राप्त करते हैं । जो तपस्या करता है अथवा परिश्रम करता है, उसे 'श्रमण' कहते हैं । ये शाक्य पाशुपत आदि तथा स्वयूथिक कैसे हैं ? यह सूत्रकार दिखलाते हैं । वर्तमान काल में ही जो सुख दे, ऐसे आधाकर्म आहार के सेवन से उत्पन्न सुख का वे अन्वेषण करते हैं । जैसे समुद्र का काक तात्कालिक सुख में आसक्त रहता है । इसी तरह शाक्य और पाशुपत आदि भी तात्कालिक अल्प सुख में आसक्त रहते हैं । वे बिना विचारे आधाकर्म आहार का उपभोग करके उसके फलस्वरूप अति कटुक दुःख समूह को भोगते हैं । वे पूर्वोक्त वैशालिक मत्स्य के समान घात को प्राप्त होंगे । जैसे अरहट यन्त्र बार-बार कूप में डूबता और तैरता रहता है, उसी तरह वे भी संसार सागर में बार-बार डूबते और उतराते रहेंगे । वे कभी भी संसार सागर को पार नहीं कर सकेंगे । यह सूत्रार्थ है ॥४॥



- साम्प्रतमपराज्ञाभिमतोपप्रदर्शनायाह -

- अब सूत्रकार दूसरे अज्ञानियों का मत प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं -

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं । देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

छाया - इदमव्यक्त्यज्ञानमिहैकेषामारख्यातम् । देवोप्पोऽयं लोकः ब्रह्मोप्प इत्यपरे ॥

व्याकरण - (इणं) सर्वनाम, अज्ञान का विशेषण (अन्नं) अज्ञान का विशेषण (तु) अव्यय (अन्नाणं) कर्ता (इह) अधिकरण शक्तिप्रधान अव्यय (एगेसि) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) अज्ञान का विशेषण (अयं) लोक का विशेषण सर्वनाम (देवउत्ते) लोक का विशेषण (लोए) आक्षिप्त अस्ति क्रिया का कर्ता (बंभउत्ते) लोक का विशेषण (इति) अव्यय (आवरे) अक्षिप्त कथन क्रिया का कर्ता ।

अन्वयार्थ - (इणं) यह (अन्नं तु) दूसरा (अन्नाणं) अज्ञान है (इह) इस लोक में (एगेसि) किन्हीने (आहियं) कहा है कि (अयं) यह (लोए) लोक (देवउत्ते) किसी देव के द्वारा उत्पन्न किया गया है (आवरे) और दूसरे कहते हैं कि- (बंभउत्तेति) यह लोक ब्रह्मा का किया हुआ है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त अज्ञान के सिवाय दूसरा एक अज्ञान यह भी है- कोई कहते हैं कि- "यह लोक किसी देवता द्वारा बनाया गया है" और दूसरे कहते हैं कि- "ब्रह्मा ने यह लोक बनाया है ।"

टीका - इदमिति वक्ष्यमाणं, 'तु' शब्दः पूर्वेष्वो विशेषणार्थः । अज्ञानमिति मोहविजृम्भणम्-इह अस्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषाम् आख्यातम् अभिप्रायः, किं पुनस्तदाख्यातमिति ? तदाह- देवेनोप्पो देवोप्पोः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः । देवैर्वा गुप्तो-रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति । तथा ब्रह्मणा उप्पो ब्रह्मोप्पोऽयं लोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः । तथा हि तेषामयमभ्युपगमः- ब्रह्मा जगत्पितामहः, स चैक

एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति ॥५॥

टीकार्थ - यहाँ इदम् शब्द से आगे कहा जानेवाला मत समझना चाहिए । 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतों से इस मत की विशेषता बताने के लिए है । अर्थात् पूर्वोक्त मतों से भिन्न यह आगे कहा जानेवाला मत भी अज्ञान अर्थात् मोह का ही प्रभाव है । इस लोक में सबका नहीं किन्तु किन्हीं का यह कथन है । वह कथन क्या है? सो सूत्रकार बतलाते हैं- जैसे किसान बीज बोकर धान्य उत्पन्न करता है, इसी तरह किसी देवता ने इस लोक को उत्पन्न किया है । अथवा कोई देवता इस लोक की रक्षा करता है । अथवा यह लोक किसी देवता का पुत्र है इत्यादि । यह सब अज्ञान का प्रभाव समझना चाहिए । तथा दूसरे कहते हैं कि- यह लोक ब्रह्मा के द्वारा किया गया है । उनकी मान्यता यह है कि- "ब्रह्मा जगत् के पितामह हैं । वह, जगत् के आदि में एक ही थे । उन्होंने प्रजापतियों को बनाया और प्रजापतियों ने क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया ॥५॥

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे । जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुखसमन्नि ॥६॥

छाया - ईश्वरेण कृतो लोकः प्रधानादिना तथाऽपरे । जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः ॥

व्याकरण - (लोए) आक्षिप्त अस्ति क्रिया का कर्ता (ईसरेण) उत्पत्ति क्रिया का कर्ता (कडे) लोक का विशेषण (तहा) अव्यय (आवरे) कर्ता (पहाणाइ) कर्ता (जीवाजीव समाउत्ते, सुहदुखसमन्नि) लोक के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (जीवाजीवसमाउत्ते) जीव और अजीव से युक्त (सुहदुखसमन्नि) सुख और दुःख के सहित (लोए) यह लोक (ईसरेण कडे) ईश्वर कृत है, ऐसा कोई कहते हैं (तहावरे) तथा दूसरे कहते हैं कि यह लोक (पहाणाइ) प्रधानादि कृत है ।

भावार्थ - ईश्वरकारणवादी, कहते हैं कि जीव, अजीव, सुख तथा दुःख से युक्त यह लोक ईश्वर कृत है और साङ्ख्यवादी कहते हैं कि यह लोक प्रधानादि कृत है ।

टीका - तथेश्वरेण कृतोऽयं लोक एवमेके ईश्वरकारणिका अभिदधति, प्रमाणयन्ति च ते- सर्वमिदं विमत्यधिकरण-भावापन्नं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमितिसाध्यो धर्मः, संस्थानविशेषत्वादिति हेतुः। यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं यद्यत्संस्थानविशेषवत्तत्तद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं दृष्टं यथा देवकुलकूपादीनि । संस्थानविशेषवच्च मकराकरनदीधराधरधराशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति, तस्माद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति । तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, कार्यत्वाद् घटादिवत् । तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वा, वास्यादिवदिति । तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा- प्रधानादिकृतो लोकः, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सा च पुरुषार्थं प्रति प्रवर्तते । आदिग्रहणाच्च "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशकस्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चतन्मात्रा पञ्चतन्मात्राभ्यः पञ्चभूतानी" त्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति । यदि वा आदिग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, ततश्चायमर्थः स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादितैक्ष्ण्यवत् । तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको 'जीवाजीवसमायुक्तो जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथाऽजीवैः- धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिक इति । पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह सुखमानन्दरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ॥६॥ किञ्च-

टीकार्थ - ईश्वर को जगत् का कर्ता माननेवाले दार्शनिक कहते हैं कि यह लोक ईश्वर का किया हुआ है। वे इस विषय को प्रमाणित करने के लिए कहते हैं कि शरीर, भुवन और इन्द्रिय आदि के विषय में भिन्न-भिन्न मत वादियों का भिन्न-भिन्न मत है । इसलिए ये सब विवाद के स्थान हैं । ये विवाद के स्थान शरीर, भुवन और इन्द्रिय आदि (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा किये हुए हैं । (साध्य) क्योंकि इनकी अवयव रचना, विशेष प्रकार की है । (हेतु) जिस-जिस वस्तु की अवयव रचना, विशेष प्रकार की होती है । वह वह वस्तु किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा ही की हुई होती है । जैसे घट आदि तथा देवकुल और कूप आदि विशेष अवयव रचनावाले होने के कारण किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा ही किये हुए हैं, इसी तरह विवाद के स्थान समुद्र, नदी, पर्वत, पृथिवी और शरीर आदि भी विशेष अवयव रचनावाले होने के कारण किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा ही किये हुए हैं । जो इस

समस्त जगत्का कर्ता है, वह साधारण पुरुष नहीं हो सकता, अतः वह ईश्वर है ।¹ तथा शरीर, भुवन और इन्द्रिय आदि, किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा कृत हैं, क्योंकि घट आदि के समान ये कार्य हैं ।² तथा शरीर और इन्द्रिय आदि किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा किये हुए हैं, क्योंकि ये बँसूला आदि के समान स्थित होकर कार्य में प्रवृत्त होते हैं ।³ तथा दूसरे वादी अर्थात् साङ्ख्यमतवाले कहते हैं कि- यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा किया गया है । सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं । वह प्रकृति पुरुष यानी आत्मा के भोग और मोक्ष के लिए क्रिया में प्रवृत्त होती है । यहाँ आदि शब्द से यह जानना चाहिए कि- “उस प्रकृति से महान् अर्थात् बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से सोलह पदार्थों का गण उत्पन्न होता है । उन गणों में से पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, इस क्रम से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है ।⁴ अथवा यहाँ आदि शब्द से स्वभाव आदि का ग्रहण है । इसलिए इसका यह अर्थ है कि- जैसे कण्टक

1. यहाँ टीकाकार ने ईश्वरकारणवादियों की ओर से ईश्वर सिद्धि के लिए तीन हेतु बताये हैं । इनमें पहला हेतु यह है कि- पृथ्वी, समुद्र और पर्वत आदि की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की देखी जाती है, इससे प्रतीत होता है कि किसी बुद्धिमान् कर्ता ने सोच समझकर भिन्न-भिन्न आकारों में इन्हें बनाया है । जैसे घट, देवकुल और कूप आदि के आकार भिन्न-भिन्न हैं । अतः वे बुद्धिमान् कर्ता द्वारा भिन्न-भिन्न आकार में बनाये गये हैं, इसी तरह पृथिवी, समुद्र और पर्वत आदि यह समस्त जगत् भी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा भिन्न-भिन्न आकारों में उत्पन्न किये गये हैं । इस प्रकार कोई पुरुष विशेष जगत् का कर्ता सिद्ध होता है । वह पुरुष विशेष हम लोगों के समान साधारण पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण पुरुष को इन वस्तुओं की रचना का ज्ञान संभव नहीं है । अतः इनकी रचना करनेवाला सांसारिक जीवों से विलक्षण कोई पुरुष विशेष अवश्य मानना चाहिए । वह पुरुष ईश्वर है ।
2. दूसरा हेतु यह है कि पृथ्वी समुद्र और पर्वत आदि कार्य हैं, इसलिए इनका कर्ता कोई अवश्य है, क्योंकि कार्य बिना कर्ता के नहीं हो सकता है । जैसे घट आदि कार्य कुम्हार के बिना नहीं होते । इसी तरह यह पृथिवी, समुद्र और पर्वत आदि कार्य भी किसी कर्ता के बिना नहीं हो सकते हैं । अतः इनका कर्ता कोई अवश्य है । वह कर्ता साधारण पुरुष नहीं हो सकता है इसलिए वह ईश्वर है । यह उन-उन मतवादियों का स्वरूप बताया है ।
3. तीसरा हेतु यह है कि जैसे बँसूला अपने आप कोई कार्य नहीं करता है, किन्तु कारीगर जब चाहता है तब उसके द्वारा काम लेता है । इसी तरह पृथिवी, समुद्र और पर्वत आदि अपने आप कोई कार्य नहीं करते, किन्तु मनुष्य आदि प्राणी जब चाहते हैं तब इनसे काम लेते हैं । अतः जैसे बँसूला पराधीन प्रवृत्तिवाला होने के कारण किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है । इसी तरह पराधीन प्रवृत्तिवाले होने के कारण पृथिवी आदि भी किसी के किये हुए हैं । जिसने इन्हें किया है, वह ईश्वर है ।
4. साङ्ख्यवादी का कहना है कि इस जगत् के मूलकारण सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं । इन्हीं गुणों से यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है । अत एव यह सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है । इस जगत् में जितने पदार्थ पाये जाते हैं, सभी में इन तीन गुणों की सत्ता देखी जाती है । दृष्टान्त के लिए जैसे- एक सुन्दर स्त्री है । उस स्त्री में सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण पाये जाते हैं, क्योंकि वह स्त्री अपने पति को सुख उत्पन्न कराती है । सुख उत्पन्न कराना सत्त्वगुण का कार्य है । अतः उस स्त्री में सत्त्वगुण का अस्तित्व पाया जाता है । तथा वह स्त्री अपनी सौत को दुःख उत्पन्न कराती है, इसलिए उसमें रजोगुण का सद्भाव भी है, क्योंकि दुःख उत्पन्न कराना रजोगुण का कार्य है । तथा वह स्त्री कामी पुरुषों को मोह उत्पन्न कराती है, इसलिए उसमें तमोगुण भी विद्यमान है, क्योंकि मोह उत्पन्न कराना तमोगुण का कार्य है । इसी तरह संसार के सभी पदार्थ सुख-दुःख तथा मोह उत्पन्न करते हैं । इसलिए सभी पदार्थ सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने हैं । यह सिद्ध होता है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे इस विश्व को उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु उस प्रकृति से पहले बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है और अहङ्कार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं । और सोलह गणों में जो पंचतन्मात्राये हैं, उनसे पृथिव्यादि पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । इस क्रम से इस समस्त विश्व को वह प्रकृति उत्पन्न करती है । यह साङ्ख्यवादियों का कथन है- जैसे कि ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में लिखा है कि “मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त षोडशकस्तुविकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः” अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन गुणों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं । वह प्रकृति किसी से भी उत्पन्न नहीं है, किन्तु नित्य है, इसलिए वह अविकृति है अर्थात् वह किसी भी तत्त्व का विकार नहीं है । तथा महत्, अहङ्कार एवं गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा ये सात पदार्थ, दूसरे तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं । इसलिए प्रकृति भी है और ये स्वयं दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न है, इसलिए ये विकृति भी है । तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व के उत्पादक नहीं हैं, इसलिए ये किसी भी तत्त्व के प्रकृति नहीं हैं, बल्कि ये स्वयं दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए ये विकृति हैं । इन सबों से भिन्न पुरुष तत्त्व न तो किसी की प्रकृति (कारण) है और न किसी की विकृति (कार्य) है । यही ईश्वर कृष्ण की कारिका का अर्थ है । इसमें साङ्ख्यसम्मत २५ तत्त्वों का संक्षेप से स्वरूप बतलाया है । और प्रकृति के द्वारा महदादि क्रम से सृष्टि होना स्पष्ट कहा है । यही यहाँ टीकाकार ने संक्षेप से लिखा है । अतः टीकाकार की इस उक्ति में यह कारिका प्रमाण समझनी चाहिए ।

की तीक्ष्णता स्वभाव कृत है। उसी तरह यह समस्त जगत् स्वभाव कृत है, किसी कर्ता द्वारा किया हुआ नहीं है। तथा दूसरे लोग कहते हैं कि जैसे मयूर के रोम नियति वश चित्रित होते हैं, इसी तरह यह समस्त विश्व नियति से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पूर्वोक्त ईश्वरादि कारणों से उत्पन्न यह लोक जीव और अजीव से भरा हुआ है, अर्थात् समुद्र और पर्वतादि स्वरूप यह समस्त लोक, उपयोग स्वरूप जीव और धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल आदि स्वरूप अजीवों से परिपूर्ण है। फिर भी शास्त्रकार लोक का विशेषण बताने के लिए कहते हैं कि— आनन्दरूप सुख और असाता का उदयरूप दुःख इन दोनों से यह समस्त लोक परिपूर्ण है ॥६॥



सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा ।

मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए

॥७॥

छाया - स्वयम्भुवा कृतो लोक इत्युक्तं महर्षिणा । मारेण संस्तुता माया तेन लोकोऽशाश्वतः ॥

व्याकरण - (सयंभुणा) कर्तृ तृतीयान्त (कडे) प्रथमान्त लोक का विशेषण (लोए) करण क्रिया का कर्म और अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (इति) अव्यय (वुत्तं) क्रिया (महेसिणा) वुत्तं का कर्ता (मारेण) कर्तृ तृतीयान्त (संथुया) माया का विशेषण (माया) उत्पत्ति क्रिया का कर्म (तेण) हेतु तृतीयान्त पद (लोए) अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (असासए) लोक का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (सयंभुणा) स्वयम्भु ने (लोए) लोक को (कडे) किया है (इति) यह (महेसिणा) हमारे महर्षि ने (वुत्तं) कहा है (मारेण) यमराज ने (माया) माया (संथुया) रची है (तेण) इस कारण (लोए) लोक (असासए) अनित्य है ।

भावार्थ - कोई अन्यतीर्थी कहते हैं कि विष्णु ने इस लोक को रचा है, यह हमारे महर्षि ने कहा है । यमराज ने माया बनायी है । इसलिए यह लोक अनित्य है ।

टीका - 'सयंभुणा' इत्यादि, स्वयं भवतीति स्वयम्भूः विष्णुरन्यो वा । स चैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदिति एवं महर्षिणा उक्तम् अभिहितम् । एवं वादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः । अपि च तेन स्वयम्भुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया, तथा च मायया लोकाः प्रियन्ते । न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति, अतो मायैषा यथाऽयं मृतः । तथाचाऽयं लोकोऽशाश्वतः अनित्यो विनाशीति गम्यते ॥७॥

टीकार्थ - जो अपने आप होता है, उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं । वह विष्णु हैं अथवा वह दूसरा कोई है। वे पहले एक ही थे और एक ही रमण करते थे । उन्होंने दूसरे की इच्छा की । उनकी चिन्ता के बाद ही दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई और वह शक्ति होने के बाद ही यह जगत् की सृष्टि उत्पन्न हुई । ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है । इस प्रकार लोक की उत्पत्ति माननेवाले वादी, लोक का कर्ता स्वीकार करते हैं । फिर वे कहते हैं कि उस स्वयम्भू ने लोक को उत्पन्न कर अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारनेवाला मार अर्थात् यमराज को बनाया उस यमराज ने माया बनायी, उस माया से लोग मरते हैं । वस्तुतः उपयोग रूप जीव का विनाश नहीं होता है इसलिए "यह मर गया" यह बात माया ही है, परमार्थतः सत्य नहीं है । इस प्रकार यह लोक अशाश्वत-अनित्य अर्थात् विनाशी है, यह प्रतीत होता है ॥७॥



- अपि च -

- और भी -

माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।

असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे

॥८॥

छाया - ब्राह्मणाः श्रमणा एके आहुरण्डकृतं जगत् । असौ तत्त्वमकार्षीच्छाज्जानन्तो मृषा वदन्ति ॥

व्याकरण - (एगे) ब्राह्मण और श्रमण का विशेषण (माहणा) (समणा) (आह) क्रिया का कर्ता (जगे) कर्म (अंडकडे) जगत् का विशेषण (असो) अकार्षीत् क्रिया का कर्ता (तत्तं) कर्म (अकासी) क्रिया (य) अव्यय (अयाणंता) उक्तमतवादी का विशेषण, कर्ता (मुसं) कर्म (वदे) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (एगे) कोई (माहणा समणा) ब्राह्मण और श्रमण (जगे) जगत् को (अंडकडे) अंडे से किया हुआ (आह) कहते हैं (असो) उस (ब्रह्मा) ने (तत्तं) पदार्थ समूह को (अकासी) बनाया (अयाणंता) वस्तुतत्त्व को न जाननेवाले वे (मुसं) झुठ ही (वदे) ऐसा कहते हैं ।

भावार्थ - कोई ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह जगत् अण्डे से किया हुआ है । तथा वे कहते हैं कि ब्रह्मा ने तत्त्व समूह को बनाया । वस्तुतः वे अज्ञानी वस्तुतत्त्व को न जानते हुए मिथ्या ही ऐसा कहते हैं ।

टीका - ब्राह्मणा धिग्जातयः श्रमणाः त्रिदण्डिप्रभृतयः 'एके' केचन पौराणिका न सर्वे, एवम्, 'आहु'-रुक्तवन्तो, वदन्ति च यथा- जगदेतच्चराचरमण्डेन कृतमण्डकृतमण्डाज्जातमित्यर्थः । तथाहि ते वदन्ति यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसारस्तदा ब्रह्माऽप्सु अण्डमसृजत् तस्माच्च क्रमेण वृद्धात् पश्चाद् द्विधाभाव-मुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत् । तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरसंनिवेशादि-संस्थितिरभूदिति । तथा चोक्तम्-

“आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमित् सर्वतः ॥१॥”

एवम्भूते चाऽस्मिन् जगति असौ ब्रह्मा, तस्य भावस्तत्त्वं पदार्थजातं तदण्डादिक्रमेण अकार्षीत् कृतवान् इति । ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्त एवं वदन्ति- अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा वदन्तीत्यर्थः ॥८॥

टीकार्थ - ब्राह्मण अर्थात् धिग्जाति तथा त्रिदण्डी आदि श्रमण एवं सब नहीं किन्तु कोई-कोई पौराणिक कहते हैं कि यह चराचर जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है । वे कहते हैं कि- जिस समय इस जगत् में कुछ भी नहीं था किन्तु यह संसार पदार्थ से शून्य था, उस समय ब्रह्मा ने जल में एक अण्डा उत्पन्न किया । वह अण्डा क्रमशः बढ़ता हुआ जब दो खण्डों में फट गया, तब उससे ऊपर और नीचे के दो विभाग उत्पन्न हुए । उन दोनों विभागों में सब प्रजायें उत्पन्न हुई । इसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, समुद्र, नदी और पर्वत आदि की उत्पत्ति हुई। तथा उन्होंने कहा है-

(आसीदिदम्) अर्थात् सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकार रूप, अज्ञात और लक्षण रहित था । उस समय यह जगत् तर्क का अविषय तथा अज्ञेय और चारों ओर से सीया हुआ-सा था।

ऐसी अवस्था में ब्रह्मा ने अण्डा आदि के क्रम से इस समस्त जगत् को बनाया । इस प्रकार परमार्थ को न जानने वाले वे ब्राह्मण आदि झुठ ही इस जगत् को ब्रह्मा से किया हुआ बतलाते हैं । वस्तुतत्त्व तो ओर तरह का है, परन्तु वे उसे ओर तरह का बतलाते हैं । यह इस गाथा का अर्थ है ॥९॥



- अधुनैतेषां देवोसादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाऽऽह -

- अब सूत्रकार, जगत् को देवता द्वारा किया हुआ आदि सिद्धान्तों को माननेवाले दार्शनिकों को उत्तर देने के लिए कहते हैं -

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य ।

तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि

॥९॥

छाया - स्वकैः पर्यायेर्लोकमब्रुवन् कृतमिति च । तत्त्वं ते न विजानन्ति न विनाशी कदाचिदपि ॥

व्याकरण - (सएहिं) पर्याय का विशेषण (परियाएहिं) हेतु तृतीयान्त (लोयं) कर्म (बूया) क्रिया (कडे) लोक का विशेषण (इति य) अव्यय (तत्तं) कर्म (ते) कर्ता का विशेषण सर्वनाम (ण) अव्यय (विजाणंति) क्रिया (ण) अव्यय (कयाइवि) अव्यय (विणासी) लोक का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (सएहिं) अपने (परियाएहिं) अभिप्राय से (लोयं) लोक को (कडेति य) किया हुआ (बूया) वे बताते हैं (ते) वे (तत्तं) वस्तुतत्त्व को (ण विजाणंति) नहीं जानते हैं (कयाइवि) कभी भी (ण विणासी) यह जगत् विनाशी नहीं है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त देवोसादिवादी अपनी इच्छा से जगत् को किया हुआ बतलाते हैं । वे वस्तु स्वरूप को नहीं जानते हैं, क्योंकि यह जगत् कभी भी विनाशी नहीं है ।

टीका - स्वकैः स्वकीयैः पय्ययैरभिप्रायैर्युक्तिविशेषैरयं लोकः कृत इत्येवमब्रुवन् अभिहितवन्तः । तद्यथा देवोसो ब्रह्मोस ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते तथाण्डजश्चायं लोक इत्यादि । स्वकीयाभिरुपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति । ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि तत्त्वं परमार्थं यथावस्थितलोकस्वभावं नाभि (न वि) जानन्ति न सम्यग् विवेचयन्ति- यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति-निर्मूलतः कदाचन । न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते, अपि त्वयं लोकोऽभूद्वति भविष्यति च । तथाहि-तत्तावदुक्तं यथा 'देवोसोऽयं लोक' इति, तदसङ्गतम् । यतो देवोसत्वे लोकस्य न किञ्चित्थाविधं प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकमुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति । अपि च- किमसौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत् ? न तावदनुत्पन्नस्तस्य खरविषाणस्येवासत्त्वात्करणाभावः । अथोत्पन्नः सृजेत् तत्किं स्वतोऽन्यतो वा ? यदि स्वत एवोत्पन्न-स्तथासति तल्लोकस्यापि स्वत एवोत्पत्तिः किं नेष्यते ? अथान्यत उत्पन्नः सन् लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यतः सोऽप्यन्योऽन्यत इत्येवमनवस्थालता नभोमण्डलव्यापिन्यनिवारितप्रसरा प्रसर्पतीति । अथाऽसौ देवोऽनादित्वात्तत्रोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवं सति लोकोऽप्यनादिरेवास्तु, को दोषः ? किं च- असावनादिः सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? यदि नित्यस्तदा तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न कर्तृत्वम्, अथाऽनित्यस्तथा सति स्वत एवोत्पत्त्यनन्तरं विनाशि-त्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणं प्रति तस्य व्यापारचिन्तेति ? तथा किममूर्तो मूर्तिमान् वा ? यद्यमूर्तस्तदा ऽऽकाशवदकर्तृत्वं । अथ मूर्तिमान्, तथा सति प्राकृतपुरुषस्येवोपकरणसव्यपेक्षस्य स्पष्टमेव सर्वजगदकर्तृत्वमिति । देवगुप्तदेवपुत्रपक्षौ त्वतिफल्युत्वादपकर्णयितव्याविति । एतदेव दूषणं ब्रह्मोसपक्षेऽपि द्रष्टव्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । तथा यदुक्तं- 'तनुभुवनकरणादिकं विमत्यधिकरणभावापन्नं विशिष्टबुद्धिमत्कारणपूर्वकं, कार्यत्वाद्, घटादिवदिति, तदयुक्तं, तथाविधविशिष्टकारणपूर्वकत्वेन व्याप्यसिद्धेः, कारणपूर्वकत्वमात्रेण तु कार्यं व्याप्तं, कार्यविशेषोपलब्धौ कारणविशेषप्रतिपत्तिर्गृहीतप्रतिबन्धस्यैव भवति, न चात्यन्तादृष्टे तथा प्रतीतिर्भवति । घटे तत्पूर्वकत्वं प्रतिपन्नमिति चेद् युक्तं तत्र घटस्य कार्यविशेषत्वप्रतिपत्तेः, न त्वेवं सरित्समुद्रपर्वतादौ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीत इति । नन्वत एव घटादिसंस्थानविशेषदर्शनवत् पर्वतादावपि विशिष्टसंस्थानदर्शनाद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य साधनं क्रियते, नैतदेवं युक्तं, यतो नहि संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वावगतिर्भवति, यदि तु स्याद् मृद्विकारत्वाद्बलमीकस्याऽपि घटवत् कुम्भकारकृतिः स्यात्, तथा चोक्तम्-

“अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित् । घटादेः कर्णात्सिद्धयेद् बलमीकस्याऽपि तत्कृतिः ॥१॥”

इति, तदेवं यस्यैव संस्थानविशेषस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीतस्तद्दर्शनमेव तथाविधकारणानु-मापकं भवति न संस्थानमात्रमिति । अपि च- घटादिसंस्थानानां कुम्भकार एव विशिष्टः कर्तोपलक्ष्यते नेश्वरः यदि पुनरीश्वरः स्यात् किं कुम्भकारेणेति ? नैतदस्ति, तत्राऽपीश्वर एव सर्वव्यापितया निमित्तकारणत्वेन व्याप्रियते, नन्वेवं दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यात् । तथा चोक्तम् -

“शस्त्रीषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे । असम्बद्धस्य किं स्थाणोः” कारणत्वं न कल्प्यते ? ॥१॥

तदेवं दृष्टकारणपरित्यागेनादृष्टपरिकल्पना न न्याय्येति । अपि च- देवकुलावटादीनां यः कर्ता स सावयवो-ऽव्याप्यनित्यो दृष्टः, तद्दृष्टान्तसाधितश्चेश्वर एवभूत एव प्राप्नोति, अन्यथाभूतस्य च दृष्टान्ताभावाद् व्याप्यसिद्धेर्नानु-मानमिति । अनयैव दिशा “स्थित्वा प्रवृत्त्यादिकमपि” साधनमसाधनमायोज्यं तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । यदपि चोक्तं “प्रधानादिकृतोऽयं लोक” इति तदप्यसङ्गतं, यतस्तत्प्रधानं किं मूर्तममूर्तं वा ? यद्यमूर्तं न ततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते, नह्याकाशात्किञ्चिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते, मूर्तामूर्तयोः कार्यकारणविरोधादिति । अथ मूर्तं तत्कुतः समुत्पन्नं ? न

तावत्स्वतो, लोकस्याऽपि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति । यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यादिभावेनाऽऽस्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते ? अपि च - सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, न चाविकृतात्प्रधानान्महदादे-
रुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः, न च विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति । अपि च- अचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिः ? येनाऽत्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति, तत एव च लोकोऽप्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति ?, अथादिग्रहणात् स्वभावस्याऽपि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु, न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षतिमातनोति। तथाहि- स्वो भावः स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थानामिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं “नियतिकृतोऽयं लोक” इति, तत्राऽपि नियमनं नियति र्यद्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते, सा चाऽऽलोच्यमाना न स्वभावादतिरिच्यते । यच्चाऽभ्युपगम्यमानो-
“स्वयम्भुवोत्पादितो लोक” इति, तदप्यसुन्दरमेव, यतः स्वयम्भूरिति किमुक्तम्भवति ? किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति, अथानादिभवनान्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते ?, तद्यदि स्वतन्त्रभवनोऽभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाऽभ्युपेयते ?, किं स्वयम्भुवा ?, अथाऽनादिस्ततस्तस्याऽनादित्वे नित्यत्वं, नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिः, तथा वीतरागत्वात्तस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः, अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता । मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति । यदपि चात्राऽभिहितम्- ‘तेन मारः समुत्पादितः, स च लोकं व्यापादयति’ तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति । तथा यदुक्तम्- “अण्डादिक्रमजोऽयं लोक” इति तदप्यसमीचीनं, यतो यास्वप्सु तदण्डं निसृष्टं ता यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद् बाधा दृश्यते । तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति ?, किमनया कष्टया युक्त्यसङ्गतया चाण्डपरिकल्पनया?, एवमस्त्विति चेत् तथा केचिदभिहितवन्तो यथा ब्रह्मणो मुखाद् ब्राह्मणाः समजायन्त बाहुभ्यां क्षत्रिया उरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति, तदप्ययुक्तिसङ्गतमेव, यतो न मुखादेः कस्यचिदुत्पत्तिर्भवन्त्युपलक्ष्यते । अथाऽपि स्यात्तथा सति वर्णानामभेदः स्याद्, एकस्मादुत्पत्तेः । तथा ब्राह्मणानां कठतैत्तिरीयककलापादिकश्च भेदो न स्याद्, एकस्मान्मुखादुत्पत्तेः। एवं चोपनयनादिसद्भावो न भवेद्, भावे वा स्वस्वादिग्रहणापत्तिः स्याद्, एवमाद्यनेकदोषदुष्टत्वादेवं लोकोत्पत्तिर्नाभ्युपगन्तव्या । ततश्च स्थितमेतत्- त एवंवादिनो लोकस्यानाद्यपर्यवसितस्योर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य, वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषाकृतेरधोमुखमल्लकाकारसप्तपृथिव्यात्मकाधोलोकस्य, स्थालाकारासंख्येयद्वीप-समुद्राधारमध्यलोकस्य, मल्लकसमुद्रकाकारोर्ध्वलोकस्य, धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकस्य, द्रव्यार्थतया नित्यस्य, पर्यायापेक्षया क्षणक्षयिणः, उत्पादव्ययध्रौव्यापादितद्रव्यसतत्त्वस्यानादिजीवकर्मसम्बन्धापादितानेकभवप्रपञ्चस्याष्टविधकर्म-विप्रमुक्ताऽऽत्मलोकान्तोपलक्षितस्य तत्त्वमजानानाः सन्तो मृषा वदन्तीति ॥९॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अपनी इच्छा से अर्थात् युक्तियों के द्वारा इस लोक को किया हुआ बतलाते हैं । कोई इसे देवकृत, कोई ब्रह्मकृत और कोई ईश्वरकृत कहते हैं । कोई इसे प्रधानादि कृत और कोई स्वयम्भू कृत कहते हैं । इस लोक को स्वयम्भू कृत कहनेवाले कहते हैं कि यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित माया से मरता है । तथा कोई इस लोक को अण्डा से उत्पन्न बतलाते हैं इत्यादि । ये लोग अपनी-अपनी युक्तियों के बल से कहते हैं कि यह हमारा कहा हुआ सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरा मत सत्य नहीं है । वस्तुतः पूर्वोक्त इन सिद्धान्तों को माननेवाले वादी, वस्तुतत्त्व को नहीं जानते हैं । इस लोक का यथार्थ स्वभाव क्या है ? यह वे अच्छी तरह विवेचना नहीं करते हैं । वस्तुतः यह लोक कभी भी एकान्त रूप से नष्ट नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदा स्थित रहता है । तथा यह लोक पहले-पहल किसी के द्वारा किया हुआ भी नहीं है, किन्तु यह लोक पहले भी था और इस समय भी है तथा भविष्य में भी रहेगा । तथापि देवोक्तवादियों ने जो इस लोक को देवकृत कहा है, वह सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि यह लोक देवकृत है । इस विषय में कोई उस तरह का प्रबल प्रमाण नहीं है और जो बात बिना प्रमाण की होती है । वह विद्वानों के चित्त को सन्तुष्ट नहीं कर सकती है । दूसरी बात यह है कि जिस देवता ने इस लोक को बनाया है, वह देवता स्वयं उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है

अथवा उत्पन्न हुए बिना ही बनाता है ? वह उत्पन्न हुए बिना इस लोक को नहीं बना सकता है, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं है, वह खरविषाण के समान स्वयमेव विद्यमान नहीं है । फिर वह दूसरे को उत्पन्न कैसे कर सकता है ? यदि वह देवता उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होता है अथवा किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जाता है ? । यदि कहो कि वह अपने आप ही उत्पन्न होता है तो इस लोक को भी अपने आप ही उत्पन्न क्यों नहीं मानते हो ? । यदि कहो कि वह देवता दूसरे से उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो वह दूसरा देवता भी किसी तीसरे देवता से उत्पन्न हुआ होगा और वह तीसरा देवता भी किसी चौथे देवता से उत्पन्न हुआ होगा । इस प्रकार अनवस्था दोष आता है । वह अनवस्था रूपी लता अनिवारित रूप से फैलती हुई समस्त आकाश को पूर्ण करेगी अतः सब का मूल कारण कोई सिद्ध न हो सकेगा । यदि कहो कि वह देवता अनादि होने के कारण उत्पन्न नहीं होता है, तो इसी तरह यह लोक ही अनादि क्यों न मान लिया जाय ? तथा जिस देव ने इस लोक को बनाया है, वह नित्य है अथवा अनित्य है ? यदि नित्य है तो अर्थ क्रिया के साथ विरोध होने के कारण वह न तो एक साथ क्रियाओं का कर्ता हो सकता है और न क्रमशः कर्ता हो सकता है । (आशय यह है कि जो पदार्थ नित्य है उसका स्वभाव नहीं बदलता है और स्वभाव बदले बिना पदार्थ से क्रियायें नहीं हो सकती हैं । अतः वह एक स्वभाववाला नित्य देव, न तो एक साथ क्रियाओं को कर सकता है और न क्रमशः कर सकता है । अतः वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता है ।) यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण वह अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नहीं है फिर वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापारचिन्ता क्या कर सकता है ? तथा जिस देव ने इस लोक को बनाया है वह मूर्तिमान् है अथवा अमूर्त है ? यदि वह अमूर्त है, तो आकाश की तरह वह अकर्ता ही है । यदि वह मूर्तिमान् है तो कार्य की उत्पत्ति करने के लिए साधारण पुरुष के समान वह भी उपकरणों की अपेक्षा करता है, ऐसी दशा में वह समस्त जगत् का कर्ता नहीं है, यह स्पष्ट है ।

“यह लोक देवगुप्त है अथवा देवपुत्र है” यह मत तो अति तुच्छ होने के कारण श्रवण करने योग्य भी नहीं है । यही दूषण ब्रह्मोप पक्ष में भी देना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मोप पक्ष भी देवगुप्त पक्ष के समान ही है ।”

तथा ईश्वरकारणवादियों ने जो यह कहा है कि- “नाना मतवादियों के नाना मत का स्थानभूत यह शरीर भुवन और इन्द्रिय, किसी विशिष्ट बुद्धिमान् के द्वारा रचित हैं, क्योंकि घट के समान ये कार्य हैं” यह अयुक्त है, क्योंकि किसी विशिष्ट कारण में कार्य की व्याप्ति गृहीत नहीं होती है, किन्तु कारण में कार्य की व्याप्ति गृहीत होती है । जो पुरुष यह जानता है कि अमुक कार्य अमुक व्यक्ति ही करता है, दूसरा नहीं कर सकता है, वह पुरुष उस कार्य को देखकर उसके कर्ता यानि उस विशिष्ट व्यक्ति का अनुमान कर सकता है परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृष्ट है, उसमें यह प्रतीति नहीं हो सकती । अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी भी किसी से नहीं देखा गया है, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता । यदि कहो कि घट को देखकर उसका कर्ता कुम्हार अनुमान किया जाता है और वह कुम्हार जैसे एक विशिष्ट जाति का पदार्थ है, इस तरह जगत् को देखकर उसका विशिष्ट कर्ता ईश्वर अनुमान किया जा सकता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि घट एक विशेष प्रकार का कार्य है और उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए घट को देखकर कुम्हार का अनुमान किया जा सकता है । परन्तु जगत् को देखकर ईश्वर का

1. जैसे घट, पट या मठ को देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि- ये सब किसी कर्ता द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि ये कार्य हैं । परन्तु यह अनुमान नहीं किया जा सकता है कि ये घट, पटादि अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि- “यत्र यत्र क्रियाजन्यत्वं तत्र तत्र कर्तृजन्यत्वम्” जो-जो कार्य है, वे सब कर्ता द्वारा किये हुए हैं । इस प्रकार ही कार्य की व्याप्ति कारण में गृहीत होती है परन्तु “यत्र यत्र क्रियाजन्यत्वं तत्र तत्र अमुकव्यक्तिजन्यत्वम्” अर्थात् जो-जो कार्य होता है, वह अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित होता है । इस प्रकार कार्य की व्याप्ति कारण में गृहीत नहीं होती है । घट को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसे कुम्हार ने बनाया है परन्तु इसे अमुक कुम्हार ने बनाया है, यह नहीं कहा जा सकता है । इस तरह जगत् को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह जगत् कारण से उत्पन्न हुआ है परन्तु यह जगत् अमुक कारण से उत्पन्न हुआ है । यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कार्य ही व्याप्ति विशिष्ट कारण में नहीं होती है । यह ऊपर कहा जा चुका है ।

अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि घट को बनाता हुआ कुम्हार जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उस तरह नदी, समुद्र और पर्वत आदि को बनाता हुआ कोई बुद्धिमान् कर्ता (ईश्वर) कभी नहीं देखा जाता है। अतः जगत् को देखकर विशिष्ट बुद्धिमान् कर्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि विशिष्ट अवयव रचना युक्त होने से घटादि पदार्थ जैसे बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित हैं, उसी तरह विशिष्ट अवयव रचना युक्त होने से पर्वतादि पदार्थ भी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित हैं। यह साधन किया जा सकता है।'' तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विशिष्ट अवयव रचना होने मात्र से सभी पदार्थ बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित हों यह प्रतीति नहीं होती है। यदि यह माना जाय तो वल्मीक भी मिट्टी का विकार होने के कारण घट के समान कुम्हार का बनाया हुआ सिद्ध होगा। जैसा कि- कुम्हार, घट आदि मिट्टी के पदार्थों को बनाता है, यह देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि जो-जो मिट्टी के बने हुए पदार्थ हैं, उन सब का कर्ता कुम्हार है, क्योंकि-

ऐसा मानने से वल्मीक भी मिट्टी का विकार होने के कारण कुम्हार द्वारा निर्मित सिद्ध होगा।

इसी तरह अवयव रचना मात्र देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि जो-जो अवयव रचना युक्त हैं, वह बुद्धिमान् कर्ता द्वारा किया हुआ है। किन्तु जिस अवयव रचना का बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित होना जाना जा चुका है, उसी अवयव रचना को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान किया जा सकता है, केवल अवयव रचना को देखकर नहीं। तथा अवयव रचना को देखकर ईश्वर का अनुमान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि घटादि पदार्थों की अवयव रचना का विशिष्ट कर्ता कुम्हार ही देखा जाता है, ईश्वर नहीं देखा जाता। यदि घट का कर्ता भी ईश्वर ही है तो कुम्हार की क्या आवश्यकता है? यदि कहो कि ईश्वर सर्वव्यापी होने के कारण निमित्त रूप से घटादि रचना में भी अपना व्यापार करता है, तो इस प्रकार दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि घट का कर्ता कुम्हार प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, उसे न मानना दृष्ट हानि है और घट बनाता हुआ ईश्वर कभी नहीं देखा जाता है। उसे घट का निमित्त मानना अदृष्ट की कल्पना है। कहा भी है-

(शास्त्रीषधादि) अर्थात् चैत्र नामक पुरुष का वृण (घाव) शास्त्र के प्रयोग करने से होता है और औषध के लेप करने से मिटता है, इसलिए उसके घाव की प्रवृत्ति और निवृत्ति में शास्त्र और औषध ही कारण हैं, दूसरे पदार्थ कारण नहीं हैं। परन्तु उस घाव के साथ जिसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे स्थाणु (ठूँठ) को तुम घाव अच्छा होने का कारण क्यों नहीं मान लेते?

अतः जिस वस्तु का जो कारण देखा जाता है, उसे उसका कारण न मानकर जो उसका कारण नहीं देखा जाता है, उसे उसका कारण मानना सर्वथा अन्याय है। तथा देवकुल और गङ्गा आदि का जो कर्ता है, वह सावयव, अव्यापक और अनित्य देखा जाता है, इसलिए इनके दृष्टान्त से सिद्ध किया हुआ ईश्वर भी सावयव, अव्यापक तथा अनित्य ही सिद्ध होता है। इससे विपरीत यानी निरवयव व्यापक और नित्य ईश्वर की सिद्धि के लिए कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है, इसलिए व्याप्ति की सिद्धि न होने से निरवयव व्यापक और नित्य ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता है। जिस प्रकार यह कार्यत्व हेतु, ईश्वर की सिद्धि के लिए समर्थ नहीं हैं, इसी तरह पूर्वोक्त "स्थित होकर प्रवृत्ति होना" आदि हेतु भी उक्त ईश्वर की सिद्धि के लिए समर्थ नहीं हैं, यह स्वयं योजना कर लेनी चाहिए, क्योंकि यह हेतु भी कार्यत्व हेतु के समान ही इष्ट अर्थ का साधक नहीं है।

तथा यह जो पहले कहा है कि- "यह लोक प्रधानादि कृत है" इत्यादि, यह भी असङ्गत है, क्योंकि वह प्रधान मूर्त है अथवा अमूर्त है? यदि वह अमूर्त है तो उससे मूर्तिमान् समुद्र आदि नहीं उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि अमूर्त आकाश से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, इसलिए मूर्त और अमूर्त का परस्पर कार्य कारणभाव विरुद्ध है। यदि वह प्रधान मूर्त है तो वह स्वयं किससे उत्पन्न हुआ? उसे स्वयं उत्पन्न तुम नहीं कह सकते क्योंकि प्रधान के समान ही यह लोक भी स्वयं उत्पन्न क्यों न माना जावे? वह प्रधान दूसरे से उत्पन्न है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। अतः जैसे प्रधान को उत्पन्न हुए बिना ही अनादि भाव से स्थित मानते हो, इसी तरह लोक को ही अनादि भाव से स्थित क्यों नहीं मानते? तथा सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था को तुम प्रधान कहते हो, उस अविकृत प्रधान से महत् आदि पदार्थों की उत्पत्ति मानना तुम को इष्ट नहीं है, किन्तु विकृत प्रधान से जगत् की उत्पत्ति बतलाते हो और जो विकृत

है, वह प्रधान नहीं है। इसलिए प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति मानना असङ्गत है। तथा प्रकृति अचेतन है, वह पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकती है। जिससे आत्मा का भोग सिद्ध होकर सृष्टि रचना हो सके? यदि कहो कि अचेतन होने पर भी प्रकृति का यह स्वभाव है कि यह पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होती है तब तो प्रकृति से स्वभाव ही बलवान् है, क्योंकि वह प्रकृति को भी नियम में रखता है। ऐसी दशा में तुम स्वभाव को ही जगत् का कारण क्यों नहीं मानते। अदृष्ट प्रकृति आदि की कल्पना का क्या प्रयोजन है? यदि कहो कि- “आदि शब्द से कोई स्वभाव को भी जगत् का कारण मानता है” तो मानने दो। स्वभाव को जगत् का कारण मानने पर आर्हतों की कोई हानि नहीं है, क्योंकि अपने भाव को यानी अपनी उत्पत्ति को स्वभाव कहते हैं और पदार्थों की उत्पत्ति आर्हतों को इष्ट ही है। तथा नियतिवादीयों ने जो कहा है कि- “यह लोक नियति कृत है” तो इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा होना नियति है। विचार करने पर वह नियति स्वभाव से अतिरिक्त नहीं प्रतीत होती है।

तथा पहले जो यह कहा है कि- “यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है।” यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘स्वयम्भू’ शब्द का अर्थ क्या है? जिस समय वह स्वयम्भू होते हैं, उस समय वह दूसरे किसी कारण की अपेक्षा किये बिना क्या स्वतन्त्र रूप से होते हैं? इसलिए वह ‘स्वयम्भू’ कहलाते हैं अथवा वह अनादि हैं, इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं? यदि वह अपने आप होने के कारण ‘स्वयम्भू’ कहलाते हैं तो इसी तरह इस लोक को अपने आप उत्पन्न होना क्यों नहीं मान लेते? उस स्वयम्भू की क्या आवश्यकता है? यदि वह स्वयम्भू अनादि होने के कारण स्वयम्भू कहलाते हैं तो वह जगत् के कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि जो अनादि होता है वह नित्य होता है, और नित्य पदार्थ एक रूप होता है। इसलिए वह नित्य स्वयम्भू जगत् का कर्ता नहीं हो सकते। वह स्वयम्भू यदि वीतराग हैं तो वह इस विचित्र जगत् के कर्ता नहीं हो सकते और यदि वह सराग हैं तो हम लोगों के समान ही वह सुतरां विश्व के कर्ता नहीं हैं। इसी तरह मूर्त्त और अमूर्त्त आदि विकल्पों का भी यहाँ सञ्चार करना चाहिए। तथा यह जो कहा है कि- “उस स्वयम्भू ने यमराज को उत्पन्न किया और वह यमराज लोक को मारता है।” यह भी प्रलाप मात्र है, क्योंकि स्वयम्भू जगत् का कर्ता नहीं हो सकते यह कहा जा चुका है। वैसे यमराज का भी समझ लेना चाहिए।

तथा किसी ने जो यह कहा है कि- “यह लोक अण्डा आदि क्रम से उत्पन्न हुआ है, यह भी असङ्गत है, क्योंकि जिस जल में उस स्वयम्भू ने अण्डा उत्पन्न किया वह जल जैसे अण्डा के बिना ही उत्पन्न हुआ था, उसी तरह यह लोक भी अण्डा के बिना ही उत्पन्न हुआ यह मान लेने में कोई बाधा नहीं है। तथा वह ब्रह्मा जब तक अण्डा बनाता है तब तक वह इस लोक को ही क्यों नहीं बना देता है? अतः युक्ति विरुद्ध अण्डा की कष्ट कल्पना का क्या प्रयोजन है? यदि कहो कि ऐसा ही हो, अर्थात् अण्डा के बिना ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है यही मानो क्योंकि किसी ने कहा है कि- “ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैर से शूद्र हुए” परन्तु यह कथन भी युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि मुख आदि के द्वारा किसी की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि ऐसा हो तो ब्राह्मणादि वर्णों का परस्पर भेद न रहेगा, क्योंकि वे सभी एक ही ब्रह्मा से उत्पन्न हैं। तथा ब्राह्मणों का कठ, तैत्तिरीयक और कलाप आदि भेद भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि सभी एक ही मुख से उत्पन्न हैं। तथा ब्राह्मणों का उपनयन विवाह आदि संस्कार भी नहीं हो सकेंगे। यदि हों तो बहिन के साथ विवाह मानना पड़ेगा। अतः इस प्रकार के अनेकों दोष होने के कारण ब्रह्मा के मुख आदि से सृष्टि की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त मतवादी लोग इस लोक का यथार्थ स्वरूप न जानते हुए मिथ्या भाषण करते हैं।

वस्तुतः यह लोक अनादि और अनन्त है। यह लोक ऊपर तथा नीचे चौदह रज्जु प्रमाणवाला है और रङ्गशाला में, कमर पर हाथ रखकर नाचने के लिए खड़े हुए पुरुष के समान आकारवाला है। यह लोक, नीचे मुख किये हुए शराव के समान आकारवाले नीचे के सात लोकों से युक्त है। तथा थाली के समान आकारवाले असंख्यात द्वीप और समुद्र के आधार भूत मध्य लोक से युक्त है। एवं शराव की पेट्टी के समान यह ऊर्ध्व

लोक से युक्त है। यह लोक, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवात्मक है। यह द्रव्यार्थ रूप से नित्य और पर्याय रूप से क्षणक्षयी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण यह लोक द्रव्य स्वरूप है। अनादि कालिक जीव और कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न अनेक भव प्रपञ्च से यह युक्त है। तथा आठ प्रकार के कर्मों से रहित मुक्त जीवों का लोक इसके अन्त में है। ऐसे जगत् का स्वरूप नहीं जाननेवाले वे अन्यदर्शनी मिथ्या भाषण करते हैं ॥९॥



- इदानीमेतेषामेव देवोप्तादिवादिनामज्ञानित्वं प्रसाध्य तत्फलादिदर्शयिष्याऽऽह -

- इन देवोप्तादिवादियों को अज्ञानी सिद्ध करके अब सूत्रकार, इनको जो फल प्राप्त होता है वह दिखाने के लिए कहते हैं -

अमणुन्नसमुप्पायं, दुःखमेव विजाणिया ।

समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ?

॥१०॥

छाया - अमनोज्ञसमुत्पादं दुःखमेव विजानीयात् । समुत्पादमजाणन्तः कथं ह्यास्यन्ति संवरम् ॥

व्याकरण - (अमणुन्नसमुप्पायं) दुःख का विशेषण है (दुःखं) 'विजाणिया' क्रिया का कर्म है (एव) अव्यय (समुप्पायं) 'अजाणंता' का कर्म (अजाणंता) देवोप्तादिवादियों का विशेषण (कहं) अव्यय (नायंति) क्रिया (संवरं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (दुःखं) दुःख (अमणुन्नसमुप्पायमेव) अशुभ अनुष्ठान से ही उत्पन्न होता है (विजाणिया) यह जानना चाहिए (समुप्पायं) दुःख की उत्पत्ति का कारण (अजाणंता) न जाननेवाले लोग (संवरं) दुःख को रोकने का उपाय (कहं) कैसे (नायंति) जान सकते हैं ।

भावार्थ - अशुभ अनुष्ठान करने से ही दुःख की उत्पत्ति होती है । जो लोग दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते हैं, वे दुःख के नाश का कारण कैसे जान सकते हैं ?

टीका - मनोऽनुकूलं मनोज्ञं-शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञम् असदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः-प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम्, एवकारोऽवधारणे, स चैवं संबन्धनीयः-अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयात् अवगच्छेत्प्राज्ञः। एतदुक्तम्भवति-स्वकृतासदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादिति, एवं व्यवस्थितेऽपि सति अनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठा-नोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति, ते चैवमिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं-दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति, तच्चाजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ? यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदमवाप्स्यन्ति, अपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघाता भूयो भूयोऽरहद्दृष्टीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ति ॥१०॥

टीकार्थ - जो मन के अनुकूल है उसे 'मनोज्ञ' कहते हैं । शोभन अनुष्ठान 'मनोज्ञ' कहलाता है । जो मनोज्ञ नहीं है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं, वह असत् अनुष्ठान है । उस असत् अनुष्ठान से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे "अमनोज्ञसमुत्पाद" कहते हैं । एवकार अवधारणार्थक है । उसका सम्बन्ध इस प्रकार करना चाहिए । अशुभ अनुष्ठान करने से ही दुःख उत्पन्न होता है, यह बुद्धिमान् पुरुष को जानना चाहिए । आशय यह है कि-अपने किये हुए अशुभ अनुष्ठान से ही दुःख की उत्पत्ति होती है, किसी दूसरे से नहीं होती है । ऐसी व्यवस्था होने पर भी पूर्वोक्त वादी, अशुभ अनुष्ठान से होनेवाली दुःख की उत्पत्ति नहीं जानते हुए ईश्वर आदि अन्य पदार्थ के द्वारा दुःख की उत्पत्ति मानते हैं । वे इस प्रकार दुःख की उत्पत्ति माननेवाले दुःख के नाश का कारण कैसे जान सकते हैं ? कारण के नाश से कार्य का नाश होता है, परन्तु वे अन्यतीर्थी दुःख के कारण को ही नहीं जानते हैं । दुःख के कारण को न जानते हुए वे दुःख के नाश के लिए किस तरह प्रयत्न कर सकेंगे ? । यदि वे प्रयत्न करें तो भी दुःख का नाश नहीं कर सकते हैं, अपितु जन्म, जरा, मरण और इष्ट वियोगरूप अनेकों दुःखों से पीड़ित होते हुए, वे लोग अरहट की तरह अनन्तकाल तक संसार में ही पड़े रहेंगे ॥१०॥

- साम्प्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह -

- अब सूत्रकार दूसरे प्रकार से कृतवादियों के मत को ही बताते हुए कहते हैं -

सुद्धे अपावए^१आया, इहमेगेसिमाहियं ।

^२पुणो किङ्कापदोसेणं सो तत्थ अवरज्झई

॥११॥

छाया - शुद्धोऽपापक आत्मा, इहैकेषामाख्यातम् । पुनः कीडाप्रद्वेषेण स तत्रापराध्यति ॥

व्याकरण - (सुद्धे) आत्मा का विशेषण (अपावए) आत्मा का विशेषण (आया) कर्ता (इह) अव्यय (एगेसि) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया (पुणो) अव्यय (किङ्कापदोसेणं) हेतुतृतीयान्त (सो) कर्ता (तत्थ) अव्यय (अवरज्झई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (इह) इस जगत् में (एगेसि) किन्ही का (आहियं) कथन है कि (आया) आत्मा (सुद्धे) शुद्ध (अपावए) और पाप रहित है (पुणो) फिर (सो) वह आत्मा (किङ्कापदोसेणं) राग-द्वेष के कारण (तत्थ) वहीं (अवरज्झई) बंध जाता है ।

भावार्थ - इस जगत् में किन्ही का कथन है कि आत्मा शुद्ध और पाप रहित हैं फिर भी वह राग-द्वेष के कारण बंध जाता है ।

टीका - इह अस्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिकाः गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिक-सूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि । ते एवं वदन्ति-यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षे अपापको भवति-अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम् । पुनरसावात्मा शुद्धत्वाकर्मकत्वरशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एव अपराध्यति रजसा श्लिष्यते । इदमुक्तं भवति-तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते-प्रमोदः सञ्जायते, स्वशासनन्यङ्कार-दर्शनाच्च द्वेषः, ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैःशनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते । मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति । अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥११॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो आत्मा की तीन राशि अर्थात् तीन अवस्था बतलाता है, उसे त्रैराशिक कहते हैं । गोशालक मत के अनुयायी श्रमण आत्मा की तीन अवस्थायें मानते हैं, इसलिए वे 'त्रैराशिक' हैं । इन श्रमणों के पूर्वगत त्रैराशिक सूत्रों के क्रम से इक्कीस सूत्र हैं । इन कृतवादियों के प्रकरण में, गोशालक मतानुयायी श्रमण कहते हैं कि- यह आत्मा मनुष्यभव में ही शुद्ध आचरण वाला होकर मोक्ष में समस्त मलकलंक से रहित निष्पाप हो जाता है अर्थात् वह मोक्ष में समस्त कर्मों से रहित हो जाता है । यह गोशालक मतानुयायी श्रमण कहते हैं । इस प्रकार वह आत्मा शुद्धता और अकर्मता रूप दो अवस्थाओं में स्थित होकर फिर राग अथवा द्वेष के कारण मोक्ष में ही कर्म रज से लिस हो जाता है । आशय यह है कि- उस आत्मा को अपने शासन की पूजा और परशासन का अनादर देखकर हर्ष उत्पन्न होता है तथा अपने शासन का अपमान देखकर द्वेष होता है, इस कारण वह आत्मा राग-द्वेष से लिस होता हुआ जैसे उपभोग करने से निर्मल वस्त्र मलिन होता है, उसी तरह धीरे-धीरे कर्म रज से मलिन कर दिया जाता है । इस प्रकार मलिन किया हुआ वह आत्मा कर्म के गौरव (भार) से फिर संसार में उतरता है । इस अवस्था में कर्म युक्त होने के कारण वह आत्मा, तीसरी राशि की अवस्था में अर्थात् सकर्मावस्था में होता है ॥११॥



^३इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।

वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा

॥१२॥

छाया - इह संवृतो मुनिर्जातः पश्चाद्भवत्यपापकः । विकटाम्बु यथा भूयो नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥

१. आसी चू. । २. कीलावण-पदोसेण रजसा अवतारते, चू. । ३. इह संवुडे भवित्तारं सुद्धे सिद्धीए चिद्धती । तुणोकालेणऽणतिणं तत्थ से अवरज्झती

॥१२॥ चू. ।

व्याकरण - (इह) अव्यय (संवुडे, जाए, अपावए) मुनि के विशेषण (पच्छा) अव्यय (मुणी) कर्ता (होइ) क्रिया (जहा, भुज्जो, तहा) अव्यय (नीरयं, सरयं) विकटाम्बु के विशेषण (वियडंबु) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (इह) इस मनुष्य भव में जो जीव, (संवुडे) यम नियम रत (मुणी जाए) मुनि होता है (पच्छा अपावए होइ) वह पीछे पाप रहित हो जाता है (जहा) जैसे (नीरयं) निर्मल (वियडंबु) जल (भुज्जो) फिर (सरयं) मलिन हो जाता है (तहा) उसी तरह वह निर्मल आत्मा फिर मलिन हो जाता है ।

भावार्थ - जो जीव मनुष्य भव को पाकर यम नियम में तत्पर रहता हुआ मुनि होता है, वह पीछे पाप रहित हो जाता है । फिर जैसे निर्मल जल मलिन होता है । उसी तरह वह भी मलिन हो जाता है ।

टीका - इह अस्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा-यम नियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति-अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः । ततः स्वशासनं प्रज्वाल्य मुक्त्यवस्थो भवति । पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात् कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुवद्-उदकवन्नीरजस्कं सद्वातोद्धतरेणुनि-वहसंपृक्तं सरजस्कं-मलिनं भूयो यथा भवति तथाऽयमप्यात्माऽनन्तेन कालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षावाप्तौ सत्यामकर्मवस्थो भवति । पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात् सकर्मा भवतीति । एवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातम् । उक्तं च-

“दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।

मुक्तः स्वयं कृतमवस्थ परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतोऽपि मोहराज्यम् ? ॥१॥द्वात्रिंशिका॥१२॥

टीकार्थ - जो जीव, मनुष्य भव को प्राप्त करके प्रव्रज्या धारण कर यम, नियम में रत रहता है, वह पाप रहित हो जाता है । वह समस्त कर्मकलङ्क से रहित हो जाता है, यह भाव है । इसके पश्चात् वह पुरुष, अपने शासन को प्रज्वलित करके मुक्तिगामी होता है । फिर वह अपने शासन की पूजा देखकर राग करता है और तिरस्कार देखकर द्वेष करता है । इस प्रकार राग-द्वेष के उदय से वह पुरुष इस प्रकार मलिनात्मा हो जाता है, जैसे निर्मल जल पहले स्वच्छ होकर भी पीछे वायु के द्वारा उड़ाई हुई धूलि के संयोग से मलिन हो जाता है । आशय यह है कि वह जीव अनन्तकाल के पश्चात् संसार से उद्विग्न होकर शुद्धाचार सम्पन्न होता है और शुद्धाचार सम्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करके कर्म रहित हो जाता है परन्तु वह फिर अपने शासन की पूजा और तिरस्कार देखकर राग-द्वेष करता है । राग-द्वेष करने के कारण वह फिर कर्म सहित हो जाता है । इस प्रकार त्रैराशिक मत में आत्मा तीन राशि (अवस्थाओं) को प्राप्त करता है । कहा भी है-

(दग्धेन्धनः) है भगवन् । तुम्हारे शासन को न मानने वाले पुरुषों पर मोह का साम्राज्य देखा जाता है । वे मूर्ख, कहते हैं कि मुक्त जीव फिर संसार में आता है परन्तु यह उनके मोह का प्रभाव है । जो काष्ठ जल गया है वह फिर नहीं जलता है, इसी तरह संसार को मंथन करके जो जीव, मुक्त हो गया है, वह फिर संसार में नहीं आता है । तथापि वे अन्य तीर्थी मुक्त होकर फिर स्वयं संसार में आना मानते हैं और दूसरे को मुक्ति दिलाने के लिए शूर बनते हैं ॥१॥१२॥



- अधुनैतद्दूषयितुमाह -

- अब इस मत को दूषित करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एताणुवीति मेधावी, ^१बंभचेरे ण ते वसे ।

पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं

॥१३॥

छाया - एताननुचिन्त्य मेधावी, ब्रह्मचर्यं न ते वसेयुः । पृथक् प्रावादुकाः सर्वे आख्यातारः स्वकं स्वकम्॥

१. बंभचेरं न तं वसे । पुढो पावादिया चू. ।

व्याकरण - (मेधावी) कर्ता (एता) कर्म (अणुवीति) पूर्वकालिक क्रिया (बंभचेरे) अधिकरण (ण) अव्यय (ते) कर्ता (वसे) क्रिया (पुढो) अव्यय (पावाउया) कर्ता (सव्वे) प्रावादुक का विशेषण सर्वनाम (सयं सयं) कर्म (अक्खायारो) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (मेधावी) बुद्धिमान् पुरुष (एताणुवीति) इन लोगों का विचारकर यह निश्चय करे कि (ते बंभचेरे ण वसे) वे अन्य तीर्थी ब्रह्मचर्य में स्थित नहीं है (सव्वे पावाउया) सब प्रावादुक (पुढो) अलग-अलग (सयं सयं) अपने अपने सिद्धान्त को (अक्खायारो) अच्छा बतलाते हैं ।

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष, इन अन्यतीर्थियों का विचारकर यह निश्चय करे कि ये लोग ब्रह्मचर्य (संयम-सदाचार) पालन नहीं करते हैं तथा ये सभी प्रावादुक, अपने-अपने सिद्धान्त को अच्छा बतलाते हैं ।

टीका - एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् यथा-नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च ब्रह्मचर्यं तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुः अवतिष्ठेरन्निति । तथाहि-तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवति, एवं चावश्यं-तद्दर्शनस्य पूजया तिरस्कारेण बोधयेन वा भाव्यं तत्सम्भवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः । न च मुक्तानामपगतारोषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामवगतारोषयथावस्थितवस्तुतत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्मात्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गः, तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धः ? तद्वशाच्च संसारावतरणमित्यर्थः अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्यं व्यवस्थितास्तथापि सम्यग्ज्ञानाभावात् ते सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम् । अपि च सर्वेऽप्येते प्रावादुकाः स्वकं स्वकम् आत्मीयमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति, न च तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति॥१३॥

टीकार्थ - मर्यादा में स्थित अथवा बुद्धिमान् पुरुष, पूर्वोक्त इन प्रावादुकों का विचारकर यह निश्चय करे कि “ये राशित्रयवादी (आत्मा की तीन अवस्था मानने वाले) और इस लोक को देवता द्वारा उत्पन्न माननेवाले लोग ब्रह्मचर्य में अथवा संयम के अनुष्ठान में स्थित नहीं हैं ।” इन लोगो का सिद्धान्त है कि “अपने दर्शन की पूजा और तिरस्कार देखने से मुक्तजीव को कर्मबन्ध होता है ।” परन्तु इनके दर्शन की पूजा या तिरस्कार तथा पूजा और तिरस्कार ये दोनों ही हुए बिना नहीं रह सकते हैं और इनके होने पर कर्म का उपचय भी अवश्य होगा और कर्म के उपचय होने से शुद्धि का अभाव होगा, शुद्धि के अभाव होने से मोक्ष नहीं हो सकता है । अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि जिनके समस्त कर्मकलंक नष्ट हो चुके हैं, तथा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जो जानते हैं, जो कृतकृत्य हो चुके हैं, स्तुति और निन्दा को जो समान समझते हैं, “यह मैं हूँ और यह मेरा है” यह परिग्रह जिन का नष्ट हो चुका है, ऐसे मुक्त जीवों को राग-द्वेष होना कदापि सम्भव नहीं है और राग-द्वेष न होने से उनको कर्मबन्ध कैसे हो सकता है ? और कर्मबन्ध न होने से वे मुक्तजीव फिर संसार में कैसे आसकते हैं ? अतः इस असत् सिद्धान्त को माननेवाले वे अन्यतीर्थी यद्यपि द्रव्य ब्रह्मचर्य में कथञ्चित् स्थित रहते हैं, तथापि सम्यग् ज्ञान न होने से वे सम्यक् अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हैं । तथा ये सभी प्रावादुक अपने-अपने दर्शन के अनुराग से अपने-अपने दर्शन को अच्छा बतलाते हैं, परन्तु वस्तु स्वरूप को जाननेवाले पुरुष को इनके दर्शनों में श्रद्धा नहीं करनी चाहिए ॥१३॥



- पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह -

- फिर शास्त्रकार कृतवादियों का मत अन्य तरह से बताने के लिए कहते हैं -

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।

¹अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए

॥१४॥

छाया - स्वके स्वक उपस्थाने सिद्धिमेव नाव्यथा । अथ इहेव वशवर्ती सर्वकामसमर्पितः ॥

व्याकरण - (सए सए) उपस्थान का विशेषण (उवट्ठाणे) अधिकरण (सिद्धि) कर्म (एव) अव्यय (न, अन्नहा) अव्यय (अहो) अव्यय

(इह, एव) अव्यय (वसवती) कर्ता (सर्वकामसमर्पण) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (सए सए) अपने-अपने (उबद्धाणे) अनुष्ठान में ही (सिद्धि) सिद्धि होती है (अत्रहा न) अन्यथा नहीं होती है (अहो) मोक्ष प्राप्ति के पूर्व (इहेव) इसी जन्म में ही (वसवती) जितेन्द्रिय होना चाहिए (सर्वकामसमर्पण) उसकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं ।

भावार्थ - मनुष्यों को अपने-अपने अनुष्ठान से ही सिद्धि मिलती है और तरह से नहीं मिलती है । मोक्ष प्राप्ति के पूर्व मनुष्य को जितेन्द्रिय होकर रहना चाहिए । इस प्रकार उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं ।

टीका - ते कृतवादिनः शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्त्यस्मिन्नित्युपस्थानं-स्वीयमनुष्ठानं दीक्षागुरुचरणशुश्रूषादिकं तस्मिन्नेव सिद्धिम् अशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावामभिहितवन्तो नान्यथा नाऽन्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति तथाहि-शैवाः दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः, एकदण्डिकास्तु पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तः, तथाऽन्येऽपि वेदान्तिकाः ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात् सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथास्वं दर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्-प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति-आत्मवशे वर्तितुं-शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तम्भवति, न ह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते, सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो, यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सिद्ध्यन्तीति यावत्, तथाहि सिद्धेरारादष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवति । तद्यथा- अणिमा, लघिमा महिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥१४॥

टीकाार्थ - वे कृतवादी शैव और एकदण्डी वगैरह कहते हैं कि- “दीक्षा ग्रहण करना और गुरुचरण की सेवा आदि अपने-अपने अनुष्ठानों से ही मनुष्य, समस्त सांसारिक प्रपञ्चों से रहित मुक्ति को प्राप्त करता है । दूसरे प्रकार से सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है ।” क्योंकि शैवलोग दीक्षा से ही मोक्ष मानते हैं और एकदण्डी लोग पचीस तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति बतलाते हैं तथा दूसरे वेदान्ती भी कहते हैं कि- ध्यान, अध्ययन और समाधि मार्ग के अनुष्ठान से सिद्धि होती है । इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शन से मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हैं । तथा वे कहते हैं कि- समस्त द्वन्द्व की निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति के पूर्व इसी जन्म में हमारे दर्शन के अनुष्ठान से आठ प्रकार की ऐश्वर्यवाली सिद्धि प्राप्त होती है । यहीं यहाँ शास्त्रकार दिखलाते हैं । जो पुरुष अपने वश में रहता है अर्थात् जो इन्द्रियों के वश में नहीं है, वह पुरुष, सांसारिक स्वभाव से अभिभूत नहीं होता है । उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं । वह पुरुष, जो-जो कामनायें करता है, वे सब सिद्ध होती हैं । उस पुरुष को मोक्ष पाने के पहले आठ प्रकार की ऐश्वर्यवाली जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे ये हैं- अणिमा¹, लघिमा², महिमा³, प्राकाम्य⁴, ईशित्व⁵, वशित्व⁶, अप्रतिघातित्व⁷ और यत्र कामावसायित्व⁸ ॥१४॥

- तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्राशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा सिद्धिर्भवतीति दर्शयितुमाह-

- इस प्रकार वे अन्यदर्शनी कहते हैं कि हमारे दर्शन में कहे हुए नियमों का अनुष्ठान करनेवाले पुरुष को इसी जन्म में आठ गुण ऐश्वर्यवाली सिद्धि प्राप्त होती है और परलोक में सम्पूर्ण द्वन्द्व की निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त होता है, यह दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं ।

1. योगविद्या के प्रभाव से योगिजन को ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है कि वे अपने शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्म बना देते हैं । इसी शक्ति को 'अणिमा' कहते हैं ।
2. (लघिमा) योग विद्या के प्रभाव से अपने शरीर को रूई के समान हल्का बना देने की शक्ति को लघिमा कहते हैं ।
3. (महिमा) योग बल से अपने शरीर को बड़ा से बड़ा बना देना 'महिमा' कहलाता है ।
4. (प्राकाम्य) योग विद्या के प्रभाव से इच्छा की सफलता को 'प्राकाम्य' कहते हैं ।
5. (ईशित्व) शरीर और मन पर पूरा अधिकार हो जाना 'ईशित्व' कहलाता है ।
6. (वशित्व) योग विद्या के प्रभाव से प्राणियों को वशीभूत कर लेना 'वशित्व' कहलाता है ।
7. (अप्रतिघातित्व) योग के प्रभाव से किसी वस्तु से न रोका जाना 'अप्रतिघातित्व' कहलाता है ।
8. (यत्र कामावसायित्व) जिस वस्तु को भोगने की इच्छा हो उसे इच्छा पूरी होने तक नष्ट न होने देना (यत्र कामावसायित्व) कहलाता है ।

सिद्धिमेव पुरो काउं, ¹सासए गढिया नरा

॥१५॥

छाया - सिद्धाश्वतेऽरोगाश्च इहैकेषामारख्यातम् । सिद्धिमेव पुरस्कृत्य, स्वाशये ग्रथिताः नराः ॥

व्याकरण - (सिद्धा) कर्ता (य) अव्यय (ते अरोगा) कर्ता का विशेषण (इह) अव्यय (एग्रेसि) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया (सिद्धि) कर्म (एव) अव्यय (पुरो काउं) पूर्वकालिक क्रिया (सासए) अधिकरण (गढिया) नर का विशेषण (नरा) कर्ता ।

अन्वायर्थ - (ते) वे (सिद्धा) सिद्ध पुरुष (अरोगा य) नीरोग होते हैं (इह) इस लोक में (एग्रेसि) कोई (आहियं) कहते हैं (सिद्धिमेव पुरो काउं) सिद्धि को ही सामने रखकर (नरा) मनुष्य (सासए) अपने दर्शन में (गढिया) गूँथे हुए हैं ।

भावार्थ - अन्यदर्शनी कहते हैं कि हमारे दर्शन के अनुष्ठान से सिद्धि को जो प्राप्त करते हैं, वे नीरोग होते हैं । वे अन्यदर्शनी सिद्धि को आगे रखकर अपने दर्शन में गूँथे हुए हैं ।

टीका - ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्चर्य्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्ट-समाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा सिद्धाश्च अशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति, अरोगग्रहणं चोपलक्षणम् अनेकशारीर-मानसद्वन्द्वैर्न स्पर्श्यन्ते, शरीरमनसोरभावादिति । एवम् इह अस्मिन् लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैवादीनामिदमाख्यातं-भाषितं, ते च शैवादयः सिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूलाः युक्तीः प्रतिपादयन्ति । नरा इव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्ति एवं तेऽपि पण्डितमन्याः परमार्थमजानानाः स्वाग्रहप्रसाधिकाः युक्तीरुद्धोषयन्तीति, तथा चोक्तम्-

आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥१५॥

टीकार्थ - अन्यदर्शनी कहते हैं कि- जो पुरुष हमारे दर्शन में कहे हुए नियम को अच्छी तरह से अनुष्ठान करते हैं, वे इसी जन्म में आठ प्रकार की ऐश्वर्य्यवाली सिद्धि को प्राप्त करके फिर विशिष्ट समाधि योग के द्वारा शरीर को छोड़कर सिद्ध हो जाते हैं । अर्थात् वे समस्त द्वन्द्व रहित नीरोग हो जाते हैं । यहाँ अरोग ग्रहण उपलक्षण है, इसलिए वे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों से स्पर्श नहीं किये जाते हैं, क्योंकि उनके शरीर और मन नहीं होते हैं । इस प्रकार शैव आदि सिद्धि के विषय में बतलाते हैं । वे शैव आदि सिद्धि को ही आगे रखकर अपने दर्शन में आसक्त रहते हुए अपने शास्त्र के अनुकूल युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं । जैसे शास्त्रज्ञान रहित साधारण पुरुष, अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं, उसी तरह परमार्थ को न जाननेवाले और अपने को पण्डित माननेवाले शैव आदि अपने आग्रह को सिद्ध करने के लिए युक्तियों की घोषणा करते हैं । कहा भी है-

(आग्रही वत) अर्थात् आग्रही पुरुष, युक्ति को अपनी मान्यता के पास ले जाना चाहता है परन्तु पक्षपात रहित पुरुष, जो अर्थ युक्ति युक्त होता है, उसी को स्वीकार करता है ॥१॥१५॥



- साम्प्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाभिधित्सयाऽऽह -

- अब इनका अनर्थ दिखाते हुए शास्त्रकार दूषण बताने के लिए कहते हैं -

असंवुडा अणादीयं भमिहिंती पुणो पुणो ।

कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिब्बिसिया

॥१६॥ त्ति बेमि

इति बेमि । इति प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः ॥ गा.ग्रं. ७५ ॥

छाया - असंवृता अनादिकं भ्रमिष्यन्ति पुनः पुनः । कल्पकालमुत्पद्यन्ते स्थाना आसुरकिब्बिसियाः ॥ इति ब्रवीमि।

1. सासए गढिया चू. ।

व्याकरण - (असंबुद्धा) कर्ता (अणादीयं) कर्म (भमिर्हिंति) क्रिया (पुणो पुणो) अव्यय (कल्पकालं) क्रिया विशेषण (आसुरकिब्बिसिया ठाणा) कर्ता (उवज्जंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (असंबुद्धा) इन्द्रियविजय से रहित वे अन्यदर्शनी (अणादीयं) आदि रहित संसार में (पुणो पुणो) बार-बार (भमिर्हिंति) भ्रमण करेंगे । तथा (कल्पकालं) चिरकाल तक (आसुरकिब्बिसिया ठाणा) असुरस्थान में किल्बिषी रूप से (उवज्जंति) वे उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ - इन्द्रिय विजय से रहित वे अन्यदर्शनी बार-बार संसार में भ्रमण करते रहेंगे । वे बाल तप के प्रभाव से असुर स्थानों में बहुत काल तक रहने वाले किल्बिषी देवता होते हैं ।

टीका - ते हि पाखण्डिकाः मोक्षाभिसन्धिना समुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रियनोऽन्द्रियैरसंयताः, इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगाद्, अमुत्र मुक्त्यवाप्तेः, तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशावशापि (पाशि) ताः पौनःपुन्येन नरकादियातनास्थानेषूपत्यन्ते । तथाहि-नेन्द्रियैर-नियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते । याऽप्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते साऽपि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति । याऽपि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साऽप्येवंप्राया भवतीति दर्शयति- कल्पकालं प्रभूतकालम् उत्पद्यन्ते संभवन्ति आसुराः- असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः, तत्राऽपि न प्रधाना किं तर्हि? किल्बिषिकाः अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्द्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति । इति उद्देशक-परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१६॥ ७५ ॥ इति समयाख्याध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - वे पाखण्डी मोक्ष प्राप्ति के लिए उद्यत होकर भी इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रखते हैं । (वे समझते हैं कि) इस लोक में भी हमे लाभ है क्योंकि इन्द्रियों के अनुरोध से सब विषयों का उपभोग करने से परलोक में मुक्ति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार भोले जीव को प्रतारण करते हुए वे पाखण्डी, आदि रहित संसार रूप कान्तार में भ्रमण करते रहेंगे । वे, अपने दुराचार के कारण उत्पन्न कर्मपाश में बद्ध होकर बार-बार नरक आदि यातनास्थानों में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन्द्रियों को वशीभूत किये बिना समस्त दुःखों से निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । वे जो अणिमा आदि आठ प्रकार की ऐहिक (इस लोक की) सिद्धियों का वर्णन करते हैं, वह भी भोले जीवों को प्रतारण करने के लिए दम्भतुल्य ही है । उन पाखण्डियों को बाल तप के प्रभाव से जो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वह भी इस प्रकार की होती है, यह दिखाते हैं- वे बहुत काल तक असुरस्थानों में नागकुमार आदि अल्प ऋद्धिवाले अल्प आयु और अल्प शक्ति युक्त किल्बिषि अधम प्रेष्यभूत (नौकर) देवता होते हैं, प्रधान देवता नहीं होते हैं । इति शब्द उद्देशक की समाप्ति के लिए है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है ।

इति समयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।

समयाध्ययन का तृतीय उद्देशक पूर्ण हुआ ॥



अथ प्रथमाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः प्रारम्भ्यते

- उक्तस्तृतीयोद्देशकः, अधुना चतुर्थः समारम्भ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-

- तीसरा उद्देशक कहा जा चुका अब चौथा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है-

अनन्तरोद्देशकेऽध्ययनार्थत्वात्स्वपरसमयवक्तव्यतोक्तेहापि सैवाभिधीयते, अथवाऽनन्तरोद्देशके तीर्थिकानां कुत्सिताचारत्वमुक्तमिहाऽपि तदेवाभिधीयते। तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोग-द्वाराण्यभिधाय सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् -

पूर्व उद्देशक में, प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार होने के कारण स्वपरसमयवक्तव्यता कही गयी है, वही इस उद्देशक में भी कही जाती है। अथवा अनन्तर उद्देशक में अन्य तीर्थियों का कुत्सित आचार कहा गया है, वही यहां भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध से अवतीर्ण इस उद्देशक के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वारों का वर्णन करके सूत्रानुगम में सूत्र का उच्चारण करना चाहिए। वह सूत्र यह है-

एते जिया भो ! न सरणं, बाला पंडियमाणिणो ।

¹हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा

॥१॥

छाया - एते जिताः भोः । न शरणं बालाः पण्डितमानिणो । हित्वा तुं पूर्वसंयोगं सिताः कृत्योपदेशकाः ॥

व्याकरण - (एते) सर्वनाम, पूर्वोक्त अन्यतीर्थियों का बोधक (जिया) अन्यतीर्थी का विशेषण (भो) सम्बोधनार्थक अव्यय (न) अव्यय (सरणं) अन्यतीर्थी का विशेषण (बाला पंडियमाणिणो) अन्यतीर्थी के विशेषण (हिच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (णं) अव्यय (पुव्वसंजोगं) कर्म (सिया किच्चोवएसगा) अन्यतीर्थी का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (भो !) हे शिष्यो ! (एते) ये अन्य तीर्थी (जिया) काम क्रोध आदि से जीते जा चुके हैं (न सरणं) अतः ये लोग अपने शिष्य की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। (बाला) ये अज्ञानी हैं तथापि (पंडियमाणिणो) अपने को पण्डित मानते हैं। (पुव्वसंजोगं हिच्चा) ये लोग अपने बान्धव आदि पूर्वपरिग्रह से सम्बन्ध छोड़कर (सिया) दूसरे परिग्रह और आरम्भ में आसक्त हैं। (किच्चोवएसगा) ये लोग गृहस्थ के कृत्य का उपदेश करते हैं।

भावार्थ - ये अन्यदर्शनी काम क्रोधादि से पराजित हैं, अतः हे शिष्य ! ये लोग संसार से रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। ये लोग अज्ञानी हैं, तथापि अपने को पण्डित मानते हैं, ये लोग अपने बन्धु बान्धवों से सम्बन्ध छोड़कर भी परिग्रह में आसक्त रहते हैं तथा गृहस्थ के कर्तव्य का उपदेश देते हैं।

टीका - अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः तद्यथा, अनन्तरसूत्रेऽभिहितं- 'तीर्थिका असुरस्थानेषु किल्बिषिकाः जायन्त' इति, किमिति ? यत एते जिताः परीषहोपसर्गैः, परम्परसूत्रसम्बन्धस्त्वयम्-आदाविदमभिहितं 'बुध्येत त्रोटयेच्च' ततश्चैतदपि बुध्येत- यथैते पञ्चभूतादिवादिनो गोशालकमतानुसारिणश्च जिताः परीषहोपसर्गैः कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्येनारिषड्वर्गेण चेति एवमन्यैरपि सूत्रैः सम्बन्ध उत्प्रेक्ष्यः, तदेवं कृतसम्बन्धस्यास्य सूत्रस्येदानीं व्याख्या प्रतन्यते 'एते' इति, पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणश्चैराशिकाश्च जिता अभिभूता रागद्वेषादिभिः शब्दादिविषयैश्च तथा प्रबलमहामोहोत्थाज्ञानेन च, भो ! इति विनेयामन्त्रणम् एवं त्वं गृहाण यथैते तीर्थिकाः असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वात् कस्यचिच्छरणं भवितुमर्हन्ति न कश्चित् त्रातुं समर्था इत्यर्थः, किमित्येवं यतस्ते बाला इव बालाः, यथा शिशवः सदसद्विवेकवैकल्याद् यत् किञ्चनकारिणो भाषिणश्च तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति, एवम्भूता अपि च सन्तः पण्डितमानिनः, इति, क्वचित् पाठो 'जत्थ बालेऽवसीयइ'ति, यत्र अज्ञाने बालः अज्ञो लग्नः सन् अवसीदति, तत्र ते व्यवस्थिताः यतस्ते न कस्यचित् त्राणायेति। यच्च तैर्विरूपमाचरितं तदुत्तरार्धेन दर्शयति- हित्वा त्यक्त्वा णमिति वाक्यालङ्कारे, पूर्वसंयोगो-धनधान्यस्वजनादिभिः संयोगस्तं त्यक्त्वा किल वयं निःसङ्गाः प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिताः- बद्धाः परिग्रहारम्भेष्वासक्तास्ते गृहस्थाः तेषां कृत्यं-करणीयं

पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापारस्तस्योपदेशस्तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा। यदिवा 'सिया' इति आर्षत्वाद् बहुवचनेन व्याख्यायते स्युः भवेयुः कृत्यं-कर्तव्यं सावधानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्याः-गृहस्थास्तेषामुपदेशः- संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः, प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्तव्यै-गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते, गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चसूनाव्यापारोपेता इत्यर्थः ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का अनन्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है- अनन्तर सूत्र में कहा है कि- "परतीर्थी असुरस्थानों में किल्बिषी होते हैं ।" क्यों होते हैं ? समाधान यह है कि वे परीषह और उपसर्गों से पराजित हैं। परस्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है । प्रथम श्लोक में कहा गया है कि- बोध प्राप्त करना चाहिए और बन्धन को तोड़ना चाहिए, अतः यह भी समझना चाहिए कि- "पञ्चभूत आदि वादी तथा गोशालकमतानुयायी आदि परतीर्थी, परीषह, उपसर्ग तथा काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद नामक इन ६ शत्रुओं से पराजित हैं ।" इसी तरह दूसरे सूत्रों के साथ सम्बन्ध भी जानना चाहिए । इस प्रकार सम्बन्ध किये हुए, इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या की जाती है । पञ्चभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, कृतवादी तथा त्रैशिक गोशालक मतानुयायी ये सब राग-द्वेष आदि तथा शब्दादि विषय और प्रबल महा मोह से उत्पन्न अज्ञान के द्वारा पराजित हैं । 'भो' शब्द शिष्य के सम्बोधन के लिए है । हे शिष्य ! तुम को यह जानना चाहिए कि- ये अन्यतीर्थी असत् उपदेश में प्रवृत्त हैं, इसलिए ये दूसरे की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं । ऐसा क्यों ? क्योंकि ये लोग बालक के समान अज्ञानी हैं । जैसे बालक सत् और असत् का विवेक न होने के कारण सब कुछ कर डालते हैं और सब कुछ कह देते हैं, इसी तरह ये अज्ञानी भी स्वयं अज्ञानी होते हुए दूसरे को भी मोहित करते हैं । ये, अज्ञानी होकर भी अपने को पण्डित भी मानते हैं । कहीं-कहीं "जत्थ बालेऽवसीयइ" यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ यह है- जिस अज्ञान में पड़कर अज्ञ जीव दुःखित होते हैं, उसी अज्ञान में ये अन्यतीर्थी पड़े हैं, अतः किसी की रक्षा करने में ये लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं । ये अन्यतीर्थी जो विपरीत आचरण करते हैं, सो इस गाथा का उत्तरार्ध के द्वारा बताया जाता है । 'णं' शब्द वाक्य के अलङ्कार में आया है । ये अन्यतीर्थी धन, धान्य और बन्धु, बान्धव आदि के सम्बन्ध को छोड़कर "हम निःसङ्ग तथा प्रव्रजित हैं ।" यह कहते हुए मोक्ष के लिए उद्यत होते हैं, परन्तु पीछे से परिग्रह और आरम्भ में आसक्त रहने वाले गृहस्थों के कर्तव्य का अर्थात् पचन, पाचन, कण्डन (कूटना) और पेषण (पीसना) आदि जीवों के विनाशक व्यापार का उपदेश करते हैं । अथवा इस गाथा में 'सिया' इस पद को आर्ष होने के कारण बहुवचन मानकर व्याख्या की जाती है । इसका अर्थ यह है कि- "वे अन्यतीर्थी (वे सावध अनुष्ठानवाले) होते हैं ।" कृत्य नाम कर्तव्य का अर्थात् सावध अनुष्ठान का है । वह सावध अनुष्ठान जो प्रधान रूप से करते हैं, वे 'कृत्य' कहलाते हैं । कृत्य नाम गृहस्थों का है । उन गृहस्थों को ये लोग संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप व्यापारों का उपदेश करते हैं, इसलिए ये 'कृत्योपदेशिक' हैं । ये, प्रव्रज्या धारण किये हुए भी गृहस्थों से भिन्न नहीं, किन्तु उनके समान ही सब अवस्थावाले और पांच 'शूना के व्यापार से युक्त हैं ॥१॥



- एवम्भूतेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा यत्कर्तव्यं तददर्शयितुमाह -

- ऐसे अन्य तीर्थियों के होते हुए साधु का जो कर्तव्य है, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

तं च भिक्खू परिन्नाय, ^२वियं तेसु ण मुच्छए ।

अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण^३ मुणि जावए

॥२॥

छाया - तं च भिक्षुः परिन्नाय विद्वांस्तेषु न मूर्च्छेत् । अनुत्कर्षोऽप्रलीनः मध्येन मुनिर्यापयेत् ॥

व्याकरण - (भिक्खू) कर्ता (वियं) भिक्षु का विशेषण (तं) अन्यतीर्थी का बोधक सर्वनाम कर्म द्वितीयान्त (च) अव्यय (परिन्नाय)

१. पञ्चशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च दध्यन्ते यास्तु वाहयन् ॥ (मनुस्मृति ३/६८)

गृहस्थ के घर में पांच बुचड़खाने होते हैं वे ये हैं - चुल्ली, चक्की, झाड़ू, ऊखली, जल का स्थान । इसके द्वारा जीवों की हिंसा होती है, अतः ये पांच बुचड़खाने के समान हैं, इन्हीं को 'पञ्चशूना' कहते हैं । २. विज्जं चू । ३. मज्झिमेण चू ।

पूर्वकालिक क्रिया (ण) अव्यय (तेसु) अन्यतीर्थी का परामर्शक सर्वनाम अधिकरण (मुच्छए) क्रिया । (अणुक्से, अप्पलीणे) मुनि का विशेषण (मज्जेण) करणतृतीयान्त (मुणि) कर्ता (जावए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (वियं भिक्खू) विद्वान् साधु (तं च) उन अन्य तीर्थियों को (परिज्जाय) जानकर (तेसु ण मुच्छए) उनमें मूर्च्छा न करे (मुणि) वस्तुस्वभाव को जाननेवाला मुनि (अणुक्से) किसी प्रकार का मद न करता हुआ (अप्पलीणे) तथा किसी के साथ सम्बन्ध न रखता हुआ (मज्जेण) मध्यस्थवृत्ति से (जावए) व्यवहार करे ।

भावार्थ - विद्वान् साधु अन्यतीर्थियों को जानकर उनमें मूर्च्छा न करे । तथा किसी तरह का मद न करता हुआ संसर्ग रहित मध्यस्थवृत्ति से रहे ।

टीका - तं पाखण्डिकलोकमसदुपदेशदानाभिरतं 'परिज्जाय' सम्यगवगम्य यथैते मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानः सद्विवेकशून्याः नात्मने हितायालं नान्यस्मै इत्येवं पर्यालोच्य भावभिक्षुः संयतो 'विद्वान्' विदितवेद्यः तेषु 'न मूर्च्छयेत्' न गार्ह्यं विदध्यात्, न तैः सह संपर्कमपि कुर्यादित्यर्थः । किं पुनः कर्तव्यमिति पश्चाद्धेन दर्शयति- 'अनुत्कर्षवानिति' अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाप्युत्सेकमकुर्वन् तथा अप्रलीनः असंबद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् मध्येन रागद्वेषयोरन्तरालेन संचरन् मुनिः जगत्त्रयवेदी यापयेद् आत्मानं वर्तयेत् । इदमुक्तम्भवति- तीर्थिकादिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्सम्बन्धे त्यक्ताहङ्कारेण तथा भावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्ताद्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥२॥

टीकार्थ - पाखण्डी लोग असत् उपदेश देने में रत हैं, यह अच्छी तरह जानकर तथा ये पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व से मलिन चित्त और सद्विवेक से रहित हैं, अतः ये लोग अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं । यह जानकर विद्वान्, संयमी, वस्तुस्वरूप के ज्ञाता, भावभिक्षु उन अन्यतीर्थियों में मूर्च्छा न करें । उनके साथ सम्पर्क भी न करें यह अर्थ है । उनके साथ मुनि, क्या करें यह इस गाथा के उत्तरार्थ द्वारा बतलाते हैं । तीन लोक को जाननेवाला मुनि, आठ प्रकार के मदस्थानों में से किसी प्रकार का भी मद न करता हुआ एवं परतीर्थी, गृहस्थ अथवा पार्श्वस्थ आदि के साथ सम्बन्ध न करता हुआ मध्यवृत्ति से अर्थात् राग-द्वेष रहित होकर व्यवहार करें । भाव यह है कि परतीर्थी आदि के साथ यदि कथञ्चित् सम्बन्ध हो जाय तो साधु अहङ्कार छोड़कर तथा भाव से उनके साथ सम्बन्ध न रखता हुआ एवं राग-द्वेष रहित और आत्मप्रशंसा और उनकी निन्दा न करता हुआ अपना काल व्यतीत करे ॥२॥



- किमिति ते तीर्थिकास्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह -

- परतीर्थी अपनी तथा दूसरे की रक्षा क्यों नहीं कर सकते हैं ? यह दिखलाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं ।

सपरिगहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं ।

अपरिगहा अणारंभा, भिक्खू^१ताणं परिव्वए

॥३॥

छाया - सपरिगहाश्च सारंभा इहेकेषामारब्धात्म । अपरिगहान्नारब्धान् भिक्षु स्त्राणं परिव्वजेत् ॥

व्याकरण - (सपरिगहा, सारंभा) प्राप्ति क्रिया का कर्ता (य) अव्यय (इह) अव्यय (एगेसिं) कथन क्रिया का कर्ता (आहियं) क्रिया (अपरिगहा, अणारंभा) कर्म (भिक्खू) कर्ता (ताणं) कर्म विशेषण (परिव्वए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सपरिगहा) परिग्रह रखनेवाले (य) और (सारंभा) आरंभ करनेवाले जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं यह (इह) मोक्ष के विषय में (एगेसिमाहियं) कोई कहते हैं । (भिक्खू) परन्तु भावभिक्षु (अपरिगहा अणारंभा) परिग्रह और आरंभ वर्जित पुरुष के (ताणं) शरण में (परिव्वए) जावे ।

भावार्थ - कोई अन्यतीर्थी कहते हैं कि परिग्रह रखने वाले और आरम्भ करनेवाले जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु भावभिक्षु परिग्रह रहित और आरम्भवर्जित पुरुष के शरण में जावे ।

टीका - सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्तन्ते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावन्तः सपरिग्रहाः, तथा सहारम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तन्त इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात् सारम्भाः-तीर्थिकादयः, सपरिग्रहारम्भकत्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयन्तीति दर्शयति- इह परलोकचिन्तायाम् एकेषां केषाञ्चिद् आख्यातं भाषितं, यथा किमनया शिरस्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया ?, परं गुरोरनुग्रहात् परमाक्षरावासिस्तदीक्षावासिर्वा यदि भवति ततो मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणान्ते न त्राणाय भवन्तीति । ये तु त्रातुं समर्थास्तान् पश्चाद्धेन दर्शयति- अपरिग्रहाः न विद्यन्ते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः, तथा न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भाः, ते चैवंभूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसारमहोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुः भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी त्राणं शरणं परि-समन्ताद् व्रजेद् गच्छेदिति ॥३॥

टीकार्थ - जो धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पद आदि परिग्रह रखते हैं, वे सपरिग्रह कहलाते हैं, तथा धन, धान्य आदि न होने पर भी जो शरीर और उपकरण आदि में मूर्च्छा रखते हैं वे भी 'सपरिग्रह' हैं । जो जीवों का विनाश करनेवाला व्यापार करते हैं, वे 'सारम्भ' कहलाते हैं । तथा जीवों का विनाश करनेवाले व्यापार न करने पर भी जो उद्देशिक आहार खाते हैं, वे भी 'सारम्भ' हैं । अन्यतीर्थियों का सिद्धान्त है कि- "सपरिग्रह और सारम्भ पुरुष भी मोक्ष मार्ग का साधन करते हैं ।" यह शास्त्रकार दिखलाते हैं । परलोक के विषय में किसी का कथन है कि- शिर और मुँह मुँड़ाने की क्या आवश्यकता है ? केवल गुरु की कृपा से परम अक्षर की प्राप्ति अथवा दीक्षा की प्राप्ति हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार भाषण करनेवाले वे अन्यतीर्थी संसार सागर से रक्षा के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं । जो लोग संसार सागर से जीवों की रक्षा करने में समर्थ हैं, उन्हें उत्तरार्ध द्वारा शास्त्रकार बतलाते हैं- जो पुरुष, धर्मोपकरण के सिवाय अपने शरीर के भोग के लिए थोड़ा भी परिग्रह नहीं रखते हैं तथा जो पुरुष सावद्य आरम्भ नहीं करते हैं, वे कर्मलघु पुरुष संसार सागर से जीवों को पार उतारने के लिए नौका के समान समर्थ हैं । अतः उद्देशिक आदि आहार को वर्जित करनेवाला शुद्धभिक्षात्रभोजी भावभिक्षु जो है सर्वतोभावेन उन्हींके शरण में जावे ॥३॥



- कथं पुनस्तेनापरिग्रहेणानारम्भेण च वर्तनीयमित्येतद्दर्शयितुमाह -

- परिग्रह और आरम्भवर्जित साधु को कैसे रहना चाहिए, यह दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।

अगिद्धो विप्पमुक्को अ ओमाणं परिवज्जए

॥४॥

छाया - कृतेषु ग्रासमेषयेत्, विद्वान् दत्तेषणां चरेत् । अगृद्धो विप्रमुक्तश्च अपमानं परिवर्जयेत् ॥

व्याकरण - (कडेसु) अधिकरण (घासं) कर्म (एसेज्जा) क्रिया (विऊ) कर्ता (दत्तेसणं) कर्म (चरे) क्रिया (अगिद्धो, विप्पमुक्को) कर्ता के विशेषण (अ) अव्यय (ओमाणं) कर्म (परिवज्जए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (कडेसु) दूसरे द्वारा किये हुए आहार में से (विऊ) विद्वान् पुरुष (घासं) आहार की (एसेज्जा) गवेषणा करे (दत्तेसणं) तथा दिये हुए आहार को लेने की इच्छा (चरे) करे । एवं (अगिद्धो, विप्पमुक्को) गृद्धि रहित तथा राग-द्वेष वर्जित होकर (ओमाणं परिवज्जए) दूसरे का अपमान न करे ।

भावार्थ - विद्वान् साधु दूसरे द्वारा बनाये हुए आहार की गवेषणा करे तथा दिये हुए आहार को ही ग्रहण करने की इच्छा करे । तथा आहार में मूर्च्छा और राग-द्वेष न करे । एवं दूसरे का अपमान कभी न करे ।

टीका - गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्यं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु-परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः, अनेन च षोडशोद्गमदोषपरिहारः सूचितः, तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रासः-आहारस्तमेवं-भूतम् अन्वेषयेत् मृगयेद् याचेदित्यर्थः । तथा विद्वान् संयमकरणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितैर्यन्निःश्रेयसबुद्ध्या दत्तमिति, अनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीताः द्रष्टव्याः, तदेवम्भूते दौत्यधात्रीनिमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः

एषणां ग्रहणैषणां चरेदनुतिष्ठेदिति । अनेनाऽपि दर्शैषणादोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं, तथा अगृह्यः अनध्युपपन्नो-
ऽमूर्च्छितस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः, अनेनाऽपि च ग्रासैषणादोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः । स एवम्भूतो भिक्षुः
परेषामपमानं-परावमदर्शित्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत्, न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादितिभावः ॥४॥

टीकार्थ - गृहस्थ ने परिग्रह और आरम्भ के द्वारा अपने लिये जो भात आदि आहार बनाया है, उसे 'कृत' कहते हैं। उस कृत आहार अर्थात् अन्य के द्वारा बनाये हुए आहार में से साधु आहार लेने की इच्छा करे। यहाँ कृत आहार को ग्रहण करने के विधान से सोलह प्रकार के उद्गम^१ दोषों का परिहार सूचित किया गया है। जो खाया जाता है उसे 'ग्रास' कहते हैं। आहार का नाम ग्रास है। विद्वान् मुनि, उद्गम दोष रहित आहार का अन्वेषण करे। संयम पालन करने में निपुण मुनि, दूसरे लोग किसी प्रत्युपकार की आशा के बिना जो आहार कल्याण बुद्धि से देवें उसी को लेने की इच्छा करे। इस उपदेश के द्वारा यहाँ सोलह प्रकार के उत्पादन^२ दोषों का संग्रह किया है, यह जानना चाहिए। अतः वह भिक्षु, पूर्वोक्त प्रकार का दौत्य, धात्री

1. "उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभवे" आहार उपजाने के दोष को "उद्गम" कहते हैं। यह सोलह प्रकार का होता है। जैसे कि-

"आहाकम्पुदेसिय पूर्वकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए, पाओअर कीय पामिच्चे" ॥१॥

परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे य । अच्छिज्जे अणिसिट्टे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

साधु को देने के लिए बनाया हुआ आहार 'आधाकर्म' कहलाता है, यह पहला दोष है। जिस साधु को देने के लिए आहार बनाया गया है, वह आहार यदि वही साधु लेवे तो आधाकर्म दोष होता है और दूसरा साधु वह आहार लेवे तो उसे औद्देशिक दोष होता है, यह दोष दूसरा है। (पूर्वकम्मे) पवित्र आहार में यदि आधाकर्म आहार का एक कण भी मिल जाय तो हजार घर का अन्तर देकर भी वह आहार लेने पर पूर्तिकर्म दोष आता है, यह दोष तीसरा है। (मिश्रजात) जो आहार साधु तथा अपने दोनों के लिए सामिल कर के बनाया गया है वह 'मिश्रजात' है। जो आहार साधु को देने के लिए रखा हुआ है और दूसरे को नहीं दिया जाता है, उसे 'स्थापना' दोष कहते हैं। साधु के लिए पाहुन (महोत्सवादि) को आगा पीछा करना 'प्राभृतिका' दोष कहलाता है। अंधकार से पूर्ण स्थान में प्रकाश करके साधु को आहार देना 'प्रादुष्करण' दोष है। साधु के लिए वस्त्र, पात्र आदि मोल लेकर साधु को देना 'क्रीत दोष' है। साधु के लिए आहार आदि उधार लाकर साधु को देना 'अप्रमित्य' दोष कहलाता है। साधु को देने के लिए अपनी वस्तु दूसरे को देकर उसके बदले में दूसरे की वस्तु लेकर साधु को देना 'परिवर्तित' दोष कहलाता है। साधु के सामने जाकर आहार आदि देना 'अभिहत' दोष कहलाता है। बर्तन के मुखपर लगे हुए लेप को छुड़ाकर उसमें से आहार निकालकर साधु को देना 'उद्धिन्न' दोष है। पीढ़ा या सीढ़ी लगाकर ऊपर-नीचे या तिरछी रखी हुई वस्तु को निकालकर साधु को देना 'मालापहत' दोष है। किसी दूर्बल से छिनकर साधु को आहार देना अथवा बलात्कार से दिलाना 'आच्छेद्य' दोष कहलाता है। दो या अनेक मनुष्यों के सामिल की वस्तु किसी भागीदार की आज्ञा बिना साधु को देना 'अनिसृष्ट' कहलाता है। साधुओं को आये हुए जानकर अदहन में अधिक चावल आदि देना 'अध्यवपूरक' दोष कहलाता है। ये ऊपर कहे हुए सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष दाता से लगते हैं। साधु आहार ले तो साधु को लगते हैं।

2. (उत्पाद दोष) उत्पाद दोष सोलह प्रकार के होते हैं। ये दोष जिह्वालम्पट साधु को लगते हैं। इनका स्वरूप यह है -

"थाई दूर्ई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया लोभे य हवन्ति दस एए ॥

पुव्वि पच्छा संत्यव, विज्जा भंते य चुण्ण जोगे य । उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

(धात्रीकर्म) थाई का कार्य करके आहार लेना 'धात्रीदोष' कहलाता है। (दूतीकर्म) गृहस्थों का सन्देश पहुँचाना आदि दूत का कार्य करके आहार आदि लेना 'दौत्यदोष' है। (निमित्त) भूत, वर्तमान और भविष्यत् का लाभालाभ एवं जीवन, मरण आदि का हाल बताकर आहार लेना 'निमित्त' दोष कहलाता है। (आजीव) अपनी जाति और कुल को प्रकट करके आहार लेना 'आजीव' दोष कहलाता है। (वनीपक) भीखारी के समान दीनतापूर्वक आहार लेना 'वनीपक' दोष कहलाता है। (विचिकित्सा) रोगी की दवा करके आहार लेना 'विचिकित्सा' दोष कहलाता है। (कोह) क्रोध करके आहार आदि लेना 'कोह' दोष कहलाता है। (मान) अभिमान के साथ आहार लेना मान दोष है। कपट करके आहार लेना 'माया' दोष है। (लोभ) लोभ करके अधिक आहार लेना अथवा लोभ दिखाकर अधिक आहार लेना 'लोभ' दोष है। (पुव्विपच्छासंत्यव) पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करके आहार लेना 'पूर्वपश्चात्संत्यव' दोष है। (विद्या) जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो अथवा जो साधनों से सिद्ध की गयी हो उसे 'विद्या' कहते हैं, उस विद्या के प्रयोग से आहार आदि लेना 'विद्या' दोष है। (मन्त्र) जिसका अधिष्ठाता देवता हो अथवा जो साधना रहित अक्षर विन्यासमात्र हो उसे 'मन्त्र' कहते हैं, उस मन्त्र के प्रयोग से आहार आदि लेना 'मन्त्र' दोष कहलाता है। (चूर्ण दोष) एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक सिद्धियाँ होती हैं, जैसे अदृष्ट अंजन आदि चूर्ण प्रसिद्ध हैं। उन चूर्णों के प्रयोग से आहार आदि लेना 'चूर्ण' दोष कहलाता है। (योग दोष) पैर के ऊपर लेप करने से जो सिद्धि होती है, उसे बताकर आहार आदि लेना 'योग' दोष कहलाता है। (मूलकर्म) गर्भपात आदि के लिए औषध बताकर आहार आदि लेना 'मूलकर्म' दोष कहलाता है। ये १६ दोष उत्पाद कहलाते हैं।

और निमित्तादि दोष रहित आहार को लेने की इच्छा करे । इस उपदेश के द्वारा दश प्रकार के ग्रहणैषणा¹ दोषों का त्याग भी यहाँ जानना चाहिए । तथा साधु उस आहार में मूर्च्छा और राग-द्वेष न करे, यह कह कर पांच प्रकार के ग्रासैषणा² दोषों को वर्जित करने का उपदेश किया है । इस प्रकार वर्तता हुआ साधु किसी का अपमान न करे । तथा विद्वान् मुनि तपस्या और ज्ञान का मद न करे ॥४॥



- एवं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकाराभिहितं 'किञ्चुवमा य चउत्थे' इत्येतत्प्रदर्शयेदानीं परवादिमतमेवोद्देशार्थाधिकाराभिहितं दर्शयितुमाह-

- उद्देशकों का अर्थाधिकार बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि 'किञ्चुवमायचउत्थे' अर्थात् परतीर्थी गृहस्थ के तुल्य हैं, यह चतुर्थ उद्देशक का अर्थाधिकार है, उसे बताकर अब परवादियों का मत ही बताते हैं, क्योंकि चतुर्थ उद्देशक का भी यह अर्थाधिकार है ।

लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहियं ।

विपरीयपन्नसंभूयं,³अन्नउत्तं तयाणुयं

॥५॥

छाया - लोकवादं निशामयेद् इहेकेषामारख्यातम् । विपरीतप्रज्ञासम्भूतमव्योक्तं तदनुगम् ॥

व्याकरण - (लोगवायं) कर्म (णिसामिज्जा) क्रिया (इह) अव्यय (एगेसि) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया । (विपरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं, तयाणुयं) ये लोकवाद के विशेषण हैं ।

अन्वयार्थ - (लोगवायं) लोकवाद अर्थात् पौराणिकों के सिद्धान्त को (णिसामिज्जा) सुनना चाहिए (इह) इस लोक में (एगेसि) किन्हीं का (आहियं) कथन है (विपरीय पन्नसंभूयं) वस्तुतः पौराणिकों का सिद्धान्त विपरीत बुद्धि से रचित है तथा (अन्नउत्तं तयाणुयं) अन्य अविवेकियों ने जो कहा है उसका अनुगामी है ।

भावार्थ - कोई कहते हैं कि पाखण्डी अथवा पौराणिकों की बात सुननी चाहिए, परन्तु पौराणिक और पौराणिकों की बात विपरीत बुद्धि से उत्पन्न और दूसरे अविवेकियों की बात के समान ही मिथ्या है । [अतः सुनना योग्य नहीं]

टीका - लोकानां-पाषण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः- यथा स्वमभिप्रायेणान्यथा वाऽभ्युपगमस्तं निशामयेत् शृणुयाज्जानीयादित्यर्थः तदेव दर्शयति 'इह' अस्मिन् संसारे एकेषां केषाञ्चिदिदमाख्यातमभ्युपगमः ।

1. (ग्रहणैषणा) ग्रहणैषणा दोष दश प्रकार के होते हैं, ये साधु और श्रावक दोनों को लगते हैं । वे ये हैं -

"संकिय मक्खिय निक्खित्ति पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे । अपरिणय लित्त छट्ठिय एसण दोसा दस हवन्ति" ॥

साधु और गृहस्थ को आहार के विषय में शङ्का हो जाने पर उस आहार को ग्रहण करना शङ्कितदोष कहलाता है । सचित्त जल के द्वारा हाथ की रेखा अथवा केश जिसके भीगे हैं, उस गृहस्थ के हाथ से आहार लेना 'प्रक्षित' दोष है । असूझती वस्तु पर पड़ी हुई सूझती वस्तु को लेना 'निक्षिप्त' दोष है । सचित्त वस्तु से ढँकी हुई अचित्त वस्तु को लेना 'पिहित' दोष है । जिस पात्र में असूझती वस्तु रखी हो उस पात्र में से उस असूझती वस्तु को निकालकर दूसरे पात्र में उसे रखकर उसी पात्र से आहार लेना (संहत) दोष है । अथवा जिस घर में पश्चात् कर्म होने की सम्भावना हो उस घर में एक पात्र से निकालकर दूसरे पात्र में डालकर आहार दिया जाय और पश्चात् कच्चे पानी से उस पात्र को धोने की शङ्का हो तो उस दशा में उस पात्र से आहार लेना 'संहत' दोष है । अंधा, लँगड़ा और लूला प्राणी अजयणा के साथ जो आहार दें, उसे लेना 'दायक' दोष है । असूझती वस्तु से मिली हुई सूझती वस्तु लेना 'उन्मिश्र' दोष है । पूरा पके बिना वस्तु को लेना 'अपरिणत' दोष है । तुरंत की लिपी हुई जमीन को लौंघकर आहार आदि लेना 'लित्त' दोष है । आहार देते हुए मनुष्य के हाथ से आहार के छिंटे पड़ें तो उस आहार को लेना 'छर्दित' दोष है ।

2. भोजन के समय साधुओं को जो दोष वर्जनीय है उन्हें 'ग्रासैषणा दोष' कहते हैं । वे पाँच प्रकार के हैं । वे ये हैं- (१) स्वाद के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे दूध में शक्कर और मिश्री आदि मिलाना, यह 'संयोजना' दोष कहलाता है । (२) मर्यादा से अधिक आहार करना, जैसे पुरुष को ३२ कवल और स्त्री को २८ कवल तथा नपुंसक को २४ कवल से अधिक भोजन करना 'प्रमाण दोष' कहलाता है । अच्छे आहार की प्रशंसा करते हुए आहार करना 'ईगाल दोष' है । बुरे आहार की निन्दा करते हुए आहार करना 'धूम दोष' है । छः कारणों के बिना आहार करना 'कारण दोष' है । 3. अण्णोण्णबुद्धाणुगा चू ।

तदेव विशिनष्टि विपरीता परमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया सम्भूतं समुत्पन्नं तत्त्वविपर्यस्तबुद्धिग्रथितमिति यावत्, पुनरपि विशेषयति- अन्यैरविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं, यथावस्थितार्थविपरीतानुसारिभिर्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ - पाखण्डी अथवा पौराणिकों के वाद- कथा को 'लोकवाद' कहते हैं। अथवा अपनी इच्छानुसार विपरीत मान्यता को 'लोकवाद' कहते हैं। उस लोकवाद को सुनना चाहिए, जानना चाहिए यह अर्थ है। यही शास्त्रकार दिखाते हैं- इस संसार में किन्हीं का यह सिद्धान्त है। वह लोकवाद कैसा है? सो शास्त्रकार विशेषण के द्वारा बतलाते हैं। वह लोकवाद, परमार्थ से विपरीत बुद्धि के द्वारा रचित है अर्थात् वह तत्त्वज्ञान से विपरीत ज्ञान के द्वारा सम्पादित है। फिर शास्त्रकार लोकवाद का विशेषण बतलाते हैं- दूसरे अविवेकियों ने जो असत्य अर्थ बतलाया है, उसी का लोकवाद भी अनुगामी है। आशय यह है कि- पदार्थों का सच्चा स्वरूप न बताकर विपरीत स्वरूप बतानेवाले अविवेकियों ने जो मिथ्या अर्थ बतलाया है, उसके समान ही विपरीत अर्थ बताने के कारण वह लोकवाद भी उसी का अनुगामी है ॥५॥



- तमेव विपर्यस्तबुद्धिरचितं लोकवादं दर्शयितुमाह -

- विपरीत बुद्धि के द्वारा रचित उसी लोकवाद को दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सती ।

अंतवं णिइए लोए, ^१इति धीरोऽतिपासइ

॥६॥

छाया - अणन्तो जित्यो लोकः शाश्वतो न विनश्यति । अन्तवाङ्मित्यो लोक इति धीरोऽतिपश्यति ॥

व्याकरण - (अणंते, निइए, सासए) ये सब लोक के विशेषण हैं। (लोए) कर्ता (ण) अव्यय (विणस्सती) क्रिया (अंतवं, णिइए) लोक के विशेषण हैं (इति) अव्यय (धीरो) कर्ता (अतिपासइ) क्रिया।

अन्वयार्थ - (लोए) यह लोक (अणंते) अनन्त (निइए) नित्य (सासए) और शाश्वत है (ण विणस्सती) यह नष्ट नहीं होता है (लोए) तथा यह लोक (अंतवं) अन्तवाला (णिइए) तथा नित्य है (इति) यह (धीरो) धीर पुरुष (अतिपासइ) अत्यन्त देखते हैं।

भावार्थ - यह लोक अनन्त, नित्य और शाश्वत है, इसका विनाश नहीं होता है तथा यह लोक अन्तवान् (सीमित) और नित्य है। यह व्यास आदि धीर पुरुष देखते हैं।

टीका - नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः, न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति, तथाहि- यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि, यदि वा अनन्तोऽपरिमितो निरवधिक इति यावत्, तथा नित्य इति अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति, तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षयाऽशश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया। तथाऽन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः 'सप्तद्वीपा वसुन्धरे' ति परिमाणोक्तः, स च तादृक् परिमाणो नित्य इत्येवं धीरः कश्चित्साहसिकोऽन्यथा-भूतार्थप्रतिपादनाद् व्यासादिरिवाति पश्यतीत्यतिपश्यति। तदेवंभूतमनेकभेदभिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः। तथा 'अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः, ब्राह्मणाः देवाः', श्वानो यक्षाः, गोभिर्हतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका' इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ॥६॥ किञ्च-

टीकार्थ - जिसका अन्त नहीं है, उसे अनन्त कहते हैं, आशय यह है कि इस लोक का निरन्वय नाश नहीं होता है, क्योंकि इस भव में जो जैसा है, वह परभव में भी वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष, पुरुष ही होता है और स्त्री, स्त्री ही होती है। अथवा यह लोक, अनन्त अर्थात् परिमाण रहित यानी अवधि वर्जित है। तथा यह लोक नित्य यानी उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाला है। एवं यह, सदा वर्तमान रहता है, इसलिए शाश्वत

हैं। यह लोक द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्य की अपेक्षा से यद्यपि शाश्वत नहीं है तथापि इसका कारण द्रव्य कदापि परमाणुत्व को नहीं छोड़ता है, इसलिए यह शाश्वत है। यह लोक कभी नष्ट नहीं होता है, यह बात, दिशा आत्मा और आकाश आदि की अपेक्षा से कही गयी है। जिसका अन्त यानी सीमा होती है, उसे अन्तवान् कहते हैं। यह लोक अन्तवान् है क्योंकि पृथिवी सात द्वीप वाली है, ऐसा पौराणिकों ने इसका परिमाण बतलाया है। इस प्रकार का परिमाणवाला यह लोक नित्य है, इस प्रकार पदार्थों का मिथ्या स्वरूप बताने के कारण व्यास आदि के समान कोई धीर अर्थात् साहसिक पुरुष अति देखता है। इस प्रकार के अनेक लोकवादों को सुनना चाहिए, यह प्रकृत गाथा के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। तथा पुत्र रहित पुरुष के लिए कोई लोक नहीं, ब्राह्मण देवता हैं। कुत्ते यक्ष हैं, गाय के द्वारा मारे हुए पुरुष को तथा गाय मारनेवाले को कोई लोक नहीं मिलता है, इत्यादि युक्ति रहित लोकवाद सुनना चाहिए (यह कोई कहते हैं) ॥६॥



¹अपरिमाणं वियाणाई, इहमेगेसिमाहियं ।

सव्वत्थ सपरिमाणं, इति ²धीरोऽतिपासई

॥७॥

छाया - अपरिमाणं विजानाति, इहेकेषामाख्यातम् । सर्वत्र सपरिमाणमिति धीरोऽतिपश्यति ॥

व्याकरण - (अपरिमाणं) कर्म (वियाणाई) क्रिया (इह) अव्यय (एगेसि) कर्तृवाचक षष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया (सव्वत्थ) अव्यय (सपरिमाणं) कर्म (इति) अव्यय (धीरो) कर्ता (अतिपासई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अपरिमाणं) परिमाण रहित अर्थात् अपरिमित पदार्थ को (वियाणाई) जानता है। (इह) इस लोक में (एगेसि) किन्हीं का (आहियं) कहना है। (सव्वत्थ) सर्वत्र (सपरिमाणं) परिमाण सहित जानता है (इति) यह (धीरो) धीर पुरुष (अतिपासई) अत्यन्तर देखता है।

भावार्थ - किसी की मान्यता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों को जाननेवाला पुरुष अवश्य है परन्तु सब पदार्थों का ज्ञाता सर्वज्ञ पुरुष नहीं है। परिमित पदार्थों को जाननेवाला ही पुरुष है, यह धीर पुरुष अति देखते हैं।

टीका - न विद्यते परिमाणम् इयत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं, तदेवम्भूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिक-तीर्थकृत्, एतदुक्तम्भवति अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा, न पुनः सर्वज्ञ इति, यदि वा- अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्था-तीन्द्रियदर्शीति, तथा चोक्तम् -

“सर्वं पश्यतु वा मा वा³, इष्टमर्थं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥१॥”

इति 'इह' अस्मिंल्लोके एकेषां सर्वज्ञापहववादिनाम् इदमाख्यातम् अयमभ्युपगमः, तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं कर्मतापन्नमाश्रित्य सह परिमाणेन सपरिमाणं-सपरिच्छेदं धीः-बुद्धिः तथा राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति, तथाहि-ते ब्रुवते दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति, तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ, तावन्मात्रं च कालं जागर्ति, तत्र च पश्यत्यसाविति, तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥७॥

टीकार्थ - क्षेत्र या काल से जिसकी सीमा नहीं है, उसे अपरिमाण कहते हैं। अन्यतीर्थी का ईश्वर उस अपरिमाण यानी सीमातीत पदार्थ को देखता है। आशय यह है कि अन्यतीर्थी का ईश्वर अतीन्द्रिय अर्थ को देखनेवाला होकर भी परिमित पदार्थ को ही देखता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं है अथवा अन्यतीर्थी का ईश्वर अपरिमितज्ञानी होकर भी जो अतीन्द्रिय अर्थ मोक्षादि के उपयोगी हैं, उन्हीं को देखता है। समस्त पदार्थों को नहीं देखता है, यह अन्यतीर्थी का कथन है। जैसा कि वे कहते हैं -

(सर्वं पश्यतु वा) अर्थात् ईश्वर सब पदार्थों को देखें अथवा न देखें किन्तु इष्ट अर्थ को देखना चाहिए, क्योंकि कीड़ों की संख्या का ज्ञान हमारे किस काम में आ सकता है ?

यह सर्वज्ञ नहीं माननेवाले अन्यतीर्थियों का मत है। किसी अन्यतीर्थी का मत है कि- धीर पुरुष सब

1. अनितं जाणती वीरे । 2. वीरो चू । 3. कश्चित्तु पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छतीति श्री हेमचन्द्रसूर्युक्तेरत्र प्रकृतिभावसद्भावान्नाप्रयोगता ।

देश और सब काल में परिमित पदार्थ को ही देखता है, जैसा कि वे कहते हैं- ब्रह्मा दिव्य एक हजार वर्ष तक सोते हैं। उस समय वह कुछ नहीं देखते हैं और उतने ही काल तक वे जागते हैं, उस समय वे देखते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकार का लोकवाद प्रचलित है ॥७॥



- अस्य चोत्तरदानायाह -

- अब शास्त्रकार इसका उत्तर देने के लिए कहते हैं -

जे केइ तसा पाणा, चिड्ढंति अदु थावरा ।

परियाए अत्थि ¹से अंजू, जेण ते तसथावरा

॥८॥

छाया - ये केचित् त्रसाः प्राणास्तिष्ठन्त्यथवा स्थावराः । पर्यायोऽस्ति तेषामञ्जू येन ते त्रसस्थावराः ॥

व्याकरण - (जे केइ) सर्वनाम त्रस और स्थावर के विशेषण (तसा थावरा) कर्ता (पाणा) त्रस स्थावर के विशेषण (अदु) अव्यय (चिड्ढंति) क्रिया (से) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (परियाए) कर्ता (अंजू) क्रिया विशेषण (अत्थि) क्रिया (जेण) हेतु तृतीयान्त (ते तसथावरा) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (जे केइ) जो कोइ (तसा) त्रस (अदु) अथवा (थावरा) स्थावर (पाणा) प्राणी (चिड्ढंति) स्थित हैं (से) उनका (अंजू) अवश्य (परियाए) पर्याय (अत्थि) होता है (जेण) जिससे (ते) वे (तस थावरा) त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं ।

भावार्थ - इस लोक में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, वे अवश्य एक दूसरे पर्याय में जाते हैं, अत एव कभी त्रस स्थावर होते हैं और स्थावर त्रस होते हैं ।

टीका - ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियादयः प्राणाः प्राणिनः सत्त्वास्तिष्ठन्ति त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयात् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्यप्यं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा यो यादृगस्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः स्थावराणां त्रसानां च तादृशत्वे सति दानाध्ययन-जपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रियाः सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन् । लोकेनाऽपि चान्यथात्वमुक्तं तद्यथा-

“स तै एष शृगालो जायते यः सपुट्रीषो दह्यते”

तस्मात् स्थावरजङ्गमानां स्वकृतकर्मवशात् परस्परसंक्रमणाद्यनिवारितमिति । तथा ‘अनन्तो नित्यश्च लोकः’ इति यदभिहितं, तत्रेदमभिधीयते-यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्मदभीष्टमेवाभ्युपगतं न काचित् क्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तत्र घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, नहि क्षणभाविपर्यायानालिङ्गितं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षेणावसीयते, निष्पर्यायस्य च खपुष्पस्येवासद्रूपतैव स्यादिति । तथा शश्वद्वनं कार्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेश्चाविनाशित्वं यदुच्यते-द्रव्यविशेषापेक्षया तदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तुत्पाद-व्ययघ्नैव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्तते, अन्यथा वियदरविन्दस्येव वस्तुत्वमेव हीयेतेति । तथा यदुक्तम्- ‘अन्तवान् लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वादित्येतन्निरन्तराः’ सुहृदः प्रत्येक्ष्यन्ति न प्रेक्षापूर्वकारिणः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम्- ‘अपुत्रस्य न सन्ति लोका इत्यादीत्येतदपि बालभाषितं, तथाहि किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिरुत तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात्? तद्यदि सत्तामात्रेण तत इन्द्रमहकामुकगर्तावराहादिभिर्व्याप्ताः लोकाः भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसम्भवात् । अथानुष्ठानमाश्रीयते, तत्र पुत्रद्वये सत्येकेन शोभनमनुष्ठितमपरेणाशोभनमिति तत्र का वार्ता ? स्वकृतानुष्ठानं च निष्फलमापद्येतेत्येवं यत्किञ्चिदेतदिति । तथा ‘श्वानो यक्षा’ इत्यादि युक्तिविरोधित्वादानाकर्णनीयमिति । यदपि चोक्तम् ‘अपरिमाणं विजानाती’ति तदपि न घटामियति, यतः सत्यप्यपरिमितज्ञत्वे यद्यसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशदानविकलत्वात्रैवासौ प्रेक्षापूर्वकारिभिराद्रियेत, तथाहि- तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव, यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेवमन्यत्राप्या- (पीत्या) शङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्तिर स्यात् । तस्मात् सर्वज्ञत्वमेष्टव्यम् । तथा यदुक्तं- ‘स्वापबोधविभागेन परिमितं जानाती’ त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे यत्किञ्चिदिति । यदपि च कैश्चिदुच्यते- यथा ‘ब्रह्मणः स्वप्रावबोधयो- लोकस्य प्रलयोदयौ भवत’ इति तदप्ययुक्तिसङ्गतमेव प्रतिपादितं चैतत्प्रागेवेति न प्रतन्यते । न चात्यन्तं सर्वजगत

1. से जायं चू. 2. अन्तरं-हृदयं, विचारशून्या इति तात्पर्यम् । 3. कुकुर इति त्रिकाण्डशेषः ।

उत्पादविनाशौ विद्येते 'न कदाचिदनीदृशं जगदि' तिवचनात् । तदेवमनन्तादिकं लोकवादं परिहित्य यथावस्थितवस्तुस्वभावविर्भावनं पश्चाद्धेन दर्शयति-ये केचन त्रसाः स्थावराः वा तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽस्त्यसौ पर्य्यायः 'अंजू' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्य्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः सम्पद्यन्ते, स्थावरा अपि च त्रसत्वमश्नुवते तथा त्रसास्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवाऽऽप्नुवन्ति न पुनर्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥८॥

टीकार्थ - जो भय पाते हैं, उन्हें 'त्रस' कहते हैं । द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रस हैं । ये द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रसत्व को अनुभव करते हैं । एवं जिनमें स्थावर नाम कर्म का उदय है, वे पृथिवी आदि प्राणी स्थावर कहलाते हैं । जो मनुष्य आदि प्राणी इस जन्म में जैसा है, वह दूसरे जन्म में भी वैसा ही होता है । यह लोकवाद यदि सत्य हो तब तो दान, अध्ययन, जप, नियम और तप आदि समस्त क्रियायें व्यर्थ होगीं । परन्तु यह नहीं होता। लौकिकों ने भी जीवों का अन्यथाभाव कहा है जैसे कि-

वह पुरुष शृंगाल होता है जो विष्ठा के सहित जलाया जाता है ।

अतः स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी अपने किये हुए कर्म के अनुसार एक से दूसरी गति में जाते हैं, अर्थात् त्रस स्थावर होते हैं, और स्थावर त्रस होते हैं । तथा लौकिकों ने जो यह कहा है कि "यह लोक अनन्त और नित्य है" इसका समाधान दिया जाता है । पदार्थों की अपनी-अपनी जाति का नाश नहीं होता है, इसलिए यदि इस जगत् को नित्य कहते हो तब तो कोई क्षति नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर आर्हतमतप्रसिद्ध परिणामानित्यत्व पक्ष को ही तुम स्वीकार करते हो । यदि ऐसा न मानकर तुम उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाले पदार्थों को मानकर जगत् की नित्यता कहते हो तो यह सत्य नहीं है क्योंकि जगत् में कोई भी पदार्थ उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाला नहीं देखा जाता है, अतः ऐसी मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है । इस जगत् में ऐसा एक भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है जो क्षण क्षण उत्पन्न होनेवाले पर्य्यायों से युक्त न हो । वस्तुतः पर्य्याय रहित पदार्थ आकाश के पुष्प की तरह असत् स्वरूप ही सिद्ध होगा । तथा कार्यद्रव्य को और आकाश तथा आत्मा आदि को जो अविनाशी कहते हो यह भी द्रव्यविशेष की अपेक्षा से मिथ्या ही है, क्योंकि सभी पदार्थ उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होकर विभाग रहित ही प्रवृत्त होते हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो आकाश के पुष्प के समान पदार्थ का वस्तुत्व ही न रहेगा । तथा लौकिकों ने जो यह कहा है कि- "सात द्वीपों से युक्त होने के कारण यह लोक अन्तवाला है" यह भी तुम्हारे मूर्ख मित्र ही मान सकते हैं, परन्तु जो विचारकर कार्य करनेवाले हैं, वे नहीं मान सकते हैं, क्योंकि इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। तथा लौकिकों ने जो यह कहा है कि- "पुत्रहीन पुरुष के लिए कोई लोक नहीं है" यह भी बालक का भाषण के समान ही युक्ति रहित है, क्योंकि पुत्र की सत्तामात्र से विशिष्ट लोक की प्राप्ति होती है अथवा पुत्र के द्वारा किये हुए विशिष्ट अनुष्ठान से होती है ? यदि पुत्र के सद्भाव मात्र से विशिष्ट लोक की प्राप्ति कहो तब तो समस्त लोक कुत्ते और सुअरों से पूर्ण हो जायेंगे, क्योंकि इनके पुत्र बहुत होते हैं । यदि पुत्र के द्वारा किये हुए शुभ अनुष्ठान से विशिष्ट लोक की प्राप्ति मानो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष के दो पुत्र हैं, उनमें एक ने शुभ अनुष्ठान किया है और दूसरे ने अशुभ अनुष्ठान किया है, तो वह पिता एक पुत्र के शुभ अनुष्ठान के प्रभाव से उत्तम लोक में जायगा अथवा दूसरे पुत्र के द्वारा किये हुए अशुभ अनुष्ठान के कारण अशुभ लोक में जायगा । तथा उस पिता ने जो कर्म किये हैं, वे तो निष्फल ही होंगे, अतः 'पुत्र रहित के लिए कोई लोक नहीं' यह कथन अविवेक पूर्ण है । तथा "कुत्ते यक्ष हैं" यह कथन तो युक्ति विरुद्ध होने के कारण सुनने योग्य भी नहीं है । तथा लौकिकों ने जो यह कहा है कि- "ईश्वर अपरिमित पदार्थ को जानते हैं, परन्तु सर्वज्ञ नहीं हैं।" यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपरिमितपदार्थदर्शी होकर भी जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, वह हेय (त्याग ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों के उपदेश देने में समर्थ नहीं हो सकता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष उसका आदर नहीं कर सकते हैं । उस पुरुष के कीट संख्या का ज्ञान भी उपयोगी ही है, क्योंकि वह जैसे कीड़ों के विषय में नहीं जानता है, उसी तरह दूसरे पदार्थों के विषय में भी नहीं जानता होगा, ऐसी आशङ्का के कारण

बुद्धिमान् पुरुष उसके द्वारा कहे हुए हेय और उपादेय के विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, अतः सर्वज्ञ मानना आवश्यक है ।

तथा यह जो कहा है कि- “ब्रह्मा सोते समय कुछ नहीं जानता है, परन्तु जागते समय जानता है ।” तो यह बात भी कोई अपूर्व नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी सोते समय कुछ नहीं जानते हैं और जागते समय जानते हैं। तथा लौकिकों ने यह जो कहा है कि- “ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उदय होता है।” यह भी अयुक्त है, क्योंकि इसका विवेचन हम पहले ही कर आये हैं अतः यहाँ विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः इस जगत् का कभी भी अत्यन्त विनाश अथवा अत्यन्त उत्पत्ति नहीं होती है । “यह जगत् कभी भी ओर तरह का नहीं होता है ।” यह वचन है । इस प्रकार “यह जगत् अनन्त है” इत्यादिक लोकवाद को छोड़कर शास्त्रकार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश गाथा के उत्तरार्ध के द्वारा करते हैं-

इस संसार में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, वे अपने-अपने कर्म का फल भोगने के लिए अवश्य एक से दूसरे पर्याय में जाते हैं, यह बात निश्चित और आवश्यक है । त्रस प्राणी अपने कर्म का फल भोगने के लिए स्थावर पर्याय में जाते हैं और स्थावर प्राणी त्रस पर्याय में जाते हैं । परन्तु त्रस दूसरे जन्म में भी त्रस ही होते हैं और स्थावर स्थावर ही होते हैं अर्थात् जो इस जन्म में जैसा है, वह दूसरे जन्म में भी वैसा ही होता है, यह नियम नहीं है ॥८॥



- अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्ताभिधित्सयाऽऽह -

- संसारी प्राणी भिन्न-भिन्न पर्यायों में बदलते रहते हैं, इस बात को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं -

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिति य ।

सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिता

॥९॥

छाया - उदारं जगतो योऽं विपर्यासं पत्ययन्ते । सर्वेऽकान्तदुःखाश्च, अतः सर्वेऽहिंसिताः ॥

व्याकरण - (जगतो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (जोगं) कर्म (उरालं, विवज्जासं) योग के विशेषण (पलिति) क्रिया (य) अव्यय (सव्वे) प्राणियों का बोधक सर्वनाम (अक्कंतदुक्खा) प्राणियों का विशेषण (य) अव्यय (अओ) अव्यय (सव्वे, अहिंसिता) प्राणी के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (जगतो) औदारिक जीवों का (जोगं) अवस्था विशेष (उरालं) स्थूल है । (य) और वह (विवज्जासं) विपर्यय को (पलिति य) प्राप्त होता है । (सव्वे) सभी प्राणी को (अक्कंतदुक्खा) दुःख अप्रिय है (अओ) इसलिए (सव्वे) सभी प्राणी की (अहिंसिता) हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

भावार्थ - औदारिक जन्तुओं का अवस्था विशेष स्थूल है, क्योंकि सभी प्राणी एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में जाते रहते हैं । तथा सभी प्राणी को दुःख अप्रिय है, इसलिए किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

टीका - ‘उराल’ मिति स्थूलमुदारं ‘जगत’ औदारिकजन्तुग्रामस्य योगं व्यापारं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः, औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषाद् गर्भकललार्बुदरूपाद् विपर्यासभूतं बालकौमारयौवनादिकमुदारं योगं परिसमन्तादयन्ते गच्छन्ति पर्ययन्ते, एतदुक्तं भवति- औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्बालकौमारादिकः कालादि-कृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चान्यथा च भवन् प्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुन र्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति, एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति । अपि च- सर्वे जन्तव आक्रान्ता अभिभूताः दुःखेन शारीरमान-सेनासातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि यथाऽहिंसिताः भवन्ति तथा विधेयम् । यदिवा- सर्वेऽपि जन्तवः अकान्तम् अनभिमतं दुःखं येषान्तेऽकान्तदुःखाः ‘च’ शब्दात् प्रियसुखाश्च, अतस्तान् सर्वान् न हिंस्यादित्यनेन चान्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥९॥

टीकार्थ - औदारिक शरीरवाले सब जीवों का योग व्यापार यानी अवस्था विशेष उदार अर्थात् स्थूल है ।

औदारिक शरीरवाले प्राणी, गर्भ, कलल और अर्बुद रूप पूर्व अवस्था को छोड़कर उससे विपरीत बाल, कौमार और यौवन आदि स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि प्राणियों की कालकृत कौमार आदि अवस्थायें प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं, परन्तु जो जैसा पहले होता है, वह सदा वैसा ही रहे यह नहीं देखा जाता है। इसी तरह स्थावर जङ्गम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं, यह जानना चाहिए। सांसारिक सभी प्राणी, शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए पाये जाते हैं, अतः उन प्राणियों की जिस प्रकार हिंसा न हो वही करना चाहिए। अथवा सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय और सुख प्रिय होता है, अतः सभी की हिंसा न करनी चाहिए। इसीलिए इस पद्य के द्वारा प्राणियों का अन्यथाभाव बताया गया है और उनको न मारने का उपदेश भी दिया है ॥९॥



- किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह -

- प्राणियों की हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए सो शास्त्रकार बतलाते हैं -

एयं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसइ किंचण ।

अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया

॥१०॥

छाया - एतत् खलु ज्ञानिन्ः सारं, यन्न हिंस्ति कञ्चन । अहिंसासमतां चैवैतावद्विजानीयात् ॥

व्याकरण - (एयं) सर्वनाम, सार का विशेषण (नाणिणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (सारं) कर्ता (जत्) हेत्वर्थक (न) अव्यय (हिंसइ) क्रिया (किं) कर्म (च ण) अव्यय (एतावंतं) सर्वनाम (अहिंसासमयं) कर्म (वियाणिया) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (नाणिणो) विवेकी पुरुष के लिए (एयं खु) यही (सारं) न्यायसङ्गत है कि (किंचण) किसी जीव को (न हिंसइ) वे न मारें (अहिंसासमयं चेव) अहिंसा के कारण जो सब प्राणियों में समभाव रखना है (एतावंतं) उसे भी इतना ही (वियाणिया) जानना चाहिए।

भावार्थ - किसी जीव को न मारना यही ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय संगत और अहिंसा रूप समता भी इतनी ही है।

टीका - खुरवधारणे, एतदेव ज्ञानिनो विशिष्टविवेकवतः सारं न्याय्यं यत् कञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा न हिंस्ति न परितापयति, उपलक्षणं चैतत् तेन न मृषा ब्रूयान्नादत्तं गृहीयान्नाब्रह्माऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृह्णीयात्र नक्तं भुञ्जीतेत्येतद् ज्ञानिनः सारं यत्र कर्माश्रवेषु वर्तत इति । अपि च अहिंसया समता अहिंसासमता तां चैतावद्विजानीयात्, यथा मम मरणं दुःखं चाप्रियमेवमन्यस्यापि प्राणिलोकस्येति । एवकारोऽवधारणे, इत्येवं साधुना ज्ञानवता प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि न विधेयमेवेति ॥१०॥

टीकार्थ - 'खु' शब्द अवधारण अर्थ में आया है। विशिष्ट विवेकी अर्थात् ज्ञानी पुरुष के लिए यही न्याय सङ्गत है कि वे स्थावर, जङ्गम किसी भी प्राणी की हिंसा न करे तथा उन्हें कष्ट न दें। यहाँ हिंसा न करना उपलक्षण है, इसलिए ज्ञानी पुरुष झूठ न बोलें और न दी हुई चीज न लें, मैथुन सेवन न करें, परिग्रह न रखें और रात्रिभोजन न करें। ज्ञानी के लिए न्याय सङ्गत यही है कि वे कर्माश्रवों में न पड़ें। तथा अहिंसा के कारण जो समभाव है वह भी इतना ही है। जैसे मुझे मरण अप्रिय है, उसी तरह सब प्राणियों को अपना मरण अप्रिय है, यह जानकर ज्ञानवान् साधु को, प्राणियों को पीड़ा तथा कष्ट नहीं देना चाहिए ॥१०॥



- एवं मूलगुणानभिधायेदानीमुत्तरगुणानभिधातुकाम आह-

- इस प्रकार मूलगुणों का वर्णन कर अब उत्तरगुणों को कहने की इच्छा से कहते हैं -

वुसिए य विगयगेही^१, आयाणं सं (सम्म) रक्खए^२ ।

१. विगयगिन्दी य प्र. । २. आयाणीयं सरक्खए चू. ।

चरिआसणसेज्जासु भत्तपाणे अ अंतसो

॥११॥

छाया - व्युषितश्च विगतगृद्धिरादानं सम्यगक्षेत । चर्यासनशय्यासु भक्तपाणेचान्तशः ॥

व्याकरण - (वुसिए, विगयगेही) ये साधु के विशेषण है (आयाणं) कर्म (संरक्खए) क्रिया (चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे) अधिकरण (अ) अव्यय (अंतसो) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (वुसिए) दश प्रकार की साधु समाचारी में स्थित (विगयगेही) आहार आदि में गृद्धि रहित साधु (आयाणं) ज्ञान, दर्शन और चारित्र की (संरक्खए) सम्यक् प्रकार से रक्षा करे (चरिआसणसेज्जासु) चलने, फिरने, बैठने और शय्या के विषय में (अंतसो) अन्ततः (भत्तपाणे य) भात, पानी के विषय में सदा उपयोग रखे ।

भावार्थ - दश प्रकार की साधु समाचारी में स्थित आहार आदि में गृद्धि रहित मुनि, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अच्छी तरह से रक्षा करे एवं चलने, फिरने, बैठने, सोने तथा भात, पानी के विषय में सदा उपयोग रखे ।

टीका - विविधम्- अनेकप्रकारमुषितः स्थितो दशविधचक्रवालसमाचार्या व्युषितः, तथा विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धिः साधुः एवंभूतश्चादीयते स्वीक्रियते प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं- ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद् अनुपालयेत्, यथा यथा च तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा कुर्यादित्यर्थः । कथं पुनश्चारित्रादि पालितं भवतीति दर्शयति- चर्यासनशय्यासु, चरणं चर्या-गमनं साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यं, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यं, तथा शय्यायां वसंतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमार्जिते स्थानादि विधेयं, तथा भक्तपाणे चान्तशः सम्यगुपयोगवता भाव्यम्, इदमुक्तं भवति ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेप-प्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोषरहितमन्वेषणीयमिति ॥११॥

टीकाथ - तलवार की धार के समान जो दश प्रकार की साधु समाचारी हैं, उसमें अनेक प्रकार से स्थित पुरुष 'व्युषित' कहलाता है । तथा आहार आदि में जिसकी गृद्धि नहीं है, वह 'विगतगृद्धि' कहलाता है । इन दोनों गुणों से युक्त मुनि जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे । ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिस-जिस तरह से वृद्धि हो, उक्त मुनि उस-उस तरह का कार्य करे । चारित्र आदि का पालन किस तरह हो सकता है ? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं, चलने को, 'चर्या' कहते हैं । प्रयोजनवश किसी स्थान पर जाता हुआ साधु युगमात्र दृष्टि रखकर जावे, तथा खूब अच्छी तरह देखकर सुप्रमार्जित आसन पर बैठे एवं अपनी शय्या अथवा बिस्तर को (संधारादि) अच्छी तरह देख और प्रमार्जित कर के उस पर स्थिति करे एवं भात, पानी के विषय में भी अच्छी तरह उपयोग रखे । आशय यह है कि साधु, ईर्या, भाषा, एषणा आदान निक्षेप और प्रतिष्ठापना समिति में सदा उपयोग रखता हुआ उद्गमादि दोषवर्जित भात पानी का अन्वेषण करे ॥११॥



- पुनरपि चारित्रशुद्ध्यर्थं गुणानधिकृत्याह -

- और भी शास्त्रकार चारित्र की शुद्धि के लिए गुणों को बतलाते हैं -

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, ^१संजए सततं मुणी ।

उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए

॥१२॥

छाया - एतेषु त्रिषु स्थानेषु संयतः सततं मुनिः । उत्कर्षः ज्वलनं छादकं मध्यस्थं च विवेचयेत् ॥

व्याकरण - (एतेहिं, तीहिं) स्थान के विशेषण (ठाणेहिं) अधिकरण (सततं) क्रिया विशेषण (संजए) मुनि का विशेषण (मुणी) कर्ता (उक्कसं, जलणं, णूमं, मज्झत्थं) ये सब कर्म (विगिंचए) क्रिया (च) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (एतेहिं) इन (तीहिं) तीन (ठाणेहिं) स्थानों में (सततं) सदा (संजए) संयम रखता हुआ (मुणी) मुनि (उक्कसं) मान (जलणं) क्रोध (णूमं) माया (च) और (मज्झत्थं) लोभ का (विगिंचए) त्याग करे ।

भावार्थ - ईर्या समिति, आदान निक्षेपणा समिति और एषणा समिति, इन तीनों स्थानों में सदा संयम रखता हुआ मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करे ।

टीका - एतानि-अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा- ईर्यासमिति रित्येकं स्थानम् आसनं शय्येत्यनेनादान-भाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति रित्येतच्च द्वितीयं स्थानं, भक्तपानमित्यनेनैषणासमिति रूपात्ता, भक्तपानार्थं च प्रविष्टस्य भाषणसम्भवाद् भाषासमितिराक्षिता, सति चाहारे उच्चारप्रस्रवणादीनां सद्भावात् प्रतिष्ठापनासमिति रप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग्यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति । तथा सततम् अनवरतम् मुनिः सम्यक् यथावस्थितजगत्त्रयवेत्ता उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो-मानः तथा आत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति-दहतीति ज्वलनः-क्रोधः, तथा 'णूम' मिति गहनं मायेत्यर्थः, तस्या अलब्धमध्यत्वादेवमभिधीयते, तथा आसंसारमसुमतां मध्ये अन्तर्भवतीति मध्यस्थो लोभः, च शब्दः समुच्चये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायैस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा विगिंचेति विवेचयेदात्मनः पृथक् कुर्यादित्यर्थः ।

ननु चान्यत्रागमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्यामारूढो भगवान् क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति, तत्किमर्थमागमप्रसिद्धं क्रममुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ? अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यं भावी क्रोधः, क्रोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथाक्रमकरणमिति ॥१२॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त तीन स्थानों में साधु को सदा संयम के साथ रहना चाहिए । पूर्वोक्त तीन स्थान ये हैं- ईर्या समिति, यह पहला स्थान है । तथा आसन और शय्या शब्द से आदान और भाण्डनिक्षेपणा समिति कही गयी है, यह दूसरा स्थान है । भक्त पान शब्द से एषणा समिति कही गयी है । भक्त पान के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश किये हुए साधु का भाषण करना भी संभव है, इसलिए यहाँ भाषा समिति का भी आक्षेप समझना चाहिए । आहार करने पर उच्चार और प्रस्रवण भी संभव है, इसलिए प्रतिष्ठापना समिति भी यहाँ आ ही जाती है, यह तीसरा स्थान है । इन तीनों स्थानों में सदा संयम के साथ रहता हुआ साधु मोक्षपर्यन्त संयम का पालन करे, यह उत्तर श्लोक की क्रिया का यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए । तीन लोक के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला मुनि, जिससे आत्मा अभिमान युक्त होता है, ऐसे उत्कर्ष यानी मान को त्याग देवे । जो अपने आत्मा को तथा चारित्र को जलाता है, उसे 'ज्वलन' कहते हैं वह, क्रोध है, उस क्रोध को भी मुनि छोड़ देवे । एवं 'णूम' माया को कहते हैं, इस माया का मध्य जाना नहीं जाता है, इसलिए इसे 'णूम' (गहन) कहते हैं । मुनिराज इस माया का भी त्याग करें । संसार पर्यन्त जो प्राणियों के मध्य में निवास करता है, उसे मध्यस्थ कहते हैं, वह लोभ है, उसको भी मुनि छोड़ देवे । इस गाथा में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिए चतुर्विध कषायों का फल जाननेवाला मुनि, उक्त चार कषायों को सदा के लिए त्याग देवे ।

शङ्का - दूसरी जगह सर्वत्र आगमों में पहले क्रोध का कथन हुआ है तथा क्षपक श्रेणि में आरूढ़ भगवान् संज्वलनात्मक क्रोध आदि का ही नाश करते हैं, फिर शास्त्र प्रसिद्ध क्रम को उल्लंघन करके यहाँ पहले मान का कथन क्यों किया है ?

समाधान - मान होने पर क्रोध अवश्य होता है परन्तु क्रोध होने पर मान होता भी है और नहीं भी होता है । इस बात को प्रकट करने के लिए यहाँ क्रम का उल्लंघन किया है ॥१२॥



- तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणांश्चोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह -

- इस प्रकार मूल गुण और उत्तर गुणों को बताकर अब शास्त्रकार सब का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

समि ए उ सया साहू, पंचसंवरसंवुडे ।

सिएहि असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि

॥१३॥ ति बेमि

इति समयाख्यं पढमाज्झयणं समत्तं । [ग्रा. ग्रं. ८८]

छाया - समितस्तु सदा साधुः पञ्चसंवरसंवृतः । सितेष्वसितो भिक्षुरामोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ॥

व्याकरण - (समिए, पंचसंवरसंवुडे) साधु के विशेषण (हि, सया) अव्यय (सिएहि) अधिकरण (असिए) साधु का विशेषण (आमोक्षाय) चतुर्थ्यन्त (परिव्रएज्जासि) क्रिया (ति) अव्यय (बेमि) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (भिक्षू) भिक्षणशील (साहू) साधु (सया) सदा (समिए) समिति से युक्त और (पंचसंवरसंवुडे) पांच संवर से गुप्त रहता हुआ (सिएहि) गृह पाश में बँधे हुए गृहस्थों में (असिए) मूर्च्छा न रखता हुआ (आमोक्षाय) मोक्ष पर्यन्त (परिव्रएज्जासि) संयम का अनुष्ठान करे (ति बेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - भिक्षणशील साधु, समिति से युक्त और पांच संवरों से गुप्त होकर गृहस्थों में मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त संयम का पालन करे यह श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि यह मैं भगवान का कहा हुआ कहता हूँ ।

टीका - तुरवधारणे, पञ्चभिः समितिभिः समित एव साधुः, तथा प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकार-संवरसंवृतः, तथा मनोवाक्कायगुप्तिगुप्तः, तथा गृहपाशादिसु सिताः- बद्धाः अवसक्ताः गृहस्थास्तेष्वसितः- अनवबद्धस्तेषु मूर्च्छामकुर्वाणः पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणाऽदिह्यमानो भिक्षुः-भिक्षणशीलो भावभिक्षुः आमोक्षाय अशेषकर्मापगमलक्षण-मोक्षार्थं परि समन्तात् व्रजेः-संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः इतिः अध्ययनसमाप्तौ । ब्रवीमीति गणधर एवमाह, यथा तीर्थकृतोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति । गतोऽनुगमः । साम्प्रतं नयास्तेषामयमुपसंहारः-

“सत्त्वैस्तिं पि नयाणं, बहुविधवक्तव्यं निसामित्ता ।

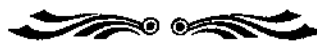
तं सत्त्वणयविशुद्धं जं चरणगुणदृष्टिओ साहू ?” ॥१३॥८८॥

इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्यं प्रथमाध्ययनं समाप्तम् ।

टीकार्थ - यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है । साधु सदा पांच प्रकार की समितियों से युक्त होकर रहे । एवं प्राणातिपात विरमण आदि पांच महाव्रतों से युक्त रहता हुआ साधु सदा पांच संवरों से गुप्त रहे । एवं मन, वचन और काया से सदा गुप्त रहे । गृह पाश में बँधे हुए गृहस्थों में साधु मूर्च्छा न करे । जैसे कीचड़ में रहता हुआ भी कमल कीचड़ से लिप्त नहीं होता है, उसी तरह गृहस्थों में निवास करता हुआ भी साधु उनके कर्म से लिप्त न हो । इस प्रकार भिक्षणशील अर्थात् हे भावभिक्षो ! समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए सदा संयम के अनुष्ठान में रत रहो, यह शिष्य के प्रति उपदेश है । यहाँ ‘इति’ शब्द अध्ययन की समाप्ति का द्योतक है । ‘ब्रवीमि’ मैं कहता हूँ यह गणधर कहते हैं । गणधर कहते हैं कि - तीर्थंकर ने जैसा मुझ से कहा है, वैसा ही मैं कहता हूँ, अपनी इच्छा से नहीं कहता । अनुगम समाप्त हुआ अब नयों का अवसर है -

(सत्त्वैस्तिं) सब नयों का बहुविध वक्तव्य को सुनकर, उसी को सर्वनयविशुद्ध मानना चाहिए जिसको क्रिया और ज्ञान में स्थित साधु विशुद्ध मानते हैं ॥१३॥८८॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र का समय नामक प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ ।



अथ श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रस्य द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारम्भ्यते

उक्तं समयाख्यं प्रथममध्ययनं, साम्प्रतं वैतालीयाख्यं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः— इहानन्तराध्ययने स्वसमयगुणाः परसमयदोषाश्च प्रतिपादिताः तांश्च ज्ञात्वा यथा कर्म विदार्यते तथा बोधो विधेय इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भणनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागेव निर्युक्ति-कारेणाभाणि 'णारुण बुज्झणा चेवेत्यनेन गाथाद्वितीयपादेनेति, उद्देशार्थाधिकारं तु स्वत एव निर्युक्तिकार उत्तरत्र वक्ष्यति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

समय नामक प्रथम अध्ययन कहा जा चुका, अब वैतालीय नामक दूसरा अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है— पूर्व अध्ययन में अपने समय (सिद्धान्त) के गुण और पर समय (सिद्धान्त) के दोष कहे गये हैं, उन्हें जानकर जिस तरह, कर्म का नाश किया जा सकता है, वैसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, यह उपदेश देने के लिए इस दूसरे अध्ययन का जन्म हुआ है। इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिए। उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार दो हैं, एक अध्ययनार्थाधिकार अर्थात् सम्पूर्ण अध्ययन में कहा जानेवाला विषय और दूसरा उद्देशार्थाधिकार अर्थात् इस अध्ययन के उद्देशकों में कहा जानेवाला विषय। इनमें "णारुण बुज्झणा चेव" इस गाथा के द्वितीय पाद के द्वारा अध्ययनार्थाधिकार को पहले ही निर्युक्तिकार ने बतला दिया है और उद्देशार्थाधिकार भी आगे चलकर स्वयमेव निर्युक्तिकार बतलावेंगे, अब निर्युक्तिकार नामनिक्षेप के विषय में कहते हैं।

वेयालियमि वेयालगो य वेयालगं यियालणियं । तिन्रियि चउक्कगाई यियालओ एत्थ पुण जीयो ॥३६॥ नि०

टीका - तत्र प्राकृतशैल्या वेयालियमिति 'दृ विदारणे' इत्यस्य धातोर्वि पूर्वकस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकमिति क्रियावाचकमिदमध्ययनाभिधानमिति, सर्वत्र च क्रियायामेतत् त्रयं सन्निहितं तद्यथा कर्ता, करणं, कर्म चेति, अतस्तद्दर्शयति—विदारको, विदारणं, विदारणीयं च। तेषां त्रयाणामपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपेण त्रीणि चतुष्ककानि द्रष्टव्यानि। अत्र च नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारको यो हि द्रव्यं काष्ठादि विदारयति, भावविदारकस्तु कर्मणो विदार्यत्वात् नोआगमतो जीवविशेषः साधुरिति ॥३६॥

विपूर्वक 'दृ विदारणे' इस धातु से छान्दसत्वात् भाव में ण्वुल् प्रत्यय करके 'विदारकम्' यह पद बना है, यह पद क्रियावाचक है और यही इस अध्ययन का नाम है परन्तु प्राकृत की शैली से इसको 'वेयालिय' कहते हैं। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ ये तीन अवश्य रहते हैं, कर्ता, करण और कर्म। अतः निर्युक्तिकार इन्हें दिखलाते हैं। यहाँ विदारण करनेवाला और विदारण का साधन तथा विदारण करने योग्य पदार्थ भी अवश्य हैं, इन तीनों का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से चार प्रकार का निक्षेप करने पर तीन चतुष्क (चौक) होते हैं। इनमें नाम और स्थापना बार-बार कहे गये हैं, अतः उन्हें छोड़कर द्रव्यविदारक कहा जाता है। जो काष्ठ आदि द्रव्यों को विदारण करता है। वह द्रव्य विदारक है और जो कर्म को विदारण करता है वह भाव विदारक है। भाव विदारक नोआगम से जीवविशेष है और वह जीव विशेष साधु है ॥३६॥

करणमधिकृत्याह -

दव्यं च परसुमादी, दंसणणाणतयसंजमा भावे । दव्यं च दारुगादी भावे कम्मं यियालणियं ॥३७॥ नि०

नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविदारणं परश्चादि, भावविदारणं तु दर्शनज्ञानतपःसंयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्य-मित्युक्तं भवति, विदारणीयं तु नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यं दारुवादि भावे पुनरष्टप्रकारं कर्मेति ॥३७॥

साम्प्रतं 'वेतालिय'मित्येतस्य निरुक्तं दर्शयितुमाह -

1. "उपायपूर्वक आरम्भ उपक्रमः" उपाय पूर्वक आरम्भ करने का नाम उपक्रम है।

वेयालियं इह देसियति वेयालियं तओ होइ । वेयालियं तहा वित्तमत्थि तेणेव य णिबद्धं ॥३८॥ नि०

इहाध्ययनेऽनेकधा कर्मणां विदारणमभिहितमिति कृत्वैतदध्ययनं निरुक्तिवशाद्विदारकं ततो भवति, यदि वा वैतालीयमित्यध्ययननाम, अत्रापि प्रवृत्तौ निमित्तं- वैतालीयं छन्दोविशेषरूपं वृत्तमस्ति, तेनैव च वृत्तेन निबद्धमित्य-
ध्ययनमपि वैतालीयं तस्य चेदं लक्षणम्-

“वैतालीयं 'लंगनैर्धनाः षड्युक्पादेऽष्टौ समे च लः ।

न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः षट् च निरन्तरा युजोः” ॥३८॥

साम्प्रतमध्ययनस्योपोद्घातं दर्शयितुमाह-

कामं तु सासयमिणं कहियं अट्ठावयंमि उस्सणेणं । अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊणं ते वि पव्वइया ॥३९॥ नि०

कामशब्दोऽयमभ्युपगमे, तत्र यद्यपि सर्वोऽप्यागमः शाश्वतः तदन्तर्गतमध्ययनमपि तथापि भगवता आदितीर्था-
धिपेनोत्पन्नदिव्यज्ञानेनाष्टापदोपरिव्यवस्थितेन भरताधिपभरतेन चक्रवर्तिनोपहर्तैरष्टैरनवतिभिः पुत्रैः पृष्टेन यथा भरतोऽ-
स्मानाज्ञां कारयतीत्यतः किमस्माभिर्विधेयमित्यतस्तेषामङ्गारदाहकदृष्टान्तं प्रदर्श्य न कथञ्चिज्जन्तोर्भोगेच्छा निवर्तते
इत्यर्थगर्भमिदमध्ययनं कथितं प्रतिपादितं तेऽप्येतच्छ्रुत्वा संसारासारतामवगम्य विषयाणां च कटुविपाकतां निःसारतां च
ज्ञात्वा मत्तकरिकर्णवच्चपलमायुर्गिरिदीवेगसमं यौवनमित्यतो भगवदाज्ञैव श्रेयस्करीति तदन्तिके सर्वे प्रव्रज्यां गृहीतवन्त
इति । अत्र ‘उद्देसे निद्देसे य’ इत्यादिः सर्वोऽप्युपोद्घातो भगनीयः ॥३९॥

टीकार्थ - अब करण के निक्षेप के विषय में कहते हैं । नाम और स्थापना बार-बार कहे गये हैं, इसलिए उन्हें छोड़कर द्रव्यविदारण बताया जाता है । काष्ठ आदि को विदारण करनेवाले कुठार आदि द्रव्यविदारण हैं और दर्शन, ज्ञान, तप तथा संयम ये भाव विदारण हैं, क्योंकि कर्म को विदारण करने का सामर्थ्य इन्हीं में विद्यमान है । अब विदारण करने योग्य वस्तु का निक्षेप बतलाते हैं । नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य और भावविदारणीय पदार्थ बताये जाते हैं । काष्ठ आदि पदार्थ द्रव्य विदारणीय हैं और आठ प्रकार के कर्म भाव विदारणीय हैं ॥३७॥

अब वैतालीय शब्द की व्याख्या करने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं । इस अध्ययन में कर्मों को विदारण करने की रीतियाँ अनेकों बतायी गयी हैं, इसलिए इस अध्ययन को अर्थवश ‘विदारक’ कहते हैं । अथवा इस अध्ययन का ‘वैतालीय’ नाम है । यह नाम होने का कारण यह है कि वैतालीय नाम का एक छन्दोविशेष होता है, उसी छन्द में इस अध्ययन की रचना की गयी है, इसलिए इसका नाम ‘वैतालीय’ है । इस वैतालीय छन्द का लक्षण यह है कि -

(वैतालीय) जिस वृत्त के प्रत्येक पाद के अन्त में रगण, लघु और गुरु हों, तथा प्रथम और तृतीय पाद में छः छः मात्रायें हों एवं द्वितीय और चतुर्थ पाद में आठ आठ मात्रायें हों एवं सम संख्यावाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में लगातार छः लघु न हों उसे ‘वैतालीय’ छन्द कहते हैं ॥३८॥

अब निर्युक्तिकार अध्ययन का उपोद्घात (अवतरण) दिखाने के लिए कहते हैं । इस गाथा में ‘काम’ शब्द स्वीकार अर्थ में आया है । यद्यपि सभी आगम शाश्वत अर्थात् नित्य हैं, अतः आगमों के अन्तर्गत अध्ययन भी नित्य हैं, तथापि भरत चक्रवर्ती के द्वारा आज्ञाकराये हुए, भगवान् ऋषभदेवजी के ९८ अट्ठाणु पुत्रों ने अष्टापद पर्वत पर स्थित उत्पन्नदिव्यज्ञानी भगवान् ऋषभदेवजी से पूछा था कि- हे भगवन् ! भरत हम लोगों से अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमें क्या करना चाहिए ? सो आप उपदेश कीजिए तब भगवान् आदि तीर्थङ्कर श्री

1. ओजे षण्मात्रा लंगन्ता युज्यष्टौ न युजि षट् संततं ला न समः परेण गौ वेतालियम- (छन्दोऽनुशासने अ. ३-५३) तद्वैतालियं छन्दः यत्र रगण-लघुगुरुप्रान्ताः प्रथमतृतीययो षट् द्वितीयचतुर्थयोरष्टौ मात्राः, अत्र समसङ्ख्यको लघुर्न परेण गुरुः कार्यः इतश्चाविषमपादयो षट् ला निरन्तरा नेति वैतालीयार्थः ।

2. यद्यपि विंशत्याद्येति वचनात्स्यादत्र स्त्रीत्वमेकवचन्तन्वितं तथापि प्रतिपुत्रं प्रश्नोत्तरपार्थक्यविवरायाऽत्रबहुत्वं । चैत्रमैत्राभ्यामेकविंशती दत्तमिति वत् ।

ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों को अग्नि का दृष्टान्त देकर यह उपदेश दिया था कि जैसे काष्ठ से अग्नि की तृप्ति नहीं होती है, इसी तरह विषय भोगने से मनुष्य की इच्छा निवृत्ति नहीं होती है, यही उपदेश इस अध्ययन में कहा गया है। इसके पश्चात् श्री ऋषभदेवजी का उपदेश सुनकर उनके ९८ पुत्रों ने संसार को असार और विषय भोग को कटुफल तथा सार रहित एवं मतवाले हाथी के कान के समान आयु को चञ्चल और पहाड़ी नदी के समान युवावस्था को अस्थिर जानकर भगवान् की आज्ञा पालन करने में ही कल्याण है, यह समझकर उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी। यहाँ भी 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादि सभी उपोद्घात कहने चाहिए ॥३९॥

साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारं प्रागुल्लिखितं दर्शयितुमाह -

पदमे संबोहो^१ अनिच्चया य, बीयंमि माणवज्जणया । अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ ॥४०॥ नि०
उद्देसमि य^२ तड्ढए अन्नाणचियस्स अवचओ भणिओ । वज्जेय्यो य सया सुहप्पमाओ जइजणेणं ॥४१॥ नि०

तत्र प्रथमोद्देशके हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणो बोधो विधेयोऽनित्यता चेत्ययमर्थाधिकारः द्वितीयोद्देशके मानो वर्जनीय इत्ययमर्थाधिकारः पुनश्च तथा तथाऽनेकप्रकारो बहुविधं शब्दादावर्थेऽनित्यतादिप्रतिपादकोऽर्थाधिकारो भणित इति, तृतीयोद्देशके-ऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयरूपोऽर्थाधिकारो भणित इति यतिजनेन च सुखप्रमादो वर्जनीयः सदेति ॥४०-४१॥

अब निर्युक्तिकार पहले कहे हुए उद्देशकों का अर्थाधिकार दिखाने के लिए कहते हैं । प्रथम उद्देशक में कहा है कि मनुष्य को हित की प्राप्ति और अहित के त्याग का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तथा इस जगत् को अनित्य समझना चाहिए । द्वितीय उद्देशक में कहा है कि मनुष्य को मान का त्याग करना चाहिए । तथा शब्द आदि में और अर्थ में अनेक प्रकार से अनित्यता का प्रतिपादन भी द्वितीय उद्देशक में किया गया है । तृतीय उद्देशक में कहा है कि अज्ञान के द्वारा वृद्धि को प्राप्त कर्मों का नाश करना आवश्यक है, इसलिए साधु को सुख और प्रमाद त्याग देने चाहिए ॥४०-४१॥



- साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् -

- सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है ।

^३संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।

णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं

॥१॥

छाया - संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं ? सम्बोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।

नोहूपनमन्ति रात्रयः, नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥

व्याकरण - (संबुज्झह) क्रिया (न) अव्यय (खलु) अव्यय (संबोही) कर्ता (पेच्च) पूर्वकालिक क्रिया (दुल्लहा) संबोधि का विशेषण (णो, हु) अव्यय (उवणमंति) क्रिया (राइओ) कर्ता (नो) अव्यय (सुलभं) जीवित का विशेषण (पुणरावि) अव्यय (जीवियं) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (संबुज्झह) हे भव्यों ! तुम बोध प्राप्त करो (किं न बुज्झह) क्यों नहीं बोध प्राप्त करते (पेच्च) मरने के पश्चात् (संबोही) बोध प्राप्त करना (दुल्लहा खलु) दुर्लभ है । (राइओ) व्यतीत रात्रि (णो हूवणमंति) लौटकर नहीं आती है (जीवियं) और संयमजीवन (पुणरावि) फिर (नो सुलभं) सुलभ नहीं है ।

भावार्थ - हे भव्यों ! तुम बोध प्राप्त करो, तुम क्यों नहीं बोध प्राप्त करते ? जो रात्रि व्यतीत हो गयी है, वह फिर लौटकर नहीं आती है और संयम जीवन फिर सुलभ नहीं है ।

टीका - तत्र भगवान् आदितीर्थङ्करो भरततिरस्कारागतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह, यदि वा सुरासुरनरो-गतिरश्वः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा- संबुध्यध्वं यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत, यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः, तथाहि- मानुषं जन्म तत्रापि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः सुकुलोत्पत्तिः सर्वेन्द्रियपाटवं श्रवणश्रद्धादिप्राप्तौ सत्यां

1. संबोधि चूर्णि । 2. ततिए मिच्छत्तचित्तस्य चू. । 3. भो ! संबुज्झह चू. ।

स्वसंवित्त्ववष्टम्भेनाह- किं न बुध्यध्वमिति, अवश्यमेवंविधसामग्र्यवाप्तौ सत्यां सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मं बोधो विधेय इति भावः, तथाहि-

“निर्वाणादिसुखप्रदे नरमवे जैनेन्द्रधर्मान्विते, लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते । वैडूर्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे लातुं स्वल्पमदीप्त्रिकाचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतम्?॥१॥”

अकृतधर्माचरणानां तु प्राणिनां ‘संबोधिः’ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यावासिलक्षणा ‘प्रेत्य’ परलोकगतानां खलु शब्दस्यावधारणार्थत्वाद् सुदुर्लभैव । तथाहि- विषयप्रमादवशात् सकृद् धर्माचरणाद् भ्रष्टस्यानन्तमपि कालं संसारे पर्यटनमभिहितमिति । किञ्च हुरित्यवधारणे, नैवातिक्रान्ता रात्रयः ‘उपनमन्ति’ पुनर्दोक्तन्ते, न ह्यतिक्रान्तो यौवनादिकालः पुनरावर्तत इति भावः तथाहि -

“भवकोटिमिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ? न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य?॥१॥”

नो नैव संसारे ‘सुलभं’ सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदि वा जीवितम् आयुस्फुटितं सत् तदेव सन्धातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः । संबोधश्च प्रसुप्तस्य सतो भवति स्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंबोधयोश्च नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने अनादृत्यद्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह -

“दत्त्वं निद्रावेओ दंसणणाणतवसंजमा भावे । अहिगारो पुण मणिओ, नाणे तवदंसणचरित्ते॥४२॥”

इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभावसंबोधश्च दर्शितः, तत्राद्यन्तग्रहणेन भावनिद्राद्रव्यबोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यं, तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदो वेदनमनुभवः दर्शनावरणीयविशेषोदय इति यावत्, भावनिद्रा तु ज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता । तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनं, भावे-भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्याः । इह च भावप्रबोधेनाधिकारः स च गाथापश्चाद्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति । अत्र च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥१॥

टीकार्थ - भगवान् आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी, भरत चक्रवर्ती के तिरस्कार से जिनको वैराग्य उत्पन्न हो गया था ऐसे अपने पुत्रों के प्रति यह कहते हैं अथवा सुर, असुर, मनुष्य, नाग और तिर्य्यञ्चों के प्रति भगवान् कहते हैं कि - हे भव्यों ! तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी धर्म का बोध प्राप्त करो, क्योंकि फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है । एक तो मनुष्य का जन्म, उस पर भी कर्मभूमि, फिर आर्य्यदेश, एवं सुन्दर कुल में उत्पत्ति, तथा सब इन्द्रियों से पटु होना यह बड़ा ही दुर्लभ है । श्रवण, श्रद्धा आदि की प्राप्ति होने पर भी (भगवान् स्वसंवेदन के आलंबन से कहते हैं-) आप लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र का बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? पूर्वोक्त सामग्री को पाकर अवश्य बुद्धिमान् को तुच्छ विषयों का सेवन छोड़कर सद्धर्म का बोध प्राप्त करना चाहिए । निर्वाण आदि सुखों को देनेवाला, जैनेन्द्र सम्बन्धी धर्म से युक्त इस मनुष्य भव को पाकर तुच्छ और असुन्दर काम-भोग का सेवन करना ठीक नहीं है, क्योंकि वैडूर्य्य आदि मणियों से युक्त रत्नाकर (समुद्र) मिल जाने पर तेजोहीन और तुच्छ काँच का टुकड़ा लेना उचित नहीं है । जिसने धर्माचरण नहीं किया है ऐसे पुरुष को परलोक में, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी धर्म की प्राप्ति दुर्लभ ही है । यहाँ ‘खलु’ शब्द अवधारणार्थक है । जो पुरुष विषय सेवन में पड़कर एकबार भी धर्माचरण से भ्रष्ट हो जाता है, वह अनन्त कालतक इस संसार में ही भ्रमण करता है, यह आगम में कहा है । यहाँ ‘हू’ शब्द अवधारणार्थक है । जो रात्रि, व्यतीत हो गयी है, वह फिर लौटकर नहीं आती है । आशय यह है कि व्यतीत हुआ यौवन आदि काल फिर लौटकर नहीं आता है । कहा भी है-

(भवकोटिभिः) अर्थात् करोड़ों जन्म के बाद भी जिसका प्राप्त होना कठिन है, ऐसे मनुष्य भव को पाकर भी मैं क्यों प्रमाद कर रहा हूँ ? जो आयु बीत गयी है, वह फिर लौटकर नहीं आती है, चाहे वह आयु इन्द्र की ही क्यों न हो ?

इस जगत् में संयम प्रधान जीवन सुलभ नहीं है अथवा टूटी हुई आयु जोड़ी नहीं जा सकती है, यह इस वृत्त का अर्थ है । ‘संबोध’ शब्द का जागना अर्थ है । जो सोया हुआ होता है, उसको संबोध होता है और निद्रा के उदय होने पर शयन होता है । निद्रा और संबोध के नाम आदि चार प्रकार के निक्षेप होते हैं । इनमें नाम

और स्थापना को छोड़कर निर्युक्तिकार द्रव्य और भाव निक्षेप बताने के लिए कहते हैं-

(द्वयं निद्रा) इस गाथा में द्रव्य निद्रा और भावसंबोध (भाव से जागना) दिखाये गये हैं। द्रव्य निद्रा आदि है और भाव प्रबोध अन्त है, अतः आदि और अन्त के ग्रहण से उनके मध्यवर्ती भाव निद्रा और द्रव्य बोध का भी ग्रहण समझना चाहिए। इनमें दर्शनावरणीय कर्म का उदय स्वरूप निद्रा का अनुभव करना द्रव्य निद्रा है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की शून्यता भाव निद्रा है। द्रव्यनिद्रा में सोये हुए पुरुष का जागना द्रव्य बोध है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम को स्वीकार करना भाव बोध है। यहाँ भाव बोध का ही वर्णन है। यह इस गाथा के उत्तरार्द्ध के द्वारा सुगमता से बताया है। यहाँ द्रव्य और भाव भेद से¹ निद्रा और बोध के चार भेद स्वयं जान लेने चाहिए ॥१॥



- भगवानेव सर्वसंसारिणां सोपक्रमत्वादनियतमायुरुपदर्शयन्नाह -

- समस्त संसारी जीवों की आयु [अधिकांश में] सोपक्रम होने के कारण नियत नहीं है, यह दिखाते हुए भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी कहते हैं -

डहरा बुद्धा य पासह गम्भत्था वि चर्यति माणवा ।

सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई

॥२॥

छाया - डहरा: वृद्धाश्च पश्यत गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवाः । श्येनो यथा वर्तिकां हरेदेवमायुःक्षये न्रुट्यति ॥

व्याकरण - (डहरा, बुद्धा गम्भत्था) ये तीनों मानव के विशेषण हैं (य, अपि) अव्यय है (चर्यति) क्रिया (माणवा) कर्ता (पासह) क्रिया, इसका कर्ता आक्षिप्त यूयं है (जह) उपमा वाचक अव्यय (सेणे) कर्ता (वट्टयं) कर्म (हरे) क्रिया (एवं) अव्यय (आउखयंमि) अधिकरण (तुट्टई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (डहरा) छोटे बच्चे (बुद्धा) वृद्ध (य) और (गम्भत्थावि) गर्भ में स्थित बालक भी (माणवा) मनुष्य (चर्यति) अपने जीवन को छोड़ देते हैं । (जह) जैसे (सेणे) श्येनपक्षी (वट्टयं) वर्तक पक्षी को (हरे) हर लेता है (मार डालता है) (एवं) इसी तरह (आउखयंमि) आयुक्षय होने पर (तुट्टई) जीवों का जीवन नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ - श्री ऋषभदेव स्वामी अपने पुत्रों से कहते हैं कि - हे पुत्रों ! बालक, वृद्ध और गर्भस्थ मनुष्य भी अपने जीवन को छोड़ देते हैं, यह देखो । जैसे श्येन पक्षी वर्तक पक्षी को मार डालता है । इसी तरह आयु क्षीण होने पर प्राणी अपने जीवन को छोड़ देते हैं ।

टीका - डहरा: बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति तथा वृद्धाश्च गर्भस्था अपि एतत्पश्यत यूयं, के ते ? मानवाः मनुष्याः तेषामेवोपदेशदानार्हत्वाद् मानवग्रहणं, बह्वपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति, तथाहि त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्तयनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति । अपि च "गर्भस्थं जायमानं" मित्यादि । अत्रैव दृष्टान्तमाह- यथा श्येनः पक्षिविशेषो वर्तकं तित्तिरजातीयं हरेद् व्यापादयेद् एवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरपहरेत्, उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रामेत्, तदभावे वा आयुष्यक्षये न्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः ॥२॥

टीकार्थ - हे पुत्रों ! कोई बालकपन में ही अपने जीवन को त्याग देते हैं तथा कोई वृद्ध होकर मर जाते हैं, एवं कोई गर्भ में ही अपने प्राणों को छोड़ देते हैं, यह देखो । जीवन को छोड़नेवाले वे कौन हैं ? कहते हैं कि वे मनुष्य हैं । यद्यपि सभी प्राणियों की यह दशा है तथापि उपदेश देने योग्य मनुष्य ही होते हैं, अतः

1. द्रव्य से सोना और भाव से जागना यह पहला भ्रम है । द्रव्य से जागना और भाव से सोना यह दूसरा भ्रम है । द्रव्य और भाव दोनों से सोना यह तीसरा भ्रम है । द्रव्य और भाव दोनों से जागना यह चौथा भ्रम है । जो शरीर से सोता है परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र से जागता है, वह प्रथम भ्रम का पुरुष है । जो शरीर से जागता है परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सोता है, वह दूसरे भ्रम का पुरुष है । जो शरीर से भी सोता है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से भी सोता है वह तीसरे भ्रम का पुरुष है । जो शरीर से भी जागता है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से भी जागता है, वह चौथे भ्रम का पुरुष है ।

यहाँ मनुष्य का ही ग्रहण है। आशय यह है कि आयु, विघ्न बाधाओं से भरी हुई है, इसलिए सभी अवस्थाओं में प्राणी अपने प्राणों को छोड़ते हैं। कोई जीव, त्रिपल्योपम आयु पाकर भी पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही अपने जीवन को छोड़ देते हैं। अत एव कहा है कि - कोई गर्भ में ही और कोई उत्पन्न होते ही अपने प्राणों को छोड़ देते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं - जैसे श्येन (बाइल) पक्षी तित्तिर को मार डालता है, इसी तरह प्राणियों के प्राण को मृत्यु हर लेती है। आयु के नाश का कारण उपस्थित होने पर आयु नष्ट हो जाती है अथवा आयु क्षीण होने पर जीवों का जीवन नष्ट हो जाता है ॥२॥



तथा -

१मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

एयाइं भयाइं पेहिया, आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए

॥३॥

छाया - मातृभिः पितृभिर्लुप्यते नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य । एतानि भयानि प्रेक्ष्य आरम्भाद्विरमेत सुव्रतः ॥

व्याकरण - (मायाहिं पियाहिं) कर्तृतुतीयान्त (लुप्पइ) कर्मवाच्य क्रिया (नो) अव्यय (पेच्चओ) पूर्वकालिकक्रिया (सुलभा) सुगति का विशेषण (सुगई) अस्ति क्रिया का कर्ता (एयाइं) भय का विशेषण (भयाइं) कर्म (पेहिया) पूर्वकालिक क्रिया (आरम्भा) अपादान (सुव्वए) कर्ता (विरमेज्ज) क्रिया।

अन्वयार्थ - (मायाहिं पियाहिं) कोई माता पिता के द्वारा (लुप्पइ) संसार भ्रमण कराये जाते हैं। (पेच्चओ) उनको मरने के पश्चात् (सुगई) सद्गति (नो सुलहा) सुलभ नहीं है (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (एयाइं भयाइं) इन भयों को (पेहिया) देखकर (आरम्भा विरमेज्ज) आरम्भ से विरक्त हो जाय।

भावार्थ - कोई माता पिता आदि के स्नेह में पड़कर संसार भ्रमण करते हैं। उनको मरने पर सद्गति नहीं प्राप्त होती। सुव्रत पुरुष इन भयों को देखकर आरम्भ से निवृत्त हो जाय।

टीका - कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहेन च न धर्ममृत्युद्यमं विधत्ते, स च तैरेव मातापित्रादिभिः लुप्यते संसारे भ्राम्यते, तथाहि -

“विहितमलोहमहोमहन्मातापितृपुत्रदारबन्धुसंघम् ।

स्नेहमयमसुमतामदः किं बन्धनं शृङ्खलं खलेन धात्रा ?” ॥२॥

तस्य च स्नेहाकुलितमानसस्य सदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किञ्चनकारिण इहैव सद्भिर्निन्दितस्य सुगतिरपि प्रेत्य जन्मान्तरे नो सुलभा, अपितु मातापितृव्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्यतो विषयसुखेप्सोश्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तम्भवति। तदेवमेतानि भयानि भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि, ‘पेहिय’ ति प्रेक्ष्य आरम्भात् सावधानुष्ठानरूपाद् विरमेत् सुव्रतः सन् सुस्थितो वेति पाठान्तरम् ॥३॥

टीकार्थ - कोई मनुष्य माता-पिता तथा स्वजन वर्ग के स्नेह में पड़कर धर्म के लिए उद्योग नहीं करते हैं। वे उन्हीं माता-पिता आदि के द्वारा संसार भ्रमण कराये जाते हैं। अत एव किसी विद्वान ने कहा है -

(विहितमलोहं) अर्थात् खल विधाता ने जीवों को बाँधने के लिए माता-पिता, पुत्र और स्त्री आदि रूपी स्नेहमय अहो लोहमय-अहोमहान क्या जंजीर बनायी है ?

यद्यपि यह बन्धन लोह का नहीं है, तथापि यह उससे भी दृढ़ है। माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के स्नेह में पड़ा हुआ मनुष्य भले और बुरे के विवेक से रहित हो जाता है, वह अपने स्वजन वर्ग का पोषण करने के लिए नीच से नीच कर्म भी करता है, अतः वह इस लोक में सज्जन पुरुषों के द्वारा निन्दित होता है और परलोक

1. माता पितरो य भातरो, विलभेज्जसु केण पेच्चर ? नागार्जुनीय पाठभेदः ।

में भी उसको सद्गति प्राप्त नहीं होती है। आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के स्नेह में मोहित वित्त तथा विषय सुख की इच्छा करनेवाले और स्वजन वर्ग के लिए कष्ट सहनेवाले जीव की दुर्गति ही होती है। अतः इस प्रकार दुर्गतिगमन आदि भय कारणों को देखकर सुव्रत या सुस्थित पुरुष आरम्भ से निवृत्त हो जायें॥३॥



- अनिवृत्तस्य दोषमाह -

- जो पुरुष सावद्य अनुष्ठानों से निवृत्त नहीं होते उनके दोष शास्त्रकार बताते हैं-

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।

सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं

॥४॥

छाया - यदिदं जगति पृथग्जगाः, कर्मभिलुप्यन्ते प्राणिनः । स्वयमेव कृतैर्गाहते, नो तस्य मुच्येदस्पृष्टः ॥

व्याकरण - (जं इणं) सर्वनाम (जगती) अधिकरण (पुढो) अव्यय (जगा) प्राणी का विशेषण (कम्मेहिं) करण । (पाणिणो) कर्ता (लुप्पंति) क्रिया (सयं, एव) अव्यय (कडेहिं) हेतुतृतीयान्त (गाहइ) क्रिया (णो) अव्यय (अपुट्ठयं) प्राणी का विशेषण (मुच्चेज्ज) क्रिया (तस्स) स्पर्श क्रिया का कर्ता ।

अन्वयार्थ - (जमिणं) क्योंकि अनिवृत्त पुरुष की यह दशा होती है (जगती) संसार में (पुढो जगा) अलग अलग (पाणिणो) जीव, (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए (कम्मेहिं) कर्मों के द्वारा (लुप्पंति) दुःख पाते हैं (गाहइ) वे अपने किये हुए कर्मों के कारण ही नरक आदि यातना स्थानों में जाते हैं (तस्स अपुट्ठयं) और अपने कर्म का फल भोगे बिना (णो मुच्चेज्ज) वे मुक्त नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ - जो जीव सावद्य कर्मों का अनुष्ठान नहीं छोड़ते हैं, उनकी यह दशा होती है - संसार में अलग-अलग निवास करनेवाले प्राणी अपने किये हुए कर्म का फल भोगने के लिए नरक आदि यातनास्थानों में जाते हैं । वे अपने कर्मों का फल भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकते ।

टीका - - यद् यस्मादनिवृत्तानामिदं भवति, किं तत् ? जगति 'पुढो'ति - पृथग्भूताः-व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः कर्मभिः विलुप्यन्ते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यन्ते, स्वयमेव च कृतैः कर्मभिर्नेश्वराद्यापादितैः, गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते-उपचिनोति, अनेन च हेतुहेतुमद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति, न च तस्य अशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेन अस्पृष्टः अच्छुप्तो मुच्यते जन्तुः कर्मणामुदयमननुभूय तपोविशेषमन्तरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं विधत्त इति भावः ॥४॥

टीकार्थ - - जो पुरुष सावद्य अनुष्ठानों से निवृत्त नहीं होते उनकी दशा यह होती है- क्या दशा होती है ? सो बतलाते हैं- जगत् में अलग-अलग निवास करनेवाले प्राणी अपने सावद्य अनुष्ठानों के द्वारा संचय किये हुए कर्मों के द्वारा नरक आदि यातना स्थानों में भ्रमण कराये जाते हैं । वे प्राणी अपने किये हुए कर्मों से ही नरक आदि यातनास्थानों को अथवा दुःख के कारणभूत कर्मों को प्राप्त करते हैं, परन्तु ईश्वर आदि किसी अन्य कारण से नहीं । इन बातों के द्वारा अपने कर्मों के साथ अपने दुःखों का कार्यकारणभाव दिखाया गया है । वह प्राणी अपने कर्मों का फल भोगे बिना उन कर्मों से मुक्ति नहीं पाता है । प्राणी अपने कर्म का उदय भोगे बिना तथा विशिष्ट तपस्या और दीक्षा ग्रहण किये बिना उन कर्मों का नाश नहीं कर सकता है ॥४॥



- अधुना सर्वस्थानानित्यतां दर्शयितुमाह -

- इस जगत में जितने स्थान हैं, सभी अनित्य हैं यह दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं ।

देवा गंधर्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा ।

राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा तेऽवि चयंति दुक्खिया

॥५॥

छाया - देवाः गन्धर्वराक्षसा असुराः भूमिचराः सरीसृपाः ।

राजानो नरश्रेष्ठिब्राह्मणाः स्थानानि तेऽपि त्यजन्ति दुःखिताः ॥

व्याकरण - (देवा, गंधर्वराक्षसा, असुरा, भूमिचरा, सरीसृपा, राया, नरश्रेष्ठिमाहणा) ये सभी त्याग क्रिया के कर्ता हैं । (ते) सर्वनाम, देव आदि का विशेषण (दुःखिता) देवादि का विशेषण (ठाणा) कर्म (चयंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (देवा) देवता, (गंधर्वराक्षसा) गन्धर्व, राक्षस, (असुरा) असुर (भूमिचरा) भूमि पर चलनेवाले (सरीसृपा) सरक कर चलनेवाले तिर्य्यञ्च (राया) राजा (नरश्रेष्ठिमाहणा) मनुष्य, नगर के श्रेष्ठ, ब्राह्मण (ते वि) ये सभी (दुःखिता) दुःखित होकर (ठाणा) अपने स्थानों को (चयंति) छोड़ते हैं ।

भावार्थ - देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, तिर्य्यञ्च, चक्रवर्ती, साधारण मनुष्य, नगर का श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण ये सभी दुःखी होकर अपने स्थानों को छोड़ते हैं ।

टीका - देवाः ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्षसयोरुपलक्षणत्वादष्टप्रकाराः व्यन्तराः गृह्यन्ते । तथा असुराः दशप्रकाराः भवनपतयः, ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्याः तिर्य्यञ्चः, तथा राजानः चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतयः, तथा नराः सामान्यमनुष्याः श्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः ब्राह्मणाश्चैते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति, यतः सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद् दुःखं समुत्पद्यत इति ॥५॥ किञ्च -

टीकार्थ - ज्योतिष्क और सौधर्म आदि देवता, गन्धर्व और राक्षस उपलक्षण हैं, इसलिए आठ प्रकार के व्यन्तर देवता, तथा दस प्रकार के भवनपति एवं भूमि पर चलनेवाले सरीसृप आदि तिर्य्यञ्च तथा बलदेव, वासुदेव वगैरह चक्रवर्ती एवं सामान्य मनुष्य और पुर के श्रेष्ठ पुरुष तथा ब्राह्मण ये सभी दुःखित होकर अपने स्थानों को छोड़ते हैं । सभी प्राणियों को प्राण छोड़ते समय महादुःख होता है ॥५॥



कामेहि संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जंतवो ।

ताले जह बंधणच्चुए एवं आउक्खयंमि तुट्ठती¹

॥६॥

छाया - कामेषु संस्तवेषु गृह्णाः कम्मसहाः कालेण जन्तवः । तालं यथा बन्धनाच्च्युतमेवमायुःक्षये नुट्यति॥

व्याकरण - (कामेहि, संथवेहि) अधिकरण (गिद्धा कम्मसहा) जन्तु के विशेषण (जंतवो) कर्ता । (ताले) उपमान कर्ता (बंधणच्चुए) ताल का विशेषण (एवं) अव्यय (आउक्खयंमि) भावलक्षणसप्तम्यन्त पद (तुट्ठती) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (कामेहि संथवेहि) विषय भोग की तृष्णा और माता-पिता-स्त्री-पुत्र आदि परिचित पदार्थों में (गिद्धा) आसक्त रहने वाले (जंतवो) प्राणी (कालेण) अवसर आने पर (कम्मसहा) अपने कर्म का फल भोगते हुए (जह) जैसे (बंधणच्चुए) बंधन से छुटा हुआ (ताले) तालफल गिर जाता है (एवं) इसी तरह (आउक्खयंमि) आयु नष्ट हो जाने पर (तुट्ठती) मर जाते हैं ।

भावार्थ - विषयभोग की तृष्णावाले तथा माता-पिता और स्त्री आदि परिचित पदार्थों में आसक्त रहनेवाले प्राणी अवसर आनेपर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयु क्षीण होने पर इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जैसे बंधन से छुटा हुआ ताल फल गिर जाता है ।

टीका - 'कामेहि' इत्यादि, कामैरिच्छामदनरूपैस्तथा संस्तवैः पूर्वापरभूतैः गृह्णा अध्युपपन्नाः सन्तः कम्मसहेत्ति कर्मविपाकसहिष्णवः कालेन कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति- भोगेप्सोर्विषयासेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र च क्लेश एव केवलं न पुनरुपशमावाप्तिः तथाहि -

“उपभोगोपायपटो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् । धावत्याक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्”?

न च तस्य मुमूर्षोः कामैः संस्तवैश्च त्राणमस्तीति दर्शयति -

यथा तालफलं बन्धनाद् वृन्तात् च्युतमत्राणमवश्यं पतति एवमसावपि स्वायुषः क्षये नुट्यति जीवितात् च्यवत इति ॥६॥ अपि च

1. तुट्ठति चू. ।

टीकार्थ - इच्छा मदन रूप काम (विषय तृष्णा) और पहले तथा पीछे के परिचित माता-पिता और स्त्री आदि में आसक्त प्राणी कर्म का उदयकाल आने पर उसका फल भोगते हैं। भाव यह है कि भोग की इच्छा करनेवाला जो पुरुष विषय का सेवन करके अपनी तृष्णा को निवृत्त करना चाहता है। वह इस लोक तथा परलोक में केवल क्लेश ही पाता है। उसकी तृष्णा की शान्ति कभी नहीं होती है। अत एव कहा है कि -

जो पुरुष विषय सेवन के द्वारा विषय भोग की तृष्णा को निवृत्त करना चाहता है, वह मानो दोपहर के बाद अपनी छाया को पकड़ने के लिए आगे दौड़ता है।

उस मृत्युग्रस्त पुरुष की विषय भोग और परिचित पदार्थों के द्वारा रक्षा नहीं होती है, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं- जैसे बंधन से छुटा हुआ तालफल अवश्य गिर जाता है, कोई भी उसकी रक्षा नहीं करता। इसी तरह आयु क्षीण होने पर जीव अपने जीवन से भ्रष्ट हो जाता है ॥६॥



जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिय माहण भिक्खुए सिया ।

अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती^१

॥७॥

छाया - ये चाऽपि बहुश्रुताःस्युः धार्मिकब्राह्मणभिक्षुकाः स्युः ।

अभिच्छादककृतैर्मूर्च्छितास्तीव्रं ते कर्मभिः कृत्यन्ते ॥

व्याकरण - (जे) सर्वनाम, कर्ता का विशेषण (य, अवि) अव्यय (बहुस्सुए) (धम्मिय, माहण, भिक्खुए) कर्ता (सिया) क्रिया (अभिणूमकडेहिं) अधिकरण (मुच्छिए) ब्राह्मणादि का विशेषण (तिव्वं) क्रिया विशेषण (कम्मेहिं) कर्तृतृतीयान्त (किच्चती) कर्मवाच्य क्रिया।

अन्वयार्थ - (जे यावि) जो लोग बहुश्रुत अर्थात् बहुत शास्त्रों को सुने हुए (सिया) हो (धम्मिय माहण भिक्खुए सिया) तथा जो धार्मिक ब्राह्मण और भिक्षुक हों (अभिणूमकडेहिं मुच्छिए) परन्तु मायाकृत अनुष्ठान में यदि वे आसक्त हैं, तो (ते) वे (तिव्वं) अत्यन्त (कम्मेहिं) कर्म के द्वारा (किच्चती) पीड़ित किये जाते हैं।

भावार्थ - मायामय अनुष्ठान में आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत हों, धार्मिक हो, ब्राह्मण हों चाहे भिक्षुक हों वे कर्मों के द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं।

टीका - ये चाऽपि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिकाः धर्माचरणशीलाः तथा ब्राह्मणाः भिक्षुका भिक्षाटन-शीलाः स्युः भवेयुः, तेऽप्याभिमुख्येन 'णूम'न्ति कर्म माया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानैर्मूर्च्छिताः गृद्धाः तीव्रमत्यर्थं, अत्र च छान्दसत्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम् । त एवम्भूताः कर्मभिः सद्देयादिभिः कृत्यन्ते छिद्यन्ते पीडयन्त इति यावत् ॥७॥

टीकार्थ - जो शास्त्र और अर्थ के पारगामी है, तथा जो धर्माचरण शील, ब्राह्मण और भिक्षुक हैं, वे यदि मायाकृत अनुष्ठान में आसक्त हैं तो वे सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्मों से अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं, यहाँ छान्दसत्वात् (किच्चती) यह बहुवचन समझना चाहिए ॥७॥



- साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचारित्रमन्तरेण नापरो मोक्षमार्गोऽस्तीति त्रिकालविषयत्वात्सूत्रस्यागामितीर्थिकधर्मप्रति-षेधार्थमाह -

- ज्ञान, दर्शन और चारित्र को छोड़कर दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है और भविष्य में भी न होगा क्योंकि सूत्र तीनों काल की बात को बतलाता है, इसलिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र से भिन्न पदार्थ को मोक्ष का मार्ग बतानेवाले जो अन्यतीर्थी भविष्यत् काल में होंगे उनका निषेध करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अह पास विवेगमुट्ठिए, अविततिने इह भासई धुवं ।

णाहिसि आरं कओ परं ? वेहासे कम्मेहिं किच्चती^२

॥८॥

छाया - अथ पश्य विवेकमुत्थितोऽवितीर्ण इह भाषते ध्रुवम् । ह्यास्यस्यारं कुतः परं विहायसि कर्मभिः कृत्यते ॥

व्याकरण - (अह) अव्यय (पास) क्रिया, मध्यम पुरुष (विवेगं) आक्षिप्त आश्रयणक्रिया का कर्म (उड्डिए) (अवितित्रे) आक्षिप्त परतीर्थी के विशेषण (इह) अव्यय (भासई) क्रिया (ध्रुवं) कर्म (गाहिसि) क्रिया, मध्यम पुरुष (आरं) कर्म (कओ) अव्यय (परं) कर्म (वेहासे) अधिकरण (कम्मेहिं) कर्तृ तृतीयान्त (किच्चती) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (पास) देखो कि (विवेगं) कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को छोड़कर अथवा संसार को अनित्य जानकर (उड्डिए) प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं (अवितित्रे) परन्तु वे संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं (इह) वे इस लोक में (ध्रुवं) मोक्ष का (भासई) भाषण मात्र करते हैं । हे शिष्य ! तुम भी उनके मार्ग में जाकर (आरं) इस लोक को (परं) तथा परलोक को (कओ) कैसे (गाहिसि) जान सकते हो ? वे अन्यतीर्थी (वेहासे) मध्य में ही (कम्मेहिं) कर्मों के द्वारा (किच्चती) पीड़ित किये जाते हैं ।

भावार्थ - हे शिष्य ! इसके पश्चात् यह देखो कि कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को छोड़कर अथवा संसार को अनित्य जानकर प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्ष के लिए उद्यत होते हैं, परन्तु अच्छी तरह संयम का अनुष्ठान नहीं कर सकने के कारण वे संसार को पार नहीं कर सकते हैं । हे शिष्य ! तुम उनका आश्रय लेकर इसलोक तथा परलोक को कैसे जान सकते हो ? वे अन्यतीर्थी उभय भ्रष्ट होकर मध्य में ही कर्म के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं ।

टीका - अथेत्यधिकारान्तरे, बाह्यादेशे एकादेशे इति । अथेत्यनन्तरमेतच्च पश्य, कश्चित्तीर्थिको विवेकं परित्यागं परिग्रहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याऽऽश्रित्य उत्थितः प्रव्रज्योत्थानेन, स च सम्यक् परिज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रं तितीर्षुः, केवलमिह संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वात् ध्रुवो मोक्षस्तं तदुपायं वा संयमं भाषत एव न पुनर्विधत्ते तत्परिज्ञानाभावादिति भावः । तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि आरम् इह भवं कुतो वा परं परलोकं, यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं परमिति प्रव्रज्यापर्यायम्, अथवा आरमिति संसारं परमिति मोक्षं, एवंभूतश्चाऽन्योऽप्युभयभ्रष्टः, 'वेहासि' ति अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीडयते इति ॥८॥

टीकार्थ - यहाँ 'अथ' शब्द, दूसरा अधिकार, बहुतों को आदेश, तथा एक को आदेश इन अर्थों में आया है । हे शिष्य ! इसके पश्चात् यह देखो कि कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को छोड़कर अथवा संसार को अनित्य जानकर प्रव्रज्या ग्रहण कर के मोक्ष के लिए उद्यत होते हैं, वे संसार को पार करना चाहते हुए भी सम्यग् ज्ञान न होने के कारण उसे पार नहीं कर पाते हैं । वे लोग इस जगत् में अथवा इस प्रसङ्ग में मोक्ष को अथवा उसके उपाय रूप संयम का भाषण मात्र करते हैं, परन्तु उनका अनुष्ठान नहीं करते हैं, क्योंकि उनको अनुष्ठान का ज्ञान नहीं है । हे शिष्य ! तू भी उनके मार्ग से जाता हुआ किस प्रकार 'आरम्' अर्थात् इस लोक को तथा (पारं) यानी परलोक को जान सकता है ? अथवा 'आरम्' यानी गृहस्थ के धर्म को और 'पारम्' अर्थात् प्रव्रज्या के पर्याय को तू किस तरह जान सकता है ? अथवा 'आरम्' अर्थात् संसार को और पारं यानी मोक्ष को तू कैसे जान सकता है ? अतः जो पुरुष इन अन्य तीर्थियों के मार्ग से चलता है, वह उभय भ्रष्ट होकर मध्य में ही कर्मों के द्वारा पीड़ित किया जाता है ॥८॥



- ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्ठसदेहाश्च, तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदा-
शङ्क्याह -

- कोई परतीर्थिक भी परिग्रह रहित और तपस्या से तापित शरीरवाले होते हैं फिर उन्हें मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? यह शङ्का कर के शास्त्रकार कहते हैं -

जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।

जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गम्भाय णंतसो

॥९॥

छाया - यद्यपि च नृणाः कृशश्चेद, यद्यपि च भुञ्जीत मासमन्तशः ।

य इह मायादिना मीयते, आगन्ता गम्भायानन्तशः ॥

व्याकरण - (जइ वि य) अव्यय (णिगणे, किसे) अन्यतीर्थी का विशेषण (चरे) क्रिया (अंतसो) अव्यय (मासं) आक्षिप्त स्थिति क्रिया का कर्म (भुंजिय) क्रिया (जे) सर्वनाम अन्यतीर्थी का बोधक (मायाइ) मान क्रिया का कर्ता (मिज्जई) क्रिया (आगंता) अन्यतीर्थी का विशेषण (गम्माय) चतुर्थ्यन्त पद (णंतसो) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (जे इह मायाइ मिज्जई) इस लोक में जो पुरुष कषायों से युक्त है, वह (जइ वि य) चाहे (णिगणे किसे चरे) नंगा और कृश होकर विचरे (जइ वि य) चाहे वह (अंतसो) अन्ततः (मासं) एक महीने के पश्चात् (भुंजिय) भोजन करे, परन्तु (णंतसो) वह अनन्त काल तक (गम्माय) गर्भ वास को (आगन्ता) प्राप्त करता है ।

भावार्थ - जो पुरुष, कषायों से युक्त है, वह चाहे नङ्गा और कृश होकर विचरे अथवा एक मास के पश्चात् भोजन करे परन्तु वह अनन्त काल तक गर्भ वास को ही प्राप्त करता है ।

टीका - यद्यपि तीर्थिकः कश्चित् तापसादिस्त्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वात् निष्किञ्चनतया नग्नः त्वक्त्राणा-भावाच्च कृशः चरेत् स्वकीयप्रव्रज्यानुष्ठानं कुर्यात्, यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशादितपो विशेषं विधत्ते यावद् अन्तशो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते तथापि आन्तरकषायापरित्यागात् मुच्यते इति दर्शयति- यः तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, असौ गर्भाय गर्भार्थमा-समन्तात् गन्ता यास्यति, अनन्तशो निरवधिकं कालमिति, एतदुक्तं भवति-अकिञ्चनोऽपि, तपोनिष्ठसदेहोऽपि कषायापरित्यागात्तरकादिस्थानात् तिर्य्यगादिस्थानं गर्भाद् गर्भमनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे पर्य्यटतीति ॥९॥

टीकार्थ - यद्यपि कोई परतीर्थी तापस आदि बाह्यपरिग्रह को छोड़कर निष्किञ्चन होते हैं तथा वस्त्रहीन होने के कारण नङ्गा और कृश रहते हुए अपनी प्रव्रज्या का अनुष्ठान करते हैं, तथा वे २, ३, ४ और ५ भक्त (उपवास) आदि तप करते हुए अन्ततः एक मास के पश्चात् भोजन करते हैं तथापि आन्तरिक कषायों का नाश न होने के कारण वे मोक्ष को नहीं प्राप्त करते हैं, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं - इस लोक में जो जीव, माया आदि से युक्त है, यहाँ माया उपलक्षण है, इसलिए जो जीव कषायों से युक्त है, वह अनन्त काल तक गर्भ वास को ही प्राप्त करता है । आशय यह है कि जो जीव, निष्किञ्चन है और तपस्या से तापित शरीर भी है परन्तु वह यदि कषायों का त्याग नहीं करता है तो वह नरक आदि यातना स्थानों से निकलकर तिर्य्यञ्च आदि योनियों में जाता हुआ बार-बार गर्भ वास को प्राप्त करता है । जैसे अग्निशर्मा को संसार भ्रमण करना पड़ा था, इसी तरह उसको भी संसार भ्रमण करना पड़ता है ॥९॥



- यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतो मदुक्त एव मार्गे स्थेयमेतद्गर्भमुपदेशं दातुमाह-

- मिथ्यादृष्टियों की बतायी हुई तपस्या से भी मनुष्य की दुर्गति नहीं रुक सकती है, इसलिए हमारे द्वारा बताये हुए मार्ग में ही स्थिर रहना चाहिए, यह उपदेश देने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।

सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा

॥१०॥

छाया - पुरुष । उपरम पापकर्मणा, पर्यन्तं मनुजानां जीवितम् ।

सन्ना इह काममुच्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः ॥

व्याकरण - (पुरिसो) सम्बोधन (रम) क्रिया (पावकम्मुणा) इत्थंभूत लक्षण तृतीयान्त (मणुयाण) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (पलियंतं) जीवन का विशेषण (जीवियं) अध्याहत अस्ति क्रिया का कर्ता (सन्ना, काममुच्छिया, असंवुडा) नरके विशेषण (नरा) कर्ता (मोहं) कर्म (जंति) क्रिया।

अन्वयार्थ - (पुरिसो) हे पुरुष ! (पावकम्मुणा) जिस पाप कर्म से तू युक्त है (रम) उससे निवृत्त हो जा (मणुयाण जीवियं) मनुष्यों का जीवन (पलियंतं) नाशवान् है (इह) इस मनुष्य भव में या संसार में (सन्ना) जो आसक्त हैं (काममुच्छिया) तथा काम भोग में मुच्छित हैं (असंवुडा) एवं हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं (नरा) वे वे मनुष्य (मोहं) मोह को (जंति) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - हे पुरुष ! तू पाप कर्म से युक्त है अतः तू उससे निवृत्त हो जा । मनुष्यों का जीवन नाशवान् है ।

जो मनुष्य संसार में अथवा मनुष्य भव में आसक्त है तथा विषय भोग में मूर्च्छित और हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं है, वे मोह को प्राप्त होते हैं ।

टीका - 'पुरिसो' इत्यादि, हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणाऽऽसदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्राऽसकृत्प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरम निवर्त्तस्व । यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमानं संयमजीवितं वा पल्योपमस्यान्तः- मध्ये वर्तते तदप्यूनं पूर्वकोटिमिति यावत् । अथवा परि समन्तादन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तमित्यर्थः यच्चैवं तद्रूपमेवावगन्तव्यम् । तदेवं मनुष्याणां स्तोत्रं जीवितमवगम्य यावत्तत्र पर्येति तावद्धर्मानुष्ठानेन सफलं कर्त्तव्यं, ये पुनर्भोगस्नेह-पङ्केऽवसन्ना मग्ना 'इह' मनुष्यभवे संसारे वा कामेषु इच्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अध्युपपन्ना ते नराः मोहं यान्ति-हिताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति, मोहनीयं वा कर्म चिन्वन्तीति संभाव्यते, एतदसंवृतानां हिंसास्थानेभ्योऽनिवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणां चेति ॥१०॥

टीकार्थ - हे पुरुष ! तू निरन्तर असत् अनुष्ठान में प्रवृत्त रहते हुए जिस पाप कर्म से युक्त है, उससे निवृत्त हो जा, क्योंकि पुरुषों का जीवन बहुत हो तो भी त्रिपल्योपम पर्यन्त ही होता है । अथवा पुरुषों का संयम जीवन पल्योपम के मध्य में ही होता है, वह भी ऊन (आठ वर्ष कम) पूर्व कोटि पर्यन्त ही होता है । अथवा पुरुषों का जीवन नाशवान् है । जो नाशवान् है, उसे गत ही समझना चाहिए । अतः मनुष्यों के जीवन को अल्प जानकर जब-तक वह समाप्त नहीं होता है, तब-तक धर्मानुष्ठान के द्वारा उस जीवन को सफल करना चाहिए । परन्तु जो पुरुष इस मनुष्य भव को पाकर अथवा इस संसार में आकर विषयभोग रूपी कीचड़ में फँसे हुए हैं तथा इच्छा, मदन रूप काम में आसक्त हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं, उनको अपने हित को पाने और अहित के परिहार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है । अथवा वे पुरुष मोहनीय कर्म का सञ्चय करते हैं । जो पुरुष हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं और इन्द्रियलम्पट हैं, वे भी मोहनीय कर्म का संचय करते हैं ॥१०॥



- एवं च स्थिते यद्विधेयं तददर्शयितुमाह -

- ऐसी स्थिति में पुरुष का जो कर्त्तव्य है उसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पन्था दुरुत्तरा ।

अणुसासनमेव ^१पक्कमे वीरेहिं संमं पवेइयं

॥११॥

छाया - यतमानो विहर योगवान्, अणुपाणाः पन्थानो दुरुत्तराः ।

अनुशासनमेव प्रकारमेव, वीरिः सम्यक् प्रवेदितम् ॥

व्याकरण - (जययं, जोगवं) पुरुष के विशेषण हैं (विहराहि) क्रिया मध्यम पुरुष (अणुपाणा, दुरुत्तरा) मार्ग के विशेषण (अणुसासनं) कर्म (एव) अव्यय (पक्कमे) क्रिया (वीरेहिं) कर्तृ तृतीयान्त (संमं) क्रिया विशेषण (पवेइयं) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जययं) हे पुरुष ! तू यत्न करता हुआ (जोगवं) तथा समिति और गुप्ति से गुप्त होकर (विहराहि) विचर (अणुपाणा) सूक्ष्म प्राणियों से युक्त (पन्था) मार्ग (दुरुत्तरा) उपयोग के विना दुस्तर होता है (अणुसासनमेव) शास्त्रोक्त रीति से ही (पक्कमे) संयम का अनुष्ठान करना चाहिए (वीरेहिं) सभी अरिहन्तों ने (संमं) सम्यक् प्रकार से (पवेइयं) यही बताया है ।

भावार्थ - हे पुरुष ! तू यत्न सहित तथा समिति गुप्ति से गुप्त होकर विचर, क्योंकि सूक्ष्म प्राणियों से पूर्ण मार्ग विना उपयोग के पार नहीं किया जा सकता है । शास्त्र में संयमपालन की जो रीति बतायी है, उसके अनुसार ही संयम का पालन करना चाहिए, यही सब तीर्थङ्करों ने आदेश दिया है ।

टीका - स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेशप्रायानवबुद्धय छित्त्वा गृहपाशबन्धनं यतमानः यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन विहर उद्युक्तविहारी भव । एतदेव दर्शयति - योगवानिति संयमयोगवान् गुप्तिमितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवं, यतः अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु पथिषु ते तथा ते चैवंभूताः पन्थानोऽनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्देन दुस्तराः

दुर्गमा इति अनेन ईर्यासमितिरुपक्षिप्ता । अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वाद् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन भवितव्यम्, अपि च अनुशासनमेव यथागममेव सूत्रानुसारेण संयमं प्रति क्रामेद्, एतच्च सर्वैरेव वीरैः अर्हद्भिः सम्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाख्यातमिति ॥११॥

टीकार्थ - हे पुरुष ! तू अपने जीवन को अल्प और विषयों को क्लेशप्रायः जानकर गृह-बन्धन को काटकर यत्नपूर्वक प्राणियों का नाश न करते हुए उद्युक्त विहारी बन । यही शास्त्रकार दिखलाते हैं । हे पुरुष ! तू समिति और गुप्ति से गुप्त होकर रह । ऐसा क्यों ? क्योंकि सूक्ष्म प्राणियों से भरे हुए मार्ग उपयोग के बिना दुस्तर होते हैं, अर्थात् उन मार्गों में जीवों का नाश हुए बिना नहीं रहता है । यह कहकर शास्त्रकार ने ईर्या समिति का संकेत किया है । यह ईर्या समिति उपलक्षण है इसलिए अन्य समितियों में भी सदा उपयोग रखना चाहिए । तथा शास्त्रोक्त रीति से ही संयम का पालन करना चाहिए । यह सभी तीर्थङ्करों ने जोर देकर कहा है ॥११॥



- अथ क एते वीरा इत्याह -

- पूर्वोक्त प्रकार से विचरने वाले वीर पुरुष कौन हैं सो बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

विरया वीरा समुडिया¹, कोहकायरियाइपीसणा ।

पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा

॥१२॥

छाया - विरताः वीराः समुत्थिताः क्रोधकातरिकादिपीषणाः ।

प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वशः पापाद्विरता अभिनिर्वृताः ॥

व्याकरण - (विरया) (समुडिया) (अभिनिव्वुडा) (कोहकायरियाइपीसणा) ये सब वीर के विशेषण है (सव्वसो) अव्यय (पाणे) कर्म (ण) अव्यय (हणंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (विरया) जो हिंसा आदि पापों से निवृत्त हैं (वीरा) और कर्म को विशेष रूप से दूर करने वाले हैं (समुडिया) तथा जो आरम्भ को छोड़कर हटे हुए हैं (कोहकायरियाइपीसणा) जो क्रोध और माया आदि को दूर करनेवाले हैं (सव्वसो) तथा जो मन, वचन और शरीर से (पाणे) प्राणी को (ण हणंति) नहीं मारते हैं (पावाओ विरया) तथा जो पाप से निवृत्त हैं (अभिनिव्वुडा) वे पुरुष, मुक्त जीव के समान शान्त हैं ।

भावार्थ - जो हिंसा आदि पापों से निवृत्त तथा कषायों को दूर करने वाले और आरंभ से रहित है, एवं क्रोध, मान, माया और लोभ को त्यागकर मन, वचन और काया से प्राणियों का घात नहीं करते हैं, वे सब पापों से रहित पुरुष मुक्त जीव के समान ही शान्त हैं ।

टीका - 'विरया' इत्यादि, हिंसानृतादिपापेभ्यो ये विरताः विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भ-परित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते एवंभूताश्च, क्रोधकातरिकादिपीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणान्मानो गृहीतः कातरिका माया तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः, आदिग्रहणाच्छेषमोहनीयपरिग्रहः तत्पीषणास्तदपनेतारः तथा प्राणिनो जीवान् सूक्ष्मेतर-भेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाक्कायकर्मभिर्नघ्नन्ति न व्यापादयन्ति । पापाच्च सर्वतः सावधानुष्ठानरूपाद्विरताः, निवृत्ताः ततश्च अभिनिर्वृताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः, यदि वा अभिनिर्वृता इव अभिनिर्वृताः मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥१२॥

टीकार्थ - जो पुरुष हिंसा और झूठ आदि पापों से निवृत्त हैं, तथा विशेष रूप से कर्म का नाश करने वाले और आरम्भ को त्यागकर संयम पालन में उद्यत हैं एवं जो क्रोध और माया का नाश करने वाले हैं, यहाँ क्रोध के ग्रहण से मान का और माया के ग्रहण से लोभ का भी ग्रहण है और आदि शब्द से बचे हुए मोहनीय कर्मों का ग्रहण है, इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभ और शेष मोहनीय कर्मों का नाश करने वाले जो पुरुष मन, वचन, काया और कर्म के द्वारा प्राणियों का नाश नहीं करते हैं तथा सावद्य अनुष्ठान से निवृत्त हैं, वे पुरुष, क्रोध आदि शान्त हो जाने से शान्त हैं अथवा वे मुक्त जीव के समान सुखी हैं ॥१२॥

1. वीरा विरता हु पावका चू. ।

- पुनरप्युपदेशान्तरमाह -

- फिर से दूसरा उपदेश देते हैं-

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लोअंसि पाणिणो ।

एवं सहिएहिं पासए^१, अणिहे से पुट्टे अहियासए

॥१३॥

छाया - नाऽपि तेरहमेव लुप्पे, लुप्पन्ते लोके प्राणिनः । एवं सहितः पश्येत् अणिहः स स्पृष्टोऽधिसहेत ॥

व्याकरण - (ण अवि) अव्यय (ता) कर्ता (अहं) तिङ्प्रत्यय द्वारा उक्त कर्म (एव) अव्यय (लुप्पए) क्रिया, कर्मवाच्य उत्तम पुरुष (लुप्पंति) क्रिया (लोअंसि) अधिकरण (पाणिणो) कर्ता (एवं) अव्यय (सहिए) मुनि का विशेषण (पासए) क्रिया (अणिहे, से, पुट्टे) मुनि के विशेषण (अहियासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सहिए) ज्ञानादिसम्पन्न पुरुष (एवं) इस प्रकार (पासए) देखे कि- (अहमेव) मैं ही (ता) उन शीत, उष्ण आदि के द्वारा (णवि लुप्पए) पीड़ित नहीं किया जाता हूँ किन्तु (लोअंसि) परीषहों से स्पर्श पाया हुआ मुनि (अणिहे) क्रोधादि रहित होकर (अहियासए) उनको सहे।

भावार्थ - ज्ञानादिसम्पन्न पुरुष यह सोचे कि शीत और उष्णादि परीषहों से मैं ही नहीं पीड़ित किया जाता हूँ किन्तु लोक में दूसरे प्राणी भी पीड़ित किये जाते हैं । अतः शीत, उष्णादि परीषहों को क्रोधादि रहित होकर सहन करना चाहिए।

टीका - परीषहोपसर्गा एतद्भावनापरेण सोढव्याः, नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णादिदुःखविशेषैर्लुप्ये पीड्ये अपि त्वन्येऽपि प्राणिनः तथाविधास्तिर्य्यङ्मनुष्याः अस्मिंल्लोके लुप्यन्ते अतिदुःसहैर्दुःखैः परिताप्यन्ते, तेषां च सम्यग्विवेकाभावात् निर्जराख्यफलमस्ति, यतः-

“क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः, सोढाः दुःसहशीततापपवनक्लेशाः न तप्तं तपः।
ध्यातं विचमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वै [नियमितप्राणै] न तत्त्वं परं,

तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिर्मिरहो तैस्तैः फलैर्विचिताः?” ॥१॥

तदेवं क्लेशादिसहनं सद्विवेकिनां संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति, तथाहि-

“काश्यं क्षुत्प्रभवं कदम्बमशानं शीतोष्णयोः पात्रता, पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले।
एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे, दोषाश्चाऽपि गुणाः भवन्ति हि नृणां, योग्ये पदे योजिता” ॥२॥

एवं सहितो ज्ञानादिभिः स्वहितो वा आत्महितः सन् पश्येत् कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्त्य इति निहः न निहोऽनिहः क्रोधादिभिरपीडितः सन् स महासत्त्वः परीषहैः स्पृष्टोऽपि तान् अधिसहेत मनःपीडानं विदध्यादिति, यदिवा अनिह इति तपःसंयमे परीषहसहने चानिगूहितबलवीर्य्यः शेषं पूर्ववदिति ॥१३॥ अपि च-

टीकार्थ - बुद्धिमान् पुरुष यह सोचकर परीषह और उपसर्गों को सहे कि शीत, उष्ण आदि के द्वारा एक-मात्र मैं ही पीड़ित नहीं किया जाता अपितु इस जगत् में दूसरे तिर्य्यञ्च और मनुष्य आदि प्राणी भी पीड़ित किये जाते हैं । उन प्राणियों को सम्यग् विवेक नहीं है इसलिए कष्ट सहकर भी वे निर्जरा रूप फल को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । अत एव किसी विवेकी पुरुष की उक्ति है कि-

(क्षान्तम्) मैंने शीत, उष्णादि कृत दुःखों को सहन तो किया परन्तु क्षमा के कारण नहीं अपितु अशक्ति वश सहन किया । मैंने गृहसुख का त्याग तो किया परन्तु सन्तोष के कारण नहीं किन्तु अप्राप्ति के कारण । मैंने शीत, उष्ण और पवन के दुःसह दुःख सहे परन्तु तप नहीं किया ।

मैंने दिन रात धन का चिन्तन किया परन्तु निर्द्वन्द्व होकर परम तत्त्व का चिन्तन नहीं किया, मैंने सुख प्राप्ति के लिए वे सभी कर्म किये, जो तपस्वी मुनिराज करते हैं, परन्तु उनका फल मुझ को कुछ नहीं मिला । अतः

१. सहिते ऽधिपासए चू. । २. अधिकं पृथग्जनान् पश्यतीति चू. ।

संयम पालन करनेवाले उत्तम विचार शील पुरुष जो कष्ट सहन करते हैं, वे उनके गुण के लिए होते हैं, अत एव किसी विद्वान् कवि ने कहा है कि-

(कार्श्यम्) भोजन के लिए अन्न न मिलने से जो शरीर में कृशता उत्पन्न होती है, तथा खराब अन्न का भोजन एवं शीत और उष्ण के दुःख को सहना तथा तेल न मिलने से जो बालों का रुखापन है एवं बिस्तर के बिना सूखी जमीन पर शयन करना इत्यादि बातें जो गृहस्थ के लिए अवनति के चिन्ह मानी जाती हैं, वे ही संयमधारी मुनि के लिए उन्नतिजनक समझी जाती हैं, इससे सिद्ध होता है कि योग्य पद पर स्थापित किये हुए दोष भी गुण हो जाते हैं ।

अतः ज्ञानादिगुण सम्पन्न और आत्मकल्याण में तत्पर मुनि, पूर्वोक्त बातों को सोचकर क्रोध आदि का विजय करे और महान् धीर होकर शीतोष्णादि परिषहों को सहन करे । शीतोष्णादि कृत बाधा उपस्थित होने पर मन में किसी प्रकार का दुःख न माने । अथवा उक्त मुनि तप और संयम के अनुष्ठान में तथा परीषहों के सहन करने में बल का गोपन न करे ॥१३॥



धूणिया कुलियं व लेववं किसए देहमणासणादिहिं ।

अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो

॥१४॥

छाया - धूत्वा कुडयं व लेपवत् कर्शयेद्देहमजशब्दादिभिः । अविहिंसामेव प्रयजेदनुधर्मो मुनिना प्रवेदितः ॥

व्याकरण - (धूणिया) पूर्वकालिक क्रिया (कुलियं) उपमान कर्म (व) इवार्थक अव्यय (लेववं) कुलियं का विशेषण (किसए) क्रिया (देहं) कर्म (अणासणादिहिं) करण (अविहिंसां) कर्म (एव) अव्यय (पव्वए) क्रिया (अणुधम्मो) उक्त कर्म (मुणिणा) कर्तृ तृतीयान्त (पवेदितो) कर्मवाच्य क्तान्त किया ।

अन्वयार्थ - (लेववं) जैसे लेपवाली (कुलियं) भित्ति (धूणिया) लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह (अणसणादिहिं) अनशन आदि तप के द्वारा (देहं) अपनी देह को (किसए) कृश कर देना चाहिए (अविहिंसामेव) तथा अहिंसा धर्म का ही (पव्वए) पालन करना चाहिए क्योंकि (मुणिणा) सर्वज्ञ ने (अणुधम्मो) यही धर्म (पवेदितो) कहा है ।

भावार्थ - जैसे लेपवाली भित्ति, लेप गिराकर कृश कर दी जाती है । इसी तरह अनशन आदि तप के द्वारा शरीर को कृश कर देना चाहिए । तथा अहिंसा धर्म का ही पालन करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ ने यही धर्म बताया है ।

टीका - 'धूणिया' इत्यादि, धूत्वा विधूय कुलियं कडणकृतं कुडयं लेपवत् सलेपम् अयमत्रार्थः- यथा कुडयं गोमयादिलेपेन सलेपं जाघट्टयमानं लेपापगमात्कृशं भवति, एवमनशनादिभिर्देहं कर्शयेद् अपचितमांस-शोणितं विदध्यात्, तदपचयाच्च कर्मणोऽपचयो भवतीति भावः । तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत् अहिंसा प्रधानो भवेदित्यर्थः, अनुगतो मोक्षम्प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो मुनिना सर्वज्ञेन प्रवेदितः कथित इति ॥१४॥ किञ्च-

टीकार्थ - गोबर तथा मिट्टी से लिपी हुई भित्ति जैसे लेप गिरा देने से कृश हो जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप के द्वारा शरीर को कृश कर देना चाहिए अर्थात् शरीर के मांस और रक्त को घटा देना चाहिए । शरीर के मांस और रक्त घटा देने से कर्म भी घट जाता है, यह भाव है । विविध प्रकार की हिंसा को 'विहिंसा' कहते हैं, उस विहिंसा को न करना 'अविहिंसा' है । उस अविहिंसा धर्म का ही पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए । अर्थात् अहिंसा प्रधान होकर रहना चाहिए । जो धर्म मोक्ष के अनुकूल है, उसे 'अनुधर्म' कहते हैं, वह धर्म अहिंसा है एवं परिषह तथा उपसर्गों का सहन भी है, इन्हीं धर्मों को सर्वज्ञ ने बताया है ॥१४॥



सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं ।

एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे

॥१५॥

छाया - शकुनिका यथा पांसुगुण्डिता, विधूय ध्वंसयति सितं रजः ।

एवं द्रव्य उपधानवान् कर्म क्षपयति तपस्वी माहणः ॥

व्याकरण - (सउणी) उपमान कर्ता (जह) अव्यय (पंसुगुंडिया) सउणी का विशेषण (विहुणिय) पूर्वकालिक क्रिया (धंसयई) क्रिया (सियं) रज का विशेषण (रयं) कर्म (एवं) अव्यय (दवि, ओवहाणवं, तवस्सि) ये सब माहण के विशेषण हैं (माहणे) कर्ता (कम्मं) कर्म (खवइ) क्रिया।

अन्वयार्थ - (जह) जैसे (पंसुगुंडिया) धूलि से भरी हुई (सउणी) पक्षिणी (विहुणिय) अपने शरीर को कैपाकर (सियं रयं) शरीर में लगी हुई धूलि को (धंसयई) गिरा देती है (एवं) इसी तरह (दवि) भव्य (ओवहाणवं) अनशन आदि तप करने वाला (तवस्सि) तपस्वी (माहणे) अहिंसाव्रती पुरुष (कम्मं) कर्म को (खवइ) नाश करता है ।

भावार्थ - जैसे पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई धूलि को शरीर झाड़कर गिरा देती है, इसी तरह अनशन आदि तप करने वाला अहिंसाव्रती भव्य पुरुष अपने कर्मों का नाश कर देता है ।

टीका - शकुनिका पक्षिणी यथा पांसुना रजसा अवगुण्डिता खचिता सती अङ्गं विधूय कम्पयित्वा तद्रजः सितमवबद्धं सत् ध्वंसयति अपनयति, एवं द्रव्यो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो मोक्षं प्रत्युपसामीप्येन दधातीत्युपधान-मनशनादिकं तपः तदस्यास्तीत्युपधानवान् स चैवंभूतः कर्म ज्ञानावरणादिकं क्षपयति अपनयति तपस्वी साधुः 'माहण'ति मा वधीरिति प्रवृत्तिर्यस्य स प्राकृतशैल्या माहणेत्युच्यते ॥१५॥

टीकार्थ - शकुनिका, पक्षिणी का नाम है । जैसे धूलि से भरी हुई पक्षिणी अपने अङ्ग को हिलाकर शरीर में लगी हुई धूलि को गिरा देती है, इसी तरह अहिंसा धर्म का पालन करने वाला, मुक्तिगमन योग्य, उपधान यानी अनशन आदि तप करने वाला साधु, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को नाश कर देता है । जो मोक्ष के पास जीव को स्थापित करता है, ऐसे तप को 'उपधान' कहते हैं, वह अनशन आदि है । प्राणियों की हिंसा मत करो, ऐसी जिसकी प्रवृत्ति है, उनको 'माहण' कहते हैं परन्तु यहाँ प्राकृत की शैली से 'माहण' कहा है ॥१५॥



- अनुकूलोपसर्गमाह -

- अब शास्त्रकार अनुकूल उपसर्ग बतलाते हैं -

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाण्ठिअं तवस्सिणं ।

डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो

॥१६॥

छाया - उत्थितमणगारमेषणां श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विणम् ।

डहराः वृद्धाश्च प्रार्थयेयुरपि शुष्येयुर्न च तं लभेयुः ॥

व्याकरण - (उट्ठियं) (अणगारं) (ठाणाट्ठियं) (तवस्सिणं) ये सब श्रमण के विशेषण हैं (समणं) कर्म (डहरा, वुड्ढा) कर्ता (य) अव्यय (पत्थए) क्रिया (अवि) अव्यय (सुस्से) क्रिया (ण य) अव्यय (तं) कर्म (लभेज्ज) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अणगारं) गृह रहित (एसणं) और एषणा का पालन करने के लिए (उट्ठियं) तत्पर (ठाणाट्ठियं) तथा संयम स्थान में स्थित (तवस्सिणं) तपस्वी (समणं) श्रमण को (डहरा) उसके लड़के (वुड्ढा य) और उसके माता-पिता आदि वृद्ध (पत्थए) प्रव्रज्या छोड़ देने के लिए चाहे प्रार्थना करें (अवि सुस्से) और प्रार्थना करते-करते वे थक जायें (तं) परन्तु वे उस साधु को (णो लभेज्ज) अपने अधीन नहीं कर सकते ।

भावार्थ - गृह रहित और एषणा के पालन में तत्पर संयमधारी तपस्वी साधु के निकट आकर उनके बेटे पोते तथा माता-पिता आदि प्रव्रज्या छोड़कर घर चलने की भले ही प्रार्थना करें और प्रार्थना करते-करते वे थक जायें परन्तु वस्तु तत्त्व को जानने वाले मुनि को वे अपने अधीन नहीं कर सकते हैं ।

टीका - 'उड्डिये' त्यादि, अगारं, गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारः तमेवंभूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं-प्रवृत्तं, श्राम्यतीति श्रमणस्तं, तथा स्थानस्थितम् उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्टतपोनिष्ठसदेहं तमेवंभूतमपि कदाचित् डहराः पुत्रनप्त्रादयः वृद्धाः पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं प्रार्थयेयुर्याचेरन्, त एवमूचुः- भवता वयं प्रतिपाल्याः न त्वामन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति, त्वं वाऽस्माकमेक एव प्रतिपाल्यः (इति) भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुः न च तं साधुं विदितपरमार्थं लभेरन् नैवात्मसात्कुर्युः नैवात्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥ किञ्च -

टीकार्थ - घर को 'अगार' कहते हैं । घर जिसको नहीं है, उसे 'अनगार' कहते हैं । जो पुरुष घर से रहित है तथा संयम धारण करके एषणा के पालन करने में प्रवृत्त है तथा जो तपस्या आदि में परिश्रम करता है एवं उत्तरोत्तर विशिष्ट संयम में स्थित होता हुआ विशिष्ट तप के द्वारा अपने शरीर को खूब ताप दे रहा है, उस साधु के पास कदाचित् उसके बेटे-पोते तथा उसके बाप और मामा आदि आकर प्रव्रज्या छोड़ने की प्रार्थना करें और वे कहें कि - "आप हमारा पालन करें, क्योंकि आप के सिवाय दूसरा हमारा अवलम्ब नहीं है, अथवा एकमात्र आप ही हमारे पालनीय हैं ।" इस प्रकार कहते हुए वे लोग थक जायें परन्तु वस्तु तत्त्व को जानने वाले मुनि को वे अपने अधीन नहीं कर सकते हैं ॥१६॥



जइ कालुणियाणि कासिया जइ रोयंति य पुत्तकारणा ।

दवियं भिक्खू समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए

॥१७॥

छाया - यदि कारुणिकानि कुर्युः यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात् ।

द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं न लभन्ते न संस्थापयितुम् ॥

व्याकरण - (जइ) अव्यय (कालुणियाणि) कर्म (कासिया) क्रिया (जइ) अव्यय (रोयंति) क्रिया (च) अव्यय (पुत्तकारणा) हेतु पञ्चम्यन्त (दवियं, समुट्ठियं) भिक्षु के विशेषण (भिक्खू) कर्म (णो) अव्यय (लब्भंति) क्रिया (संठवित्तए) प्रयोजनार्थक क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जइ) यदि वे (कालुणियाणि) करुणामय वचन बोले अथवा करुणामय कार्य्य (कासिया) करें (जइ य) और यदि वे (पुत्तकारणा) पुत्र के लिए (रोयंति) रोदन करें तो भी (दवियं) द्रव्यभूत (समुट्ठियं) संयम पालन करने में तत्पर (भिक्खू) साधु को (णो लब्भंति) वे प्रव्रज्या से भ्रष्ट नहीं कर सकते हैं । (ण संठवित्तए) तथा वे उन्हें गृहस्थलिङ्ग में नहीं स्थापन कर सकते हैं ।

भावार्थ - साधु के माता-पिता आदि सम्बन्धी साधु के निकट आकर यदि करुणामय वचन बोलें, या करुणा जनक कार्य्य अथवा पुत्र के लिए रोदन करें तो भी वे, संयम पालन करने में तत्पर मुक्ति गमन योग्य उस साधु को संयम से भ्रष्ट नहीं कर सकते तथा वे उन्हें गृहस्थ लिङ्ग में स्थापन नहीं कर सकते ।

टीका - यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयः तदन्तिके समेत्य करुणाप्रधानानि विलापप्रायाणि वचांस्य-नुष्ठानानि वा कुर्युः, तथाहि-

“णाह पिय कन्त सामिय, अइवल्लह दुल्लहोऽसि भुवणंमि ।

तुह विरहम्मि य निक्खि । सुण्णं सव्वंति पडिहाइ ? ॥१॥”^१

“सेणी गामो गोड्डी गणो व तं जत्थ होसि सङ्गिहितो ।

दिप्पइ सिट्ठि सुपुट्ठि । किं पुण निययं घरदारं ॥२॥”^२

तथा यदि 'रोयंति य'त्ति, रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति । एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तिगमनयोग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक्संयमोत्थानेनात्थितं तथापि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो ब्रंशयितुं भावाच्यावयितुं नाऽपि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्यावयितुमिति ॥१७॥ अपिच -

1. [नाथ कान्त प्रिय स्वामिन् अतिवल्लभ दुर्लभोसि भवने । तव विरहे च निष्कृप । शून्यं सर्वमपि प्रतिभाति ॥१॥]

2. [श्रेणिग्रामो गोष्ठी गणो वा त्वं यत्र भवसि सङ्गिहितः । दीप्यते श्रिया सुपुरुषः, किं पुनर्निजं गृहद्वारम् ॥२॥]

टीकार्थ - साधु के माता-पिता, पुत्र और स्त्री आदि, साधु के निकट आकर यदि करुणामय वचन बोलें अथवा रोदन करें या करुणामय कार्य करें, जैसे कि-

साधु की स्त्री, साधु से कहे कि हे नाथ ! हे प्रिय ! हे कान्त ! हे स्वामिन् ! हे अति प्रिय ! तुम घर में दुर्लभ हो गये हो, हे निष्कृप ! तुम्हारे बिना मुझ को सब कुछ शून्य-सा प्रतीत होता है । हे उत्तम पुरुष ! तुम जिस श्रेणि में, जिस ग्राम में, जिस गोष्ठी में या जिस गण में रहते हो वे सब तुम्हारी शोभा से प्रकाशित हो जाते हैं फिर अपना घर तुम से प्रकाशित हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

तथा वे पुत्र के लिए रोदन करते हुए कहें कि- “हे उत्तम पुरुष ! अपने कुल की वृद्धि के लिए एक पुत्र, उत्पन्न करके पीछे तू संयम का पालन करना ।” इस प्रकार कहते हुए वे परिवार वर्ग, मुक्तिगमन योग्य तथा संयम पालन करने में निपुण उत्तम साधु को प्रव्रज्या से भ्रष्ट या भाव से पतित नहीं कर सकते हैं । एवं वे उसे गृहस्थ बनाकर द्रव्यलिङ्ग से भी भ्रष्ट नहीं कर सकते हैं ॥१७॥



जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घरं ।

जइ जीवियं नावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए

॥१८॥

छाया - यद्यपि च कामैर्लावयेयुः यदि नयेयुर्बद्ध्वा गृहम् । यदि जीवितं नावकाङ्क्षेत् नो लभन्ते न संस्थापयितुम् ॥

व्याकरण - (जइ वि) अव्यय (य) अव्यय (कामेहि) करण (लाविया) क्रिया (जइ) अव्यय (णेज्जाहि) क्रिया (बंधिउं) क्रिया (घरं) कर्म (जीवियं) कर्म (ण) अव्यय (नावकंखए) क्रिया (णो) अव्यय (लब्भंति) (संठवित्तए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जइविय) चाहे परिवारवाले (कामेहि लाविया) साधु को काम भोग का प्रलोभन दें (जइ बंधिउं) अथवा बाँधकर (घरं) घर पर (णेज्जाहि) ले जायें (जइ) परन्तु यदि (जीवियं नावकंखए) वह साधु असंयम जीवन को नहीं चाहता है, तो (णो लब्भंति) वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते हैं (ण संठवित्तए) और न उसे गृहस्थ भाव में ही रख सकते हैं ।

भावार्थ - साधु के सम्बन्धी जन यदि साधु को विषय भोग का प्रलोभन दें अथवा वे साधु को बाँधकर घर ले जायें, परन्तु वह साधु यदि असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता है तो वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते अथवा उसे वे गृहस्थ भाव में नहीं स्थापन कर सकते ।

टीका - ‘जइवि’ इत्यादि, यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपैर्लावयन्ति, उपनिमन्त्रयेयुरपलोभयेयुरित्यर्थः, अनेनानुकूलोपसर्गग्रहणं, तथा यदि नयेयुर्बद्ध्वा गृहं ‘ण’ मिति वाक्यालङ्कारे । एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुः यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेद् यदि जीविताभिलाषी न भवेदसंयमजीवितं वा नाभिनन्देत् ततस्ते निजास्तं साधुं ‘णो लब्भंति’ति, न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं ‘ण संठवित्तए’ति नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥ किञ्च -

टीकार्थ - संयम पालन करने में तत्पर साधु के सम्बन्धी जन साधु के निकट आकर यदि विषय भोग का प्रलोभन देवें, इस प्रकार वे अनुकूल उपसर्ग करें तथा यदि वे बाँधकर साधु को घर ले जावें इस प्रकार वे प्रतिकूल उपसर्ग करें, ‘ण’ शब्द वाक्यालङ्कार में आया है; इस प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से पीड़ित भी वह साधु यदि जीवन की इच्छा नहीं करता है अर्थात् वह यदि असंयम जीवन को पसंद नहीं करता है तो उसके आत्मीय उसे अपने वश में नहीं कर सकते हैं तथा वे उस साधु को गृहस्थ भाव में भी नहीं रख सकते ॥१८॥



सेहंति य णं ममाइणो माय पिया य सुया य भारिया ।

पोसाहि ण पासओ तुमं लोगं, परंपि जहासि पोसणो

॥१९॥

छाया - शिक्षयन्ति च ममत्ववन्तः माता पिता च सुताश्च भ्रात्र्याः ।

पोषय नः दर्शनस्त्वं लोकं परमपि जहासि पोषय नः ॥

व्याकरण - (सेहंति) क्रिया (य) अव्यय (माय पिया, सुया भारिया) कर्ता (ममाङ्गो) कर्ता का विशेषण (ण) कर्म (पोसाहि) क्रिया (तुमं) अध्याहृत 'असि' क्रिया का कर्ता (पासओ) तुमं का विशेषण (परं) लोक का विशेषण (लोकं) कर्म (जहासि) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (ममाङ्गो) यह साधु मेरा है यह जानकर साधु से स्नेह करनेवाले उसके (माय पिया य सुया य भारिया) माता-पिता, पुत्र और स्त्री (सेहंति य) साधु को शिक्षा भी देते हैं कि (तुमं पासओ) तू सूक्ष्म दर्शी हो (पोसाहि) अतः हमारा पोषण करो (परं पि लोगं) तू परलोक को भी (जहासि) बिगाड़ रहे हो अतः (पोसणो) तुम हमारा पोषण करो ।

भावार्थ - साधु को अपना पुत्र आदि जानकर उसके माता-पिता, पुत्र और स्त्री आदि साधु को शिक्षा देते हैं । वे कहते हैं कि हे पुत्र ! तू बड़ा सूक्ष्म दर्शी है, अतः हमारा पालन कर । तू हमें छोड़कर अपना परलोक भी बिगाड़ रहा है, अतः तू हमारा पालन कर ।

टीका - ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं 'सेहंति' ति, शिक्षयन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे 'ममाङ्गो'ति, ममायमित्येवं स्नेहालवः कथं शिक्षयन्तीत्यत आह- पश्य नः अस्मानत्यन्तदुःखितास्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा, त्वं च यथावस्थितार्थपश्यकः- सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिक इत्यर्थः, अतः नः अस्मान् पोषय प्रतिजागरणं कुरु, अन्यथा प्रव्रज्या-भ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवता, अस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसि इति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावासिरेवेति, तथाहि-

“या गतिः क्लेशादग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् । विभ्रतां पुत्रदारोस्तु तां गतिं व्रज पुत्रका ॥१॥” ॥१९॥

टीका - नवदीक्षित साधु को उसके माता-पिता आदि स्वजन वर्ग कदाचित् शिक्षा भी देते हैं । (णम्) शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । साधु के माता-पिता आदि समझते हैं कि- “यह मेरा है” इसलिए वे उस पर स्नेह करते हुए शिक्षा देते हैं । वे किस तरह शिक्षा देते हैं सो शास्त्रकार बतलाते हैं - वे कहते हैं कि हे पुत्र ! तुम्हारे लिये हम अत्यन्त दुःखित हैं, तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई हमारा पोषण करनेवाला नहीं है । तू इस बात को देख । तू वस्तु स्वरूप को जानने वाला विद्वान् है अतः तू हमारा पालन कर । नहीं तो प्रव्रज्या लेकर तुमने इसलोक को तो नष्ट कर ही दिया है अब हमें छोड़कर परलोक को भी बिगाड़ रहा है । अपने दुःखी परिवार के पालन से पुण्य की प्राप्ति होती है । अत एव कहा है कि-

(या गतिः) अर्थात् हे पुत्र ! पुत्र और स्त्री को पालन करने के लिए क्लेश सहन करनेवाले गृहस्थों का जो मार्ग है उसीसे तुम भी चलो ॥१९॥



- एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचिदेतत्कुर्युरित्याह -

- कोई कायर पुरुष माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के द्वारा उपसर्ग किये हुए कदाचित् यह भी कर बैठते हैं सो शास्त्रकार बतलाते हैं -

अत्रे अत्रेहिं मुच्छिया मोहं जन्ति नरा असंवुडा ।

विसमं विसमेहिं गाहिया ते पावेहिं पुणो पगम्भिया

॥२०॥

छाया - अब्येऽब्यैर्मूर्च्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः । विषमं विषमेर्गाहिताः, ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः ॥

व्याकरण (अत्रे, असंवुडा, अत्रेहिं मुच्छिया) ये नर के विशेषण है (नरा) कर्ता (मोहं) कर्म (जन्ति) क्रिया (विसमेहिं) कर्तृ तृतीयात् (विसमं) कर्म (गाहिया) नर का विशेषण (पुणो) अव्यय (पावेहिं) अधिकरण (पगम्भिया) नर का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (असंवुडा) संयम रहित (अत्रे नरा) दूसरे मनुष्य (अत्रेहिं मुच्छिया) माता-पिता आदि दूसरे पदार्थों में आसक्त होकर (मोहं जन्ति) मोह को प्राप्त होते हैं (विसमेहिं विसमं गाहिया) संयमहीन पुरुषों के द्वारा असंयम ग्रहण कराये हुए वे पुरुष (पुणो पावेहिं पगम्भिया) फिर पाप कर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं ।

भावार्थ - कोई संयम हीन पुरुष सम्बन्धीजनों के उपदेश से माता-पिता आदि में मूर्च्छित होकर मोह को प्राप्त होते हैं। वे, असंयमी पुरुषों के द्वारा असंयम ग्रहण कराये हुए फिर पाप कर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं।

टीका - 'अत्रे' इत्यादि, अन्ये केचनान्तरसत्त्वाः अन्यैः मातापित्रादिभिः मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादिव्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं, ते एवम्भूता असंवृताः नराः मोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति, तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वाद् विषमः असंयमस्तं विषमैरसंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तत्वेनाऽपायाभीरुभी रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुश्छेद्यत्वेन विषमैः ग्राहिताः असंयमं प्रति वर्तितास्ते चैवम्भूताः पापैः कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिताः धृष्टतां गताः, पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥२०॥

टीका - कोई अल्प पराक्रमी और संयम रहित पुरुष माता-पिता आदि अन्य पदार्थों में आसक्त होकर मोह को प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे शुभ अनुष्ठान करने में मोहित हो जाते हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आदि के सिवाय संसार के सभी पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं किन्तु दूसरा है, इसलिए यहाँ सब को अन्य कहकर बताया है। जीव के संसार में आने का प्रधान कारण असंयम है, इसलिए 'विषय, असंयम को कहते हैं। असत् मार्ग से चलनेवाले और नाश से भय नहीं करनेवाले संयमहीन पुरुषों के द्वारा असंयम ग्रहण कराये हुए वे पुरुष पाप करने में फिर धृष्टता करते हैं। अथवा अनादि काल से अभ्यास किये हुए होने के कारण नष्ट करने में अति कठिन राग-द्वेष को विषम कहते हैं, उन राग-द्वेषों के द्वारा असंयम में प्रेरित किये हुए वे कायर फिर धृष्टतापूर्वक पाप कर्म करने लगते हैं। वे पाप कर्म करते हुए लज्जित नहीं होते हैं, यह भाव है ॥२०॥



- यत एवं ततः किं कर्तव्यमित्याह -

- माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के स्नेह में पड़कर कोई कायर पुरुष संयम भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए साधु को क्या करना चाहिए सो सूत्रकार बतलाते हैं -

तम्हा दवि इक्ख पंडिए^१, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे ।

पणए वीरे महाविहिं सिद्धिपहं णेआउयं धुवं

॥२१॥

छाया - तस्माद् द्रव्य ईक्षस्व पण्डितः पापाद्विरतोऽभिनिवृत्तः । प्रणताः वीराः महावीर्यीं सिद्धिपथं नेतारं ध्रुवम् ॥

व्याकरण - (तम्हा) हेतु पञ्चम्यन्त सर्वनाम (दवि पंडिए) अध्याहृत 'त्वं' का विशेषण (इक्ख) क्रिया मध्यम पुरुष (पावाओ) अपादान (विरते अभिनिव्वुडे) कर्ता के विशेषण (वीरे) कर्ता (महाविहिं) कर्म (पणए) कर्ता का विशेषण (सिद्धिपहं, णेआउयं, धुवं) ये महावीर्य के विशेषण हैं।

अन्वयार्थ - (तम्हा) इसलिए (दवि) मुक्ति गमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित होकर (इक्ख) विचारो (पंडिए) सत् और असत् के विवेक से युक्त तथा (पावाओ) पाप से (विरते) निवृत्त होकर (अभिनिव्वुडे) शान्त हो जाओ (वीरे) कर्म को विदारण करने में समर्थ पुरुष (महाविहिं) महामार्ग को (पणए) प्राप्त करते हैं (सिद्धिपहं) जो महामार्ग सिद्धि का मार्ग (णेआउयं) तथा मोक्ष के पास ले जानेवाला (धुवं) और ध्रुव है।

भावार्थ - माता-पिता आदि के प्रेम में फँसकर जीव पाप करने में धृष्ट हो जाते हैं, इसलिए हे पुरुष ! तुम मुक्ति गमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित होकर विचार करो। हे पुरुष ! तुम सत् और असत् के विवेक से युक्त, पाप रहित और शान्त बन जाओ। कर्म को विदारण करने में समर्थ पुरुष उस महत् मार्ग से चलते हैं, जो मोक्ष के पास ले जानेवाला ध्रुव और सिद्धि मार्ग हैं।

टीका - यतो मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भाः भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यः-मुक्तिगमनयोग्यः, रागद्वेषरहितो वा सन् ईक्षस्व तद्विपाकं पर्यालोचय। पण्डितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपाद् विरतः निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः, तथा प्रणताः प्रह्वीभूताः वीराः कर्मविदारणसमर्थाः महामार्गं महामार्गं तमेव विशिनष्टि- सिद्धिपथं ज्ञानदिमोक्षमार्गं, तथा मोक्षम्प्रति नेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव

मार्गोऽनुष्ठेयः नासदनुष्ठानप्रगल्भैर्भाव्यमिति ॥२१॥

टीकार्थ - माता-पिता आदि में मूर्च्छित पुरुष, पाप कर्म करने में धृष्ट हो जाता है, इसलिए हे पुरुष ! तू मुक्ति जाने योग्य अथवा राग-द्वेष रहित होकर उस पाप कर्म के परिणाम को विचार । हे पुरुष ! तू उत्तम विवेक से युक्त तथा पाप कर्म के अनुष्ठान से निवृत्त होकर क्रोध आदि को छोड़ शान्त बन जाओ । कर्म को विदारण करने में समर्थ वीर पुरुष, महामार्ग को प्राप्त करते हैं । उस महामार्ग का विशेषण बतलाते हैं - वह महामार्ग ज्ञान आदि मोक्ष का मार्ग है, तथा वह मोक्ष के पास ले जानेवाला और ध्रुव अर्थात् निश्चित है । अतः यह जानकर उसी मार्ग का अनुष्ठान करना चाहिए, पाप कर्म करने में धृष्ट नहीं बनना चाहिए ॥२१॥



- पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह -

- फिर भी शास्त्रकार उपदेश देते हुए इस उद्देशक को समाप्त करते हुए कहते हैं -

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसाकायेण संवुडो ।

चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे

॥२२॥

त्ति बेमि इति वैतालीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः (गाथाग्रम् १२०)

छाया - वैदारकमार्गमागतो मनसा वचसा कायेण संवृतः ।

त्यक्त्वा वित्तं च ज्ञातीन्आरम्भं च सुसंवृतश्चरेत् ॥ इति ब्रवीमि ॥

व्याकरण - (वेयालियमग्गं) आगमन क्रिया का कर्म (आगओ) कर्ता का विशेषण (मणवयसाकायेण) करण तृतीयान्त (संवुडे) कर्ता का विशेषण (चिच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (वित्तं) कर्म (णायओ, आरंभं) कर्म (सुसंवुडे) कर्ता का विशेषण (चरे) क्रिया (आक्षिप्त पुरुष कर्ता)।

अन्वयार्थ - (वेयालियमग्गं) कर्म को विदारण करने में समर्थ मार्ग में (आगओ) आकर (मणवयसाकायेण संवुडो) मन वचन और शरीर से गुप्त होकर एवं (वित्तं णायओ) धन तथा ज्ञातिवर्ग और (आरंभं च) आरंभ को (चिच्चा) छोड़कर (सुसंवुडे चरे) उत्तम संयमी होकर विचरना चाहिए ?

भावार्थ - हे मनुष्यों ! कर्म को विदारण करने में समर्थ मार्ग का आश्रय लेकर मन, वचन और काय से गुप्त होकर तथा धन, ज्ञातिवर्ग और आरम्भ को छोड़कर उत्तम संयमी बनकर विचरो ।

टीका - 'वेयालियमग्गं' इत्यादि, कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनः त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातींश्च स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति वैतालीयद्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - "वेयालियमग्गं" इत्यादि । कर्म को विदारण करने में समर्थ मार्ग में आकर मन, वचन और काय से गुप्त होकर, धन, स्वजन वर्ग तथा सावद्य अनुष्ठान को छोड़कर जितेन्द्रिय होते हुए संयम का अनुष्ठान करना चाहिए । यह श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी आदि से कहा है ।

यह वैतालीय नामक दूसरे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।



अथ द्वितीयाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारम्भ्यते ।

प्रथमानन्तरं द्वितीयः समारम्भ्यते- अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके भगवता स्वपुत्राणां धर्मदेशना-
ऽभिहिता, तदिहापि सैवाध्ययनार्थाधिकारत्वादभिधीयते । सूत्रस्य सूत्रेण सम्बन्धोऽयम्- अनन्तरोक्तसूत्रे बाह्यद्रव्य-
स्वजनारम्भपरित्यागोऽभिहितः, तदिहाप्यान्तरमानपरित्याग उद्देशार्थाधिकारसूचितोऽभिधीयते । तदनेन सम्बन्धे-
नायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् -

प्रथम उद्देशक कहने के पश्चात् अब दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है । इस दूसरे उद्देशक का प्रथम उद्देशक के साथ सम्बन्ध यह है- प्रथम उद्देशक में भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी ने अपने पुत्रों को धर्म का उपदेश दिया है, वही धर्मोपदेश इस दूसरे उद्देशक में भी दिया जाता है, क्योंकि दूसरे अध्ययन का अर्थाधिकार धर्मोपदेश ही है । सूत्र के साथ सूत्र का सम्बन्ध यह है - पूर्व सूत्र में कहा है कि- विवेकी पुरुष को बाह्य द्रव्य, स्वजन वर्ग और आरंभ छोड़ देने चाहिए । अब इस सूत्र में कहा जाता है कि - विद्वान् पुरुष को आन्तरिक मान छोड़ देना चाहिए । यह उद्देशक के अर्थाधिकार में भी सूचित किया गया है, इस सम्बन्ध से अवतीर्ण इस उद्देशक का प्रथम सूत्र यह है -



तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई ।

गोयन्नतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसी इंखिणी

॥१॥

छाया - त्वचमिव जहाति स रजः इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ।

गोत्राव्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्मण्येषामिक्षिणी ॥

व्याकरण - (तयसं) उपमान कर्म (व) इवार्थक अव्यय (जहाइ) क्रिया (से) सर्वनाम, कर्ता का विशेषण (रयं) कर्म (इति) अव्यय (संखाय) पूर्व कालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (ण) अव्यय (मज्जई) क्रिया (गोयन्नतरेण) हेतु तृतीयान्त (माहणे) साधु का वाचक, कर्ता (असेयकरी) इंखिणी का विशेषण (अन्नेसी) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (इंखिणी) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (तयसं व) जैसे सर्प अपनी त्वचा को (जहाइ) छोड़ देता है इसी तरह (से) वह साधु (रयं) आठ प्रकार के कर्म रज को छोड़ देता है (इति) यह (संखाय) जानकर (मुणी माहणे) मुनि (गोयन्नतरेण) गोत्र तथा दूसरे मद के कारणों से (ण मज्जई) मद नहीं करते हैं (अन्नेसी) दूसरे की (इंखिणी) निन्दा (असेयकरी) कल्याण का नाश करनेवाली है, इसलिए साधु किसी की निन्दा नहीं करते हैं ।

भावार्थ - जैसे सर्प अपनी त्वचा को छोड़ देता है, इसी तरह साधु अपने आठ प्रकार के कर्म रज को छोड़ देते हैं । यह जानकर संयमधारी मुनि अपने कुल आदि का मद नहीं करते हैं, तथा वे दूसरे की निन्दा भी नहीं करते हैं, क्योंकि दूसरे की निन्दा कल्याण का नाश करती है ।

टीका - यथा उरगः स्वां त्वचमवश्यं परित्यागार्हत्वात् जहाति परित्यजति, एवमसावपि साधुः रज इव रजः अष्टप्रकारं कर्म तद् अकषायित्वेन परित्यजतीति । एवं कषायाभावो हि कर्माभावस्य कारणमिति संख्याय ज्ञात्वा मुनिः कालत्रयवेदी, न माद्यति मदं न याति, मदकारणं दर्शयति-गोत्रेण काश्यपादिना, अन्यतरग्रहणात् शेषाणि मदस्थानानि गृह्यन्त इति, 'माहण' ति साधुः, पाठान्तरं वा 'जे विउ' ति, यो विद्वान् विवेकी स जातिकुललाभादिभिर्न माद्यतीति, न केवलं स्वतो मदो न विधेयः, जुगुप्साऽप्यन्येषां न विधेयेति दर्शयति- अथ अनन्तरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इंखिणि' ति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति । "मुणी ण मज्जई" इत्यादिकस्य सूत्रावयवस्य सूत्रस्पर्श गाथाद्वयेन निर्युक्तिरुदाह-

“तवसंजमणाणेषु वि, जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं । अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं?॥४३॥ति०
जइ ताव निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्टमाणमहणेहिं । अयिसेसमयट्ठाणा परिहरियच्चा पयत्तेणं ॥४४॥ति०

वेयालियस्स णिज्जुत्ती सम्पत्ता ।

तपःसंयमज्ञानेष्वपि आत्मसमुत्कर्षणार्थम् उत्प्रेकार्थं यः प्रवृत्तो मानः यद्यसावपि तावद् वर्जितः त्यक्तो महर्षिभिः महामुनिभिः किं पुनर्निन्दाऽन्येषां न त्याज्येति । यदि तावन्निर्जरामदोऽपि मोक्षैकगमनहेतुः प्रतिषिद्धः अष्टमानमथनैरर्हद्भिः अवशेषाणि तु मदस्थानानि जात्यादीनि प्रयत्नेन सुतरां परिहर्तव्यानीति गाथाद्वयार्थः ॥४३॥४४॥नि०।

टीकार्थ - जैसे साँप अपनी त्वचा को छोड़ देता है, क्योंकि वह छोड़ने योग्य ही है, उसी तरह साधु भी धूलि के समान अपने आठ प्रकार के कर्मों को छोड़ देते हैं । कारण यह है कि साधु कषाय रहित होते हैं । कषाय का अभाव ही कर्म के अभाव का कारण है, यह जानकर त्रिकालज्ञ मुनि, मद को प्राप्त नहीं होते हैं । अब शास्त्रकार मद का कारण बतलाते हैं काश्यप आदि गोत्र तथा 'अन्यतर' शब्द से शेष मद स्थानों का ग्रहण है । 'माहन' साधु को कहते हैं । कहीं-कहीं 'जे विउ' यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ यह है कि साधु जाति, कुल और लाभ का मद नहीं करते हैं । साधु को मद नहीं करना चाहिए, यही नहीं बल्कि दूसरे की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं । 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थ का द्योतक है । दूसरे की निन्दा पाप उत्पन्न करती है, इसलिए वह कभी नहीं करनी चाहिए । अब निर्युक्तिकार गाथा के अवयव को स्पर्श करने वाली दो गाथाएँ लिखते हैं-

अपने उत्कर्ष को बढ़ानेवाले तप, संयम और ज्ञान के मान का भी जबकि महर्षियों ने त्याग कर दिया है, तब दूसरे की निन्दा छोड़ने की बात ही क्या करनी ? उसको तो वे सुतरां त्याग कर देते हैं । मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन निर्जरा है, उसका मद भी अरिहन्तों ने वर्जित किया है, फिर शेष जाति आदि मदों की तो बात ही क्या करें ? उनको तो प्रयत्न पूर्वक छोड़ देना चाहिए । यह दोनों गाथाओं का अर्थ है ॥१॥



- साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याह -

- अब शास्त्रकार दूसरे की निन्दा से उत्पन्न होनेवाले दोष के विषय में कहते हैं -

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवर्त्तई महं ।

अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संख्याय मुणी ण मज्जई

॥२॥

छाया - यः परिभवति परं जणं, संसारे परिवर्त्तते महत् ।

अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥

व्याकरण - (जो) कर्ता (परं जणं) कर्म (परिभवई) क्रिया (संसारे) अधिकरण (परिवर्त्तई) क्रिया (महं) क्रिया विशेषण (अदु) अव्यय (इंखिणिया) कर्ता (पाविया) ईक्षिणिया का विशेषण (इति) अव्यय (संख्याय) पूर्व कालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (मज्जई) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जे) जो पुरुष (परं जणं) दूसरे जन का (परिभवई) तिरस्कार करता है (संसारे) वह संसार में (महं) चिरकाल तक (परिवर्त्तई) भ्रमण करता है (अदु ईंखिणिया) परनिन्दा (पाविया) पाप उत्पन्न करती है, (इति) यह (संख्याय) जानकर (मुणी) मुनिराज (ण मज्जई) मद नहीं करते हैं ।

भावार्थ - जो पुरुष दूसरे का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार भ्रमण करता है । परनिन्दा पाप का कारण है, यह जानकर मुनिराज मद नहीं करते हैं ।

टीका - 'जो परिभवई' इत्यादि, यः कश्चिदविवेकी 'परिभवति' अवज्ञयति, परं जणं अन्यं लोकम् आत्मव्यतिरिक्तं स तत्कृतेन कर्मणा 'संसारे' चतुर्गतिरक्षणे भवोदधावरघट्टघटीन्यायेन 'परिवर्त्तते' भ्रमति 'महद्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः, 'अदु'ति अथशब्दो निपातः निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' परनिन्दा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिकैव' दोषवत्येव, अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पापिका, तत्रेह जन्मनि सुकरो दृष्टान्तः, परलोकेऽपि पुरोहितस्यापि श्वादिषूत्पत्तिरिति, इत्येवं 'संख्याय' परनिन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनिर्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥२॥

टीकार्थ - जो अविवेकी पुरुष दूसरे पुरुष का तिरस्कार करता है, वह, तिरस्कार से उत्पन्न कर्म के प्रभाव से अत्यन्त रूप से अथवा चिर कालतक चतुर्गतिक संसार में अरहट की तरह भ्रमण करता है। कहीं-कहीं (चिरम्) यह पाठ मिलता है। 'अथ' शब्द निपात है। निपातों के अर्थ अनेक होते हैं, इसलिए वह (अतः) शब्द के अर्थ में आया है। दूसरे का तिरस्कार करने से आत्यन्तिक संसार भ्रमण होता है, इसलिए परनिन्दा पापयुक्त यानी दोषपूर्ण है। अथवा परनिन्दा अपने स्थान से अधम स्थान में जीव को गिरा देती है, यहाँ 'तु' शब्द एवकारार्थक है, इसलिए परनिन्दा पाप को ही उत्पन्न करती है, यह अर्थ है। परनिन्दा पाप को उत्पन्न करती है, इस विषय में इसलोक में सुअर दृष्टान्त है और परलोक में पुरोहित कुत्ते की योनि में उत्पन्न होता है, यह दृष्टान्त है। पर-निन्दा पाप का कारण है, यह जानकर मुनि को यह मान न करना चाहिए कि 'मैं विशिष्ट कुल में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ तथा तपस्वी हूँ' तथा 'तू मेरे से हीन है' ॥२॥



- मदाभावे च यद्विधेयं तददर्शयितुमाह -

- मद के अभाव में जो कर्तव्य है वे बताते हैं -

जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया ।

जे मोणपयं उवट्टिए, णो लज्जे समयं सया चरे

॥३॥

छाया-यश्चाप्यनायकः स्याद् योऽपि च प्रेष्यप्रेष्यः स्यात् । यो मौनपदमुपस्थितो नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ॥

व्याकरण - (जे) कर्ता, सर्वनाम (य, अवि) अव्यय (अणायगे) कर्ता का विशेषण (सिया) क्रिया (जे) कर्तृवाचक सर्वनाम (पेसगपेसए) कर्ता का विशेषण (सिया) क्रिया (जे) कर्तृवाचक (मोणपयं) कर्म (उवट्टिए) कर्ता का विशेषण (णो) अव्यय (लज्जे) क्रिया (समयं) कर्म (सया) अव्यय (चरे) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जे यावि) जो कोई (अणायगे) नायक रहित स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा (जे वि य) जो (पेसगपेसए सिया) दास के भी दास हैं (जे) जो (मोणपयं) मौन पद यानी संयममार्ग में (उवट्टिए) उपस्थित हैं (णो लज्जे) उन्हें लज्जा नहीं करनी चाहिए, किन्तु (सया) सदा (समयं चरे) समभाव से व्यवहार करना चाहिए ।

भावार्थ - जो स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा जो दास के भी दास हैं, उन्हें संयम मार्ग में आकर लज्जा छोड़कर समभाव से व्यवहार करना चाहिए ।

टीका - यश्चापि कश्चिदास्तां तावद् अन्यो न विद्यते नायकोऽस्येत्यनायकः- स्वयंप्रभुश्चक्रवर्त्यादिः 'स्यात्' भवेत्, यश्चापि प्रेष्यस्यापि प्रेष्यः- तस्यैव राज्ञः कर्मकरस्यापि कर्मकरः, य एवम्भूतो मौनीन्द्रं पद्यते-गम्यते मोक्षो येन तत्पदं-संयमस्तम् उप-सामीप्येन स्थितः उपस्थितः-समाश्रितः सोऽप्यलज्जमान उत्कर्षमकुर्वन् वा सर्वाः क्रियाः- परस्परतो वन्दनप्रतिवन्दनादिकाः विधत्ते, इदमुक्तं भवति-चक्रवर्तिनाऽपि मौनीन्द्रपदमुपस्थितेन पूर्वमात्मप्रेष्यप्रेष्यमपि वन्दमानेन लज्जा न विधेया इतरेण चोत्कर्ष, इत्येवं 'समता' समभावं सदा भिक्षुश्चरेत्-संयमोद्युक्तो भवेदिति ॥३॥

टीकार्थ - दूसरे पुरुषों की तो बात ही क्या करें ? जो पुरुष नायकवर्जित स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा जो दास के भी दास हैं अर्थात् उसी राजा के कर्मचारी का भी नौकर हैं, ऐसे होकर जिसने मोक्षप्रद मौनीन्द्र पद यानी संयम का आश्रय लिया है उन्हें, लज्जा छोड़कर अपने उत्कर्ष का मान न रखते हुए परस्पर वन्दन नमस्कार आदि समस्त क्रियाओं को करना चाहिए । आशय यह है कि- चाहे चक्रवर्ती भी क्यों न हो परन्तु संयम लेने के पश्चात् अपने गृहस्थावस्था के पूर्वदीक्षित दास के दास को भी वन्दन नमस्कार करने में लज्जा नहीं करनी चाहिए । तथा दूसरे किसी से भी मान नहीं करना चाहिए किन्तु सदा समभाव का आश्रय लेकर साधु को संयम में तत्पर रहना चाहिए ॥३॥



- क्व पुनर्व्यवस्थितेन लज्जामदौ न विधेयाविति दर्शयितुमाह -

- साधु को किस स्थिति में रहकर लज्जा और मद नहीं करना चाहिए यह दशनि के लिए सूत्रकार कहते हैं -

सम अन्नयरमि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए ।

जे आवकहा समाहिए दविए कालमकासी पंडिए

॥४॥

छाया-समोऽव्यतरस्मिन् संयमे संशुद्धः श्रमणः परिव्रजेत् । यावत् कथासमाहितो द्रव्यः कालमकार्षीत् पण्डितः ॥

व्याकरण - (संसुद्धे) (सम) ये दोनों श्रमण के विशेषण हैं, अथवा (संसुद्धे) संयम का विशेषण है (संजमे) अधिकरण (अन्नयरमि) संयम का विशेषण (समणे) कर्ता (परिव्वए) क्रिया (जे आवकहा समाहिए) (दविए) ये दोनों पण्डित के विशेषण हैं (पंडिए) कर्ता (कालं) कर्म (अकासी) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (संसुद्धे) सम्यक् प्रकार से शुद्ध (समणे) तपस्वी साधु (जे आवकहा) जीवन पर्यन्त (अन्नयरमि) किसी भी (संजमे) संयम स्थान में स्थित होकर (सम) समभाव के साथ (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे (दविए) वह द्रव्यभूत (पंडिए) सत् और असत् का विवेकवाला पुरुष (समाहिए) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (कालमकासी) मरण पर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - सम्यक् प्रकार से शुद्ध, शुभ अध्यवसायवाला, मुक्तिगमन योग्य, सत् और असत् के विवेक में कुशल तपस्वी साधु, मरण पर्यन्त किसी एक संयम स्थान में स्थित होकर समभाव के साथ प्रव्रज्या का पालन करे ।

टीका - 'समे'ति समभावोपेतः सामायिकादौ संयमे संयमस्थाने वा षट्स्थानपतितत्वात् संयमस्थानानामन्य-तरस्मिन् संयमस्थाने छेदोपस्थापनीयादौ वा, तदेव विशिनष्टि-सम्यक्शुद्धे सम्यक् शुद्धो वा 'श्रमणः' तपस्वी लज्जामदपरित्यागेन समानमना वा 'परिव्रजेत्' संयमोद्युक्तो भवेत्, स्यात्-कियन्तं कालम् ?, यावत् कथा-देवदत्तो यज्ञदत्त इति कथां यावत्, सम्यगाहित आत्मा ज्ञानादौ येन स समाहितः समाधिना वा शोभनाध्यवसायेन युक्तः, द्रव्यभूतो रागद्वेषादिरहितः मुक्तिगमनयोग्यतया वा भव्यः स एवम्भूतः कालमकार्षीत् 'पण्डितः' सदसद्विवेककलितः, एतदुक्तं भवति-देवदत्त इति कथा मृतस्यापि भवति अतो यावन्मृत्युकालं तावल्लज्जामदपरित्यागोपेतेन संयमानुष्ठाने प्रवर्तितव्यमिति स्यात् ॥४॥

टीकार्थ - समभाव से युक्त सामायिक आदि संयम में स्थित अथवा छः भागों में विभक्त संयम स्थानों में से किसी भी संयम स्थान में स्थित अथवा छेदोपस्थापनीय आदि में रहता हुआ तपस्वी मुनि अथवा सम्यक् प्रकार से शुद्ध तपस्वी लज्जा और मद का त्याग कर के समान मनवाला होकर संयम पालन में तत्पर रहे । वह साधु कितने काल तक ऐसा करे ? समाधान यह है कि जब तक "देवदत्त या यज्ञदत्त हैं" यह कथा जगत् में उसके विषय में जारी रहे अर्थात् जब-तक वह जीवित रहे, तब तक ज्ञान आदि में अपनी आत्मा को स्थापित रखता हुआ अथवा शुभ अध्यवसाय से युक्त होकर संयम का पालन करे । इस प्रकार द्रव्यभूत-यानी रागद्वेष रहित अथवा मुक्ति गमन योग्य और सत् तथा असत् के विवेक से युक्त साधु मरण पर्यान्त संयम का अनुष्ठान करे। भाव यह है कि मरने पर भी 'देवदत्त' था, ऐसी कथा जगत् में रहती है । इसलिए यहाँ कहा गया है कि जब-तक मृत्युकाल न आवे तब-तक साधु लज्जा और मद को छोड़कर संयम का अनुष्ठान करे ॥४॥



- किमालम्ब्यैतद्विधेयमिति, उच्यते -

- किस वस्तु का आलंबन लेकर साधु ऐसा करे सो शास्त्रकार बताते हैं -

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा ।

पुट्टे परुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ

॥५॥

छाया - दूरमनुदृश्य मुनिरतीतं धर्ममनागतं तथा । स्पृष्टः परुषैर्माहन्ः अपि हव्यमानः समये रीयते ॥

व्याकरण - (मुणी) कर्ता (दूरं) कर्म (तहा) अव्यय (तीतं, अणागयं) धर्म के विशेषण हैं (धम्मं) कर्म (अणुपस्सिया) पूर्व कालिक क्रिया

(परुसेहिं) करण (पुष्टे) मुनि का विशेषण (अविहण्णू) मुनि का विशेषण (समयमि) अधिकरण (रीयइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (मुणी) तीन काल का ज्ञाता मुनि (दूरं) मोक्ष को (तहा) तथा (तीतं) व्यतीत और (अणागयं) अनागत (धम्मं) जीवों के स्वभाव को (अणुपस्सिया) देखकर (परुसेहिं) कठिन वाक्य अथवा लाठी आदि के द्वारा (पुष्टे) स्पर्श किया जाता हुआ अथवा (अविहण्णू) हनन किया जाता हुआ भी (समयमि) संयम में ही (रीयइ) चले ।

भावार्थ - तीन काल को जाननेवाला मुनि, भूत तथा भविष्यत् प्राणियों के धर्म को तथा मोक्ष को देखकर कठिन वाक्य अथवा दण्ड आदि के द्वारा स्पर्श प्राप्त करता हुआ अथवा मारा जाता हुआ भी संयम मार्ग से ही चलता रहे ।

टीका - दूरवर्तित्वात् दूरो-मोक्षस्तमनु-पश्चात् तं दृष्ट्वा यदि वा दूरमिति-दीर्घकालम् 'अनुदृश्य' पर्यालोच्य 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता दूरमेव दर्शयति- अतीतं 'धर्म' स्वभावं-जीवानामुच्चावचस्थानगतिलक्षणं तथा अनागतं च धर्म-स्वभावं पर्यालोच्य लज्जामदौ न विधेयौ, तथा 'स्पृष्टः' छुप्तः 'परुषैः' दण्डकशादिभिर्वाग्भिर्वा 'माहणे'ति मुनिः 'अवि हण्णू'ति अपि मार्यमाणः स्कन्दकशिष्यगणवत् 'समये' संयमे 'रीयते' तदुक्तमार्गेण गच्छतीत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'समयाऽहियासए'ति समतया सहत इति ॥५॥

टीकार्थ - दूरवर्ती होने के कारण यहाँ मोक्ष को 'दूर' कहा है अथवा दीर्घकाल को दूर कहते हैं । अतः त्रिकालदर्शी मुनि मोक्ष को देखकर तथा दूरकाल को सोचकर लज्जा और मद न करे । दूरकाल को सोचना क्या है ? सो ही दशति है - अतीत यानी बीता हुआ जो धर्म यानी स्वभाव है, वह प्राणियों का ऊँची और नीची गतियों में जाना है तथा भविष्यत् काल का (पाँचो गतियों में जाने का) जो स्वभाव है, इन दोनों को जानकर मुनि लज्जा और मद न करे। तथा लाठी, चाबुक अथवा कठिन वाक्य से स्पर्श पाकर अथवा मारा जाकर भी मुनि, स्कन्दक के शिष्य की तरह शास्त्रोक्त संयम मार्ग से ही विचरे । यहाँ 'समया हियासए' यह पाठान्तर भी मिलता है, इसलिए उक्त मुनिराज समभाव से पूर्वोक्त आपत्तियों को सहे यह अर्थ जानना चाहिए ॥५॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमाह -

- सूत्रकार फिर दूसरा उपदेश देते हैं -

पण्णसमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी ।

सुहुमे उ सया अलूसए णो कुज्झे णो माणी माहणे

॥६॥

छाया-प्रज्ञासमाप्तः सदा जयेत् समताधर्ममुदाहरेब्बुनिः । सूक्ष्मे तु सदाऽलूषकः नो कुक्ष्येन्नो मानी माहणः ॥

व्याकरण - (पण्णसमत्ते) मुनि का विशेषण (मुणी) कर्ता (सया) अव्यय (जए) क्रिया (समताधम्मं) कर्म (उदाहरे) क्रिया (सुहुमे) अधिकरण (अलूसए) मुनि का विशेषण (कुज्झे) क्रिया (माणी, माहणे) मुनि का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (पण्णसमत्ते) पूर्ण बुद्धिमान् (मुणी) साधु (सया) सदा (जए) कषायों को जीते (समताधम्मं) तथा समतारूप धर्म का (उदाहरे) उपदेश करे (सुहुमे उ) संयम के विषय में (सया) सदा (अलूसए) अविराधक होकर रहे (णो कुज्झे) तथा क्रोध न करे (णो माणी माहणे) एवं साधु मान न करे ।

भावार्थ - बुद्धिमान् मुनि सदा कषायों को जीते एवं समभाव से अहिंसा धर्म का उपदेश करे । संयम की विराधना कभी न करे, एवं क्रोध तथा मान को छोड़ देवे ।

टीका - प्रज्ञायां समाप्तः-प्रज्ञासमाप्तः-पटुप्रज्ञः, पाठान्तरं वा 'पण्हसमत्ते' प्रश्नविषये प्रत्युत्तरदानसमर्थः 'सदा' सर्वकालं जयेत्, जेयं कषायादिकमिति शेषः । तथा समया समता तथा धर्मम्-अहिंसादिलक्षणम् 'उदाहरेत्' कथयेत् 'मुनिः' यतिः सूक्ष्मे तु-संयमे यत्कर्तव्यं तस्य 'अलूषकः' अविराधकः, तथा न हन्यमानो वा पूज्यमानो वा कुक्ष्येन्नापि 'मानी' गर्वितः स्यात् 'माहणे' यतिरिति ॥६॥ अपि च -

टीकार्थ - जिसने बुद्धि के विषय में समाप्ति कर दी है अर्थात् जो पूर्ण बुद्धिमान् है । उसे 'प्रज्ञासमाप्त'

कहते हैं। यहाँ 'पण्हसमत्थे' यह दूसरा पाठ भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि प्रश्न के उत्तर देने में समर्थ पुरुष। इस प्रकार वह पुरुष जीतने योग्य कषायों पर सदा विजय करे। तथा अहिंसा आदि धर्मों का समभाव से उपदेश करे। तथा मुनि, संयमानुष्ठान की विराधना न करे, तथा मारा जाता हुआ क्रोध न करे तथा पूजा जाता हुआ गर्व न करे ॥६॥



बहुजणमणमि संवुडो सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।

हृद एव सया अणाविले धम्मं पादुरकासी कासवं

॥७॥

छाया - बहुजननमने संवृतः सवार्थैर्नरोऽनिश्चितः। हृद इव सदाऽणाविलो धर्मं प्रादुरकार्षीत्काश्यपम् ॥

व्याकरण - (बहुजणमणमि) अधिकरण (संवुडो) नर का विशेषण (णरे) कर्ता (हृद) उपमान कर्ता (सया) अव्यय (अणाविले) नर का विशेषण (सव्वट्ठेहिं अणिस्सिए) नर का विशेषण (कासवं) धर्म का विशेषण (धम्मं) कर्म (पादुरकासी) क्रिया।

अन्वयार्थ - (बहुजणमणमि) बहुत जनों से नमस्कार करने योग्य, यानी धर्म में (संवुडो) सावधान रहनेवाला (नरे) मनुष्य (सव्वट्ठेहिं अणिस्सिए) सब पदार्थों में से ममता को हटाकर (हृद इव) तालाब की तरह (सया) सदा (अणाविले) निर्मल रहता हुआ (कासवं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के (धम्मं) धर्म को (पादुरकासी) प्रकट करे।

भावार्थ - बहुत जनों से नमस्कार करने योग्य धर्म में सदा सावधान रहता हुआ मनुष्य, धन-धान्य आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त न रहता हुआ, तालाब की तरह निर्मल होकर काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के धर्म को प्रकट करे।

टीका - बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति-प्रह्वीकरोति तैर्वा नम्यते-स्तूयते बहुजननमनो धर्मः, स एव बहुभिर्जनैरात्मीयात्मीयाशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते प्रशस्यते, कथम् ? अत्र कथानकं-राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभिस्ताभिः कथाभिरासांचक्रे, तत्र कदाचिदेवम्भूता कथाऽभूत्, तद्यथा- इहलोके धार्मिकाः बहवः उताधार्मिका इति ? तत्र समस्तपर्वदाऽभिहितम् यथाऽत्राधार्मिकाः बहवो लोकाः धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्यभयकुमारेणोक्तं-यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां परीक्षा क्रियताम्, पर्वदाऽप्यभिहितम् एवमस्तु, ततोऽभयकुमारेण धवलतरप्रासादद्वयं कारितम्, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति, ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टो निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिकः ? इत्येवं पृष्टः, कश्चिदाचष्टे-यथाऽहं कर्षकः अनेकशकुनिगणः मद्भान्यकणैरात्मानं प्रीणयति खलकसमागतधान्यकण-भिक्षादानेन च धर्म इति, अपरस्त्वाह-यथाहं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतः तथा बहुशौचस्नानादिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितृदेवांस्तर्पयामि, अन्यः कथयति यथाऽहं वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानादिप्रवृत्तः, अपरस्त्विदमाह- यथाऽहं कुलपुत्रकः न्यायागतं निर्गतिकं कुटुम्बकं पालयाम्येव, तावत् श्वपाकोऽपीदमाह- यथाऽहं कुलक्रमागतं धर्ममनुपालयामीति मन्त्रिश्रयाश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् संधारयन्ति, इत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मं नियोजयति, तत्रापरमसितप्रासादं श्रावकद्वयं प्रविष्टम्, तच्च किमधर्माचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सत् सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत् तथा साधव एवात्र परमार्थतो धार्मिकाः यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः, अस्माभिस्तु -

“अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम् । कृत्वा निवृत्तिं मधस्य सम्यक् साऽपि न पालिता” ॥१॥

अनेन व्रतमङ्गेन मन्यमाना अधार्मिकम् । अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥

तथाहि -

लज्जागुणीघजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहृदयमनुवर्तमानाः ॥

तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति । सत्यव्रतव्यसनिनी न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं न चाऽपि भग्नं चिरसंचितव्रतम् ।

वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो न चाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥

इति तदेवं प्रायशः सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इति कृत्वा बहुजननमनो धर्म इति स्थितम् । तस्मिंश्च संवृतः

समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैः बाह्याभ्यन्तरैर्धनधान्यकलत्रममत्वादिभिः अनिश्रितः अप्रतिबद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः निदर्शनमाह-हृद इव स्वच्छाम्भसा भूतः सदा अनाविलः अनेकमत्स्यादिजलचर-संक्रमेणाप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान् यदि वा एवंविशिष्ट एव काश्यपं तीर्थङ्करसम्बन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत् छान्दसत्वाद् वर्तमाने भूतनिर्देश इति ॥७॥

टीकार्थ - जो, बहुत जनों को अपने प्रति झुका देता है, अथवा जो बहुत जनों से प्रशंसा किया जाता है, उसे 'बहुजननमन' कहते हैं। वह धर्म है क्योंकि धर्म की ही बहुत लोग अपने-अपने अभिप्राय तथा स्वीकार के अनुसार प्रशंसा किया करते हैं। कैसे ? इस विषय में एक कथानक है - राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा रहते थे। वह किसी समय, चतुर्विध बुद्धिसंपन्न अपने पुत्र अभयकुमार के साथ सभा में बैठकर नाना प्रकार की कथाओं से चित्त विनोद कर रहे थे। किसी समय वहाँ यह प्रसंग छिड़ गया कि इसलोक में धार्मिक बहुत हैं अथवा अधार्मिक पुरुष बहुत हैं ? इस विषय में समस्त सभासदों ने यह कहा कि "इसलोक में अधार्मिक पुरुष ही बहुत हैं। धर्म तो कोई सौ में से एकाध पुरुष ही करता हैं।" यह सुनकर अभयकुमार ने कहा कि- "प्रायः सभी लोग धार्मिक ही हैं।" यदि विश्वास न हो तो आप परीक्षा कर लें। सभासदों ने कहा कि ऐसा ही हो। इसके पश्चात् अभयकुमार ने एक श्वेत और दूसरा कृष्ण दो महल बनवाये और नगर में यह घोषणा करवायी कि- "जो कोई धार्मिक है वह सभी पूजा की सामग्री लेकर श्वेत महल में प्रवेश करे और जो अधार्मिक है वह कृष्ण प्रासाद में चला जाय।" इसके पश्चात् सभी लोग धवल प्रासाद में ही गये। जब वे निकलने लगे तो उनसे पूछा गया कि- "तुम किस प्रकार धार्मिक हो ?" इस प्रश्न पर किसी ने कहा कि मैं किसान हूँ इसलिए बहुत से पक्षी मेरे धान्य के दानों से अपनी तृप्ति करते हैं, तथा खलिहान में आये हुए धान्य में से भिक्षा देने से मुझ को धर्म का लाभ होता है, इसलिए मैं धार्मिक हूँ। दूसरे ने कहा कि- मैं ब्राह्मण हूँ, मैं षट्कर्म में तत्पर रहकर शौच, स्नान आदि के द्वारा वेदोक्त विधि के अनुसार पितर और देवताओं को तर्पण करता हूँ इसलिए मैं धार्मिक हूँ, दूसरा कहता है कि- मैं वणिक् कुल यानी व्यापार के द्वारा जीविका चलाता हुआ भिक्षादान आदि कार्य में प्रवृत्त रहता हूँ इसलिए मैं धार्मिक हूँ। दूसरे ने कहा कि- मैं कुलपुत्र हूँ इसलिए न्याय से उत्पन्न आश्रय रहित अपने कुटुम्ब का पोषण करता हूँ, इसलिए मैं धार्मिक हूँ। अंततः चाण्डाल ने भी यह कहा कि मैं अपने कुल परम्परागत धर्म का पालन करता हूँ और मेरे अधीन बहुत से मांसाहारी अपने प्राणों को धारण करते हैं इसलिए मैं धार्मिक हूँ। इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने व्यापार को धर्म में स्थापित करने लगे। परंतु वहाँ दो श्रावक कृष्ण प्रासाद में प्रवेश किये हुए थे। उनसे जब पूछा गया कि- "तुम लोगों ने कौन सा अधर्म किया है।" तो उन्होंने कहा कि- "हम लोगों ने मद्यपान के त्याग का नियम लेकर एकबार उसे तोड़ दिया है। वस्तुतः साधु ही इस जगत् में धार्मिक हैं, जो अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करने में समर्थ हैं।

हम लोगों ने तो मनुष्य जन्म पाकर तथा जैन शासन को प्राप्त कर के मद्यपान का त्याग लेकर भी अच्छी तरह उसका पालन नहीं किया है ॥१॥

इस व्रत भंग के कारण अपने को अधार्मिक तथा अधम से अधम समझकर हमने कृष्ण प्रासाद का आश्रय लिया है ॥२॥

क्योंकि -

लज्जा आदि गुण समूह को उत्पन्न करनेवाली अत्यंत शुद्ध हृदया आर्या माता के समान प्रतिज्ञा की सेवा करनेवाले सत्यव्रत व्यसनी, तेजस्वी पुरुष अपने प्राणों को सुखपूर्वक छोड़ देते हैं, परन्तु प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते हैं ॥३॥

जलती हुई आग में प्रवेश करना अच्छा परन्तु चिरसंचित व्रत को तोड़ना अच्छा नहीं। शुद्ध चित्तवाले पुरुष का मर जाना भी अच्छा परन्तु शील भ्रष्ट पुरुष का जीवन अच्छा नहीं ॥४॥

इस प्रकार सभी लोग प्रायः अपने को धार्मिक ही मानते हैं, इसलिए यहाँ धर्म को बहुजननमन कहा है यह बात सत्य है। उस धर्म में सावधान होकर मनुष्य, बाह्य धन-धान्य, कलत्र आदि तथा अभ्यन्तर ममता आदि

पदार्थों में आसक्त न रहकर धर्म को प्रकट करे। यह उत्तर गाथा के साथ सम्बन्ध है। इस विषय में दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे तालाब स्वच्छ जल से भरा हुआ होता है। अथवा वह जैसे अनेक जलचरों के संचार से भी मलिन नहीं होता है, इसी तरह साधु मलिन न होते हुए क्षांति आदि दशविध धर्म को प्रकट करते थे। अथवा इस प्रकार रहता हुआ ही साधु तीर्थंकर सम्बन्धी धर्म को प्रकाश करे, यहाँ वर्तमान में छान्दसत्वात् भूत का निर्देश किया है ॥७॥



- स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृग् धर्मं प्रकाशयति तदर्शयितुमाह-यदि वोपदेशान्तरमेवाधिकृत्याह-
बहुत जनों से नमस्कृत धर्म में स्थित साधु, जैसा धर्म को प्रकाश करता है, वह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं - अथवा दूसरा उपदेश करते हैं -

बहवे^१ पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया^२ ।

जो मोणपदं उवड्डिते, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए

॥८॥

छाया-बहवः प्राणाः पृथक् श्रिताः प्रत्येकं समतां समीक्ष्य । यो मोणपदमुपस्थितो विरतिं तत्राकाशीत् पण्डितः ॥

व्याकरण - (बहवे) प्राणी का विशेषण (पाणा) कर्ता (पुढो) अव्यय (सिया) प्राणी का विशेषण (पत्तेयं) अव्यय (समयं) कर्म (समीहिया) पूर्वकालिक क्रिया । (जो) कर्ता (मोणपदं) कर्म (उवड्डिते) कर्ता का विशेषण (तत्थ) अधिकरण (विरतिं) कर्म (अकासी) क्रिया (पंडिए) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (बहवे) बहुत से (पाणा) प्राणी (पुढो) पृथक्-पृथक् (सिया) इस जगत् में निवास करते हैं (पत्तेयं) प्रत्येक प्राणी को (समयं) समभाव से (समीहिया) देखकर (मोणपदं) संयम में (उवड्डिते) उपस्थित (पंडिए) पण्डित पुरुष (तत्थ) उन प्राणियों के घात से (विरतिं) विरति (अकासी) करे ।

भावार्थ - इस संसार में बहुत से प्राणी पृथक्-पृथक् निवास करते हैं। उन सब प्राणियों को समभाव से देखनेवाला संयम मार्ग में उपस्थित विवेकी पुरुष उन प्राणियों के घात से विरत रहे ।

टीका - 'बहवे' इत्यादि, बहवः अनन्ता प्राणाः दशविधप्राणभाक्त्वात्तदभेदोपचारात् प्राणिनः पृथगिति पृथिव्यादि-भेदेन सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रिताः तेषां च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियत्वं च समीक्ष्य दृष्ट्वा यदिवा समतां माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य (त्य) यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयममाश्रितः स साधुः तत्र अनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्विषि सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्तव्ये विरतिमकार्षीत् कुर्याद्विति, पापाङ्गीनः पापानुष्ठानाद् दवीयान् पण्डित इति ॥८॥

टीकार्थ - दशविध प्राणों को धारण करने के कारण यहाँ प्राणों के साथ अभेद आरोप करके प्राणियों को प्राण कहा है। इस जगत् में पृथिवी आदि भेद से अथवा सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त और नरक गति आदि भेद से अनन्त प्राणी निवास करते हैं। पृथक् रहनेवाले वे प्रत्येक प्राणी समान रूप से दुःख के साथ द्वेष और सुख के साथ प्रेम करते हैं, यह देखकर अथवा सब प्राणियों के विषय में मध्यस्थवृत्ति धारण करके संयम में उपस्थित पाप के अनुष्ठान से दूर रहनेवाला पण्डित पुरुष, दुःख-द्वेषी और सुख-प्रेमी उन अनेक भेदवाले प्राणियों के घात से विरत रहे ॥८॥



- अपि च

- और भी -

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए ।

सोयंति य णं ममाङ्गो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं

॥९॥

१. बहवो चू. । २. उवेहाए चू. । ३. गितियं चू. ।

छाया-धर्मस्य च पारगो मुनिरारम्भस्य चान्तके स्थितः । शोचन्ति च ममतावन्तः नो लभन्ते निजं परिग्रहम् ॥

व्याकरण - (धम्मस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (पारए) मुनि का विशेषण (आरंभस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (अंतए) अधिकरण (ठिए) मुनि का विशेषण (मुणि) कर्ता (ममाइणो) कर्ता (सोयंति) क्रिया (णियं) कर्म विशेषण (परिग्रहं) कर्म (लभन्ति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (धम्मस्स) धर्म का (पारए) पारगामी (आरंभस्स) आरम्भ के (अंतए) अन्त में (ठिए) स्थित पुरुष (मुणी) मुनि कहलाता है (ममाइणो) ममतावाले पुरुष (सोयंति य) शोक करते हैं (णियं) अपने (परिग्रहं) परिग्रह को (नो लभन्ति) नहीं प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - जो पुरुष धर्म के पारगामी और आरम्भ के अभाव में स्थित है, उसे मुनि समझना चाहिए । ममता रखनेवाले जीव परिग्रह के लिए शोक करते हैं और वे शोक करते हुए भी अपने परिग्रह को प्राप्त नहीं करते ।

टीका - धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः सिद्धान्तपारगामी सम्यक्चारित्रानुष्ठायी वेति, चारित्रमधिकृत्याह - 'आरम्भस्य' सावधानुष्ठानरूपस्य 'अन्ते' पर्यन्ते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति, ये पुनर्नैवं भवन्ति ते 'अकृतधर्माः' मरणे दुःखे वा समुत्थिते आत्मानं शोचन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदिवेष्टमरणादौ अर्थनाशे वा 'ममाइणो' ति ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति, शोचमाना अप्येते 'निजम्' आत्मीयं परि-समन्तात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहः । हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा तं नष्टं मृतं वा 'न लभन्ते' न प्राप्नुवन्तीति, यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्यान्ते व्यवस्थितमेनमागत्य 'स्वजनाः' मातापित्रादयः शोचन्ति 'ममत्वयुक्ताः' स्नेहालवः न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति ॥१॥

टीकार्थ - श्रुत और चारित्र भेद से धर्म द्विविध है, ऐसे धर्म को जिसने पार किया है अर्थात् जो सिद्धान्त का पारगामी है अथवा जो सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करता है, वह मुनि कहलाता है, चारित्र के विषय में कहते हैं कि- जो सावद्य अनुष्ठान के अन्त में अर्थात् अभाव से स्थित रहता है, वह पुरुष मुनि है । परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, वे धर्माचरण नहीं किये हुए पुरुष, मरण अथवा दुःख उपस्थित होने पर अपने आत्मा के लिए शोक करते हैं । 'णं' शब्द वाक्यालंकार में आया है । अथवा इष्ट मरण और अर्थनाश होने पर 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ' ऐसा अध्यवसाय रखनेवाले वे उसके लिए शोक करते हैं । शोक करने पर भी वे अपने उस परिग्रह को नहीं प्राप्त करते हैं । जो चारों तरफ से अपने आधीन किया जाता है । उसे परिग्रह कहते हैं । वह सुवर्ण आदि और स्वजन आदि हैं । नष्ट हुए सुवर्ण आदि को अथवा मरे हुए स्वजन आदि को वे पुनः नहीं प्राप्त करते हैं । अथवा धर्म का पारगामी और आरम्भ के अन्त में स्थित मुनि के पास आकर उसके माता-पिता आदि स्वजन वर्ग उस मुनि पर ममत्व और स्नेह करते हुए शोक करते हैं, परन्तु उस मुनि को अपना परिग्रह समझते हुए भी वे उन्हें प्राप्त नहीं करते हैं ॥१॥



- अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-

24 "सोऊण तयं उवट्ठियं केइ गिही विग्घेण उट्ठिया । धम्मंमि अणुत्तरे मुणी, तं पि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥
एतदेवाह -

- यहाँ नागार्जुनीय यह पाठ करते हैं - "सोऊण" इत्यादि । अर्थात् कोई गृहस्थ मुनि को वहाँ आये हुए जानकर विघ्न करने के लिए यदि आवें तो अनुत्तर धर्म में स्थित पण्डित मुनि उनको इस रीति से जीत लेवे यही बात सूत्रकार कहते हैं -

इहलोगदुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं ।

विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे?

॥१०॥

छाया-इहलोकदुःखावहं विद्याः परलोके च दुःखं दुःखावहम् । विद्धंसणधर्ममेव तद् इति विद्वान् कोऽगारमावसेत् ॥

1. त्रिपदबहुव्रीहिरत्र, अन्समासान्तश्च द्विपदादेव । 2. श्रुत्वा तमुपस्थितं केचिद्गृहिणो विघ्नायोत्तिष्ठेयुः । धर्मेऽनुत्तरे मुनिस्तानपि जयेदनेन पण्डितः ।

व्याकरण - (इहलोगदुहावहं, परलोगे दुहं दुहावहं) कर्म (विज्) क्रिया (तं विद्धंसणधम्मं) अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (एव) अव्यय (इति) अव्यय (विज्ज) कर्ता का विशेषण (को) कर्ता (अगारं) कर्म (आवसे) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (इहलोगदुहावहं) सोना, चाँदी और स्वजन वर्ग इस लोक में दुःख देनेवाले हैं (परलोगे य) और परलोक में भी (दुहं दुहावहं) दुःख देनेवाले हैं । (विज्) यह जानो (तं) वह (विद्धंसणधम्ममेव) नश्वर स्वभाव है (इति विज्ज) यह जाननेवाला (को) कौन पुरुष (अगारं) गृहवास में (आवसे) निवास कर सकता है ? ।

भावार्थ - सोना-चाँदी और स्वजन वर्ग, सभी परिग्रह इसलोक तथा परलोक में दुःख देनेवाले हैं । तथा सभी नश्वर हैं, अतः यह जानने वाला कौन पुरुष गृहवास को पसन्द कर सकता है ? ।

टीका - इह अस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति । 'विउ'त्ति विद्याः-जानीहि, तथाहि -
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्" ॥१॥
तथाहि -

“रेवापयः किंसलयानि च सल्लकीनां विन्द्योपकण्ठविपिनं स्वकुलं च हित्वा ।

किं ताम्यसि द्विप ! गतोऽसि वशां करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः” ॥२॥

परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-
दितिभावः । तथैतदुपार्जितमपि 'विध्वंसनधर्म' विशरारुस्वभावं गत्वरमित्यर्थः इत्येवं 'विद्वान्' जानन् कः सकर्णः
'अगारवासं' गृहवासमावसेत् ? गृहपाशमनुबध्नीयादिति । उक्तं च -

“दाराः परिभवकाराः, बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।

कोऽयं जनस्य मोहो ?, ये रिपवस्तेषु सुहृदाश्च” ॥१०॥

टीकार्थ - हिरण्य और स्वजन आदि, इसलोक में भी दुःख उत्पन्न करते हैं यह जानो । क्योंकि -

धन को प्राप्त करने में दुःख होता है और प्राप्त किये हुए धन की रक्षा करने में दुःख होता है । धन को प्राप्त करने में दुःख होता है और व्यय करने में दुःख होता है, इसलिए दुःखों के पात्र धन को धिक्कार है ।

तथा हे करिराज !

हे गज ! तू रेवा नदी का जल, सल्लकी वृक्ष के पत्ते, विन्द्याचल के समीप रहे हुए वन और अपने कुल को छोड़कर क्यों दुःख भोग रहे हो ? । इसका कारण यही है कि तुम हथिनी के वशा हो गये हो, ठीक है, संसार में स्नेह ही अनर्थ परंपरा का कारण है ।

परलोक में भी हिरण्य और स्वजन की ममता से उत्पन्न कर्म से दुःख होता है । वह दुःख फिर दूसरा दुःख उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे किये हुए कर्म के द्वारा फिर दुःख होता है । तथा उपार्जन किया हुआ भी धन नश्वरस्वभावी है, स्थिर नहीं है, अतः इस बात को जाननेवाला कौन विद्वान् पुरुष, गृहवास को पसन्द कर सकता है, अथवा गृहपाश में अपने को बाँध सकता है ? कहा भी है -

“दाराः” अर्थात् स्त्री अपमान करती है । बन्धुजन बन्धन हैं । विषय विष के तुल्य हैं तथापि मनुष्य का यह कैसा मोह है कि जो शत्रु हैं, उनमें वह मित्र की आशा रखता है ॥१०॥



- पुनरप्युपदेशमधिकृत्याह -

- फिर दूसरा उपदेश देने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

१महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदण-पूयणा इहं ।

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, २विउमंता पयहिज्ज संथवं

॥११॥

१. महता चू. । २. विदु चू. ।

छाया - महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा, याऽपि च वन्दनपूजनेह ।

सूक्ष्मे शल्ये दुरुद्धरे, विद्वान् परिजह्यात् संस्तवम् ॥

व्याकरण - (महयं) परिगोप का विशेषण (पलिगोव) कर्म (जाणिया) पूर्वकालिक क्रिया (जा) सर्वनाम, वन्दन पूजन का विशेषण (अवि) (य) अव्यय (इह) अव्यय (वन्दन पूजना) अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (विउमंता) कर्ता (सुहुमे) शल्य का विशेषण (दुरुद्धरे) शल्य का विशेषण (सल्ले) अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (संथवं) कर्म (पयहिज्ज) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (महयं) सांसारिक जीवों का परिचय महान् (पलिगोव) पंक है (जाणिया) यह जानकर (जावि य) तथा जो (इह) इस लोक में (वन्दन पूजना) वन्दन और पूजन है, उसे भी कर्म के उपशम का फल जानकर (विउमंता) विद्वान् पुरुष गर्व न करे, क्योंकि गर्व, (सुहुमे) सूक्ष्म (सल्ले) शल्य है (दुरुद्धरे) उसका उद्धार करना कठिन है (संथवं) अतः परिचय को (पयहिज्ज) त्याग देवे ।

भावार्थ - सांसारिक जीवों के साथ परिचय महान् कीचड़ है, यह जानकर मुनि उनके साथ परिचय न करे तथा वन्दन और पूजन भी कर्म के उपशम का फल है, यह जानकर मुनि वन्दन, पूजन पाकर गर्व न लावे, क्योंकि गर्व सूक्ष्म शल्य है, उसका उद्धार करना कठिन होता है ।

टीका - 'महान्तं संसारिणां दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपणं 'परिगोपः' द्रव्यतः पङ्कादिः भावतोऽभिष्वङ्गः तं 'ज्ञात्वा' स्वरूपतः तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजादिभिः कायादिभिर्वन्दना वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना तां च 'इह' अस्मिन् लोके मौनीन्द्रे वा शासने व्यवस्थितेन कर्मोपशमजं फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेयः, किमिति ? यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्मं शल्यं वर्तते, सूक्ष्मत्वाच्च 'दुरुद्धरं' दुःखेनोद्धर्तुं शक्यते, अतः 'विद्वान्' सदसद्विवेकज्ञस्तत्तावत् 'संस्तवं' परिचयमभिष्वङ्गं 'परिजह्यात्' परित्यजेदिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति -

“पलिमंथं महं वियाणिया, जाऽवि य वंदणपूयणा इह । सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तं पि जिणे एएण पंडिह” ॥१॥

अस्य चायमर्थः- साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैः वन्दनापूजनादिकः सत्कारः क्रियते असावपि सदानुष्ठानस्य सद्गतेर्वा महान् पलिमन्थो-विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गः, तमित्येवं परिज्ञाय तथा सूक्ष्मशल्यं दुरुद्धरं च अतस्तमपि 'जयेद्' अपनयेत् पण्डितः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेति ॥११॥

टीकार्थ - संसारी जीव के लिए परिचय छोड़ना कठिन है, इसलिए परिचय को यहाँ महान् कहा है । अथवा महान् संरंभ अर्थ में यहाँ महत् शब्द आया है । जो प्राणियों को अपने में फँसा लेता है उसे 'परिगोप' कहते हैं । वह परिगोप दो प्रकार का है एक द्रव्य परिगोप और दूसरा भाव 'परिगोप' । द्रव्य परिगोप पंक (कीचड़) को कहते हैं और संसारी प्राणियों के साथ परिचय या आसक्ति भावपरिगोप है । इसका स्वरूप और विपाक को जानकर मुनि इसे त्याग देवे । तथा प्रव्रज्या धारण किये हुए मुनि की जो राजा महाराजा आदि, शरीर से वन्दना और वस्त्रपात्र आदि के द्वारा पूजा करते हैं, उसका इसलोक में अथवा जैनेन्द्र शासन में स्थित मुनि, कर्म के उपशम का फल जानकर गर्व न करे । क्यों गर्व न करे ? क्योंकि यह गर्व, प्राणियों के हृदय का सूक्ष्म शल्य है और सूक्ष्म होने के कारण यह दुःख से उद्धार किया जाता है । अतः सत् और असत् का विवेक रखनेवाला मुनि परिचय और गर्व न करे । इस गाथा के स्थान में नागार्जुनीय “पलिमंथ” इत्यादि गाथा पढ़ते हैं । इसका अर्थ यह है कि - स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर, एकान्त निःस्पृह विवेकी पुरुष दूसरे लोगों से किये हुए वन्दन, पूजन आदि सत्कार को सत् अनुष्ठान और सद्गति का महान् विघ्न जानकर उसे छोड़ देवे । जब कि वन्दन, पूजन आदि भी सत् अनुष्ठान या सद्गति में विघ्न रूप है, तब फिर शब्दादि विषयों में आसक्ति की बात ही क्या है, अतः बुद्धिमान् पुरुष आगे कहे जानेवाले उपाय से उस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को निकाल दे ॥११॥



एगे चरे (र) ठाणमासणे, सयणे एगे (ग) ^३समाहिए सिया ।

भिक्षू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो

॥१२॥

1. आस्तां तावत् प्र. त तावत प्र. । 2. पलिमन्थं (विघ्नं) महान्तं विज्ञाय याऽपि च वन्दनापूजनेह । सूक्ष्मं शल्यं दुरुद्धरं, तदपि जयेदेतेन पण्डितः ।

3. समाहितो चरे चू. ।

छाया - एकश्चरेत् स्थानमासने, शयन एकः समाहितः स्यात् । भिक्षुरुपधानवीर्यः, वाङ्मोऽध्यात्मसंवृतः ॥

व्याकरण - (वङ्गुते) (अज्जत्तसंवुडे) (उवहाणवीरिए) ये भिक्षु के विशेषण है (भिक्षू) कर्ता (एगे) भिक्षू का विशेषण (आसणे) (सयणे) अधिकरण (समाहिए) भिक्षु का विशेषण (चरे, सिया) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (वङ्गुते) वचन गुप्त (अज्जत्तसंवुडे) और मन से गुप्त (उवहाणवीरिए) और तप में बल प्रकट करनेवाला (भिक्षू) साधु (एगे) अकेला (चरे) विचरे तथा (ठणं) अकेला ही कायोत्सर्ग करे । एवं (आसणे सयणे) आसन तथा शयन आदि भी अकेला ही करता हुआ (समाहिए सिया) धर्मध्यान से युक्त रहे ।

भावार्थ - वचन और मन से गुप्त, तप में पराक्रम प्रकट करनेवाला साधु, स्थान आसन और शयन अकेला करता हुआ धर्म ध्यान से युक्त होकर अकेला ही विचरें ।

टीका - एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकम् एक एव कुर्यात्, तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितः धर्मादिध्यानयुक्तः स्यात् भवेत् । एतदुक्तं भवति- सर्वास्वप्यवस्थासु चरणस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । तथा भिक्षुशैली भिक्षुः 'उपधानं' तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः- तपस्यनिगूहितबलवीर्यं इत्यर्थः । तथा वाङ्मोः सुपर्यालोचिताभिधायी 'अध्यात्मं' मनस्तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥१२॥ किञ्च -

टीकार्थ - साधु पुरुष द्रव्य से अकेला और भाव से राग-द्वेष रहित होकर विचरे । वह अकेला ही कायोत्सर्ग आदि भी करे । वह आसन पर बैठा हुआ भी राग-द्वेष रहित होकर ही रहे । एवं शयन में भी अकेला ही धर्म ध्यानादि से युक्त होकर रहे । आशय यह है कि - भिक्षु शील साधु, चलना, बैठना, स्थित होना और शयन करना आदि सभी अवस्थाओं में राग-द्वेष वर्जित होकर धर्मध्यान से युक्त होकर रहे । एवं वह तप करने में अपना पराक्रम खूब प्रकट करे वह विचारकर वाक्य बोले और मन से गुप्त रहे ॥१२॥ [मुख्यता से यहां से वर्णन जिन कल्पि मुनियों के लिए है ॥]



णो पीहे ण यावपंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए ।

पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ३ण समुच्छे णो संथरे तणं

॥१३॥

छाया-णो पिदध्याद्ध यावत् प्रगुणयेद् द्वारं शून्यगृहस्य भिक्षुः । पृष्ठो नोदाहरेद्वाचं न समुच्छिन्धाद्धो संस्तरेतृणम् ॥

व्याकरण - (णो) अव्यय (पीहे पंगुणे) क्रिया (सुन्नघरस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (दारं) कर्म (संजए) कर्ता (पुट्ठे) साधु का विशेषण (वयं) कर्म (उदाहरे) क्रिया (समुच्छे, संथरे) क्रिया (तणं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (संजए) साधु (सुन्नघरस्स) शून्य गृह का (दारं) दरवाजा (णो पीहे) बन्द न करे (ण याव पंगुणे) न खोले (पुट्ठे) किसी से पूछा हुआ (वयं) वचन (ण उदाहरे) न बोले (ण समुच्छे) उस मकान का कचरा न निकाले (तणं) तथा तृण भी (ण संथरे) न बिछावे ।

भावार्थ - साधु, शून्य गृह का द्वार न खोले और नहीं बन्द करे । किसी के पूछने पर कुछ न बोले तथा उस घर का कचरा न निकाले और तृण भी न बिछावे ।

टीका - केनचिच्छयनादिनिमित्तेन शून्यगृहमाश्रितो भिक्षुः तस्य गृहस्य द्वारं कपाटादिना न स्थगयेत्तपि तच्चालयेत्, यावत् 'न यावपंगुणे'ति, 'नोद्घाटयेत्' तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्मादिकं मार्गं वा पृष्ठः सन् सावधानं वाचं नोदाहरेत् ब्रूयात् । आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्, तथा न समुच्छिन्धात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत्, नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत् तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात् किं पुनः कम्बलादिना ? अन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥

टीकार्थ - साधु, शयन आदि किसी कारण वश यदि शून्य गृह का आश्रय लेवे तो उस गृह के द्वार को

1. प्राकृते स्वार्थे ल्लप्रत्ययागमे एकल्ल इति जाते प्रसिद्धत्वाद्गुणमेतत् । 2. प्राक्तनोऽपिः शयनादिसमुच्चयाय अयं तूर्ध्वस्थानादिसमुच्चयाय ।

3. ण समुच्छति णो संथरे तणे चू. ।

कपाट लगाकर बंद न करे तथा उसके कपाट को न हिलावे । एवं उसका कपाट यदि बन्द हो तो उसे न खोले। वहाँ तथा अन्यत्र स्थित हुए साधु से यदि कोई धर्म आदि अथवा मार्ग पूछे तो वह सावद्य वचन न बोले । अथवा अभिग्रह धारी जिनकल्पी आदि साधु निरवद्य वचन भी न बोले । तथा वह साधु उस मकान के तृण और कचरा आदि को प्रमार्जित कर के दूर न करे । एवं कोई आभिग्रहिक साधु अपने शयन के निमित्त तृण की भी शय्या न बिछावे, फिर कम्बल आदि की तो बात ही क्या है ? । तथा दूसरा साधु भी पोला तृण की शय्या न बिछावे॥१३॥



- तथा -

- और भी -

जत्थऽत्थमिह अणाउले समविसमाइं मुणीऽहियासए ।

चरगा अदुवा वि भेरवा अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया

॥१४॥

छाया-यत्रास्तमितोऽनाकुलः समविषमाणि मुनिरधिसहेत । चरका अथवाऽपि भेरवाः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः ॥

व्याकरण - (जत्थ) अव्यय (अत्थमिह) मुनि का विशेषण (अणाउले) मुनि का विशेषण (मुणी) कर्ता (समविसमाइं) कर्म (अहियासए) क्रिया (चरगा, भेरवा, सरीसिवा) कर्ता (अदुवा) अव्यय (तत्थ) अव्यय (सिया) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (मुणी) मुनिराज (जत्थ) जहाँ (अत्थमिह) सूर्य अस्त हों वहाँ (अणाउले) क्षोभ रहित होकर रह जाय (समविसमाइं) तथा अनुकूल और प्रतिकूल आसन शयन आदि को (अहियासए) सहन करे (चरगा) वहाँ यदि मच्छर (अदुवावि) अथवा भयानक प्राणी (सरीसिवा) अथवा सर्प आदि हों तो भी वह वही रहे ।

भावार्थ - चारित्री पुरुष, जहाँ सूर्य अस्त हों, वही क्षोभ रहित होकर निवास करें । वह स्थान, आसन और शयन के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल हो उसको वह सहन करे । उस स्थान पर यदि दंशक मशक आदि हों अथवा भयंकर प्राणी हों अथवा साँप आदि हों तो भी वही निवास करे ।

टीका - भिक्षुर्यत्रैवास्तमुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः तथाऽनाकुलः समुद्रवन्नक्रादिभिः परीषहोपसर्गैरक्षुभ्यन् समविषमाणि शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि, मुनिः यथावस्थितसंसारस्वभाववेत्ता सम्यग् अरक्तद्विष्टतयाऽधिसहेत, तत्र च शून्य गृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरन्तीति चरकाः दंशमशकादयः अथवाऽपि भेरवाः भयानकाः-रक्षःशिवादयः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः भवेयुः, तत्कृतांश्च परीषहान् सम्यगधिषहेतेति ॥१४॥

टीकाार्थ - साधु पुरुष, जहाँ सूर्य अस्त हों, उसी स्थान पर कायोत्सर्ग आदि करके निवास करते हैं, इसलिए कहते हैं कि जहाँ सूर्य अस्त हो, उसी स्थान पर साधु, जैसे समुद्र, नक्र आदि से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है, उसी तरह परीषह और उपसर्गों से आकुल न होता हुआ निवास करे । वहाँ आसन और शयन आदि प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल हो, संसार के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला मुनि राग-द्वेष रहित होकर उसको सहन करे । उस शून्य गृह आदि स्थानों में निवास किये हुए मुनि को यदि दंशक, मशक आदि अथवा भयंकर राक्षस और शृगाल आदि तथा सर्प आदि प्राणियों के द्वारा परीषह उत्पन्न हो तो उसे वह अच्छी तरह सहन करे ॥१४॥



- साम्प्रतं त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह -

- साधु को तीन प्रकार का उपसर्ग सहन करना चाहिए इस विषय को लेकर सूत्रकार अब यह कहते हैं-

तिरिया ¹मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा ²तिविहाऽहियासिया ।

लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी

॥१५॥

छाया - तैरश्चान् मानुषांश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत ।

1. मणुसा य दिव्विया चू । 2. तिविहा वि सेविया चू ।

रोमादिकमपि न हर्षयेत् शून्यागारगतो महामुनिः ॥

व्याकरण - (तिरिया, मणुया, दिव्वा, तिविहा) ये उपसर्ग के विशेषण हैं (उवसग्गा) कर्म (हियासिया) क्रिया (सुत्रागारगओ) महामुनि का विशेषण (महामुणी) कर्ता (लोमादीयं) कर्म (ण) अव्यय (हारिसे) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सुत्रागारगओ) शून्य गृह में गया हुआ (महामुणी) महामुनि (तिरिया) तिर्य्यञ्च सम्बन्धी (मणुया) मनुष्य सम्बन्धी (दिव्वा) तथा देवजनित (तिविहा) त्रिविध (उवसग्गा) उपसर्गों को (अहियासिया) सहन करे (लोमादीयं) भय से अपने रोम आदि को भी (ण हारिसे) हर्षित न करे ।

भावार्थ - शून्य गृह में गया हुआ महामुनि तिर्य्यञ्च मनुष्य तथा देवता सम्बन्धी उपसर्गों को सहन करे । भय से अपने रोम को भी हर्षित न करे ।

टीका - तैरश्चाः सिंहव्याघ्रादिकृताः तथा मानुषा अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशाताडनादिजनिताः तथा दिव्वा इति व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः, एवं त्रिविधानप्युपसर्गान् अधिसहेत, नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत्, तदेव दर्शयति-लोमादिकमपि न हर्षयेद् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात्, यदि वा एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि 'अहियासिय'ति अधिसोढाः भवन्ति यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात् । आदिग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः, शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनिर्जिनकल्पिकादिरिति ॥१५॥ किञ्च-

टीकार्थ - तैरश्च यानी सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यक् प्राणियों से किया हुआ तथा मानुषा यानी मनुष्यों से किया हुआ सत्कार, पुरस्कार और डंडा तथा चाबुक से ताड़न आदि अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग एवं व्यन्तर आदि देवताओं से किया हुआ हास्य और प्रद्वेष आदि से उत्पन्न उपसर्ग, इन तीन प्रकार के उपसर्गों को साधु निर्विकार भाव से सहन करे, इनके द्वारा विकार को प्राप्त न हो । यही दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि- "लोमादिक" इत्यादि । अर्थात् साधु उक्त उपसर्गों के भय से अपना रोम भी कम्पित न करे अथवा इसी प्रकार साधु उक्त त्रिविध उपसर्गों को सह सकता है, यदि उनके होने पर वह अपना रोम भी कम्पित न करे । यहाँ आदि शब्द से उक्त तिर्य्यञ्च आदि का विकृत देखना और विकृत मुख आदि का ग्रहण है । तथा शून्य गृह में स्थित रहना यहाँ उपलक्षण मात्र है, इसलिए श्मशान आदि भयंकर स्थानों में रहे हुए जिनकल्पी आदि मुनि के विषय में भी यही बात जाननी चाहिए । यहाँ जिनकल्पी आदि महामुनि कहे गये हैं, स्थविरकल्पी नहीं ॥१५॥

१णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नोऽवि य पूयणपत्थए सिया ।

अब्भत्थमुर्विति भैरवा सुत्रागारगयस्स भिक्खुणो

॥१६॥

छाया - नाभिकाङ्क्षेत जीवितं नाऽपि च पूजनप्रार्थकः स्यात् ।

अभ्यस्ता उपयन्ति भैरवाः शून्यागारगतस्य भिक्षोः ॥

व्याकरण - (णो) अव्यय (अभिकंखेज्ज) क्रिया (जीवियं) कर्म (पूयणपत्थए) मुनि का विशेषण (सिया) क्रिया (भैरवा) कर्ता (अब्भत्थं) कर्म (उर्विति) क्रिया (सुत्रागारगयस्स) भिक्षु का विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद ।

अन्वयार्थ - (णो) नहीं (जीवियं) जीवन की (अभिकंखेज्ज) इच्छा करे (नोविय) और न (पूयणपत्थए सिया) पूजा का प्रार्थी बने (सुत्रागारगयस्स) शून्य गृह में गये हुए (भिक्खुणो) साधु को (भैरवा) भैरव यानी भयंकर प्राणी (अब्भत्थं) अभ्यस्त (उर्विति) हो जाते हैं ।

भावार्थ - उक्त उपसर्गों से पीड़ित होकर साधु जीवन की इच्छा न करे तथा पूजा, मान बढ़ाई की भी प्रार्थना न करे । इस प्रकार पूजा और जीवन से निरपेक्ष होकर शून्य गृह में जो साधु निवास करता है, उसको भैरवादिकृत उपसर्ग सहन का अभ्यास हो जाता है ।

टीका - स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत, जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः, न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत्, एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सहायमाणा भैरवाः-भयानकाः शिवापिशाचादयोऽभ्यस्तभावं-स्वात्मतामुप-सामीप्येन यान्ति-गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः

१. णो जावऽभिकंख जीवितं चू ।

शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः ॥१६॥

टीकार्थ - और भी साधु उन उपसर्गों से बार-बार पीड़ित किया हुआ भी जीवन की इच्छा न करे अर्थात् साधु जीवन से निरपेक्ष होकर उपसर्गों को सहन करे यह तात्पर्य है । तथा उपसर्ग सहन के द्वारा वह पूजा की चाहना अर्थात् अपनी बड़ाई की इच्छा न करे । इस प्रकार जीवन और पूजा से निरपेक्ष होकर जो साधु बार-बार भयंकर पिशाच तथा शृगाली आदि के उपद्रव को सहता रहता है । उसको वे पिशाच आदि आत्मीय जैसे अभ्यास को प्राप्त हो जाते हैं । तथा उनको सहन करने से मत्त हस्ती के समान शून्यागारगत साधु को शीतोष्णादिकृत उपद्रव भी सुख से सह्य हो जाते हैं ॥१६॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमाह -

- फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देते हैं -

उवणीयतरस्स ताइणो, भयमाणस्स ^१विविक्कमासणं ।

सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए

॥१७॥

छाया - उपनीततस्य तायिनो, भजमानस्य विविक्तमासनम् ।

सामायिकमाहुः तस्य यद्य आत्मानं भये न दर्शयेत् ॥

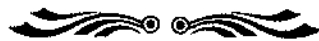
व्याकरण - (उवणीयतरस्स) मुनि का विशेषण (ताइणो) मुनि का विशेषण (विविक्कं) आसन का विशेषण (आसणं) कर्म (भयमाणस्स) मुनि का विशेषण (तस्स) मुनि का परामर्शक सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (सामाइयं) कर्म (आहु) क्रिया (जो) कर्ता (अप्पाणं) कर्म (भए) अधिकरण (दंसए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (उवणीयतरस्स) जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुँचा दिया है (ताइणो) तथा जो अपना और दूसरे का उपकार करता है (विविक्कं) स्त्री, नपुंसक वर्जित (आसणं) स्थान को जो (भयमाणस्स) सेवन करता है (तस्स) ऐसे मुनि का सर्वज्ञों ने (सामाइयं) सामायिक चारित्र (आहु) कहा है (जं) इसलिए चारित्री पुरुष को (अप्पाणं) आत्मा में (भए ण दंसए) भय प्रदर्शित नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ - जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि में अतिशय रूप से स्थापित किया है, जो अपने तथा दूसरे का उपकार करता है, जो स्त्री, नपुंसक रहित स्थान में निवास करता है, ऐसे मुनि का तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र कहा है, इसलिए मुनि को भयभीत नहीं होना चाहिए ।

टीका - उप- सामीप्येन नीतः- प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य, 'ताइनः' परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा सम्यक्पालकस्य, तथा 'भजमानस्य' सेवमानस्य 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम् आस्यते स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः 'सामायिकं' समभावरूपं सामायिकादि-चारित्रमाहुः सर्वज्ञाः, 'यद्' यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राग्व्यवस्थितस्वभावेन भाव्यम्, यश्चात्मानं 'भये' परिषहोपसर्गजनिते 'न दर्शयेत्' तद्धीरुर्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरिति सम्बन्धनीयम् ॥१७॥ किञ्च-

टीकार्थ - जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि के पास पहुँचा दिया है, उसे 'उपनीत' कहते हैं । तथा जो अत्यन्त उपनीत है, उसे 'उपनीततर' कहते हैं । जो उपनीततर है और जो तायी यानी अपना और दूसरे का उपकार करता है अथवा जो अपना और दूसरे का सम्यक् प्रकार से पालन करता है, जो स्त्री, पशु और नपुंसक वर्जित स्थान में निवास करता है । यहाँ, जिस पर स्थित होते हैं, उसे आसन कहा है, वह वसति आदि है । ऐसे उस मुनि को सर्वज्ञों ने समभाव रूप सामायिक चारित्री कहा है । इसलिए चारित्री पुरुष को पूर्वोक्त रूप से व्यवस्थित स्वभाव होकर ही रहना चाहिए । तथा जो साधु परीषह और उपसर्ग जनित भय से भय नहीं पाता है, उसका भी सर्वज्ञों ने सामायिक चारित्र कहा है । यह सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥१७॥



उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्टियस्स मुणिस्स हीमतो^१।

संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्स वि

॥१८॥

छाया - उष्णोदकतप्तभोजिनो धर्मस्थितस्य मुनेर्हीमतः । संसर्गोऽसाधुराजभिरसमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥

व्याकरण - (उसिणोदगतत्तभोइणो) मुनि का विशेषण (धम्मट्टियस्स) मुनि का विशेषण (हीमतो) मुनि का विशेषण (मुणिस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (राइहिं) सहायक तृतीयान्त (संसग्गि) कर्ता (असाहु) संसर्ग का विषय विशेषण (तहागयस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (अवि) अव्यय (असमाही) कर्ता (उ) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (उसिणोदगतत्तभोइणो) बिना ठंडा किये गरम जल पीनेवाले (धम्मट्टियस्स) श्रुत और चारित्र धर्म में स्थित (हीमतो) असंयम से लज्जित होनेवाले (मुणिस्स) मुनि को (राइहिं) राजा आदि से (संसग्गि) संसर्ग करना (असाहु) बुरा है (तहागयस्सवि) वह शास्त्रोक्त आचार पालनेवाले का भी (असमाही) समाधि भंग करता है ।

भावार्थ - गरम जल को बिना ठंडा किये पीनेवाले, [श्रावक के वहाँ से जैसा मिला वैसा पीने वाले] श्रुत और चारित्र धर्म में स्थित, असंयम से लज्जित होनेवाले मुनि को राजा, महाराजा आदि के साथ संसर्ग बुरा है, क्योंकि वह परिचय शास्त्रोक्त आचार पालनेवाले मुनि का भी समाधि भंग करता है ।

टीका - मुने: 'उष्णोदकतप्तभोजिनः' त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः, यदि वा - उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणं, तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य 'हीमतो'ति हीः-असंयमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य मुने राजादिभिः सार्द्धं यः 'संसर्गः' सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात् 'तथागतस्यापि' यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशाद् 'असमाधिरेव' अपध्यानमेव स्यात्, न कदाचित् स्वाध्यायादिकम्भवेदिति ॥१८॥

टीकार्थ - जो मुनि, तीन बार जिसमें उकाला आ गया है, ऐसे गरम जल को पीता है, अथवा गरम जल को ठंडा किये बिना जो पीता है, यह बताने के लिए यहाँ 'तप्त' पद आया है । तथा श्रुत और चारित्र धर्म में जो स्थित है और असंयम से जिसको लज्जा आती है अर्थात् जो असंयम से घृणा रखता है, ऐसे मुनि का राजा आदि के साथ संसर्ग बुरा होता है, क्योंकि वह अनर्थ की उत्पत्ति का कारण है । जो साधु शास्त्रोक्त आचार का पालन करता है, उसका भी राजा आदि के संसर्ग से असमाधि यानी अपध्यान ही सम्भव है, कभी भी स्वाध्याय आदि सम्भव नहीं है । अतः राजादिसंसर्ग त्याज्य है ॥१८॥

- परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह -

- त्याग करने योग्य दोषों को दिखाकर अब सूत्रकार उपदेश देने के लिए कहते हैं -

^२अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं ।

अट्टे परिहायती^३ बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए

॥१९॥

छाया - अधिकरणकरस्य भिक्षोः वदतः प्रसह्य दारुणाम् । अर्थः परिहीयते बहु अधिकरणं न कुर्यात्पण्डितः॥

व्याकरण - (अहिगरणकडस्स) भिक्षु का विशेषण (दारुणं) कर्म (वयमाणस्स) भिक्षु का विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (अट्टे) कर्ता (बहु) क्रिया विशेषण (परिहायती) क्रिया (पंडिए) कर्ता (अहिगरणं) कर्म (करेज्ज) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (भिक्खुणो) जो साधु (अहिगरणकडस्स) कलह करता है (पसज्झ) और प्रकट रूप से (दारुण) भयानक वाक्य (वयमाणस्स) बोलता है (अट्टे) उसका मोक्ष अथवा संयम (बहु) अत्यन्त (परिहायती) नष्ट हो जाता है (पंडिए) इसलिए पण्डित साधु (अहिगरणं) कलह (न करेज्ज) न करे ।

भावार्थ - जो साधु कलह करनेवाला है और प्रकट ही भयानक वाक्य बोलता है । उसका मोक्ष अथवा संयम नष्ट हो जाता है, इसलिए पुरुष कलह न करे ।

टीका - अधिकरणं-कलहस्तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोस्तथाधिकरणकरीं दारुणां

१. हीमतो चू. । २. अधिकरणकरस्स चू. । ३. हायते ध्रुवं चू. ।

वा भयानकां वा 'प्रसह्य' प्रकटमेव वाचं ब्रुवतः सतः 'अर्थो' मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः स बहु 'परिहीयते' ध्वंसमुपयाति, इदमुक्तं भवति-बहुना कालेन यदर्जितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपघातिनीं च वाचं ब्रुवतः तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति, तथा हि-

“जं अज्जियं समीखल्लएहिं तव नियमवं भमइएहिं । मा हु तयं कलहंता छड्ढे अहं सागपत्तेहिं ॥१॥”
इत्येवं मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात् 'पण्डितः' सदसद्विवेकीति ॥१९॥ तथा -

टीकार्थ - अधिकरण नाम कलह का है । उसे करने का जिसका स्वभाव है उसे “अधिकरणकर” कहते हैं । जो साधु कलह करनेवाला है और जिससे कलह उत्पन्न हो ऐसी दारुण अथवा भयंकर वाणी प्रकट ही बोलता है, उसका मोक्ष अथवा मोक्ष का कारण संयम बहुत नष्ट हो जाता है । आशय यह है कि जो कलह करता है और दूसरे के चित्त को दुःखानेवाली वाणी बोलता है, उसका बहुत काल के द्वारा कठिन तपस्या से उपार्जित पुण्य तत्क्षण नाश होता है, क्योंकि तप, नियम और ब्रह्मचर्य्य वास के द्वारा जो पुण्य उपार्जन किया है । उसे कलह कर के नाश मत करो ऐसा पण्डितजन उपदेश करते हैं । अतः सत् और असत् का विवेक रखनेवाला पण्डित पुरुष, स्वल्प भी कलह न करे ॥१९॥



२सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो ।

सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न ४भुंजती

॥२०॥

छाया - शीतोदकप्रतिजुगुप्सकस्य, अप्रतिज्ञस्य लवावसर्पिणः ।

सामायिकमाहुस्तस्य यत् यो गृहमात्रेऽशनं न भुङ्क्ते ॥

व्याकरण - (सीओदगपडिदुगुंछिणो) साधु का विशेषण (अपडिण्णस्स) साधु का विशेषण (लवावसप्पिणो) साधु का विशेषण (तस्स) साधु का परामर्शक सर्वनाम षष्ठ्यन्त पद (सामाइयं) कर्म (आहु) क्रिया (जो) कर्ता (गिहिमत्ते) अधिकरण (न) अव्यय (भुंजती) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सीओदगपडिदुगुंछिणो) जो साधु कच्चे पानी से घृणा करता है (अपडिण्णस्स) तथा किसी प्रकार की प्रतिज्ञा यानी कामना नहीं करता है (लवावसप्पिणो) एवं जो कर्मबन्ध को उत्पन्न करनेवाले कर्मों के अनुष्ठान से दूर रहता है (तस्स) उस साधु का सर्वज्ञों ने (सामाइयं) समभाव (आहु) कहा है तथा (जो) जो साधु (गिहिमत्ते) गृहस्थ के पात्र में (असणं) आहार (न भुंजती) नहीं खाता है उसका समभाव है ।

भावार्थ - जो साधु कच्चे पानी से घृणा करता है और किसी प्रकार की कामना नहीं करता है तथा कर्मबन्धन देनेवाले कार्यों का त्याग करता है, सर्वज्ञ पुरुषों ने उस साधु का समभाव कहा है तथा जो साधु गृहस्थों के पात्र में आहार नहीं खाता है उसका भी सर्वज्ञों ने समभाव कहा है ।

टीका - शीतोदकम् अप्रासुकोदकं तत्प्रतिजुगुप्सकस्याप्रासुकोदकपरिहारिणः साधोः, न विद्यते प्रतिज्ञा निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः, लवं-कर्म तस्मात् अवसप्पिणोत्ति-अवसर्पिणः, यदनुष्ठानं कर्मबन्धो-पादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् 'सामायिकं' समभावलक्षणमाहुः सर्वज्ञाः, यश्च साधुः 'गृहमात्रे' गृहस्थभाजने कांस्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति संबन्धनीयमिति ॥२०॥ किञ्च-

टीकार्थ - जो साधु अप्रासुक जल से घृणा करता है अर्थात् अप्रासुक जल को नहीं पीता है और प्रतिज्ञा यानी निदान नहीं करता है तथा लव नाम कर्म का है उससे जो अलग रहता है अर्थात् जो अनुष्ठान कर्मबन्धन का कारण है, उसका जो त्याग करता है, ऐसे साधु का सर्वज्ञों ने समभाव रूप सामायिक कहा है तथा जो साधु, गृहस्थ के पात्र यानी कांस्य पात्र आदि में भोजन नहीं करता है । उसका भी सर्वज्ञों ने समभाव रूप सामायिक कहा है, यह सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥२०॥

1. यदर्जितं कष्टैः (शमीपत्रैः) तपोनियमब्रह्मचर्यमयैः । मा तत् कलहयन्तः त्याष्ट शाकपत्रैः ।

2. नीओद पडि० । 3. सक्कि० चू. । 4. भक्खति० चू. ।

ण य संखयमाहु जीवियं, तहवि य बालजणो पगब्भइ ।

बाले पापेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती

॥२१॥

छाया - न च संस्कार्यमाहुर्जीवितं तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते ।

बालः पापैर्मीयते, इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥

व्याकरण - (जीवियं) कर्म (संखयं) जीवन का विषय विशेषण (ण, य,) अव्यय (आहु) क्रिया (तहवि य) अव्यय (बालजणो) कर्ता (पगब्भइ) क्रिया (बाले) उक्त कर्म (पापेहिं) कर्तृतृतीयान्त (मिज्जती) क्रिया (इति) अव्यय (संखाय) पूर्वकालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (मज्जती) क्रिया।

अन्वयार्थ - (जीवियं) प्राणियों का जीवन, (ण य संखयमाहु) संस्कार करने (जोड़ने) योग्य नहीं कहा है (तहवि य) तथापि (बालजणो) मूर्खजन (पगब्भइ) पाप करने में धृष्टता करते हैं (बाले) ये अज्ञ जीव (पापेहिं) पापी कहकर (मिज्जती) बताये जाते हैं (इति) यह (संखाय) जानकर (मुणी) मुनि (ण मज्जती) मद नहीं करते हैं ।

भावार्थ - टूटा हुआ मनुष्यों का जीवन फिर जोड़ा नहीं जा सकता है, यह सर्वज्ञों ने कहा है तथापि मूर्ख जीव, पाप करने में धृष्टता करता है । वह अज्ञ पुरुष, पापी समझा जाता है, यह जानकर मुनि, मद नहीं करते हैं ।

टीका - न च, नैव जीवितम् आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय' मिति संस्कर्तुं तन्तुवत्सन्धातुं शक्यते इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते 'बालः' अज्ञो जनः 'प्रगल्भते' पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः 'पापैः' कर्मभिः 'मीयते' तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, श्रियते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' च यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता 'न माद्यतीति' तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तव्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति ॥२१॥

टीकार्थ - जीवन के रहस्य को जाननेवाले विद्वान् पुरुषों ने कहा है कि- "काल के पर्याय से टूटा हुआ प्राणियों का जीवन, टूटे हुए डोरे की तरह फिर जोड़ा नहीं जा सकता है ।" तथापि (ऐसी दशा में भी) अज्ञ जन धृष्टता के साथ पाप करता है । वह असत् अनुष्ठान करता हुआ भी लज्जित नहीं होता है । वह अज्ञ जीव उन असत् अनुष्ठानों से उत्पन्न पापों के द्वारा "यह पापी है" ऐसा समझा जाता है । अथवा जैसे धान्य आदि के द्वारा 'प्रस्थक' कोठा भर दिया जाता है, उसी तरह वह पापों से भर दिया जाता है । यह जानकर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला मुनि, यह मद नहीं करते हैं कि- "इन असत् अनुष्ठान करनेवालों में मैं ही शोभन अनुष्ठान करनेवाला हूँ ।" मैं धर्मात्मा हूँ और अमुक मनुष्य पापी है, ऐसा अभिमान करना भी पाप है । अतः मुनि को अभिमान नहीं करना चाहिए ॥२१॥



- उपदेशान्तरमाह -

- अब दूसरा उपदेश शास्त्रकार देते हैं -

छंदेण^१ पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।

वियडेण पलिति माहणे,^२ सीउण्हं वयसाऽहियासए

॥२२॥

छाया - छब्दसा प्रलीयन्ते इमाः प्रजाः बहुमायाः मोहेन प्रावृताः ।

विकटेन प्रलीयते माहन्ः, शीतोष्णं वचसाऽधिसहेत ॥

व्याकरण - (छंदेण) हेतु तृतीयान्त (पले) क्रिया (इमा) प्रजा का विशेषण (पया) कर्ता (बहुमाया) प्रजा का विशेषण (मोहेण) कर्तृ तृतीयान्त (पाउडा) प्रजा का विशेषण (वियडेण) हेतु तृतीयान्त (पलिति) क्रिया (माहणे) कर्ता (सीउण्हं) कर्म (वयसा) करण (अहियासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (बहुमाया) बहुत माया करनेवाली (मोहेण) मोह से (पाउडा) आच्छादित (इमा) ये (पया) प्रजाएँ (छन्देण) अपनी इच्छा से (पले) नरक आदि गति में जाती हैं (माहणे) परन्तु साधु पुरुष (वियडेण) कष्ट रहित कर्म के द्वारा (पलिति) मोक्ष में या संयम में लीन होता

१. पलेतिमा चू. । २. सीयुण्हं चू. ।

है। तथा (वयसा) मन, वचन और काय से (सीउण्ह) शीत और उष्ण को (अहियासए) सहन करते हैं।

भावार्थ - बहुत माया करनेवाली और मोह से आच्छादित प्रजाएँ अपनी इच्छा से ही नरक आदि गतियों में जाती हैं। परन्तु साधु पुरुष, कपट रहित कर्म के द्वारा मोक्ष अथवा संयम में लीन होते हैं और मन, वचन तथा काया से शीत, उष्ण, परीषह को सहन करते हैं।

टीका - 'छन्दः' अभिप्रायस्तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुगतिगमनैकहेतुना 'इमाः प्रजाः' अयं लोकस्तासु गतिषु प्रलीयते, तथाहि-¹छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ताः धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति, अन्ये तु संघादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति, तथाऽन्ये मायाप्रधानैः ²कुक्कुटैरसकृदुत्प्रोक्षणश्रोत्रस्पर्शनादिभि-
मृग्धजनं प्रतारयन्ति, तथाहि -

“कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित् । तस्मात्लोकस्यार्थे पितरमपि स कुक्कुटं कुर्यात्॥१॥”

तथेयं प्रजा 'बहुमाया' कपटप्रधाना, किमिति ? यतो मोहः अज्ञानं तेन 'प्रावृता' आच्छादिता सदसद्विवेक-
विकलेत्यर्थः, तदेतदवगम्य 'माहणे'ति साधुः 'विकटेन' प्रकटेनामायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते
प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः, तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णं शीतोष्णा वा अनुकूलप्रतिकूलपरीषहास्तान्
वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥ अपि च-

टीकार्थ - प्रजाजन, अपने अपने अभिप्राय के अनुसार ही भिन्न-भिन्न गतियों में जाते हैं। उनकी दुर्गति का कारण एकमात्र उनका अभिप्राय ही है। कोई लोग बकरे आदि प्राणियों का वध करना धर्म का साधन मानते हैं और इस कार्य को वे धृष्टता के साथ करते हैं। तथा दूसरे लोग अपने संघ की रक्षा के लिए दासी-दास और धन-धान्य आदि परिग्रहों का संग्रह करते हैं। एवं कोई, बार-बार शरीर पर जल छिटकना और कानों को स्पर्श करना आदि माया प्रधान व्यापारों के द्वारा भोले जीवों को ठगते हैं। जैसे कि वे कहते हैं - “कुक्कुट साध्यो लोको” इत्यादि। अर्थात् यह लोक कपट से ही सिद्ध होता है। बिना कपट के कुछ भी काम नहीं होता है, इसलिए लोक व्यवहार के लिए पिता से भी कपट करना चाहिए। तथा यह प्रजा, कपट प्रधान है, क्योंकि यह मोह यानी अज्ञान से आच्छादित है, अतः यह सत् और असत् के विवेक से वर्जित है, अतः साधु पुरुष इस बात को जानकर माया रहित कर्म के द्वारा मोक्ष या संयम में लीन होते हैं। वे शुभ भाव से युक्त रहते हैं। यह आशय है। साधु शीत और उष्ण अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को मन, वचन और काय तीनों करणों से सहन करते हैं ॥२२॥



कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवय³ ।

कडमेव गहाय⁴ णो कलिं, नो⁵ तीयं नो चेव दावरं

॥२३॥

छाया - कुजयोऽपराजितो यथाऽक्षेः कुशलो दीव्यन् । कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं, नो त्रेतं नो चेव द्वापरम् ॥

व्याकरण - (अपराजिए) कुजय का विशेषण (जहा) अव्यय (कुजए) कर्ता (अक्खेहिं) करण (दीवयं) कर्ता का विशेषण (कडं) कर्म (एव) अव्यय (गहाय) पूर्व कालिक क्रिया (कलिं) कर्म (तीयं, दावरं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (अपराजिए) पराजित न होनेवाला (कुसलेहिं) चतुर (कुजए) जुआड़ी (जहा) जैसे (अक्खेहिं दीवयं) जुआ खेलता हुआ (कडमेव गहाय) कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है (णो कलिं) कलि को नहीं ग्रहण करता है तथा (णो तीयं नो चेव दावरं) तृतीय और द्वितीय स्थान को भी ग्रहण नहीं करता है ।

भावार्थ - जुआ खेलने में निपुण और किसी से पराजित न होनेवाला जुआड़ी जैसे जुआ खेलता हुआ सर्वश्रेष्ठ कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, कलि, द्वापर, और त्रेता नामक स्थानों को ग्रहण नहीं करता है, उसी तरह पण्डित पुरुष, सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञोक्त कल्याणकारी धर्म को ही स्वीकार करे जैसे- शेष स्थानों को छोड़कर चतुर जुआड़ी

1. बस्तादीति प्र. । 2. कुरुकुचैः इति प्र. । 3. दीव्यं चू. । 4. ट्का [इति चतुः संख्याद्योतकोऽक्षराङ्कः] णो चू. । 5. त्रेतं चू. ।

कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है ।

टीका - कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति, तमेव विशिनष्टि-अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते, अक्षैः वा पाशकैः दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो निपुणः, यथाऽसौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः 'कडमेव'ति चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात्तेनैव दीव्यति, ततोऽसौ तल्लब्धजयः सत्र कलिं एककं नाऽपि त्रैतं त्रिकं च नाऽपि द्वापरं द्विकं गृह्णातीति ॥२३॥

टीकार्थ - जिसकी विजय निन्दित है उसे 'कुजय' कहते हैं । कुजय नाम जुआरी का है, क्योंकि जुआरी की महान् विजय होने पर भी सज्जन जन निन्दा ही करते हैं और वह है भी अनर्थ का कारण, इसलिए वह निन्दित है । अब जुआरी का विशेषण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि- "अपराजितः" अर्थात् जुआ खेलने में निपुण होने के कारण जो दूसरे जुआरी से जीता नहीं जाता है वह 'अपराजित' कहा जाता है । जुआ खेलने में निपुण जुआरी जैसे जुआ, पाशा या कौड़ी खेलता हुआ कृतनामक चौथे स्थान को ही ग्रहण करके खेलता है, क्योंकि उसी के द्वारा विजय प्राप्त होती है, इसलिए इस प्रकार खेलता हुआ वह जुआरी कृत नामक स्थान के प्रभाव से विजय प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह पहले दूसरे या तीसरे स्थानों को ग्रहण नहीं करता है ॥२३॥



- दार्ष्टान्तिकमाह -

- अब दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं ^१लोगमि ताइणा, बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।

तं ^२गिण्ह हियं ति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए

॥२४॥

छाया - एवं लोके त्रायिणोक्तो यो धर्मोऽनुत्तरः । तं गृहाण हितमित्युत्तमं, कृतमिव शेषमपहाय पण्डितः ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (लोगमि) अधिकरण (ताइणा) कर्तृ तृतीयान्त (बुइए) क्तान्त कर्मवाच्य (जे) धर्म का विशेषण (अणुत्तरे) धर्म का विशेषण (धम्मे) क्तप्रत्यय से अभिहित कर्म (तं) कर्म (गिण्ह) क्रिया मध्यम पुरुष (हियं, उत्तमं) कर्म का विशेषण (कडं) कर्म (इव) अव्यय (सेस) कर्म (अवहाय) पूर्व कालिक क्रिया (पंडिए) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (एवं) इसी तरह (लोगमि) इस लोक में (ताइणा) जगत की रक्षा करनेवाले सर्वज्ञ से (बुइए) कहा हुआ (जे) जो (अणुत्तरे) सर्वोत्तम (धम्मे) धर्म है (गिण्ह) उसे ग्रहण करना चाहिए (हियंति उत्तमं) वही हित तथा उत्तम है (सेसऽवहाय) चतुर जुआड़ी सब स्थानों को छोड़कर (कडमिव) जैसे कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है ।

भावार्थ - इस प्रकार इस लोक में जगत की रक्षा करनेवाले सर्वज्ञ ने जो सर्वोत्तम धर्म कहा है, उसे कल्याण कारक और उत्तम समझकर ग्रहण करो, जैसे चतुर जुआड़ी शेष स्थानों को छोड़कर चौथे स्थान (कृत युग) को ग्रहण करता है ।

टीका - यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यंश्चतुष्कमेव गृह्णाति एवमस्मिन् लोके मनुष्यलोके त्रायिणा त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तो योऽयं धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राख्यो वा नास्योत्तरः अधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः तमेकान्त-हितमिति कृत्वा सर्वोत्तमं च गृहाण विस्त्रोतसिकारहितः स्वीकुरु, पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति-यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृतं कृतयुगं चतुष्कमित्यर्थः, शेषमेककादि अपहाय त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एवं पण्डितोऽपि-साधुरपि शेष-गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभावमपहाय सम्पूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥

टीकार्थ - जैसे चतुर जुआरी विजय प्राप्ति का साधन होने के कारण सर्वोत्तम स्थान चौक को ही ग्रहण करके खेलता है, इसी तरह इस मनुष्य लोक में, सर्व प्राणि रक्षक सर्वज्ञ द्वारा कथित क्षान्ति आदि अथवा श्रुत चारित्र रूप सर्वोत्तम धर्म को ही एकान्त हित समझकर स्वीकार करे । निगमन के लिए फिर उसी दृष्टान्त को दिखाते

१. लोगेसि ताइणो बुइतेऽयं चू. । २. गेण्ह चू. ।

हैं- जैसे चतुर जुआरी जुआ खेलता हुआ एक आदि स्थानों को छोड़कर कृतयुग नामक चतुर्थ स्थान को ही ग्रहण करता है, इसी तरह साधु भी, गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्म को छोड़कर सर्वोत्तम, सर्वमहान् सर्वज्ञ कथित धर्म को स्वीकार करे ॥२४॥



- पुनरप्युद्देशान्तरमाह -

- फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देने के लिए कहते हैं -

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा(म्म) इइ मे अणुस्सुयं ।

जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्मचारिणो

॥२५॥

छाया - उत्तराः मनुजानामाख्याताः ग्रामधर्मा इह मयानुश्रुतम् ।

येभ्यो विरताः समुत्थिताः काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

व्याकरण - (मणुयाणं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (उत्तरा) ग्राम धर्म का विशेषण (गामधम्मा) अभिहित कर्म (आहिया) क्तान्त कर्मवाच्य (इइ) अव्यय (मे) कर्ता (अणुस्सुयं) क्रिया (जंसी) लुप्त्यन्त क्रिया का कर्म, पञ्चम्यन्त अथवा सप्तम्यन्त (विरता, समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो) ये सब अध्याहृत संयमी पुरुष के विशेषण हैं ।

अन्वयार्थ - (मे) मैंने (अणुस्सुयं) यह सुना है कि (गामधम्मा) शब्द आदि विषय अथवा मैथुन सेवन (मणुयाणं) मनुष्यों के लिए (उत्तरा) दुर्जेय (आहिया) कहे गये हैं (जंसी विरता) उनसे निवृत्त (समुट्ठिया) तथा संयम में उत्थित पुरुष ही (कासवस्स) काश्यपगोत्री भगवान् ऋषभदेवजी अथवा महावीर स्वामी के (अणुधम्मचारिणो) धर्मानुयायी हैं ।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी, श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्य वर्ग के प्रति कहते हैं कि "शब्द आदि विषय अथवा मैथुन सेवन मनुष्यों के लिए दुर्जेय कहा है" यह मैंने सुना है । उन शब्दादि विषयों और मैथुन सेवन को छोड़कर जो संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही भगवान् महावीर स्वामी अथवा ऋषभदेव स्वामी के धर्म के अनुयायी हैं ।

टीका - उत्तराः प्रधानाः दुर्जेयत्वात्, केषाम् ? उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणामन्यथा सर्वेषामेवेति, के ते ? ग्रामधर्माः शब्दादिविषयाः मैथुनरूपा वेति, एवं ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः, मयैतदनु-पश्चाच्छ्रुतमेतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति, अतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम् । यस्मिन्निति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी सप्तमी वेति यान् ग्रामधर्मान् आश्रित्य ये विरताः पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी येभ्यो विरताः सम्यक् संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणः तीर्थङ्करप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥ किञ्च-

टीकार्थ - उत्तर नाम प्रधान का है, क्योंकि वह दुर्जेय होता है । किसके लिए ? कहते हैं कि मनुष्यों के लिए, क्योंकि मनुष्य ही उपदेश के योग्य होते हैं । नहीं तो वे सभी के लिए दुर्जेय हैं । वे कौन हैं ? कहते हैं कि ग्रामधर्म । शब्द आदि विषय अथवा मैथुन को ग्रामधर्म कहते हैं । इस प्रकार सर्वज्ञों ने कहा है कि- "ग्रामधर्म दुर्जेय होता है" मैंने यह सुना है । यह सब जो पहले कहा है और जो आगे कहा जानेवाला है वह नाभिनन्दन आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों से कहा था । इसके पश्चात् श्रीसुधर्मा स्वामी आदि गणधरों ने अपने शिष्यों को प्रतिपादन किया था इसलिए यहाँ जो यह कहा है कि- "मैंने यह सुना है" सो निर्दोष समझना चाहिए । यहाँ 'यस्मिन्' इस पद में कर्म में ल्यब्लोपे पञ्चमी अथवा सप्तमी है, इसलिए इसका यह अर्थ है कि जो पुरुष इन ग्रामधर्मों के आश्रय से निवृत्त हैं, अथवा यहाँ पंचमी के अर्थ में सप्तमी हुई है । इसलिए इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष, इन ग्रामधर्मों से निवृत्त हैं, और सम्यक् प्रकार से संयम के द्वारा उत्थित हैं, वे ही काश्यपगोत्री श्री ऋषभदेव स्वामी अथवा वर्धमान स्वामी के धर्म का आचरण करनेवाले हैं, वे ही तीर्थकर सम्बन्धी धर्म का अनुष्ठान करनेवाले हैं, यह भाव समझना चाहिए ॥२५॥



जे ^१एय चरन्ति आहियं, ^२नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया अन्नोन्नं सारन्ति धम्मओ

॥२६॥

छाया - य एनं चरन्त्याख्यातं, ज्ञातेन महता महर्षिणा । ते उत्थितास्ते समुत्थिता, अव्योऽव्यं सास्यन्ति धर्मतः॥

व्याकरण - (महया, महेसिणा) नाएणं का विशेषण (नाएणं) कर्तृ तृतीयान्त (आहियं) कर्म का विशेषण (एयं) धर्म का परामर्शक सर्वनाम कर्म (जे) कर्ता (चरन्ति) क्रिया (उट्ठिय समुट्ठिया) कर्ता के विशेषण (ते) कर्ता का परामर्शक सर्वनाम (अन्नोन्नं) कर्म (धम्मओ) लुप्तल्यबन्त का कर्म पञ्चम्यन्त (सारन्ति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (महया) महान् (महेसिणा) महर्षि (नाएणं) ज्ञात पुत्र के द्वारा (आहियं) कहे हुए (एयं) इस धर्म को (जे) जो पुरुष (चरन्ति) आचरण करते हैं (ते) वे ही (उट्ठिय) उत्थित हैं (ते) और वे ही (समुट्ठिया) सम्यक् प्रकार से उत्थित हैं (धम्मओ) तथा धर्म से भ्रष्ट होते हुए (अन्नोन्नं) एक दूसरे को वे ही (सारन्ति) फिर धर्म में प्रवृत्त करते हैं ।

भावार्थ - महान् महर्षि ज्ञात पुत्र के द्वारा कहे हुए धर्म को जो पुरुष आचरण करते हैं, वही उत्थित धर्म मार्ग में प्रवृत्त तथा सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त समुत्थित हैं । तथा वे ही धर्म से भ्रष्ट होते हुए परस्पर को फिर धर्म में प्रवृत्त करते हैं।

टीका - ये मनुष्या एनं प्रागुक्तं धर्मं ग्रामधर्मविरतिलक्षणं चरन्ति कुर्वन्ति आख्यातं ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण 'महये'ति महाविषयस्य ज्ञानस्यानन्यभूतत्वान्महान् तेन, तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्रीवर्धमान-स्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति ते एव संयमोत्थानेन-कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः तथा निह्णवादिपरिहारेण त एव सम्यक्-^३कुमार्गदेशनापरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिकाः जमालिप्रभृतयश्चेति भावः, त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनः अन्योऽन्यं परस्परं धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं सारयन्ति चोदयन्ति पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति ॥२६॥ किञ्च-

टीकार्थ - जिसका विषय महान् है ऐसा केवलज्ञान, भगवान् महावीरस्वामी से भिन्न नहीं है, इसलिए यहाँ भगवान् को महान् कहा है । ऐसे महान् तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहनशील महर्षि ज्ञातपुत्र श्रीवर्धमान स्वामी के द्वारा प्रतिपादित, ग्राम धर्म का त्याग स्वरूप जो धर्म है, उसका जो आचरण करते हैं, वे ही संयम में प्रवृत्त तथा कुतीर्थिक धर्म का त्यागकर सम्यग्धर्म में प्रवृत्त हैं । तथा वे ही निह्णव आदि को छोड़कर कुमार्ग के उपदेश से अच्छी तरह हटे हुए हैं, परन्तु कुप्रावचनिक और जमालि प्रभृति कुमार्गदेशना से हटे हुए नहीं हैं । एवं यथोक्त धर्म का अनुष्ठान करनेवाले वे ही परस्पर एक दूसरे को धर्म में प्रेरित करते हैं अथवा धर्म से भ्रष्ट होते हुए को फिर वे धर्म में प्रवृत्त करते हैं ॥२६॥



मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धूणित्तए ।

जे ^४दूमण तेहिं णो णया, ते जाणन्ति समाहिमाहियं

॥२७॥

छाया - मा प्रेक्षस्व पुरा पणामकान्, अभिकाङ्क्षेद उपरि धूणयितुम् ।

ये दुर्मनसस्तेषु नो नतास्ते जानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥

व्याकरण - (मा) अव्यय (पेह) क्रिया, मध्यम पुरुष (पुरा) अव्यय (पणामए) कर्म (अभिकंखे) क्रिया (उवहिं) कर्म (धूणित्तए) प्रयोजनार्थक क्रिया (जे) सर्वनाम दूमणं का विशेषण (दूमण) अध्याहृत संति क्रिया का कर्ता (तेहिं) अधिकरण (णया) कर्ता का विशेषण (ते) कर्ता का परामर्शक सर्वनाम (जाणन्ति) क्रिया (आहियं) समाधि का विशेषण (समाहिं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (पुरा) पहले भोगे हुए (पणामए) शब्दादि विषयों को (मा पेह) मत स्मरण करो (उवहिं) माया अथवा आठ प्रकार के कर्मों को (धूणित्तए) नाश करने की (अभिकंखे) इच्छा करो (दूमण) मन को दुष्ट बनानेवाले जो शब्दादि विषय हैं (तेहिं) उनमें (जे) जो (णो णया) आसक्त नहीं हैं (ते) वे पुरुष (आहियं) अपने आत्मा में स्थित (समाहिं) राग-द्वेष का त्याग अथवा धर्म ध्यान को (जाणन्ति) जानते हैं ।

भावार्थ - पहले भोगे हुए शब्दादि विषयों का स्मरण नहीं करना चाहिए । माया अथवा आठ प्रकार के कर्मों को

१. एत करन्ति चू । २. णायएण महता चू । ३. सम्यक्त्वमार्गदेशनाऽपरि प्र. । ४. दूवणतिहि चू ।

दूर करने की इच्छा करनी चाहिए । जो पुरुष, मन को दूषित करनेवाले शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं हैं, वे अपनी आत्मा में स्थित धर्मध्यान तथा राग-द्वेष के त्याग रूप धर्म को जानते हैं ।

टीका - दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः-शब्दादयो विषयास्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर, तेषां स्मरणमपि यस्मान्महते अनर्थाय, अनागतांश्च नोदीक्षेत-नाकाङ्क्षेदिति, तथा अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठानं कुर्यात्, किमर्थमिति दर्शयति-उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः-माया अष्टप्रकारं वा कर्म तद्हननाय अपनयनायाभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः, दुष्टधर्मप्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः यदि वा 'दूमण'ति, दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषयास्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः न प्रह्वीभूताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति ते सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदन्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानं च आहितम् आत्मनि व्यवस्थितम्, आ-समन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति नाऽन्य इति भावः ॥२७॥ तथा -

टीकार्थ - जो, प्राणियों को दुर्गति में अथवा संसार में डाल देते हैं, उन्हें "प्रणामक" कहते हैं, वे शब्दादि विषय हैं, क्योंकि वे ही प्राणियों को दुर्गति अथवा संसार में डालते हैं । जो शब्दादि विषय पहले भोगे हुए हैं, उनका स्मरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका स्मरण भी महान् अनर्थ का कारण है । तथा भविष्य में उनकी प्राप्ति की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए, किन्तु निरन्तर योग्य अनुष्ठान का चिन्तन करना चाहिए । किसलिए ? यह दिखलाते हैं - जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति में पहुँचाया जाता है, उसे 'उपधि' कहते हैं । उपधि नाम माया का अथवा आठ प्रकार के कर्मों का है । साधु उनको हनन यानी दूर करने की इच्छा करे । दुष्ट धर्म में आसक्त, कुमार्ग का अनुष्ठान करनेवाले जो अन्यतीर्थी हैं, उनमें, अथवा मन को दूषित करनेवाले जो शब्दादि विषय हैं, उनमें, जो महापुरुष आसक्त नहीं हैं, जो उनका आचरण नहीं करते हैं, किन्तु सन्मार्ग का अनुष्ठान करते हैं, वे ही अपने आत्मा में स्थित राग-द्वेष परित्याग रूप समाधि को अथवा धर्मध्यान को जानते हैं । अथवा वे ही चारों तरफ से अपने हित को जानते हैं, दूसरे नहीं जानते ॥२७॥



णो ^१काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए ।

नच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए

॥२८॥

छाया - जो कथिको भवेत्संयतः जो प्राश्निको न च संप्रसारकः । ज्ञात्वा धर्ममनुत्तरं कृतक्रियो न चाऽपि मामकः ॥

व्याकरण - (संजए) कर्ता (काहिए) संजए का विशेषण (होज्ज) क्रिया (पासणिए, संपसारए) संजए का विशेषण (अणुत्तरं) धर्म का विशेषण (धम्मं) कर्म (नच्चा) पूर्व कालिक क्रिया (कयकिरिए मामए) संजए के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (संजए) संयमी पुरुष (णो काहिए) विरुद्ध कथा न करे (णो पासणिए) तथा प्रश्न का फल बतानेवाला न हो (ण य संपसारए) एवं वृष्टि और धनोपार्जन के उपायों को बतानेवाला भी न बने । किन्तु (अणुत्तरं) सर्वोत्तम (धम्मं) धर्म को (नच्चा) जानकर (कयकिरिए) संयम रूप क्रिया का अनुष्ठान करे (णयावि मामए) और किसी वस्तु पर ममता न करे ।

भावार्थ - संयमी पुरुष, विरुद्ध कथा वार्ता न करे तथा प्रश्नफल और वृष्टि तथा धनवृद्धि के उपायों को भी न बतावे । किन्तु लोकोत्तर धर्म को जानकर संयम का अनुष्ठान करे और किसी वस्तु पर ममता न करे ।

टीका - संयतः प्रव्रजितः कथया चरति काथिकः गोचरादौ न भवेद् यदि वा विरुद्धां पैशून्यापादनीं स्यादिकथां वा न कुर्यात्, तथा प्रश्नेन राजादिकिवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्, नाऽपि संप्रसारकः देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारको भवेदिति किं कृत्वेति दर्शयति-ज्ञात्वा अवबुद्ध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राख्यं धर्मं सम्यगवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति, तद्दर्शयति-कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः तथाभूतश्च न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही भवेदिति ॥२८॥ किञ्च-

टीकार्थ - प्रव्रज्या लिया हुआ संयमी पुरुष, गोचरी आदि के समय कथा न कहे । अथवा चुगली आदि विरुद्ध कथा अथवा स्त्री सम्बन्धी कथा न करे । किसी राजा, महाराजा आदि द्वारा "मेरे देश में क्या होगा" इत्यादि प्रश्न पूछने पर ज्योतिषी के समान उसके प्रश्न का फल न बतावे, एवं देववृष्टि तथा धनलाभ के उपायों को भी साधु न बतावे, किन्तु श्रुत और चारित्र रूप धर्म को सर्वोत्तम जानकर संयम का अनुष्ठान करे, क्योंकि लोकोत्तर धर्म जानने का यह फल है कि विकथा और निमित्त बताना आदि कार्य्यों को छोड़कर सम्यक् क्रिया के अनुष्ठान में प्रवृत्ति करे । तथा 'यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार की ममता साधु न करे ॥२८॥



छत्रं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे ।

तेसिं सुविवेगमाहिए, ^१पणया जेहिं सुजोसिअं धुयं

॥२९॥

छाया - छत्रं च प्रशस्यं च न कुर्यात्प्रचोत्कर्षं प्रकाशं माहणः । तेषां सुविवेक आहितः प्रणताः यैः सुजुष्टं धृतम् ॥

व्याकरण - (छत्रं पसंस) कर्म (करे) क्रिया (उक्कोस पगास) कर्म (माहणे) कर्ता (तेसिं) कषायों का परामर्शक सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (सुविवेगं) उक्त कर्म (आहिए) कर्मवाच्य क्तान्तपद (जेहिं) कर्ता (धुयं) उक्त कर्म (सुजोसिअं) कर्मवाच्य क्तान्त पद (पणया) मुनि का विशेषण।

अन्वयार्थ - (माहणे) साधु पुरुष (छत्रं च) माया (पसंस) लोभ (उक्कोस) मान (पगासं च) और क्रोध (णो करे) नहीं करे (जेहिं) जिन्होंने (धुयं) आठ प्रकार के कर्मों को नाश करनेवाले संयम को (सुजोसियं) अच्छी तरह से सेवन किया है । (तेसिं) उन्हींका (सुविवेगं आहिए) उत्तम विवेक प्रसिद्ध हुआ है । (पणया) और वे ही धर्म में आसक्त हैं ।

भावार्थ - साधु पुरुष, क्रोध, मान, माया और लोभ न करे । जिन्होंने आठ प्रकार के कर्मों को नाश करनेवाले संयम का सेवन किया है, उन्हींका उत्तम विवेक जगत् में प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्म में आसक्त पुरुष हैं ।

टीका - 'छत्रं'ति, माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्यात् । च शब्दः उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा प्रशस्यते सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो लोभस्तं च न कुर्यात्, तथा- जात्यादिभिर्मदस्थानै-र्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानस्तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः, तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूकुटिभंगविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः क्रोधस्तं च 'माहणे'ति साधुर्न कुर्यात्, तेषां कषायाणां यैर्महात्मभिः विवेकः परित्यागः आहितो जनितस्त एव धर्मप्रति प्रणता इति । यदि वा तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूपः आहितः प्रथितः प्रसिद्धिं गतः त एव च धर्मं प्रति प्रणताः यैः महासत्त्वैः सुष्ठु जुष्टं सेवितं धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म तद्धृतं संयमानुष्ठानं, यदि वा यैः सदनुष्ठायिभिः 'सुजोसिअं'ति सुष्ठु क्षिप्तं धूननार्हत्वाद् धृतं कर्मेति ॥२९॥ अपि च -

टीकार्थ - 'छत्र' माया का नाम है क्योंकि अपने अभिप्राय को छिपाना 'माया' है । साधु माया न करे। यहाँ 'च' शब्द अगले पदार्थों का समुच्चय करने के लिए कहा है । तथा सब लोग बिना किसी आपत्ति के जिसका आदर करते हैं, उसे 'प्रशस्य' कहते हैं । प्रशस्य नाम लोभ का है, वह नहीं करना चाहिए । 'उत्कर्ष' नाम मान का है, क्योंकि वह छोटी प्रकृतिवाले पुरुष को जाति आदि मदस्थानों के द्वारा मत्त बना देता है, इसलिए साधुमान न करे । एवं 'प्रकाश' नाम क्रोध का है, क्योंकि वह मनुष्य के अन्दर रहकर भी मुख, दृष्टि, भ्रूकुटि भंग आदि विकारों से प्रकट होता है । साधु पुरुष क्रोध भी न करे । जिन महात्माओं ने इन कषायों का परित्याग किया है, वे ही धर्म में प्रवृत्त हैं अथवा उन्हीं सत्पुरुषों का उत्तम परिज्ञान स्वरूप विवेक जगत् में प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्म में प्रवृत्त हैं । जिन महापुरुषों ने आठ प्रकार के कर्मों को दूर करनेवाले संयमानुष्ठान का भलीभांति सेवन किया है अथवा सत् कर्म का अनुष्ठान करनेवाले जिन महात्माओं ने अच्छी तरह अष्टविध कर्मों को दूर कर दिया है, वे ही धर्म में प्रवृत्त हैं । यहाँ धूनन यानी क्षेपण करने योग्य होने से कर्मों को 'धूत' कहा है ॥२९॥



अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।

विहरेज्ज ^१समाहिइंदिए आत्तहियं खु दुहेण लब्भइ

॥३०॥

छाया - अस्निहः सहितः सुसंवृतः, धर्मार्थी उपधानवीर्यः । विहरेत्समाहितेन्द्रियः, आत्महितं दुःखेन लभ्यते ॥

व्याकरण - (अणिहे सहिए, सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए, समाहिइंदिए) ये सब आक्षिप्त मुनि के विशेषण हैं । (विहरेज्जा) क्रिया (आत्तहिअं) कर्म (खु) अव्यय (दुहेण) करण (लब्भइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (अणिहे) साधु पुरुष, किसी भी वस्तु में स्नेह न करे (सहिए) जिससे अपना हित हो वह कार्य करे (सुसंवुडे) इन्द्रिय तथा मन से गुप्त रहे (धम्मट्ठी) धर्मार्थी बने (उवहाणवीरिए) तप में पराक्रम प्रकट करे (समाहि इंदिए) इन्द्रिय को वश में रखे (विहरेज्ज) इस प्रकार साधु संयम का अनुष्ठान करे क्योंकि (आत्तहियं) अपना कल्याण (दुहेण) दुःख से (लब्भइ) प्राप्त किया जाता है ।

भावार्थ - साधु पुरुष, किसी भी वस्तु पर ममता न करे तथा जिससे अपना हित हो उस कार्य में सदा प्रवृत्त रहे । इन्द्रिय तथा मन से गुप्त रहकर वह धर्मार्थी बने । एवं तप में अपना पराक्रम प्रकट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर संयम का अनुष्ठान करे क्योंकि अपना कल्याण दुःख से प्राप्त होता है ।

टीका - स्निह्यत इति स्निहः न स्निहः अस्निहः सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः, यदि वा-परीषहोपसर्गेर्निहन्यते इति निहः न निहोऽनिहः-उपसर्गेरपराजित इत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'अणहे'ति नास्याघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठा-यीत्यर्थः, सह हितेन वर्तत इति सहितः सहितो-युक्तो वा ज्ञानादिभिः स्वहितः आत्महितो वा सदानुष्ठानप्रवृत्तेः, तामेव दर्शयति-सुष्ठु संवृत इन्द्रियनोऽन्द्रियैर्विस्त्रोतसिकारहित इत्यर्थः, तथा धर्मः श्रुतचारित्राख्यः तेनाऽर्थः-प्रयोजनं स एवार्थः तस्यैव सद्भिरर्थ्यमानत्वाद् धर्मार्थः स यस्याऽस्तीति धर्मार्थी तथा उपधानं-तपस्तत्र वीर्यवान् स एवंभूतो विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यात् समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रियः, कुत एवं ? यत आत्महितं दुःखेनासुमता संसारे पर्यटता अकृतधर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति तथाहि -

“न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥”

तथाहि युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावद् दुर्लभः, तत्राप्यार्यक्षेत्रादिकं दुरापमिति, अत आत्महितं दुःखेनावाप्यत इति मन्तव्यम् । अपि च -

भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन् पक्षेन्द्रियत्त्वमुत्कृष्टम् । तस्मादपि मानुष्यं, मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥१॥
देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने जातिरुत्कृष्टा । जातौ रूपसमृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥
मवति बलं चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् । विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥३॥
एतत्पूर्वश्चायं समाप्तो मोक्षसाधनोपायः । तत्र च बहु सम्प्राप्तं मवद्विरलं च संप्राप्यम् ॥४॥
तत्कुरुतोऽधममधुना मदुवत्तमार्गं समाधिमाधाय । त्यक्त्वा सङ्गमनार्यं कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥५॥ इति ३०॥

टीकार्थ - किसी वस्तु पर प्रेम करनेवाला 'स्निह' कहलाता है तथा किसी वस्तु पर प्रेम नहीं करनेवाला 'अस्निह' कहलाता है । आशय यह है कि साधु, सर्वत्र ममता का त्याग करे । अथवा परीषह और उपसर्गों के द्वारा जो पराजित किया जाता है, उसे 'स्निह' कहते हैं और जो परीषह तथा उपसर्गों से पराजित नहीं किया जा सकता है, उसे 'अस्निह' कहते हैं । साधु परीषह तथा उपसर्गों से पराजित न हो यह आशय है । यहाँ 'अणहे' यह पाठान्तर भी पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि- साधु पाप रहित यानी निरवद्य कर्म का अनुष्ठान करे। साधु अपने हित के साथ रहे अथवा ज्ञान आदि से युक्त रहे अथवा वह सत्कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर अपना हित सम्पादन करे । सत् अनुष्ठान में प्रवृत्ति दिखाने के लिए कहते हैं कि- “सुसंवुडे” अर्थात् साधु इन्द्रिय और नो इन्द्रियों के द्वारा विषय तृष्णा रहित होकर रहे । श्रुत और चारित्र को धर्म कहते हैं । उस धर्म को ही साधु अपना प्रयोजन जाने क्योंकि सज्जन पुरुष धर्म की ही प्रार्थना करते हैं । एवं साधु तप में अपना पराक्रम प्रकट करे और जितेन्द्रिय होकर संयम का अनुष्ठान करे । वह ऐसा इसलिए करे कि संसार सागर में भ्रमण करनेवाले प्राणी को धर्मानुष्ठान किये बिना आत्महित की प्राप्ति होनी बड़ी ही दुर्लभ है क्योंकि-

१. समाहितेन्द्रिय, आत्महितं दुःखेन लब्धते चू ।

(न पुनः) अर्थात् खद्योत की ज्योति और बिजली के प्रकाश के समान अति चञ्चल मनुष्य भव, यदि अगाध संसार सागर में गिर गया तो उसे फिर प्राप्त करना अति दुर्लभ है ।

अतः 'युग समिल आदि के दृष्टान्त में कही हुई नीति के अनुसार प्रथम तो मनुष्य भव की प्राप्ति ही कठिन है, उस पर भी आर्यक्षेत्र पाना अति दुर्लभ है, इसलिए दुःख से आत्महित की प्राप्ति होती है, यह मानना पड़ता है ।

तथा प्राणियों में जंगम प्राणी श्रेष्ठ हैं और जंगम प्राणियों में पंचेन्द्रिय प्राणी उत्कृष्ट हैं । उनसे भी मनुष्य भव विशिष्ट है । मनुष्य भव में भी आर्य देश पाना उत्तम है । आर्य देश में भी कुल प्रधान है और कुल में भी जाति उत्कृष्ट है । जाति में भी रूप और समृद्धि पाना कठिन है और उनमें भी बल पाना विशिष्ट है । बल पाकर आयु पाना उत्तम है और आयु से भी विज्ञान पाना प्रधान है । विज्ञान में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होना उत्तम है, उस पर भी शील की प्राप्ति उत्तम है । क्रमशः इन्हीं पदार्थों को प्राप्त करना संक्षेप से मोक्ष साधन का उपाय है । इनमें आप लोगों ने बहुत सा प्राप्त कर लिया है अब, थोड़ा ही प्राप्त करना शेष रहा है । अतः मेरे बताये हुए मार्ग में समाधि लगाकर प्रयत्न कीजिए क्योंकि अनाय्यों का संग छोड़कर सज्जनों को सदा कल्याण का आचरण करना चाहिए ॥३०॥



- एतच्च प्राणिभिः न कदाचिदवासपूर्वमित्येतदर्थयितुमाह -

- प्राणियों ने इस सामायिक आदि को पहले कभी नहीं प्राप्त किया है, यह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं-

ण हि णूण पुरा ^२अणुस्सुतं, ^३अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।

मुणिणा ^४सामाइआहियं, ^५नाएणं जगसव्वदंसिणा

॥३१॥

छाया - नहि नूनं पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम् ।

मुनिना सामायिकाधारव्यातम्, ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥

व्याकरण - (ण, हि) अव्यय (पुरा) अव्यय (अणुस्सुतं) क्तान्त कर्मवाच्य (अदुवा) अव्यय (तह) अव्यय (अणुट्ठियं) क्तान्त कर्मवाच्य (जगसव्वदंसिणा, नाएणं) मुनि का विशेषण (मुणिणा) कर्ता (सामाइ) उक्त कर्म (आहियं) क्तान्त कर्मवाच्य ।

अन्वयार्थ - (जगसव्वदंसिणा) समस्त जगत् को देखनेवाले (मुणिणा) मुनि (नाएण) ज्ञातपुत्र ने (सामाइ आहियं) सामायिक आदि कहा है (णूण) निश्चय जीव ने (पुरा) पहले (ण हि अणुस्सुतं) नहीं सुना है (अदुवा) अथवा (तं) उसे (तह) उस प्रकार (णो समुट्ठियं) अनुष्ठान नहीं किया है ।

भावार्थ - समस्त जगत् को जाननेवाले ज्ञातपुत्र मुनि श्रीभगवान् वर्धमान स्वामी ने सामायिक आदि का कथन किया है । निश्चय जीव ने उसे सुना नहीं है अथवा सुनकर यथार्थ रूप से उसका आचरण नहीं किया है ।

टीका - यदेतत् मुनिना जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकादि आहितम् आख्यातं, तन्नूनं निश्चितं नहि नैव पुरा पूर्वं जन्तुभिः अनुश्रुतं श्रवणपथमायातम् अथवा श्रुतमपि तत्सामायिकादि यथाऽवस्थितं तथा नाऽनुष्ठितं, पाठान्तरं वा 'अवितह'त्ति, अवितथं यथावन्नानुष्ठितमतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभमिति ॥३१॥

टीकार्थ - जगत् के समस्त भावों को देखनेवाले ज्ञातपुत्र मुनि श्री भगवान् वर्धमान स्वामी ने जो सामायिक आदि कहा है, निश्चय से प्राणियों ने उसे पहले कभी नहीं सुना है अथवा सुनकर भी जिस तरह उसका आचरण करना चाहिए वैसा आचरण नहीं किया है । यहाँ पाठान्तर भी पाया जाता है "अवितहं" अर्थात् उस सामायिक

१. "शम्या पूर्वपयोनिधौ निपतिता, ब्रष्टं युगं पश्चिमाम्बोद्यौ दुर्धरवीचिभिर्ब सुचिरात्संयोजितं तद् द्वयम् ॥

सा शम्या प्रविशेद्युगस्य विवरे तस्य स्वयं क्वाऽपि चेत् । ब्रष्टो मर्त्यभवात् तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥"

अर्थात् पूर्व समुद्र में किल्ली को फेंक दीजिए और पश्चिम समुद्र में जुए को डाल दीजिए वे दोनों समुद्र के प्रबल तरंग से बहकर कदाचित् इकट्ठे हों और वह किल्ली उस जुए में प्रवेश करे यह संभव है परंतु जिसने पुण्य नहीं किया है उस पुरुष के द्वारा ब्रष्ट मनुष्य भव को फिर प्राप्त करना संभव नहीं है, यही युगसमिल का दृष्टान्त है ।

२. ऽणुस्सुतं चू. । ३. अदुवाऽवितथं णो अधिट्ठितं चू. । ४. सामाइयं पदं चू. । ५. णातएण चू. ।

आदि को प्राणियों ने यथावत् अनुष्ठान नहीं किया है, अत एव प्राणियों को आत्महित दुर्लभ है ॥३१॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह -

- फिर भी शास्त्रकार दूसरा उपदेश देने के लिए कहते हैं -

एवं ^१मत्ता महन्तरं धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।

गुरुणो छन्दाणुवत्तगा विरया तिन्न [तिन्ना] ^२महोघमाहितं । ति बेमि (गाथाग्रम् १५२) ॥३२॥

छाया - एवं मत्वा महदन्तरं धर्ममेवं सहिताः बहवो जनाः ।

गुरोश्छब्दानुवर्तकाः विरतास्तीर्णाः महौघमाख्यातम् ॥ इति ब्रवीमि ।

व्याकरण - (एवं) अव्यय (इणं, महन्तरं) धर्म के विशेषण (धम्मं) कर्म (मत्ता) पूर्वकालिक क्रिया (सहिया, गुरुणो छन्दाणुवत्तगा, विरया) ये सब बहुजन के विशेषण हैं (महोघं) कर्म (तिन्न) बहुजन का विशेषण (आहितं) भाववाच्य क्तान्त पद ।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (मत्ता) मानकर (महन्तरं) सर्वोत्तम (धम्ममिणं) इस आर्हत धर्म को स्वीकार करके (सहिया) ज्ञाना-दिसम्पन्न (गुरुणो छन्दाणुवत्तगा) गुरु के अभिप्राय के अनुसार वर्तनेवाले (विरया) पाप से रहित (बहु जणा) बहुत जनों ने (महोघं) संसार सागर को (तिन्न) पार किया है (आहितं) यह मैं आपसे कहता हूँ ।

भावार्थ - प्राणियों को हित की प्राप्ति बहुत कठिन है, यह जानकर तथा यह आर्हत धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है, यह समझकर ज्ञानादिसम्पन्न, गुरु के उपदिष्ट मार्ग से चलनेवाले पाप से विरत बहुत पुरुषों ने इस संसार को पार किया है, यह मैं कहता हूँ ।

टीका - एवम् उक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभं मत्वा ज्ञात्वा धर्माणां च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा यदि वा 'महन्तरं' ति, मनुष्याय्यक्षेत्रादिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एनं जैनं धर्मं श्रुतचारित्रात्मकं सह हितेन वर्तन्त इति सहिताः ज्ञानादियुक्ता बहवो जनाः लघुकर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरोराचार्य्यादिस्तीर्थङ्करस्य वा छन्दानुवर्त-कास्तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णाः महौघमपारं संसारसागरमेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिर्न्येषाम् इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थं ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३२॥

वैतालीयस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - उक्त रीति से अपना हित प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, यह जानकर तथा सब धर्मों से महान् अन्तर रखनेवाले धर्म विशेष को अथवा कर्म के अन्तर को जानकर अथवा उत्तम अनुष्ठान के योग्य मनुष्य और आर्य्यक्षेत्र आदि अवसर को जानकर तथा इस श्रुत चारित्रि स्वरूप आर्हत धर्म को स्वीकारकर ज्ञान आदि से सम्पन्न लघु कर्मी बहुत पुरुष, आचार्य्य आदि अथवा तीर्थंकर के बताये हुए मार्ग का अनुष्ठान करने वाले पाप कर्म से निवृत्त हो गये हैं और उन्होंने अपार संसार सागर को पार किया है, यह मैंने आप लोगों से कहा है और दूसरे (पूर्व के) तीर्थंकरों ने दूसरों से कहा है । इति शब्द समाप्त्यर्थक है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है ।

इति द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥३२॥



अथ वैतालीयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकस्य प्रारम्भः

- उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकान्ते विरता इत्युक्तं, तेषां च कदाचित्परीषहाः समुदीर्येरन् अतः तत्सहनं विधेयमिति, उद्देशकार्थाधिकारोऽपि निर्युक्तिकारेणाभिहितः यथाऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयो भवतीति, स च परीषहसहनादेवेत्यतः परीषहाः सोढव्या इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयात-स्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

- द्वितीय उद्देशक समाप्त हो चुका अब तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है ।

दूसरे उद्देशक के साथ इसका सम्बन्ध यह है, दूसरे उद्देशक के अन्त में कहा है कि- “पाप से विरत पुरुष संसार सागर को पार करते हैं” अब इस उद्देशक में कहा जानेवाला है कि साधु को यदि कदाचित् परीषह और उपसर्गों की उदीरणा हो तो उनको सहन करना चाहिए क्योंकि परीषह और उपसर्गों को सहन करने से ही अज्ञान जनित कर्मों का नाश होता है । निर्युक्तिकार ने इस तीसरे उद्देशक का अर्थाधिकार बताते हुए भी यही कहा है कि परीषह और उपसर्गों के सहन से ही अज्ञान जनित कर्मों का अपचय होता है इसलिए साधु को परीषहों को सहन करना चाहिए, यही बताने के लिए इस तीसरे उद्देशक का जन्म हुआ है । इस का प्रथम सूत्र यह है-



संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।

तं 'संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया

॥१॥

छाया - संवृतकर्मणः भिक्षोः, यद् दुःखं स्पृष्टमबोधिना । तत्संयमतोऽवचीयते, मरणं हित्वा व्रजन्ति पण्डिताः ॥

व्याकरण - (संवुडकम्मस्स) भिक्षु का विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (अबोहिए) हेतु तृतीयान्त (जं) सर्वनाम दुःख का विशेषण (पुट्ठं) दुःख का विशेषण (दुःखं) अध्याहृत अस्ति क्रिया का कर्ता (तं) दुःख का परामर्शक सर्वनाम (संजमओ) हेतु पञ्चम्यन्त (अवचिज्जई) क्रिया (मरणं) कर्म (हेच्च) पूर्वकालिक क्रिया (वयंति) क्रिया (पंडिया) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (संवुडकम्मस्स) आठ प्रकार के कर्मों का आना जिसने रोक दिया है (भिक्खुणो) ऐसे भिक्षु-साधु को (अबोहिए) अज्ञान वश (जं दुक्खं) जो कर्म (पुट्ठं) बैध गया है (तं) वह (संजमओ) संयम से (अवचिज्जई) क्षीण हो जाता है (पंडिया) और वे पंडित पुरुष (मरणं हेच्चा) मरण को छोड़कर (वयंति) मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मों का आगमन रोक दिया है, उसको जो अज्ञान वश कर्मबन्ध हुआ है । वह संयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाता है । वे विवेकी पुरुष, मरण को छोड़कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

टीका - संवृतानि निरुद्धानि कर्माणि अनुष्ठानानि सम्यगनुपयोगरूपाणि वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-योगरूपाणि वा यस्य भिक्षोः साधोः स तथा तस्य यद् दुःखमसद्वेद्यं तदुपादानभूतं वाऽष्टप्रकारं कर्म स्पृष्टमिति बद्धस्पृष्टनिकाचितमित्यर्थः, तच्चात्र अबोधिना अज्ञानेनोपचितं सत् संयमतो मौनीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद् अपचीयते प्रतिक्षणं क्षयमुपयाति । एतदुक्तं भवति- यथा तटाकोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदादित्यकर-सम्पर्कात् प्रत्यहमपचीयते, एवं संवृताश्रवद्वारस्य भिक्षोरिन्द्रिययोगकषायं प्रति संलीनतया संवृतात्मनः सतः संयमानुष्ठानेन चानेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च संवृतात्मानः सदानुष्ठायिनश्च ते हित्वा त्यक्त्वा मरणं मरणस्वभावमुपलक्षण-त्वाज्जातिजरामरणशोकादिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति पण्डिताः सदसद्विवेकिनः, यदि वा पण्डिताः सर्वज्ञा एवं वदन्ति यत् प्रागुक्तमिति ॥१॥

टीकार्थ - जिस साधु ने कर्मों को रोक दिया है अथवा सम्यग् अनुपयोग रूप अनुष्ठान अथवा मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप कर्मों को जिसने रोक दिया है । उस साधु को अज्ञान वश जो दुःख-प्रतिकूल वेदनीय अथवा दुःख के कारण स्वरूप आठ प्रकार के कर्म, बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित भेद से उपचित

हुए हैं, वे तीर्थकरोक्त १७ प्रकार के संयम के अनुष्ठान से प्रतिक्षण नाश को प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि जिस तालाब में पानी आने का मार्ग बन्द है, उसमें पहले का रहा हुआ जल जैसे सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से प्रतिदिन घटता जाता है, उसी तरह जिस साधु ने आश्रव द्वार को बन्द कर दिया है तथा इन्द्रिय, योग और कषाय को रोकने में सदा सावधान रहता है, उस संवृतात्मा पुरुष के अनेक जन्म संचित अज्ञान जनित, कर्म, संयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाते हैं। जो पुरुष, संवृतात्मा है और सत्कर्म का अनुष्ठान करते हैं। वे मरण स्वभाव को प्राप्त करते हैं। जो सत् और असत् के विवेकी हैं, उन्हें पंडित कहते हैं। अथवा जो पहले कहा गया है उसे सर्वज्ञ पुरुष ऐसा ही कहते हैं ॥१॥



- येऽपि च तेनैव भवेन न मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याह -

- जो पुरुष उसी भव में मोक्ष को नहीं प्राप्त करते हैं, उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं -

जे विन्नवणाहिऽजोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।

तम्हा उड्डं ति पासहा अदक्खु कामाइ रोगवं

॥२॥

छाया - ये विज्ञापनाभिर्जुष्टाः संतीर्णैः समं व्याख्याताः । तस्माद् ऊर्ध्वं पश्यत अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥

व्याकरण - (जे) सर्वनाम, अध्याहृत पुरुष का विशेषण (विन्नवणाहि) कर्तृ तृतीयान्त (अजोसिया) कर्मक्तान्त, पुरुष का विशेषण (ते) पुरुष का परामर्शक सर्वनाम (संतिन्नेहिं) तुल्यार्थक शब्द के योग में तृतीयान्त (समं) क्रिया विशेषण (वियाहिया) कर्म क्तान्त पुरुष का विशेषण (तम्हा) हेतु पञ्चम्यन्त (उड्डं) क्रिया विशेषण (पासहा) क्रिया (कामाइ) कर्म (रोगवं) कर्म विशेषण (अदक्खु) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (जे) जो पुरुष (विन्नवणाहिं) स्त्रियों से (अजोसिया) सेवित नहीं हैं (संतिन्नेहिं) वे मुक्त पुरुषों के (समं) समान (वियाहिया) कहे गये हैं (तम्हा) इसलिए (उड्डं) स्त्री परित्याग के बाद ही (पासहा) मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह देखो (कामाइ) काम भोगों को जिन पुरुषों ने (रोगवं) रोग के समान (अदक्खु) देखा है। वे मुक्त के समान हैं।

भावार्थ - जो पुरुष, स्त्रियों से सेवित नहीं है। वे मुक्त पुरुष के सदृश हैं। स्त्री परित्याग के बाद मुक्ति होती है। यह जानना चाहिए। जिसने काम भोग को रोग के समान जान लिया है। वे पुरुष मुक्त पुरुष के सदृश हैं।

टीका - ये महासत्त्वाः कामार्थिभिर्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ताः विज्ञापनाः स्त्रियस्ताभिः अजुष्टाः असेविताः 'क्षयं वा अवसायलक्षणमतीतास्ते सन्तीर्णैः मुक्तैः समं व्याख्याताः, अतीर्णा अपि सन्तो यतस्ते निष्किञ्चनतया शब्दादिषु विषयेष्वप्रतिबद्धाः संसारोदन्वतस्तटोपान्तवर्तिनो भवन्ति, तस्माद् ऊर्ध्वमिति मोक्षं योषित्परित्यागादूर्ध्वं यद् भवति तत्पश्यत यूयम् । ये च कामान् रोगवद् व्याधिकल्पान् अद्राक्षुः दृष्टवन्तस्ते संतीर्णसमाः व्याख्याताः । तथा चोक्तम् -

“पुष्पफलाणं च रसं सुराड् मंसरस महिलियाणं च । जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वंदे” ॥१॥

तृतीयपादस्य पाठान्तरं वा “उड्डं तिरियं अहे तहा” ऊर्ध्वमिति सौधर्मादिषु तिरियमिति तिर्यग्लोके, अथ इति भवनपत्यादौ ये कामास्तान् रोगवद् अद्राक्षुर्ये ते तीर्णकल्पाः व्याख्याता इति ॥२॥

टीकार्थ - कामी पुरुष जिसके प्रति अपनी कामना प्रकट करता है अथवा जो काम सेवन के लिए कामी को अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं, उसे 'विज्ञापना' कहते हैं। 'विज्ञापना' नाम स्त्रियों का है। जो महासत्त्व पुरुष स्त्रियों से सेवित नहीं हैं अथवा जो स्त्रियों के द्वारा विनाश स्वरूप क्षय को प्राप्त नहीं हैं वे, मुक्त पुरुषों के सदृश कहे गये हैं। यद्यपि वे संसार सागर को पार किये हुए नहीं हैं तथापि वे निष्किञ्चन और शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं होने के कारण संसार सागर के तट के समीप ही स्थित हैं। इसलिए स्त्री संसर्ग के त्याग के

1. क्षोषोऽवसानम् । 2. स्तटान्तर्ब० प्र. ।

3. पुष्पफलानां च रसं सुराया मंसस्य महेलानां च । जानन्तो ये विरतास्तान् दुष्करकारकान् वन्दे ॥१॥

बाद ही मोक्ष होता है। यह जानना चाहिए। जिन महात्माओं ने काम भोगों को रोग के सदृश देख लिया है वे भी मुक्त पुरुष के सदृश ही कहे गये हैं। कहा भी है-

“पुष्पफलान्” अर्थात् जिन्होंने फूल और फल का रस, मद्य, माँस एवं महिलाओं को अन्तर्य का कारण जानकर त्याग दिया है। उन दुष्कर कर्म करनेवाले पुरुषों को मैं वन्दना करता हूँ।

यहाँ तीसरे चरण का यह पाठान्तर पाया जाता है “उद्धं तिरियं अहे तहा” अर्थात् सौधर्म आदि देवलोक में और तिर्यक् लोक में एवं भवनपति आदि लोक में जो कामभोग विद्यमान हैं, उन्हें जो महात्मा रोग के सदृश समझते हैं। वे संसार को पार किये पुरुषों के समान कहे गये हैं ॥३॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह -

- अब सूत्रकार दूसरा उपदेश देने के लिए कहते हैं -

अग्रं वणिर्हं^१ आहियं धारंती^२ राईणिया इहं ।

एवं^३ परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा

॥३॥

छाया - अग्रं वणिर्भिराहितं, धारयन्ति राजान इह । एवं परमानि महाव्रतानि आख्यातानि सरात्रिभोजनानि ॥

व्याकरण - (अग्रं) कर्म (वणिर्हं) कर्तृ तृतीयान्त (आहियं) कर्म का विशेषण (धारंती) क्रिया (राईणिया) कर्ता (इहं) अव्यय (एवं) अव्यय (सराइभोयणा) (अक्खाया) (परमा) महव्वया के विशेषण (महव्वया) कर्म (उ) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (वणिर्हं) बनियों के द्वारा (आहियं) दूर देश से लाये हुए (अग्रं) उत्तमोत्तम वस्तुओं को (राईणिया) राजा महाराजा आदि (धारंती) धारण करते हैं (एवं) इसी तरह (अक्खाया) आचार्य्य द्वारा प्रतिपादित (सराइभोयणा) रात्रि भोजन परित्याग के सहित (परमा) उत्कृष्ट (महव्वया) महाव्रतों को साधु पुरुष धारण करते हैं ।

भावार्थ - जैसे बनियों के द्वारा लाये हुए उत्तमोत्तम रत्न और वस्त्र आदि को बड़े-बड़े राजा महाराजा आदि धारण करते हैं, इसी तरह आचार्यों के द्वारा कहे हुए, रात्रि भोजन विरमण के सहित पाँच महाव्रतों को साधु पुरुष धारण करते हैं।

टीका - ‘अग्रं’वर्य प्रधानं रत्नवस्त्राभरणादिकं तद्यथा वणिर्भिर्देशान्तराद् ‘आहितम्’ द्वौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरादयः ‘इह’ अस्मिन्मनुष्यलोके ‘धारयन्ति’ बिभ्रति, एवमेतान्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि आचार्यैराख्यातानि प्रतिपादितानि नियोजितानि ‘सरात्रिभोजनानि’ रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति, तुशब्दः पूर्ववत्नेभ्यो महाव्रतरत्नानां विशेषापादक इति, इदमुक्तं भवति यथा प्रधानरत्नानां राजान एव भाजनमेवं महाव्रतरत्नानामपि महासत्त्वा एव साधवो भाजनं नान्ये इति ॥३॥ किञ्च -

टीकार्थ - जैसे बनियों के द्वारा दूसरे देश से लाये हुए प्रधान रत्न, वस्त्र और पात्र आदि को राजा महाराजा तथा राजा के समान बड़े-बड़े ऐश्वर्य्यवाले लोग धारण करते हैं। इसी तरह आचार्यों के द्वारा कहे हुए रात्रि भोजन विरमण व्रत एवं रत्नतुल्य इन पाँच महाव्रतों को साधु पुरुष धारण करते हैं। यहाँ ‘तु’ शब्द पूर्व रत्नों की अपेक्षा महाव्रतों की विशिष्टता बताता है। आशय यह है कि जैसे प्रधान रत्नों का राजा ही भाजन होता है, इसी तरह महाव्रत रूपी रत्नों का महा पराक्रमी साधु पुरुष ही पात्र है, दूसरे नहीं ॥३॥



जे इह सायाणुगा नरा अज्झोववन्ना^४ कामेहिं मुच्छिया ।

^५किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं

॥४॥

छाया - ये इह सातानुगाः नराः अभ्युपपन्नाः कामेषु मूर्च्छिताः ।

१. आणियं चू. । २. रायाणया चू. । ३. परमाणि महव्वताणि, अक्खात्याणि सरात्रिभोयणाणि चू. । ४. कामेषु चू. । ५. किमणेण चू. ।

कृपणेन समं प्रगल्भिताः नाऽपि जानन्ति समाधिमारब्धातम् ॥

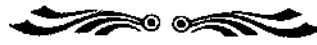
व्याकरण - (जे) सर्वनाम, नर का विशेषण (इह) अव्यय (सायाणुगा) नर का विशेषण (अज्झोववन्ना, कामेहिं मुच्छिया) नर के विशेषण (किवणेण) तुल्यार्थ के योग में तृतीयान्त (समं) क्रिया विशेषण (नरा) कर्ता (पगब्भिया) नर का विशेषण (न, वि) अव्यय (जाणंति) क्रिया (आहितं) समाधि का विशेषण (समाहिं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (जे नरा) जो मनुष्य (सायाणुगा) सुख के पीछे चलते हैं (अज्झोववन्ना) तथा समृद्धि, रस और साता गौरव में आसक्त हैं (कामेहिं) और काम भोग में मूर्च्छित हैं (किवणेण) वे इन्द्रिय लंपटों के (समं) समान (पगब्भिया) धृष्टता के साथ काम सेवन करते हैं (आहितं समाहिं) ऐसे लोग कहने पर भी समाधि धर्मध्यान को (न वि जाणंति) नहीं समझते हैं ।

भावार्थ - इस लोक में जो पुरुष सुख के पीछे चलते हैं तथा समृद्धि, रस और सातागौरव में आसक्त हैं एवं काम भोग में मूर्च्छित हैं, वे इन्द्रियलम्पटों के समान ही काम सेवन में धृष्टता करते हैं । ऐसे लोग कहने पर भी धर्म ध्यान को नहीं समझते हैं ।

टीका - ये नरा लघुप्रकृतयः 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके सातं सुखमनुगच्छतीति सातानुगाः सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापाय(या)भीरवः समृद्धिरससातागौरवेषु 'अध्युपपन्ना' गृद्धाः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' कामोत्कटतृष्णाः कृपणो दीनो वराकक इन्द्रियैः पराजितस्तेन समाः तद्वत्कामासेवने 'प्रगल्भिताः' धृष्टतां गताः, यदि वा किमनेन स्तोकेन दोषेणासम्यक्प्रत्युपेक्षणादिरूपेणास्मत्संयमस्य विराधनं भविष्यत्येवं प्रमादवन्तः कर्तव्येष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिमवद्वा मलिनीकुर्वन्ति, एवम्भूताश्च ते 'समाधिं' धर्मध्यानादिकम् 'आख्यातं' कथितमपि न जानन्तीति ॥४॥

टीकार्थ - इस मनुष्य लोक में जो मनुष्य लघु प्रकृतिवाले हैं और इसलोक और परलोक के दुःखों से डरते हुए सुख के पीछे चलते हैं तथा समृद्धि-रस और साता गौरव में आसक्त हैं एवं काम भोग में उत्कट तृष्णावाले हैं वे, इन्द्रियों से पराजित दीन पुरुष के समान काम सेवन में धृष्टता करते हैं । अथवा जो पुरुष यह समझते हैं कि- "अच्छी तरह प्रतिलेखन आदि समिति का पालन नहीं करने आदि अल्प दोषों से क्या मेरा संयम नष्ट हो सकता है ?" वे इस प्रकार प्रमाद करते हुए वस्त्र और मणिमय भूमि की तरह निर्मल अपने समस्त संयम को मलिन कर डालते हैं । ऐसे लोग कहने पर भी धर्मध्यान आदि को नहीं समझते हैं ॥४॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह -

- फिर शास्त्रकार दूसरा उपदेश देते हैं जैसे -

वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए ।

१से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति

॥५॥

छाया - वाहेण यथावविक्षतोऽबलो भवति गौः प्रचोदितः । सोऽन्तशोऽल्पस्थामा नातिवहत्यबलो विषीदति ॥

व्याकरण - (वाहेण) कर्तुं तृतीयान्त (जहा) अव्यय (व विच्छए, पचोइए, अबले) गवं के विशेषण (अप्पथामए) गवं का विशेषण (अंतसो) अव्यय (से) गवं का विशेषण (नाइवहइ) क्रिया (गवं) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (वाहेण) गाड़ीवान के द्वारा (व विच्छए) चाबुक मारकर (पचोइए) प्रेरित किया हुआ (अबले) दुर्बल (गवं) बैल चल नहीं सकता है । किंतु (से) वह (अप्पथामए) अल्प सामर्थ्यवाला (अबले) दुर्बल बैल, (अंतसो) आखिरकार (नाइवहइ) भार वाहन नहीं कर सकता है अपितु (विसीयइ) कीचड़ आदि में फँसकर क्लेश भोगता है ।

भावार्थ - जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ भी दुर्बल बैल कठिन मार्ग को पार नहीं करता है किन्तु अल्प पराक्रमी तथा दुर्बल होने के कारण वह विषम मार्ग में क्लेश भोगता है, परंतु भार वहन करने में समर्थ नहीं होता है ।

टीका - 'व्याधेन' लुब्धकेन 'जहा व'त्ति यथा 'गव'न्ति मृगादिपशुर्विविधमनेकप्रकारेण कूटपाशादिना क्षतः परवशीकृतः श्रमं वा ग्राहितः प्रणोदितोऽप्यबलो¹ भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदि वा वाहयतीति वाहः शाकटिकस्तेन यथावदवहन् गौर्विविधं प्रतोदादिना क्षतः प्रचोदितोऽप्यबलो विषमपथादौ गन्तुमसमर्थो भवति, 'स चान्तशः' मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नातीव वोढुं शक्नोति, एवम्भूतश्च 'अबलो' भारं वोढुमसमर्थः तत्रैव पङ्कादौ विषीदतीति ॥५॥

टीकार्थ - मृग आदि पशु व्याध के द्वारा कूटपाश आदि अनेक प्रकार से घायल किया हुआ अथवा थकाया हुआ दुर्बल हो जाता है अतः प्रेरणा करने पर भी वह थक जाने के कारण चल नहीं सकता । अथवा वहन करानेवाले को 'वाह' कहते हैं । 'वाह' नाम गाड़ीवान का है । जैसे गाड़ी को ठीक-ठीक वहन नहीं करते हुए बैल को गाड़ीवान, चाबुक मारकर चलने के लिए प्रेरित करता है परंतु दुर्बल होने के कारण वह बैल विषम मार्ग में चल नहीं सकता, वह मरणान्त कष्ट पाकर भी दुर्बल होने के कारण भार को वहन नहीं कर सकता, किन्तु वहीं किचड़ आदि विषम स्थानों में कष्ट भोगता है ॥५॥



- दार्ष्टान्तिकमाह -

- दृष्टान्त बताकर अब सूत्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं कामेसणं विऊ [दू] अज्ज सुए पयहेज्ज [हामि] संथवं ।

कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्धे कण्हुई

॥६॥

छाया - एवं कामेसणायां विद्वान्, अधश्चः प्रजह्यात्संस्तवम् ।

कामी कामाङ्ग कामयेल्लब्धान्वाऽप्यलब्धान् कुतश्चित् ॥

व्याकरण (एवं) अव्यय (कामेसणं) कर्म (विऊ) कामी का विशेषण (अज्जसुए) अव्यय (पयहेज्ज) क्रिया (संथवं) कर्म (कामी) कर्ता (ण) अव्यय (कामए) क्रिया (लद्धे) काम का विशेषण (वावि) अव्यय (अलद्धे) काम का विशेषण (कण्हुई) अव्यय ।

अन्वयार्थ - (एवं) इसी तरह (कामेसणं विऊ) काम के अन्वेषण में निपुण पुरुष (अज्जसुए) आज या कल (संथवं) काम भोग की एषणा को (पयहेज्ज) छोड़ देवे ऐसी चिन्तामात्र करता है परंतु (कामी) कामी पुरुष (कामे) काम की (न कामए) कामना न करे और (लद्धेवावि) और मिले हुए काम भोग को भी (अलद्धे कण्हुई) नहीं मिले के समान जाने ।

भावार्थ - काम भोग के अन्वेषण में निपुण पुरुष, आज या कल काम भोग को छोड़ दे, ऐसी वह चिन्ता मात्र करता है परंतु छोड़ नहीं सकता है । अतः काम भोग की कामना ही नहीं करनी चाहिए और प्राप्त काम भोगों को अप्राप्त की तरह जानकर उनसे निःस्पृह हो जाना चाहिए ।

टीका - 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा² प्रार्थना तस्यां कर्तव्यायां 'विद्वान्' निपुणः कामप्रार्थनासक्तः शब्दादिपङ्के मग्नः स चैवंभूतोऽद्य श्रो वा संस्तवं परिचयं कामसम्बन्धं प्रजह्यात् किलेति, एवमध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते न च तान् कामान्³ अबलो बलीवर्दवत् विषमं मार्गं त्यक्तुमलं, किञ्च- न⁴ चैहिकामुष्मिकापायदर्शितया कामी भूत्वोपनतानपि कामान् शब्दादिविषयान् वैरस्वामिजम्बूनामादिवद्वा कामयेदधि- लषेदिति, तथा क्षुल्लककुमारवत् कुतश्चिन्मितात् "सुदुगाइय" मित्यादिना प्रतिबुद्धो लब्धानपि प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महासत्त्वतया तन्निःस्पृहो भवेदिति ॥६॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से शब्दादि विषयों के अन्वेषण करने में निपुण अर्थात् काम की प्रार्थना में आसक्त पुरुष शब्दादि रूप विषय पंक में फँसकर आज या कल काम के परिचय को छोड़ देवे ऐसा विचार मात्र सदा किया करता है, परंतु दुर्बल बैल जैसे विषम मार्ग को नहीं छोड़ सकता है, उसी तरह वह उन कामों को नहीं छोड़ सकता है । अतः कामी होकर भी इस लोक और परलोक के कष्ट को देखकर मिले हुए शब्दादि विषयों

1. जेण तस्स तर्हि अप्पथामता, अचयंतो खलु सेऽवसीदती । 2. याऽन्वेषणा । 3. बालो, न बलः । 4. नैवै० ।

को वज्रस्वामी और जम्बूस्वामी आदि की तरह इच्छा नहीं करनी चाहिए [अर्थात् उन कामभोगों को छोड़ने की इच्छा करनी चाहिए ।] तथा क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से 'सुदुग्गाइय'- श्लोक के द्वारा प्रतिबोध पाये हुए पुरुष को मिले हुए विषयों को नहीं मिले हुए के समान ही जानकर तथा महासत्त्ववान् बनकर उनसे निःस्पृह हो जाना चाहिए ॥६॥



- किमिति कामपरित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याह -

- काम का परित्याग क्यों करना चाहिए ? यह आशंका कर के सूत्रकार कहते हैं -

मा पच्छ असाधुता^१ भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।

अहियं च असाहु सोयती, से थणति परिदेवती बहं

॥७॥

छाया - मा पश्चादसाधुता भवेदत्येहानुशास्यात्मानम् । अधिकं चासाधुः शोचते स स्तनति परिदेवते बहु ॥

व्याकरण - (मा, पच्छ) अव्यय (असाधुता) कर्ता (अच्चेही, अणुसास) क्रिया (अप्पगं) कर्म (अहियं) क्रिया विशेषण (च) अव्यय (असाहु) कर्ता (सोयती) क्रिया (से) असाधु का विशेषण (थणति, परिदेवती) क्रिया (बहं) क्रिया विशेषण ।

अन्वयार्थ - (पच्छ) पीछे (मा असाधुता भवे) दुर्गति गमन न हो इसलिए (अच्चेही) विषय सेवन से (अप्पगं) अपने आत्मा को पृथक् करो (अणुसास) और उसे शिक्षा दो (असाहु) असाधु पुरुष (अहियं च) अधिक (सोयती) शोक करता है (से, थणति) वह बहुत चिल्लाता है (बहं परिदेवती) और वह बहुत रोता है ।

भावार्थ - मरण काल के पश्चात् दुर्गति न हो इसलिए विषय सेवन से अपने आत्मा को हटा देना चाहिए और उसे शिक्षा देनी चाहिए कि असाधु पुरुष, बहुत शोक करता है, वह चिल्लाता है और रोता है ।

टीका - मा पश्चात् मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गाद् असाधुता कुगतिगमनादिकरूपा भवेत् प्राप्नुयादिति, अतो विषयासङ्गादात्मानम् अत्येहि त्याजय तथा आत्मानं च अनुशाधि आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु यथा- हे जीव ! यो हि असाधुः असाधुकर्मकारी हिंसाऽनृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम् अत्यर्थमेवं शोचति, स च परमा- धार्मिकैः कदर्थ्यमानः तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति सशब्दं निःश्वसिति तथा परिदेवते विलपति आक्रन्दति सुबहिति-

हा मातर्कियत इति त्राता नैवाऽस्ति साम्प्रतं कश्चित् । किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ।

इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति सम्बन्धनीयम् ॥७॥ किञ्च-

टीकार्थ - काम में आसक्त होने के कारण मरण काल में अथवा दूसरे भव में दुर्गति न हो इसलिए विषय सेवन से अपने को अलग हटाना चाहिए तथा अपने आत्मा को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि- "हे जीव! हिंसा, झूठ तथा चोरी आदि असत् कर्म करनेवाला असाधु पुरुष, दुर्गति में जाकर परमाधार्मिकों के द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ बहुत शोक करता है तथा तिर्यञ्च होकर क्षुधा से व्याकूल वह जीव बहुत चिल्लाता है तथा वह बहुत रोता हुआ कहता है कि- 'हे मात ! मैं मर रहा हूँ, मेरा कोई इस समय रक्षक नहीं है । मैंने बड़े पाप किये हैं । मुझ पापी का शरण इस समय कौन हो सकता है ? । इस प्रकार असत्कर्म करनेवाले पुरुष, बहुत दुःख भोगते हैं । इसलिए विषय संसर्ग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार आत्मा को शिक्षा दो ॥७॥



इह जीवियमेव^२ पासहा, ^३तरुणे वाससयस्य तुट्ठती ।

इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु^४ मुच्छिया

॥८॥

१. तवे चू. । २. पस्सथा चू. । ३. तरुणो वाससयस्स तिउट्ठति चू. । ४. चिप्पिता चू. ।

छाया - इह जीवितमेव पश्यत, तरुण एव वर्षशतस्य नृप्यति । इत्वरवासं च बुध्यध्वं, गृह्णन्तः कामेषु मूर्च्छिष्याः ॥

व्याकरण - (इह) अव्यय (जीवितं) कर्म (एव) अव्यय (पासहा) क्रिया मध्यम पुरुष (तरुणे) अधिकरण (वाससयस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (तुष्टी) क्रिया (इत्तरवासे) कर्म (य) अव्यय (गृह्णन्तः) क्रिया (गिह्नन्तः) कर्ता (कामेषु) अधिकरण (मूर्च्छिष्या) नर का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (जीवितमेव) जीवन को ही (पासहा) देखो (वाससयस्स) सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन, (तरुणे) युवावस्था में ही (तुष्टी) नष्ट हो जाता है । (इत्तरवासेव गृह्णन्तः) इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो (गिह्नन्तः) क्षुद्र मनुष्य (कामेषु) काम भोग में (मूर्च्छिष्या) मूर्च्छित होते हैं ।

भावार्थ - हे मनुष्यों ! इस मर्त्यलोक में पहले तो अपने जीवन को ही देखो । कोई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होता है । अतः इस जीवन को थोड़े काल के निवास स्थान के समान समझो । क्षुद्र मनुष्य ही विषय भोग में आसक्त होते हैं ।

टीका - 'इह अस्मिन् संसारे आस्तां तावदन्यज्जीवितमेव सकलसुखास्पदमनित्यताऽऽघ्रातम् आवीचिमरणेन प्रतिक्षणं विशारस्वभावं, तथा- सर्वायुःक्षय एव वा तरुण एव वा युवैव वर्षशतायुरप्युपक्रमतो-ऽध्यवसाननिमित्तादिरूपादायुषः नृप्यति प्रच्यवते, यदिवा साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते नृप्यति तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयं, तथैवंभूतेऽप्यायुषि नराः पुरुषाः लघुप्रकृतयः कामेषु शब्दादिषु विषयेषु गृह्णा अध्युपपन्नाः मूर्च्छिताः तत्रैवाऽऽसक्तचेतसो नरकादियातना-स्थानमाप्नुवन्तीति शेषः ॥८॥ अपि च-

टीकार्थ - इस संसार में और वस्तुओं की तो बात ही क्या है ? समस्त सुखों का स्थान अपने जीवन को ही पहले देखो । यह जीवन, अनित्यता से युक्त है और ¹आवीचि मरण से प्रतिक्षण विनाशी है । समस्त आयु क्षीण होने पर अथवा अध्यवसान² निमित्त स्वरूप उपक्रम के कारण कोई शतायु पुरुष भी युवावस्था में ही मर जाता है । अथवा वर्तमान में इस मर्त्यलोक में अपने यहाँ सब से बड़ी आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, वह भी सौ वर्ष के अन्त में समाप्त ही हो जाती है और वह आयु सागरोपम काल की अपेक्षा कई एक निमेष के समान ही है इसलिए वह थोड़े दिन के निवास के समान है, यह समझो । आयु की ऐसी अवस्था में क्षुद्र अर्थात् लघु प्रकृति के जीव ही शब्दादि विषयों में आसक्त होते हैं और आसक्त होकर नरक आदि यातना स्थान को प्राप्त करते हैं ॥८॥



जे इह आरंभनिस्सिया, आतदंडा (ड) एगंतलूसगा ।

गंता ते पावलोगयं, ³चिररायं आसुरियं दिसं

॥९॥

छाया - य इह आरम्भनिश्चिता, आत्मदण्डा एकावन्तलूपकाः । गन्तारस्ते पापलोककं, चिररात्रमासुरीं दिशम् ॥

1. "आ समंताद्धीचय वीचयः"

आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचि । अथवा वीचिर्विच्छेदस्तदभावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेवंभूतं मरणमावीचिमरणम् । जैसे समुद्र की तरंगें प्रतिक्षण ऊपर आकर नष्ट होती रहती हैं, इसी तरह प्रतिक्षण आयु का नष्ट होना आवीचिमरण कहलाता है । अथवा विच्छेद होना वीचि कहलाता है और विच्छेद न होना अवीचि है अर्थात् जो लगातार होता रहता है, उसे आवीचि कहते हैं । अतः प्रतिक्षण होनेवाले आयु का नाशरूपी मरण को आवीचि मरण कहते हैं । यहाँ प्राकृतत्वात् दीर्घ हुआ है ।

2. (अध्यवसान निमित्त)

"अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानं तस्मादायुर्भिद्यते उपक्रम्यते आयुरतिशयेन हृदयांशरोधात्" अथवा रागस्नेहभयभेदादध्यवसानं त्रिधा तस्मादायुर्भिद्यते । निमित्तं दण्डकशादिकं तत्र च सत्यायुर्भिद्यते ।"

अत्यन्त हर्ष और विषाद के कारण अतिचिन्ता करना अध्यवसान कहलाता है । इसके होने पर आयु नष्ट हो जाती है क्योंकि अतिचिन्ता से हृदय की गति रुक जाती है । अथवा राग-द्वेष और भय के कारण भी अति चिन्ता उत्पन्न होती है और उससे आयु नष्ट हो जाती है । लाठी चाबुक आदि को निमित्त कहते हैं । इनसे भी आयु नष्ट हो जाती है । 3. चिरकालं चू ।

व्याकरण - (इह) अव्यय (जे, आरंभनिस्सिया, आतदंडा, एगंतलूसगा, ते) ये सब अध्याहत नर के विशेषण हैं (पावलोगयं) कर्म (चिररायं) क्रिया विशेषण (आसुरियं दिसं) पापलोक का विशेषण (गंता) नर का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (जे) जो मनुष्य (आरंभनिस्सिया) आरंभ में आसक्त (आतदंडा) आत्मा को दंड देनेवाले (एगंतलूसगा) और एकान्त रूप से प्राणियों के हिंसक हैं (ते) वे (पावलोगयं) पापलोक यानी नरक में (चिररायं) चिरकाल के लिए (गंता) जाते हैं (आसुरियं दिसं) तथा वे असुर सम्बन्धी दिशा को जाते हैं ।

भावार्थ - जो मनुष्य आरंभ में आसक्त तथा आत्मा को दंड देनेवाले और जीवों के हिंसक हैं, वे चिरकाल के लिए नरक आदि पापलोकों में जाते हैं । यदि बाल तपस्या आदि से वे देवता हों तो भी अधम असुरसंज्ञक देवता होते हैं ।

टीका - ये केचन महामोहाकुलितचेतसः इह अस्मिन् मनुष्यलोके आरम्भे हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः, तथैकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः, ते एवंभूताः गन्तारो यास्यन्ति पापं लोकं पापकारिणां यो लोको नरकादिः, चिररात्रम् इति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति, तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधदेवत्वापत्तिः तथापि असुराणामियमासुरी तां दिशं यान्ति अपरप्रेष्याः किल्बिषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः ॥१॥ किञ्च-

टीकार्थ - महा मोह के प्रभाव से जिनका चित्त आकुल है, ऐसे जो लोग इस मनुष्यलोक में सावद्यानुष्ठान रूप हिंसा आदि कार्य्यों में निश्चय रूप से आसक्त हैं तथा आत्मा को दंड देनेवाले और प्राणियों के एकान्त रूप से हिंसक हैं अथवा सत्कर्म के विध्वंसक हैं, वे पापियों के लोक नरक आदि स्थानों में जाते हैं और वे वहाँ चिरकाल तक निवास करते हैं । यदि बाल तपस्या आदि के प्रभाव से वे देवता हों तो भी असुर सम्बन्धी दिशा को ही जाते हैं अर्थात् वे दूसरों के दास भूत अधम किल्बिषी देवता होते हैं ॥१॥



ण य संखयमाहु जीवितं, तहवि य बालजणो पगब्भई ।

पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दडुं परलोयमागते?

॥१०॥

छाया - न च संस्कार्यमाहुर्जीवितं तथापि च बालजनः प्रगल्भते ।

प्रत्युत्पन्नेन कार्य्यं को दृष्ट्वा परलोकमागतः ॥

व्याकरण - (ण, य) अव्यय (जीवितं) कर्म (संखयं) जीवित का विशेषण (आहु) क्रिया (तहवि य) अव्यय (बालजणो) कर्ता (पगब्भई) क्रिया (पच्चुप्पन्नेण) अभेद तृतीयान्त (कारियं) अध्याहत अस्मि क्रिया का कर्ता (को) कर्ता (दडुं) पूर्वकालिक क्रिया (परलोयं) कर्म (आगते) कर्ता का विशेषण ।

अन्वयार्थ - (जीवितं) जीवन को (संखयं) संस्कार करने योग्य (ण य आहु) सर्वज्ञों ने नहीं कहा है (तहवि य) तो भी (बालजणो) मूर्ख जन (पगब्भई) पाप करने में धृष्टता करते हैं । वे कहते हैं कि (पच्चुप्पन्नेण कारियं) मुझ को तो वर्तमान सुख से प्रयोजन है (परलोयं) परलोक को (दडुं) देखकर (को आगते) कौन आया है ।

भावार्थ - सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है कि - "यह जीवन संस्कार करने योग्य नहीं है" तथापि मूर्ख जीव पाप करने में धृष्टता करते हैं । वे कहते हैं कि हम को वर्तमान सुख से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन आया है ? ।

टीका - न च नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्तुं संघातुं शक्यते एवमाहुः सर्वज्ञाः तथाहि -

“दंडकलियं करिन्ता वच्चंति हु राइओ य दिवत्ता य । आउं संवेळ्ळंता गता य ण पुणो नियत्तंति” ॥१॥

तथापि एवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनो अज्ञो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति असदनुष्ठानेनाऽपि न लज्जत इत्यर्थः, स चाज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह - प्रत्युत्पन्नेन वर्तमानकालभाविना परमार्थसता अतीतानागतयोर्विनष्टा-

नुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात् कार्यं प्रयोजनं प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवं च सतीहलोक एव विद्यते न परलोक इति दर्शयति- 'कः परलोकं दृष्ट्वेहायातः तथा चोचुः-

पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते !

नहि मीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलैवरम् ॥१॥

तथा एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः । मदे ! वृकपदं पश्य यद् ^२वदन्यबहुश्रुताः ॥२॥इति॥१०॥

टीकार्थ - सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है कि- "टुटी हुई आयु जोड़ी नहीं जा सकती है, क्योंकि -

दिन और रात्रि दण्ड घड़ी के प्रमाण से आयु को क्षीण करती हुई व्यतीत होती हैं, जो व्यतीत हो जाती हैं, वे फिर लौटकर नहीं आती हैं ।

यद्यपि जीवों की आयु की ऐसी ही व्यवस्था है तथापि अज्ञानी जीव, निर्विवेकी होने के कारण असत्कर्म के अनुष्ठान में धृष्टता के साथ प्रवृत्ति करते हैं । वे असत्कर्म के अनुष्ठान से लज्जित नहीं होते हैं । उन पाप कर्म करनेवालों को पाप कर्म करते हुए देखकर यदि कोई पाप न करने के लिए उपदेश करता है, तो वे मिथ्या पाण्डित्य के अभिमान से यह उत्तर देते हैं कि- "हम को तो वर्तमान काल से प्रयोजन है, क्योंकि वर्तमान काल में होनेवाले पदार्थ ही वस्तुतः सत् है, अतीत और अनागत पदार्थ नहीं । वे तो विनष्ट और अनुत्पन्न होने के कारण अविद्यमान हैं । बुद्धिमान् पुरुष वर्तमान काल के पदार्थों को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं । अतः वे कहते हैं कि - "यह लोक ही वास्तव में सत् है, परलोक में कोई प्रमाण नहीं है । परलोक को कौन देखकर आया है ?" तथा उन्होंने यह श्लोक भी कहा है "पिब" इत्यादि अर्थात्-

हे सुन्दरि ! अच्छे-अच्छे पदार्थ खाओ और पीओ । जो वस्तु बीत गयी है, वह तुम्हारी नहीं है । हे मीरु ! गत वस्तु लौटकर नहीं आती है तथा यह शरीर भी महाभूतों का समुदाय स्वरूप है । तथा हे मदे ! जितना देखने में आता है, उतना ही पुरुष (लोक) है, परन्तु अब लोग जिस तरह मनुष्य के पंजे को पृथिवी पर उखड़े हुए देखकर भेड़ियों के पैर की मिथ्या ही कल्पना करते हैं, उसी तरह मिथ्या ही लोकान्तर की कल्पना करते हैं ॥१०॥



- एवमैहिकसुखाभिलाषिणा परलोकं निह्युवानेन नास्तिकेन अभिहिते प्रत्युत्तरप्रदानायाह -

- इस प्रकार ऐहिक सुख की इच्छा करनेवाले और परलोक को मिथ्या कहनेवाले नास्तिक के कथन का उत्तर देने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अदक्खुव ! दक्खुवाहियं, (तं) सदहसु अदक्खुदंसणा ! ।

हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण^३ कडेण कम्मुणा

॥११॥

छाया - अपश्यवत् । पश्यव्याहृतं श्रद्धस्व अपश्यदर्शन । । गृहाण सुनिरुद्धदर्शनः मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥

व्याकरण - (अदक्खुव ! अदक्खुदंसणा !) ये सम्बोधन हैं (दक्खुवाहियं) कर्म (सदहसु) क्रिया (हंदि) क्रिया (हु) अव्यय (मोहणिज्जेण, कडेण) कर्म के विशेषण (कम्मुणा) हेतु तृतीयान्त (सुनिरुद्धदंसणे) कर्ता ।

अन्वयार्थ - (अदक्खुव) हे अन्धतुल्य पुरुष ! (दक्खुवाहियं) सर्वज्ञ पुरुष से कहे हुए सिद्धान्त में (सदहसु) श्रद्धा करो (अदक्खुदंसणा) हे असर्वज्ञ दर्शनवालो ! (मोहणिज्जेण कडेण) स्वयं किये हुए मोहनीय (कम्मुणा) कर्म से (सुनिरुद्धदंसणे) जिसकी ज्ञान दृष्टि बंद हो गयी है, वह सर्वज्ञोक्त आगम को नहीं मानता है (हंदि हु) यह जानो ।

भावार्थ - हे अन्ध तुल्य पुरुष ! तू सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त में श्रद्धाशील बन । हे असर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार करने वाले जीव ! जिसकी ज्ञान दृष्टि अपने किये हुए मोहनीय कर्म के प्रभाव से बंद हो गयी है । वह सर्वज्ञोक्त आगम को नहीं मानता है, यह समझो ।

टीका - पश्यतीति पश्यो न पश्योऽपश्योऽन्धस्तेन तुल्यः कार्यकार्याविवेचित्वादन्यवत्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यवद्-

अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन कार्याकार्यानिभिज्ञ ! पश्येन-सर्वज्ञेन व्याहतम्-उक्तं सर्वज्ञागमं श्रद्धास्व प्रमाणीकुरु प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हन्त हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्याऽपि व्यवहारस्यासिद्धे-रिति, तथा अपश्यकस्य-असर्वज्ञस्याभ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनस्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वागदर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्याकार्याविवेचितया अन्धवदभविष्यद् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाकरिष्यत्, यदि वा अदक्षो वा अनिपुणो वा दक्षो वा निपुणो वा यादृशस्तादृशो वा अचक्षुर्दर्शनमस्यासावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्त-स्माद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धास्व, इदमुक्तं भवति अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यम् । यदिवा हेऽदृष्ट ! हे अर्वागदर्शन ! द्रष्टुं अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिना यद् व्याहतम् अभिहितम् आगमे तत् श्रद्धास्व हे अदृष्टदर्शन ! अदक्षदर्शन ! इति वा असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमात्र करोति येनैवमुपदिश्यते ? तन्निमित्तमाह- हं दीत्येवं गृहाण हु शब्दो वाक्यालङ्कारे सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमावृतं दर्शनं सम्यगवबोधरूपं यस्य स तथा, केनेत्याह- मोहयतीति मोहनीयं मिथ्यादर्शनादि ज्ञानावरणादिकं वा तेन स्वकृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धते अतः सन्मार्गश्रद्धानम्प्रति चोद्यत इति ॥११॥

टीकार्थ - जो देखता है उसे 'पश्य' कहते हैं और जो नहीं देखता है यानी अंधा है उसे 'अपश्य' कहते हैं । जो पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्य के विचार से शून्य है, वह अन्ध पुरुष के सदृश है, उसी को संबोधन करते हुए कहते हैं कि - "हे अन्ध के समान पुरुष ! एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित पुरुष ! तूं सर्वज्ञ पुरुष के कहे हुए आगम में श्रद्धा रख । एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करने पर समस्त व्यवहार लोप हो जाने से तूं नाश को प्राप्त होगा, क्योंकि एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने पर कौन किसका पिता है ? और कौन किसका पुत्र है ? इत्यादि व्यवहार भी नहीं हो सकता । तथा हे असर्वज्ञ पुरुष के कहे हुए दर्शन को स्वीकार करनेवाले जीव ! प्रथम तो तूं स्वयं अर्वागदर्शी यानी सामने के पदार्थ को देखनेवाला है और उस पर भी एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले दर्शन को स्वीकार करता है, ऐसी दशा में यदि तूं सर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार नहीं करेगा तो कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित होकर अन्ध पुरुष के सदृश हो जायगा । अथवा हे अन्यदर्शनवाले पुरुष ! चाहे तूं अदक्ष यानी अनिपुण है अथवा दक्ष यानी निपुण है, जैसा भी क्यों न है, तुझ को अचक्षुर्दर्शन यानी केवलज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा जो हित की प्राप्ति होती है उसमें श्रद्धा करनी चाहिए, आशय यह है कि निपुण हो अथवा अनिपुण हो, सभी को सर्वज्ञ दर्शनोक्त हित में श्रद्धा रखनी चाहिए । अथवा हे अदृष्ट-अर्वागदर्शिन् ! भूत भविष्यत् व्यवहित और सूक्ष्म पदार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञ पुरुष ने आगम में जो कहा है, उसमें श्रद्धा रखो । अथवा हे अदृष्टदर्शन ! अर्थात् हे असर्वज्ञोक्त दर्शन के अनुयायिन् ! तूं अपने आग्रह को छोड़कर सर्वज्ञोक्त मार्ग में श्रद्धा कर, यह तात्पर्यार्थ है । कहते हैं कि सर्वज्ञोक्त मार्ग में प्राणी क्यों नहीं श्रद्धा करता है जिससे यह उपदेश करते हो ? तो इसका कारण बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'हु' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । जिस पुरुष का दर्शन यानी सम्यग् ज्ञान अत्यंत रुक गया है, उसे निरुद्धदर्शन कहते हैं । किससे उसका ज्ञान रुक गया है ? सो बताते हैं । जीवों को मोहित करनेवाले मिथ्यादर्शन आदि अथवा ज्ञानावरणीय आदि अपने किये कर्म के द्वारा जिसका ज्ञान रुक गया है, वह प्राणी सर्वज्ञोक्त मार्ग में श्रद्धा नहीं करता है । इसलिए शास्त्रकार, सर्वज्ञोक्त मार्ग में श्रद्धा करने की प्रेरणा करते हैं ॥११॥



- पुनरभ्युपदेशान्तरमाह -

- फिर शास्त्रकार दूसरा उपदेश करते हैं -

दुःखी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोग-पूयणं ।

एवं सहितेऽहिपासए^१, ^२आयतुलं पाणेहि संजए

॥१२॥

छाया - दुःखी मोहं पुनः पुनर्निर्विन्देत श्लोकपूजनम् । एवं सहितोऽधिपश्येद् आत्मतुल्यान् प्राणान् संयतः॥

व्याकरण - (दुःखी) कर्ता (मोहे) कर्म (पुणो पुणो) अव्यय, अध्याहृत याति क्रिया (सिलोग-पूयणं) कर्म (निर्विन्देज्ज) क्रिया (एवं) अव्यय (सहिते) संजए का विशेषण (संजए) कर्ता (पाणेहिं) सहार्थतृतीयान्त (आयतुलं) कर्म (अहिपासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (दुःखी) दुःखी जीव (पुणो पुणो) बार-बार (मोहे) अविवेक को प्राप्त करता है (सिलोग-पूयणं) अतः साधु अपनी स्तुति और पूजा (निर्विन्देज्ज) त्याग देवे (एवं) इस प्रकार (सहिते) ज्ञानादि संपन्न (संजए) साधु (पाणेहिं) प्राणियों को (आयतुलं) अपने समान (अहिपासए) देखे ।

भावार्थ - दुःखी जीव, बार-बार मोह को प्राप्त होता है, इसलिए साधु अपनी स्तुति और पूजा को त्याग देवे । इस प्रकार ज्ञानादि संपन्न साधु सब प्राणियों को अपने समान देखे ।

टीका - दुःखम् असातावेदनीयमुदयप्राप्तं तत्कारणं वा, दुःखयतीति दुःखं तदस्याऽस्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनःपुन्येन मोहं याति सदसद्विवेकविकलो भवति । इदमुक्तं भवति- असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नात्तो मूढस्तत्तत्करोति येन पुनः पुनः दुःखी संसारसागरमनन्तमभ्येति, तमेवंभूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय निर्विद्येत जुगुप्सयेत् परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपां तथा पूजनं वस्त्रादिलाभरूपं परिहरेद्, एवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रवर्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिः आत्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्व-सुखाप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्, आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेदिति ॥१२॥ किञ्च-

टीकार्थ - उदय अवस्था को प्राप्त असाता वेदनीय को दुःख कहते हैं अथवा असाता वेदनीय के कारण का नाम दुःख है । जो प्राणी को बुरा लगता है, उसे दुःख कहते हैं । वह दुःख जिसको हो रहा हो उस प्राणी को दुःखी कहते हैं । दुःखी प्राणी बार-बार मोह को प्राप्त होता है । वह बार-बार भले और बुरे के विवेक से रहित होता है । आशय यह है कि असाता वेदनीय के उदय से पीड़ित होकर मूढ़ जीव वह कर्म करता है, जिससे वह बार-बार दुःख को प्राप्त होता है, तथा अनन्त संसार सागर को प्राप्त करता है । अतः विवेकी पुरुष, इस प्रकार के मोह का त्यागकर और सम्यक् उत्थान से उत्थित होकर अपनी स्तुति रूप प्रशंसा तथा वस्त्रादि लाभ रूप पूजन को छोड़ देवे । इस पूर्वोक्त नीति से वर्तता हुआ, अपने कल्याण में प्रवृत्त अथवा ज्ञानादि संपन्न साधु, सुख चाहनेवाले दूसरे प्राणियों को अपने समान ही सुख को प्रिय और दुःख को अप्रिय माननेवाले समझें । आशय यह है कि साधु सभी प्राणियों को अपने समान ही सुख के प्रेमी और दुःख के द्वेषी जानें ॥१२॥



गारंपिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।

समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं

॥१३॥

छाया - अगारमप्यावसन्नर आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः । समतां सर्वत्र सुव्रतो देवानां गच्छेत्सलोकम् ॥

व्याकरण - (गारं) कर्म (पिअ) अव्यय (आवसे) नर का विशेषण (नरे) कर्ता (अणुपुव्वं) क्रिया विशेषण (पाणेहिं) अधिकरण (संजए) नर का विशेषण (सुव्वते) नर का विशेषण (सव्वत्थ) अव्यय (देवाणं) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (स लोगयं) कर्म ।

अन्वयार्थ - (गारं पिअ) घर में भी (आवसे) निवास करता हुआ (नरे) मनुष्य (अणुपुव्वं) क्रमशः (पाणेहिं संजए) प्राणि हिंसा से निवृत्त होकर (सव्वत्थ) सब प्राणियों में (समता) समभाव रखता हुआ (स) वह (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (देवाणं) देवताओं के (स लोगयं) लोक को (गच्छे) जाता है ।

भावार्थ - जो पुरुष गृह में निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावक धर्म को प्राप्त करके प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होता है तथा सर्वत्र समभाव रखता है । वह सुव्रत पुरुष देवताओं के लोक में जाता है ।

टीका - अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः अनुपूर्वमिति आनुपूर्व्या ^१श्रवणधर्मप्रति-पत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः संयतः तदुपमर्दान्निवृत्तः, किमिति ? यतः समता समभावः

आत्मपर-तुल्यता सर्वत्र यतौ गृहस्थे च यदि वैकेन्द्रियादौ श्रूयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने, तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति ॥१३॥ अपि च-

टीकार्थ - जो पुरुष गृह में निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावक धर्म को अङ्गीकार करके यथाशक्ति प्राणियोंकी हिंसा से निवृत्त रहता है तथा यति, गृहस्थ, अथवा आर्हत् प्रवचनोक्त एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियों में सम भाव रखता है अर्थात् अपने समान ही अन्य प्राणी को भी जानता है, वह सुव्रत पुरुष गृहस्थ होकर भी इन्द्रादि देवताओं के लोक में जाता है फिर जो पञ्चमहाव्रतधारी महापराक्रमी साधु हैं, उनकी तो बात ही क्या है ? ॥१३॥



सोच्चा भगवानुसासणं सच्चे तत्थ ^१करेज्जुवक्कमं ।

सव्वत्थ विणीयमच्छरे उच्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे

॥१४॥

छाया - श्रुत्वा भगवदनुशासनं, सत्ये तत्र कुर्यादुपक्रमम् । सर्वत्र विनीतमत्सरः, उच्छं भिक्षुर्विशुद्धमाहरेत् ॥

व्याकरण - (सोच्चा) पूर्व कालिक क्रिया (भगवानुसासणं) कर्म (सच्चे तत्थ) अधिकरण (उवक्कमं) कर्म (करेज्ज) क्रिया । (सव्वत्थ) अव्यय (विणीयमच्छरे) भिक्षु का विशेषण (भिक्खु) कर्ता (उच्छं) कर्म (विसुद्धं) कर्म का विशेषण (आहरे) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (भगवानुसासणं) भगवान् के अनुशासन यानी आगम को (सोच्चा) सुनकर (सच्चे) उस आगम में कहे हुए सत्य (तत्थ) संयम में (उवक्कमं) उद्योग (करेज्ज) करे (सव्वत्थ) सर्वत्र (विणीयमच्छरे) मत्सर रहित होकर (भिक्खु) साधु (विसुद्धं) शुद्ध (उच्छं) भिक्षा (आहरे) लावे ।

भावार्थ - भगवान् के आगम को सुनकर उसमें कहे हुए सत्य संयम में उद्योग करना चाहिए । किसी के ऊपर मत्सर (ईर्ष्या) नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार वर्तते हुए साधु को शुद्ध आहार लाना चाहिए ।

टीका - ज्ञानैश्वर्यादिगुणसमन्वितस्य भगवतः-सर्वज्ञस्य शासनम्-आज्ञामागमं वा श्रुत्वा अधिगम्य तत्र तस्मिन्नागमे तदुक्ते वा संयमे सद्भ्यो हिते सत्ये लघुकर्मा तदुपक्रमं-तत्प्राप्त्युपायं कुर्यात्, किंभूतः ? सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रं (वा) स्तूपघिशरीरनिष्पिपासः, तथा उज्छन्ति भैक्ष्यं विशुद्धं द्विचत्वारिंशदोष-रहितमाहारं गृहीयादध्यवहरेद्वेति ॥१४॥ किञ्च-

टीकार्थ - ज्ञान और ऐश्वर्य आदि गुणों से समन्वित भगवान् सर्वज्ञ के आगम या आज्ञा को सुनकर लघुकर्मा पुरुष सज्जनों के हितकर उस आगम या आगमोक्त संयम की प्राप्ति का उपाय करे । कैसा होकर उपाय करे ? सभी पदार्थों में मत्सर रहित तथा क्षेत्र, गृह, उपधि और शरीर आदि में तृष्णा रहित तथा सब पदार्थों में राग-द्वेष शून्य होकर उपाय करे । एवं ४२ प्रकार के दोषों से वर्जित आहार को साधु लेवे या खावे ॥१४॥



सव्वं नच्चा अहिट्टए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।

गुत्ते जुत्ते सदाजए, आयपरे परमायतट्ठिते

॥१५॥

छाया - सर्वं ह्यात्वाऽधितिष्ठेत्, धर्माध्युपधानवीर्यः । गुप्तो युक्तः सदा यतेतात्मपरयोः परमायतस्थितः ॥

व्याकरण - (सव्वं) कर्म (नच्चा) पूर्व कालिक क्रिया (अहिट्टए) क्रिया (धम्मट्ठी, उवहाणवीरिए, गुत्ते, जुत्ते, आयपरे, परमायतट्ठिते) अध्याहृत पुरुष के विशेषण (सदा) अव्यय (जए) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सव्वं) सब पदार्थों को (नच्चा) जानकर साधु (अहिट्टए) सर्वज्ञोक्त संवर का आश्रय लेवे (धम्मट्ठी) धर्म का प्रयोजन रखे (उवहाणवीरिए) तप में अपना पराक्रम प्रकट करे (गुत्ते जुत्ते) मन, वचन और काय से गुप्त रहे (सदा) सर्वदा (आयपरे) अपने और दूसरे के विषय में (जए) यत्न करे (परमायतट्ठिते) और मोक्ष के लिए अभिलाष करे ।

भावार्थ - साधु, सब वस्तुओं को जानकर सर्वज्ञोक्त संवर का आश्रय लेवे । तथा वह धर्म को प्रयोजन समझता

हुआ, तप में पराक्रम प्रकट करे। एवं मन, वचन और काया से गुप्त रहकर साधु सदा अपने और दूसरे के विषय में यत्न करे। इस प्रकार वर्तता हुआ साधु मोक्ष का अभिलाषी बने।

टीका - सर्वमेतद्व्येयमुपादेयं च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वसंवररूपम् अधितिष्ठेत् आश्रयेत्, धर्मेणार्थो धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी-धर्मप्रयोजनवान्, उपधानं तपस्तत्र वीर्यं यस्य स तथा अनिगूहितबलवीर्यं इत्यर्थः, तथा मनोवाक्कायगुप्तः, सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः, तथा युक्तो ज्ञानादिभिः सदा सर्वकालं यतेताऽऽत्मनि परस्मिंश्च। किंविशिष्टः सन्? अत आह- परम उत्कृष्ट आयतो दीर्घः सर्वकालभवनामोक्षः तेनार्थिकः तदभिलाषी पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥१५॥

टीकार्थ - साधु हेय और उपादेय को जानकर सर्व संवर रूप सर्वज्ञोक्त मार्ग को ही ग्रहण करे। तथा वह धर्म को ही अपना प्रयोजन समझे अथवा वह धर्म को ही एकमात्र पदार्थ समझे, क्योंकि वस्तुतः धर्म से भिन्न सभी अनर्थ हैं। उपधान नाम तप का है, उसमें साधु अपने पराक्रम को न्यून न करे। तथा मन, वचन और काया से वह गुप्त रहे अर्थात् वह सुप्रणिहितयोग होकर रहे। साधु ज्ञानादि से युक्त होकर सर्वदा अपने और पर के विषय में यत्नवान् रहे। कैसा होकर वह ऐसा करे? यह कहते हैं - जो सब से दीर्घ है उसे 'परमायत' कहते हैं। जो सब काल में स्थित रहता है, वह परमायत है। ऐसे मोक्ष की सदा अभिलाषा करता हुआ साधु पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त होकर रहे ॥१५॥



- पुनरप्युपदेशान्तरमाह -

- फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देने के लिए कहते हैं -

वित्तं पसवो य ^१नाइओ, ^२तं बाले सरणं ति मन्नइ।

एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई

॥१६॥

छाया - वित्तं पशवश्च ज्ञातयस्तद् बालः शरणमिति मन्यते। एते मम तेष्वप्यहं, नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥

व्याकरण - (वित्तं, पसवो नाइओ) अध्याहृत संति क्रिया का कर्ता (तं) वित्त आदि का परामर्शक सर्वनाम, कर्म (बाले) कर्ता (सरणं) कर्म का विशेषण (त्ति) अव्यय (मन्नइ) क्रिया (एते) पूर्वोक्त वित्त आदि का परामर्शक सर्वनाम (मम) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (तेसु) अधिकरण (अहं) कर्ता (ताणं सरणं) वित्तादि के विशेषण (विज्जई) क्रिया।

अन्वयार्थ - (बाले) अज्ञानी जीव (वित्तं) धन (य) और (पसवो) पशु (नाइओ) तथा ज्ञाति (तं) इन्हें (सरणं ति) अपना शरण (मन्नइ) मानता है। (एते) ये (मम) मेरे हैं (तेसु वी अहं) और मैं इनका हूँ (नो ताणं) वस्तुतः ये सब त्राण (सरणं) और शरण (न विज्जई) नहीं हैं।

भावार्थ - अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञाति वर्ग को अपना रक्षक मानता है, वह समझता है कि ये सब मुझ को दुःख से बचावेंगे और मैं इनकी रक्षा करूंगा परंतु वस्तुतः वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते।

टीका - 'वित्तं' धनधान्यहिरण्यादि, 'पशवः' कर्षितुरगगोमहिष्यादयो, ज्ञातयः स्वजनाः मातापितृपुत्रकलत्रादयः, तदेतद्वित्तादिकं बालः अज्ञः शरणं मन्यते, तदेव दर्शयति-ममैते वित्तपशुज्ञातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते, तेषु चार्जनपालन-संरक्षणादिना शेषोपद्रवनिराकरणद्वारेणाहं भवामीत्येवं बालो मन्यते, न पुनर्जानीते यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वत-मिति। अपि च -

“रिद्धी सहावतरला रोगजराभंगुरं हयसरीरं। दोण्हं पि गमणशीलाण किच्चिरं होज्ज संबंधो?”

तथा -

“मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। प्रतिजन्मनि वर्तन्ते कस्य माता पिताऽपि वा?”

१. नातओ चू। २. बालजणो चू। ३. ऋद्धिः स्वभावतरला रोगजराभङ्गुरं हतकं शरीरम्। द्वयोरपि गमनशीलयोः कियच्चिरं भवेत्संबन्धः?

एतदेवाह - नो नैव वित्तादिकं संसारे कथमपि त्राणं भवति नरकादौ पततो, नाऽपि रागादिनोपद्रुतस्य क्वचिच्छरणं विद्यत इति ॥१६॥

टीकार्थ - धन, धान्य और हिरण्य आदि को 'वित्त' कहते हैं। हाथी, घोड़ा, गाय, बैस आदि को पशु कहते हैं। माता, पिता, पुत्र और स्त्री आदि स्वजन वर्ग को 'ज्ञाति' कहते हैं। इन धन आदि पदार्थों को अज्ञानी जीव अपना शरण मानता है। वही दिखाते हैं - अज्ञानी जीव यह मानता है कि - 'ये धन, पशु और ज्ञाति वर्ग मेरे परिभोग के लिए उपयोगी होंगे और मैं इनका उपार्जन और पालन के द्वारा समस्त उपद्रवों का निराकरण करूँगा' वस्तुतः जिस शरीर के लिए धन की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशी है, यह वह मूर्ख नहीं जानता है। विद्वानों ने कहा है कि -

ऋद्धि र्वभाव से ही चञ्चल है और यह शरीर रोग और वृद्धत्य से नष्ट है। इन दोनों गमनशील पदार्थों का सम्बन्ध कब तक रह सकता है ?

तथा माता पिता हजारों हुए और पुत्र तथा कलत्र भी सैकड़ों हुए। ये तो प्रत्येक जन्म में होते हैं। वस्तुतः कौन माता है और कौन पिता है ?

यही सूत्रकार कहते हैं- नरक में गिरते हुए प्राणी की ये पिता आदि किसी प्रकार भी रक्षा नहीं कर सकते। जो पुरुष राग आदि से युक्त है, उसके लिए कहीं भी शरण नहीं है ॥१६॥



- एतदेवाह -

- इसी बात को सूत्रकार कहते हैं -

अब्भागमितंमि^१ वा दुहे,^२अहवा उक्कमिते भवन्ति।

एगस्स गती य आगती, विदुमन्ता सरणं ण मन्नई

॥१७॥

छाया - अभ्यागते वा दुःखे, स्थवोत्क्रान्ते भवान्तिके। एकस्य गतिश्चागतिः विद्वान् शरणं न मन्यते ॥

व्याकरण - (अब्भागमितंमि) दुःख का विशेषण (वा) अव्यय (अहवा) अव्यय (दुहे, उक्कमिते, भवन्ति) भावलक्षणसप्तम्यन्त पद (एगस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (गती आगती) कर्ता (विदुमन्ता) कर्ता (सरणं) कर्म (मन्नई) क्रिया।

अन्वयार्थ - (अब्भागमितंमि दुहे) दुःख आने पर (अहवा) अथवा (उक्कमिते) उपक्रम के कारणों से आयु नाश होने पर (भवन्ति) अथवा मृत्यु उपस्थित होने पर (एगस्स) अकेले का ही (गती य) जाना (आगती) आना होता है (विदुमन्ता) अतः विद्वान् पुरुष (सरणं) धन आदि को अपना शरण (ण मन्नई) नहीं मानते हैं।

भावार्थ - जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दुःख आता है, तब यह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणों से आयु नष्ट होने पर अथवा मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक में जाता है, इसलिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नहीं मानते हैं।

टीका - पूर्वोपात्तासातावेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति, न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित् क्रियते। तथा च -

“सयणरुत्तवि मज्झमाओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो। सयणो वि य से रोगं न विरुचइ नेव नास्सेइ॥१॥”

अथवा उपक्रमकारणैरूपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवासुमतो गतिरागतिश्च भवति, विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते कुतः सर्वात्मना त्राणमिति तथा हि -

“एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभाः भवावर्तं। तरुमादाकालिकहितमेकैवात्मनः कार्यम्॥१॥”

१. गमियसि चू. २. अहवोवक्कमिते भवन्तए चू. ३. स्वजनस्यापि मध्यगतो रोगाभिहतः क्लिश्यति इहेकः। स्वजनोऽपि च तस्य रोगं न विरेचयति (हसयति) नैव नाशयति ॥१॥

“एकौ करेइ कम्मं फलमपि तस्सिक्कओ समणुहवइ ।

एक्को जायइ मरइ य परलोयं एक्कओ जाइ?॥२॥”॥१७॥ अन्यच्च-

टीकार्थ - पूर्वजन्म में उपार्जन किये हुए असाता वेदनीय के उदय से जब जीव के ऊपर दुःख आता है तब वह अकेला ही उसे भोगता है । उस समय धन अथवा ज्ञाति वर्ग कुछ भी उसकी सहायता नहीं कर सकते हैं । अत एव कहा है कि - “सयणस्सवि”

अर्थात् रोग से पीड़ित जीव अपने स्वजन वर्ग के मध्य में रहकर भी अकेला दुःख भोगता है । स्वजन वर्ग उसके उस रोग को न तो घटा सकते हैं और नहीं नाश कर सकते हैं ।

अथवा उपक्रम के कारणों से जब प्राणी की आयु नष्ट हो जाती है तथा उसकी अवधि पूरी होने पर जब वह पूर्ण हो जाती है अथवा जब मरण काल उपस्थित हो जाता है, तब अकेला ही वह प्राणी परलोक में जाता है और वहाँ से इस लोक में फिर अकेला ही आता है । उस समय उसका कोई भी साथी नहीं होता है, इसलिए विवेकी पुरुष, जो संसार के यथावस्थित स्वभाव को जानता है, वह धनादि को थोड़ा भी अपना रक्षक नहीं मानता है, फिर सम्पूर्ण रूप से मानने की तो बात ही क्या है ? कहा भी है - “एकस्य”

अर्थात् इस जगत में जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है । तथा इस संसार चक्र में वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है, इसलिए मरण पर्यन्त अकेला ही जीव को अपना हित सम्पादन करना चाहिए ।

तथा “एक्को” जीव अकेला कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है । अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है । वह अकेला ही परलोक में जाता है ॥१७॥



सब्बे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।

हिंडन्ति भयाउला सढा, ^१जाइजरामरणेहिऽभिदुता

॥१८॥

छाया - सर्वे स्वकर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः । हिण्डन्ति भयाकुलाः शठाः जातिजरामरणैरभिदुताः ॥

व्याकरण - (सयकम्मकप्पिया) प्राणी का विशेषण (जाइजरामरणेहि) अभिद्रवण क्रिया का कर्ता (अभिदुता) प्राणी का विशेषण (भयाउला, सढा) प्राणी के विशेषण (पाणिणो) कर्ता (अवियत्तेण दुहेण) इत्यंभूतलक्षण तृतीयान्त (हिंडन्ति) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (सब्बे पाणिणो) सब प्राणी (सयकम्मकप्पिया) अपने-अपने कर्म से नाना अवस्थाओं से युक्त हैं (अवियत्तेण दुहेण) और सब अलक्षित दुःख से दुःखी हैं (जाइजरामरणेहि) जन्म, जरा और मरण से (अभिदुता) पीड़ित (भयाउला) और भय से आकुल (सढा) शठ जीव (हिंडन्ति) बार-बार संसार चक्र में भ्रमण करते हैं ।

भावार्थ - सब प्राणी, अपने-अपने कर्मानुसार नाना अवस्थाओं से युक्त हैं और सब अलक्षित दुःख से दुःखी हैं । तथा जन्म, जरा-मरण से पीड़ित भयाकुल वे शठ प्राणी, बार-बार संसार चक्र में भ्रमण करते हैं ।

टीका - सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकैकेन्द्रियादिभेदेन व्यवस्थिताः, तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायाम् अव्यक्तेन अपरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्वभावेनोपलक्षणार्थत्वात् प्रव्यक्तेन च दुःखेन असातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्ति-अरहट्टघटीयन्नन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति, जातिजरामरणैरभिदुता गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति ॥१८॥ किञ्च-

टीकार्थ - दूसरी बात यह है कि संसार के उदर रूपी विवर में निवास करनेवाले सब प्राणी संसार में पर्यटन करते हुए अपने किये हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्म के प्रभाव से सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, और एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं । वे प्राणी इन अवस्थाओं में शिर का शूल आदि अलक्षित दुःखों से दुःखी होते

हैं। यहाँ अलक्षित दुःख उपलक्षण है इसलिए वे असातावेदनीय स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होनेवाले दुःखों से भी दुःखी होते हैं। वे अरहट यन्त्र की तरह बार-बार उन्हीं योनियों में जाते-आते रहते हैं। वे शठ पुरुषों का कर्म करते हैं, इसलिए शठ हैं। वे बार-बार भय-भीत होते रहते हैं। वे जन्म, जरा तथा मरण से पीड़ित रहते हैं। वे, बार-बार गर्भावास को प्राप्त करते हुए संसार में भ्रमण करते रहते हैं ॥१८॥



१इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहितं ।

एवं सहिएऽहिपासए^२, आह जिणो इणमेव सेसगा

॥१९॥

छाया - इममेव क्षणं विज्ञाय नो सुलभं बोधिं च आख्यातम् । एवं सहितोऽधिपश्येद् आह जिन् इदमेव शेषकाः ॥

व्याकरण - (इणं) क्षण का विशेषण (एव) अव्यय (खणं) कर्म (वियाणिया) पूर्व कालिक क्रिया (आहितं, सुलभं) बोधि का विशेषण (बोहिं) कर्म (एवं) अव्यय (सहिए) अध्याहृत पुरुष का विशेषण (अहिपासए) क्रिया (सेसगा) जिन का विशेषण (जिणो) कर्ता (इणं) कर्म (एव) अव्यय (आह) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (इणमेव) यही (खणं) अवसर है (बोहिं च) ज्ञान भी (णो सुलभं) सुलभ नहीं है (आहियं) ऐसा कहा है (वियाणिया) इस बात को जानकर (सहिए) ज्ञानादि संपन्न मुनि (एवं) ऐसा (अहिपासए) विचारे (जिणो) श्री ऋषभ जिनेश्वर ने (आह) यह कहा है (सेसगा) और शेष तीर्थकरों ने भी (इणमेव) यही कहा है ।

भावार्थ - ज्ञानादि संपन्न मुनि यह विचारे कि मोक्ष साधन का यही अवसर है और सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है कि बोध प्राप्त करना सुलभ नहीं है । आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों से यह उपदेश किया था और दूसरे तीर्थकरों ने भी यही कहा है ।

टीका - इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं क्षणम् अवसरं ज्ञात्वा तदुचितं विधेयं, तथाहि- द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणं कालोऽप्यवसर्पिणी-चतुर्थारकादिः धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहित-विरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः, तदेवंविधं क्षणम् अवसरं परिज्ञाय तथा बोधिं च सम्यग्दर्शनावासिलक्षणां नो सुलभामिति, एवमाख्यातमवगम्य तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेषः, अकृतधर्माणां पुनर्दुर्लभा बोधिः, तथाहि -

“लब्धेऽल्लियं च बोहिं अकरंती अणागयं च पत्थंती । अन्नं दाइ बोहिं लब्धिं कयरेण मील्लेणं? ॥१९॥”

तदेवमुत्कृष्टोऽपार्थपुद्गलपरावर्तप्रमाणकालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदुर्लभत्वं पर्यालोचयेत्, पाठान्तरं वा अहियासएति, परीषहानुदीर्णान् सम्यग् अधिसेहत, एतच्चाह जिनो रागद्वेषजेता नाभेयोऽष्टापदे स्वान् सुतानुद्दिश्य, तथाऽन्येऽपि इदमेव शेषकाः जिना अभिहितवन्त इति ॥१९॥

टीकार्थ - ‘इदम्’ शब्द प्रत्यक्ष और समीप का वाचक है, इसलिए इस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को मोक्ष साधन का अवसर जानकर मनुष्य को उसके उचित कार्य करने चाहिए । उनमें जंगम होना, पञ्चेन्द्रिय होना तथा उत्तम कुल में उत्पत्ति और मनुष्यता यह तो द्रव्य है । तथा साढ़े पच्चीस जनपद स्वरूप यह आर्य देश क्षेत्र है । एवं अवसर्पिणी और चौथा आरा इत्यादि धर्म प्राप्ति के योग्य काल है । तथा धर्म, श्रवण और उसमें श्रद्धान एवं चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विरति को स्वीकार करने में उत्साह रूप भाव अनुकूल अवसर है । ऐसे अवसर को हस्तगत जानकर तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सुलभ नहीं है, यह शास्त्र का कथन जानकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर उसके अनुरूप ही कार्य करना चाहिए । जिन्होंने धर्माचरण नहीं किया है, उनको बोध प्राप्त करना सुलभ नहीं है क्योंकि -

“प्राप्तं ज्ञानं के अनुसार कार्य नहीं करते हुए और अनागत ज्ञान की प्रार्थना करते हुए तुम कौनसा मूल्य देकर दूसरे ज्ञान की प्राप्ति करोगी ?”

1. इणमो य चू. । 2. पस्सिया चू. । 3. लब्धां च बोधिमकुर्वन् अनागतां च प्रार्थयमानः । अन्यां तदा बोधिं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन ? ॥१९॥

यह विद्वानों ने कहा है, इसलिए ज्ञानादि संपन्न पुरुष को यह सोचना चाहिए कि उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तकाल तक फिर बोध प्राप्त करना दुर्लभ है। बोध की दुर्लभता का मुनि सदा ध्यान रखें। यहाँ "अहियासए" यह पाठान्तर भी पाया जाता है, इसका अर्थ यह है कि- साधु, उत्पन्न परीषहों को अच्छी तरह सहन करे। यह सिद्धांत, राग-द्वेष को जीतनेवाले नाभिपुत्र श्री ऋषभदेवजी ने अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रों से कहा था। तथा दूसरे जिनेश्वरों ने भी यही कहा है ॥१९॥



- एतदाह -

- फिर सूत्रकार यही कहते हैं -

अभविंसु पुरावि ^१भिक्षुवो आएसावि ^२भवन्ति सुव्वता ।

एयाइ गुणाइ आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो

॥२०॥

छाया - अभूवन् पुराऽपि भिक्षवः । आगामिन्श्च भविष्यन्ति सुव्रताः ।

एतान् गुणान् आहुस्ते काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

व्याकरण - (पुरा) (अवि) अव्यय (भिक्षुवो) कर्ता (अभविंसु) क्रिया (आएसा) सुव्रत का विशेषण (सुव्वता) कर्ता (अवि) अव्यय (भवन्ति) क्रिया (कासवस्स) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त पद (अणुधम्मचारिणो) कर्ता (एयाइ) गुण का विशेषण (गुणाइ) कर्म (आहु) क्रिया ।

अन्वयार्थ - (भिक्षुवो) हे साधुओं ! (पुरावि) पूर्वकाल में (अभविंसु) जो सर्वज्ञ हो चुके हैं और (आएसावि) भविष्य काल में (भवन्ति) जो होंगे (ते सुव्वता) उन सुव्रत पुरुषों ने (एयाइ गुणाइ आहु) इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधन (आहु) कहा है (कासवस्स अणुधम्मचारिणो) तथा भगवान् ऋषभदेवजी और भगवान् महावीर स्वामी के अनुयायियों ने भी यही कहा है ।

भावार्थ - जो तीर्थंकर पहले हो चुके हैं और जो भविष्य काल में होंगे, उन सभी सुव्रत पुरुषों ने तथा भगवान् ऋषभदेव स्वामी और भगवान् महावीर स्वामी के अनुयायियों ने भी इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधक बताया है ।

टीका - हे भिक्षवः साधवः ! सर्वज्ञः स्वशिष्यानेवमामन्त्रयति येऽभूवन् अतिक्रान्ताः जिनाः सर्वज्ञाः आएसाविति, आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति तान् विशिनष्टि-सुव्रताः शोभनव्रताः अनेनेदमुक्तं भवति तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति ते सर्वेऽप्येतान् अनन्तरोदितान् गुणान् आहुः अभिहितवन्तः, नाऽत्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति । ते च काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति । अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति ॥२०॥

टीकार्थ - सर्वज्ञ पुरुष, अपने शिष्यों को संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे भिक्षुओं ! जो सर्वज्ञ पूर्व काल में हो चुके हैं और भविष्य काल में जो सर्वज्ञ होंगे, वे सभी पुरुष सुव्रत हैं। भाव यह है कि उन पुरुषों को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, वह उत्तम व्रत को पालन करने से ही हुई थी। उन सर्वज्ञ पुरुषों ने पूर्वोक्त गुणों को ही मोक्ष का साधन कहा है। इस विषय में सर्वज्ञ पुरुषों का कोई मतभेद नहीं है, यह आशय है। वे सभी सर्वज्ञ काश्यपगोत्री श्री ऋषभदेव स्वामी और भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा आचरण किये हुए धर्म का ही आचरण करनेवाले थे। इससे यह बताया जाता है कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं ॥२०॥



- अभिहितांश्च गुणानुदेशत आह -

- पूर्वोक्त गुणों का सूत्रकार अब नाम बताते हैं -

तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे ।

१. भिक्षुवो । चू. । २. भविंसु ।

एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे

॥२१॥

छाया - त्रिविधेनाऽपि प्राणान् माह्व्यादात्महितोऽनिदानसंवृतः ।

एवं सिद्धा अनन्तशः संप्रति ये चान्तागता अपरे ॥

व्याकरण - (तिविहेण) करण तृतीयान्त (अवि) अव्यय (पाण) कर्म (मा) अव्यय (हणे) क्रिया (आयहिते) (अणियाण संवुडे) आक्षिप्त मुनि का विशेषण (एवं) अव्यय (अणंतसो) अव्यय (सिद्धा) कर्ता (संपइ) अव्यय (जे) (अवरे) (अणागय) ये भी अध्याहृत मुनि के विशेषण ।

अन्वयार्थ - (तिविहेण वि) मन, वचन और काया इन तीनों से (पाण मा हणे) प्राणियों को न मारना चाहिए (आयहिते) अपने हित में प्रवृत्त (अणियाणसंवुडे) और स्वर्गादि की इच्छा रहित गुप्त रहना चाहिए (एवं) इस प्रकार (अणंतसो) अनन्त जीव (सिद्धा) सिद्ध हुए हैं, तथा (संपइ जे य अवरे अणागया) वर्तमान काल में और भविष्य में भी दूसरे अनन्त जीव सिद्धि को प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ - मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए । अपने हित में प्रवृत्त और स्वर्गादि की इच्छा रहित होकर संयम पालन करना चाहिए । इस प्रकार अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है तथा वर्तमान समय में प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे ।

टीका - त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन यदि वा कृतकारितानुमतिभिर्वा प्राणिनो दशविधप्राणभाजो मा हन्यादिति प्रथममिदं महाव्रतम् अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् एवं शेषाण्यपि द्रष्टव्यानि, तथा आत्मने हित आत्महितः तथा नाऽस्य स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणं निदानमस्तीत्यनिदानः, तथेन्द्रियनोऽन्द्रियैर्मनोवाक्कायैर्वा संवृतस्त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थः, एवम्भूतश्चाऽवश्यं सिद्धिमवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति- एवम् अनन्तरोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ताः सिद्धा अशेषकर्मक्षयभाजः संवृत्ताः विशिष्टस्थानभाजो वा, तथा सम्प्रति वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्ये सिद्ध्यन्ति, अपरे वा अनागते काले एतन्मार्गानुष्ठायिन एव सेत्स्यन्ति, नापरः सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थः ॥२१॥

टीकार्थ - तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काया से अथवा करना कराना, और अनुमोदन इन तीन करणों से दश प्रकार के प्राणों को धारण करनेवाले प्राणियों को नहीं मारना चाहिए । यह पहला महाव्रत है । यह उपलक्षण है, इसलिए शेष महाव्रतों को भी समझना चाहिए । तथा अपने हित में प्रवृत्त होकर स्वर्गादि प्राप्ति की अभिलाषा से वर्जित रहते हुए, इन्द्रिय नो इन्द्रिय तथा मन, वचन और काया इन तीन गुप्तियों से गुप्त रहना चाहिए। जो पुरुष इस प्रकार रहता है, वह अवश्य सिद्धि को प्राप्त करता है, यह दिखाने के लिए कहते हैं- पूर्वोक्त मार्ग का अनुष्ठान करके अनन्त पुरुषों ने अपने समस्त कर्मों को क्षय करके सिद्धि को प्राप्त किया है । अथवा विशिष्ट स्थान को प्राप्त किया है । तथा वर्तमान काल में भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्र में पूर्वोक्त उपाय से ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं । एवं भविष्य काल में इस पूर्वोक्त मार्ग का अनुष्ठान करके ही अनन्त जीव सिद्धि को प्राप्त करेंगे । इससे भिन्न कोई दूसरा सिद्धि का मार्ग नहीं है ॥२१॥



- एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्यः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्याह -

- यह श्री सुधर्मास्वामी, श्री जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्य वर्ग के प्रति कहते हैं, यह बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे

अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए

॥२२॥ त्ति बेमि।

इति वेयालियनामा द्वितीयाज्झयणं समत्तं (गाथाग्रम्-१७४)

छाया - एवं स उदाहृतवाञ्छनुत्तरह्णान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरह्णानदर्शनधरो ऽहं ह्यातपुत्रो भगवान् वैशालिक आख्यातवानिति ब्रवीमि ॥

व्याकरण - (एवं) अव्यय (से) श्री ऋषभदेव स्वामी का परामर्शक सर्वनाम (उदाहु) क्रिया (अणुत्तरनाणी) (अणुत्तरदंसी) (अणुत्तरनाण-दंसणधरे) (अरहा) (नायपुत्ते) (भगवं) ये सब श्री महावीर स्वामी के विशेषण हैं । (वेसालिए) अधिकरण (वियाहिए) क्रिया।

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (से) भगवान् ऋषभदेवजी ने (उदाहु) कहा था (अणुत्तरनाणी) उत्तम ज्ञानवाले (अणुत्तरदंसी) उत्तम दर्शनवाले (अणुत्तरणाणदंसण धरे) उत्तम ज्ञान और दर्शन के धारक (अरहा) इन्द्रादि देवों के पूजनीय (नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (भगवं) ऐश्वर्यादिगुण युक्त श्रीवर्धमान स्वामी ने (वेसालिए) विशाला नगरी में (आहिए) कहा था (त्तिबेमि) सो मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - उत्तमज्ञानी उत्तम दर्शनी तथा उत्तम ज्ञान और दर्शन के धारक इन्द्रादि देवों के पूजनीय ज्ञात पुत्र भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने विशाला नगरी में यह हम लोगों से कहा था अथवा ऋषभदेव स्वामी ने अपने पुत्रों से यह कहा था, सो मैं आपसे कहता हूँ । यह श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्य वर्ग से कहते हैं ।

टीका - 'एवं से' इत्यादि, एवम् उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या स ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान्, प्रतिपादितवान् । नाऽस्योत्तरं प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानं तदस्याऽस्तीत्यनुत्तरज्ञानी स तथाऽनुत्तरदर्शी, सामान्यविशेषपरिच्छेदकावबोधस्वभाव इति, बौद्धमतनिरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह- अनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति, कथञ्चिद्विज्ञानदर्शनाधार इत्यर्थः । अहंन् सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमानस्वामी ऋषभस्वामी वा भगवान् ऐश्वर्यादिगुणयुक्तो विशाल्यां नगर्यां वर्द्धमानोऽस्माकमाख्यातवान् ऋषभस्वामी वा विशालकुलोद्भवत्वाद्वैशालिकः तथा चोक्तम्-

“विशाला जन्नी यस्य, विशालं कुलमेव वा । विशालं, वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ।”

एवमसौ जिन आख्यातेति । इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थो, ब्रवीमीति उक्तार्थो, नयाः पूर्ववदिति ॥२२॥

॥ तृतीय उद्देशकः समाप्तः तत्समाप्तौ च समाप्तं द्वितीयं वैतालीयमध्ययनम् ॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त तीन उद्देशको में जो बात कही गयी है, वह श्री भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने अपने पुत्रों के लिए कही थी । जिससे उत्तम दूसरा नहीं है, उसे अनुत्तर कहते हैं । जो ज्ञान, सर्वोत्तम है, उसे अनुत्तरज्ञान कहते हैं । वह अनुत्तर ज्ञान भगवान् का था, इसलिए भगवान् अनुत्तर ज्ञानी थे । तथा भगवान् अनुत्तरदर्शी थे । वह सामान्य और विशेष को प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है तत्स्वभावी थे । अब बौद्ध मत का खण्डनपूर्वक ज्ञान का आधार रूप जीव को दिखाने के लिए कहते हैं कि भगवान् अपने से कथंचित् भिन्न जो ज्ञान और दर्शन हैं, उनका आधार थे, इन्द्रादि देवों के पूजनीय ज्ञातपुत्र श्री वर्धमान स्वामी अथवा श्री ऋषभदेव स्वामी हैं, विशाला माता के पुत्र ऐश्वर्यादि गुणयुक्त श्री वर्धमान स्वामी ने हम लोगों से यह कहा था । अथवा विशाल कुल में उत्पन्न होने के कारण श्री ऋषभदेवजी को यहाँ वैशालिक कहा है । अत एव विद्वानों ने कहा है कि -

अर्थात् श्री महावीर स्वामी की माता विशाला थी, और कुल भी विशाल था । तथा उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिए वे वैशालिक जिन कहलाते हैं ।

इस प्रकार उस जिनेश्वर ने कहा है । इति शब्द समाप्त्यर्थक है । 'ब्रवीमि' का अर्थ कह दिया है । नय भी पूर्व के समान ही हैं ।

दूसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशा पूर्ण हुआ । दूसरा वैतालिय नामका अध्ययन भी संपूर्ण हुआ ।

चूर्णि में, एक प्रत में अंतिम गाथा के बाद एक गाथा और दी है । इसे यहाँ दी है ।

इति कम्मवियालमुत्तमं, जिणवीरेण सुदेसियं सया ।

जे आचरंति आहियं खवितरया वइहिति ते सिवं गतिं ॥

॥ ति बेमि ॥

वहाँ लिखा है एक प्रत में गति शब्द नहीं है ।



॥ अथ तृतीयोपसर्गाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारम्भ्यते ॥

उक्तं द्वितीयमध्ययनम् अधुना तृतीयमारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः - इहानन्तरं स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तथा परसमयदोषान् स्वसमयगुणैश्च परिज्ञाय स्वसमये बोधो विधेय इत्येतच्चाभिहितं, तस्य च प्रतिबुद्धस्य सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य सतः कदाचिदनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रादुर्भवेयुः, ते चोदीर्णाः सम्यक् सोढव्या इत्येतदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, ततोऽनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा' इत्यादिना प्रथमाध्ययने प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र स्वयमेव निर्युक्तिकारः प्रतिपादयिष्यतीति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह -

अब तीसरा उपसर्ग अध्ययन का प्रथम उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है । दूसरा अध्ययन कहा जा चुका अब तीसरा आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है - पूर्व के अध्ययनों में - (प्रथम अध्ययन में) स्वसमय और परसमय की प्ररूपणा की गयी है तथा (द्वितीय अध्ययन में) पर समय के दोष और अपने समय के गुणों को जानकर स्वसमय का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, यह कहा गया है । इस प्रकार सम्यग् उत्थान से उत्थित पुरुष को यदि कदाचित् अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित हों तो वह पुरुष उन उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करे यह बात इस तीसरे अध्ययन के द्वारा बतायी जाती है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के चार अनुयोगद्वार होते हैं - इनमें उपक्रम में अर्थाधिकार दो प्रकार का होता है, अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार । इनमें अध्ययनार्थाधिकार को प्रथम अध्ययन की प्रस्तावना में 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा' इत्यादि गाथा के द्वारा निर्युक्तिकार ने बतला दिया है और उद्देशार्थाधिकार को स्वयमेव निर्युक्तिकार आगे चलकर बतलावेंगे । अब निर्युक्तिकार नामनिष्पन्न निक्षेप के विषय में कहते हैं -

उवसग्गमि य छक्कं, दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं । आगन्तुगो य पीलाकरो य जो सो उवसग्गो ॥४५॥ नि०

टीका - नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति 'द्रव्ये' द्रव्यविषये उपसर्गो द्वेधा, यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ-चेतनाचेतनभेदाद् द्विविधं, तत्र तिर्यङ्मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः, स एव काष्ठादिनेतरः । तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति, तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडोत्पादनमित्यादिपर्यायाः भेदाश्च तिर्यङ्मनुष्योपसर्गादयः नामादयश्च, तत्त्वव्याख्यां तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चाद्धेन दर्शयति-अपरस्माद् दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति, स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति ।

क्षेत्रोपसर्गानाह-

खेतं बहुओघपयं, कालो एगन्त दूसमादीओ । भावे कम्मब्भुदओ,¹ सो दुविहो ओधुवक्कमिओ ॥४६॥ नि०

यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः-सामान्येन पदानि-क्रूरचौराद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति तत् क्षेत्रं बह्वोघपदं, पाठान्तरं वा 'बह्वोघभयं' बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा, तच्च लाढादिविषयादिकं क्षेत्रमिति, कालस्त्वेकान्तदुष्पमादिः, आदिग्रहणाद् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति, कर्मणां-ज्ञानावरणीयादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति । स चोपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औधिकौपक्रमिकभेदाद् द्वेधा, तत्रौधिकोऽशुभप्रकृतिजनितो भावोपसर्गो भवति, औपक्रमिकस्तु दण्डकशाशस्त्रादिनाऽसातावेदनीयोदयापादक इति ।

तत्रौधिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह -

१उक्त्वमिओ संजमविग्धकरे^२, तत्थुक्कमे पगयं । दव्वे चउव्विहो देवमणुयतिरियायसंवेतो ॥४७॥ नि०

उपक्रमणमुपक्रमः, कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः, एतच्च यद्द्रव्योपयोगाद् येन वा द्रव्येणासाता-वेदनीयाद्यशुभं कर्मोदीर्यते, यदुदयाच्चाल्पसत्त्वस्य संयमविधातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविधातकारीति, इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवात्राधिक्रियत इति दर्शयति - तत्र औधिकौपक्रमिकयोरौपक्रमिकेन प्रकृतं प्रस्तावः तेनात्राधिकार इति यावत्, स च द्रव्ये द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति, तद्यथा- दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति ।

साम्प्रतमेतेषामेव भेदमाह -

एक्केक्को य चउव्विहो अट्ठविहो वावि सोलसविहो वा ।

घटण जयणा य तेसिं एतो वोच्छं अहि (ही) यारं (रा)

॥४८॥ नि०

एकैको दिव्यादिः 'चतुर्विधः' चतुर्भेदः, तत्र दिव्यस्तावद् हास्यात् प्रद्वेषाद् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति, मानुषा अपि हास्यतः प्रद्वेषाद्विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनातश्च, तैरश्चा अपि चतुर्विधाः तद्यथा भयाद् प्रद्वेषाद् आहारादपत्यसंरक्षणात्, आत्मसंवेदनाश्चतुर्विधाः, तद्यथा - घट्टनातो लेशनातः-अङ्गुल्याद्यवयवसंश्लेषरूपायाः स्तम्भनातः प्रपाताच्चेति, यदि वा, वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजनितश्चतुर्धेति, स एव दिव्यादिश्चतुर्विधोऽनुकूलप्रतिकूलभेदाद् अष्टधा भवति । स एव दिव्यादिः प्रत्येकं यश्चतुर्धा प्राग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्कानां मेलापकात् षोडशभेदो भवति तेषां चोपसर्गाणां यथा घटना-सम्बन्धः प्राप्तिः प्राप्तानां चाधिसहनं प्रति यतना भवति तथाऽत ऊर्ध्वमध्ययनेन वक्ष्यते इत्ययमत्रार्थाधिकार इति भावः ॥४८॥

उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह -

पढमंमि य पडिलोमा हुंती अणुलोमगा य बितीयमि^१ । तइए अज्झतविसीहणं च परयादिवयणं च ॥४९॥नि०
हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समयपडिएहिं णिउणेहिं । सीलखलितपण्णवणा, कया चउत्थमि उद्देसे ॥५०॥ नि०

प्रथमे उद्देशके प्रतिलोमाः प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्त इति, तथा द्वितीये 'ज्ञातिकृताः' स्वजनापादिता अनुलोमा-अनुकूला इति, तथा तृतीये अध्यात्मविषीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाधिकार इति, चतुर्थोद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा हेतुसदृशैः हेत्वाभासैर्येऽन्यतीर्थिकैर्व्युद्ग्राहिताः - प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां व्यामोहितानां प्रज्ञापना - यथावस्थितार्थप्ररूपणा स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति ॥४९-५०॥

टीकार्थ - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से उपसर्ग छः प्रकार के होते हैं । इनमें अत्यन्त अभ्यास में आने के कारण नाम और स्थापना को छोड़कर, द्रव्य उपसर्ग को निर्युक्तिकार दर्शाते हैं - द्रव्य के विषय में उपसर्ग दो प्रकार का होता है, क्योंकि उपसर्ग उत्पन्न करनेवाले द्रव्य चेतन और अचेतन दो प्रकार के होते हैं। इनमें चेतन प्राणी तिर्यञ्च और मनुष्य अपने अङ्गों का घात करके जो उपसर्ग उत्पन्न करते हैं, वह सचित्त द्रव्य का किया हुआ उपसर्ग है । तथा काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यों के द्वारा किया हुआ अपने अङ्गों का घात आदि अचित्त द्रव्योपसर्ग है । वस्तु का स्वरूप बताकर तथा उसका भेद कहकर एवं उसके पर्यायों का निर्देश करके वस्तु की व्याख्या की जाती है, अतः उपताप, शरीरपीडोत्पादन (शरीर में पीडा उत्पन्न करना) इत्यादि उपसर्ग के पर्याय हैं। एवं तिर्यञ्च का उपसर्ग और मनुष्यादिकृत उपसर्ग तथा उन उपसर्गों के नाम आदि उपसर्ग के भेद हैं । उपसर्ग के स्वरूप की व्याख्या तो निर्युक्तिकार इस गाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा स्वयमेव बता रहे हैं - जो किसी देवता आदि दूसरे पदार्थों से आता है, वह उपसर्ग कहलाता है । वह उपसर्ग देह को अथवा संयम को पीडा देता है ॥४५॥

अब निर्युक्तिकार क्षेत्र उपसर्ग को बतलाते हैं -

जिस क्षेत्र में क्रूर जीव तथा चोर आदि के होनेवाले समूह रूप से बहुत से उपसर्ग के स्थान होते हैं, उस

क्षेत्र को 'बह्वोघपद' कहते हैं। यहां 'बह्वोघमय' यह पाठान्तर भी मिलता है इसके अनुसार जिस क्षेत्र में समूह रूप से बहुत से भय के स्थान होते हैं, उसको 'बह्वोघमय' कहते हैं। ऐसे क्षेत्र लाढ़ आदि के देश वगैरह हैं। जिस काल में एकान्त रूप से दुःख ही होता है, वह दुष्पम आदि काल कालोपसर्ग हैं। यहां आदि पद के ग्रहण से जो वस्तु जिस क्षेत्र में दुःख की उत्पत्ति करती है, उस ग्रीष्मादि वस्तु का भी क्षेत्रोपसर्ग में ग्रहण करना चाहिए। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उदय होना भावोपसर्ग है। पूर्वोक्त सभी उपसर्ग, औधिक और औपक्रमिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें अशुभ कर्मप्रकृति से उत्पन्न भावोपसर्ग को औधिक उपसर्ग कहते हैं। तथा डंडा, चाबूक और शस्त्र आदि के द्वारा दुःख की उत्पत्ति करनेवाला उपसर्ग औपक्रमिक कहलाता है ॥४६॥

औधिक और औपक्रमिक उपसर्गों में से अब निर्युक्तिकार औपक्रमिक उपसर्ग के विषय में उपदेश करते हैं।

किसी बात के आरम्भ का नाम उपक्रम है। जो कर्म उदय को प्राप्त नहीं है, उसका उदय होना उपक्रम शब्द का अर्थ है। जिस द्रव्य के उपयोग करने से अथवा जिस वस्तु के द्वारा असातावेदनीय आदि अशुभ कर्म का उदय होता है और जिसके उदय होने से अल्प पराक्रमी जीव के संयम का विनाश होता है। उस द्रव्य के द्वारा उपसर्ग को औपक्रमिक उपसर्ग कहते हैं। यह संयम का विनाश करनेवाला है।

इस जगत में मोक्षप्राप्ति के लिए प्रवृत्त मुनियों का संयम ही मोक्ष का कारण है, अतः उस संयम के विघ्न के जो कारण हैं, वही इस अध्ययन में बताये जाते हैं, यह निर्युक्तिकार दिखलाते हैं। औधिक और औपक्रमिक उपसर्गों में से यहां औपक्रमिक उपसर्ग का वर्णन है। वह औपक्रमिक उपसर्ग द्रव्य के विषय में चार प्रकार का होता है जैसे कि देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और आत्मसंवेदन। अब इन्हीं का भेद बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं ॥४७॥

दिव्य आदि उपसर्ग प्रत्येक चार प्रकार के होते हैं। इनमें दिव्य उपसर्ग, हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए तथा नाना प्रकार के कारणों से होता है। तथा मनुष्यकृत उपसर्ग भी हास्य से, द्वेष से, परीक्षा के लिए और कुशील सेवन से होते हैं। एवं तिर्यञ्च कृत उपसर्ग भी चार प्रकार के होते हैं। जैसे कि भय के कारण, द्वेष के कारण, आहार करने के लिए तथा अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए। आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग भी चार प्रकार के हैं, जैसे कि - नेत्र आदि अङ्गों को रगड़ने से तथा अङ्गुलि आदि अङ्गों के सड़ जाने से एवं स्तम्भित होने से (खून की गति रुक जाने से) तथा गिर जाने से। अथवा वात, पित्त, कफ और इनके समूह से उत्पन्न चतुर्विध उपसर्ग आत्मसंवेदन कहलाते हैं। पूर्वोक्त दिव्य आदि चतुर्विध उपसर्ग ही अनुकूल और प्रतिकूल भेद से आठ प्रकार के हैं। वे दिव्य आदि उपसर्ग जो प्रत्येक चार-चार प्रकार के पहले दिखाये जा चुके हैं, उन चारों के चारों भेदों को परस्पर मिला देने से सोलह भेद होते हैं। इन उपसर्गों की जिस प्रकार प्राप्ति होती है और प्राप्त हुए इन उपसर्गों के सहन करने में जो पीड़ा होती है, सो इसके आगे इस अध्ययन के द्वारा कहा जायगा यही यहां अर्थाधिकार है ॥४८॥ अब उद्देशक के अर्थाधिकार के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं -

प्रथम उद्देशक में प्रतिलोम अर्थात् प्रतिकूल उपसर्गों का कथन किया है। तथा द्वितीय उद्देशक में अपने सम्बन्धी लोगों के द्वारा किये हुए अनुकूल उपसर्गों का वर्णन है। एवं तीसरे उद्देशक में चित्त को दुःखित करनेवाले परित्तिर्थियों के वचन बताये गये हैं। यह अर्थाधिकार है ॥४९॥

चतुर्थ उद्देशक में अर्थाधिकार यह है -

अन्य तीर्थियों ने हेतु समान प्रतीत होनेवाले परन्तु असदहेतुस्वरूप अपने वाक्यों से जिन लोगों को विपरीत अर्थ ग्रहण कराकर धोखा दिया है, उन शीलभ्रष्ट तथा मोहितचित्त पुरुषों को स्वसिद्धान्तप्रसिद्ध उत्तम युक्तिसङ्गत हेतुओं के द्वारा यथार्थ स्वरूप का उपदेश किया गया है ॥५०॥



साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिए । वह सूत्र यह है -

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।

जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं

॥१॥

छाया - शूरं मन्व्यत आत्मानं यावज्जैतारं न पश्यति । युध्यन्तं दृढधर्माणं शिशुपाल इव महारथम् ॥

अन्वयार्थ - (जाव) जब तक (जेयं) विजेता पुरुष को (न पस्सती) नहीं देखता है तबतक कायर (अप्पाण) अपने को (सूरं) शूर (मण्णइ) मानता है । (जुज्झंतं) युद्ध करते हुए (महारहं) महारथी (दढधम्माणं) दृढधर्मवाले - कृष्ण को देखकर (सिसुपालो व) जैसे शिशुपाल क्षोभ को प्राप्त हुआ था ।

भावार्थ - कायर पुरुष भी तब तक अपने को शूर मानता है, जब तक वह विजेता पुरुष को नहीं देखता है, परंतु उसे देखकर वह क्षोभ को प्राप्त होता है, जैसे शिशुपाल अपने को शूर मानता हुआ भी युद्ध करते हुए महारथी दृढ धर्मवाले श्रीकृष्ण को देखकर क्षोभ को प्राप्त हुआ था ।

टीका - कश्चिल्लघुप्रकृतिः सङ्ग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते - निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति, तद्यथा - न मत्कल्पः परानीके कश्चित् सुभटोऽस्तीति, एवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति, तथा चोक्तम् -

तावद्गजः प्रस्रुतदानगण्डः, कटोत्थकाताम्बुदगर्जितानि ।

यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु, लाङ्गुलविस्फोटस्त्वं शृणोति ॥१॥

न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह - यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राग् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान्, पश्चाच्च युध्यमानं - शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः - समर्थो धर्मः-स्वभावः सङ्ग्रामभङ्गरूपो यस्य स तथा तं, महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं गतः, एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्- 'वासुदेवसुसाँ सुओ दमघोसणराहिवेण मदीए । जाओ चउब्भुओऽब्भुयबलकलिओ कलहपत्तट्ठो ॥१॥ दट्ठूण तओ जणणी चउब्भुयं पुत्तमब्भुयमणगघं । भयहरिसविम्हयमुही पुच्छइ णेमित्तिं सहसा ॥२॥ णेमित्तिण मुणिऊण साहियं तीइ हट्ठहिययाए । जह एस तुब्भ पुत्तो महाबलो दुज्जओ समरे ॥३॥ एयस्स य जं दट्ठूणं होइ साभावियं भुयाजुयलं होही तओ चिय भयं सुतस्स ते णत्थि सन्देहो ॥४॥ सावि भयवेविर्गं पुत्तं दंसेइ जाव कणहस्स । तावच्चिय तस्स ठियं पयइत्थं वरभुयाजुयलं ॥५॥ तो कणहस्स पिउच्छपुत्तं पाडेइ पायपीढंमि । अवराहखामणत्थं सोवि सयं से खमिस्सामि ॥६॥ सिसुपालो वि हु जुव्वणमएण नारायणं असब्भेहिं । वयणेहिं भणइ सोविहु खमइ खमाए समत्थोवि ॥७॥ अवराहसए पुण्णे वारिज्जन्तो ण चिट्ठई जाहे । कणहेण तओ छिन्नं चक्रेणं उत्तमज्जं से ॥८॥

टीकार्थ - कोई तुच्छ स्वभाववाला मनुष्य, युद्ध उपस्थित होने पर अपने को शूर मानता हुआ बिना पानी के मेघ की तरह वचन से खूब गर्जता है । वह कहता है कि, शत्रु के दल में मेरे समान कोई भी सुभट नहीं है, परंतु वह तभी तक गर्जता है, जब तक तलवार उठाए हुए विजेता पुरुष को अपने आगे स्थित नहीं देखता

1. वासुदेवस्वसुः सुतो दमघोषनराधिपेन माद्याः । जातवतुर्भुजोऽद्भुतबलकलितः प्राप्तकलहार्थः ॥१॥ दृष्ट्वा ततो जननी चतुर्भुजं पुत्रमद्भुतमनर्घम् । भयहर्षवेपिताङ्गी पृच्छति नैमित्तिकं सहसा ॥२॥ नैमित्तिकेन मुणित्वा साधितं तस्यै हृष्टहृदयायै । यथैष तव पुत्रो महाबलो दुर्जयः समरे ॥३॥ एतस्य च यं दृष्ट्वा भवेत् स्वाभाविकं भुजयुगलम् । भविष्यति तत एव भयं सुतस्य ते नास्ति सन्देहः ॥४॥ साऽपि भयवेपिराङ्गी पुत्रं दर्शयति यावत्कृष्णाय । तावदेव तस्य स्थितं प्रकृतिस्थं वरभुजयुगलम् ॥५॥ ततः कृष्णस्य पितृष्वसा पुत्रं पातयति पादपीठे । अपराधक्षामणार्थं सोऽपि शतं तस्य क्षमिष्ये ॥६॥ शिशुपालोऽपि यौवनमदेन नारायणमसम्भ्यैः । वचनैर्भणति सोऽपि च क्षमते क्षमया समर्थोऽपि ॥७॥ अपराधशते पूर्णे वार्यमाणोऽपि न तिष्ठति यदा । कृष्णेन ततश्छिन्नं चक्रेणोत्तमाङ्गं तस्य ॥८॥

हैं। विद्वानों ने कहा है कि, जिसका कपोलस्थल, मद जल से भीगा हुआ है, वह हाथी अकाल मेघ के समान तभी तक गर्जता है, जब तक वह गूफा भूमि में सिंह के लांगूल फटकारने का शब्द नहीं सुनता। दृष्टान्त के बिना लोगों को प्रायः अर्थज्ञान नहीं होता, इसलिए दृष्टान्त कहते हैं - जैसे माद्री का बेटा शिशुपाल, श्री कृष्ण को देखने के पूर्व अपनी प्रशंसा करता हुआ खूब गर्जता था परंतु जब उसने शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए, युद्ध में दृढ़ स्वभाववाले अर्थात् जो संग्राम में कभी भंग को प्राप्त नहीं होते थे। ऐसे महारथी, प्रकरणानुसार नारायण को देखकर क्षोभ को प्राप्त हुआ था। यद्यपि वह पहले खूब अपनी प्रशंसा करता था, तथापि उस समय क्षोभ को प्राप्त हुआ। इसी तरह आगे बताए जाने वाले दृष्टान्त में भी इस दृष्टान्त का सम्बन्ध मिला लेना चाहिए।

इसका भावार्थ कथाभाग से जानना चाहिए वह यह है - वसुदेव की बहिन के गर्भ से दमघोष राजा का पुत्र शिशुपाल उत्पन्न हुआ। वह चार भुजावाला तथा अद्भुत पराक्रमी और कलहकारी था। उसकी माता ने अपने पुत्र को चार भुजावाला, अद्भुत बलशाली देखकर हर्ष तथा भय से कम्पित होकर उसका फल पूछने के लिए ज्योतिषी को बुलाया। ज्योतिषी ने सोच विचारकर प्रसन्न हृदया माद्री से कहा कि, यह तुम्हारा पुत्र बड़ा बलवान् और समर में अजेय होगा। परन्तु जिसको देखकर तुम्हारे पुत्र की बाहें स्वभावानुसार दो ही रह जाय उसी पुरुष से इसको भय होगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। यह सुनकर माद्री ने भयभीत होकर अपने पुत्र को कृष्ण को दिखाया। ज्यों ही कृष्ण ने उस पुत्र को देखा त्यों ही उसकी भुजायें दो रह गयी जैसे मनुष्य मात्र की होती हैं। इसके पश्चात् कृष्ण की फूफी (बूआ) ने अपने पुत्र को कृष्ण के चरण पर गिराकर प्रार्थना की कि, "यह यदि अपराध भी करे तो तू उसे क्षमा करना", कृष्ण ने भी उसके सौ अपराध क्षमा करने की प्रतिज्ञा की। इसके पश्चात् शिशुपाल जब युवावस्था को प्राप्त हुआ तब वह यौवनमद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गाली देने लगा। श्रीकृष्ण यद्यपि उसको दण्ड देने में समर्थ थे तथापि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसके अपराधों को सहन करते रहे। जब शिशुपाल के सौ अपराध पूरे हो गये तब श्रीकृष्ण ने उसे बहुत मना किया परन्तु वह मना करने पर भी नहीं माना तब श्रीकृष्ण ने चक्र के द्वारा उसका शिर काट लिया ॥१॥



साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह -

अब सर्वजनप्रसिद्ध वर्तमानकाल का दृष्टान्त देते हैं -

पयाता सूरारणसीसे, संगाममि उवडिते ।

माया पुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए

॥२॥

छाया - प्रयाताः शूरा रणशीर्षे सङ्ग्राम उपस्थिते । माता पुत्रं न जानाति जेत्रा परिविक्षतः ॥

अन्वयार्थ - (संगाममि) युद्ध (उवडिते) छिड़ने पर (रणसीसे) युद्ध के अग्रभाग में (पयाता) गया हुआ (सूरा) वीराभिमानी पुरुष, (माया) माता (पुत्तं) अपने पुत्र को (न याणाइ) गोद से गिरता हुआ नहीं जानती है, ऐसे व्यग्रताजनक युद्ध में (जेएण) विजेता पुरुष के द्वारा (परिविच्छए) छेदन भेदन किया हुआ दीन हो जाता है।

भावार्थ - युद्ध छिड़ने पर वीराभिमानी कायर पुरुष भी युद्ध के आगे जाता है, परंतु धीरता को नष्ट करनेवाला युद्ध जब आरंभ होता है और घबराहट के कारण जिस युद्ध में माता अपने गोद से गिरते हुए पुत्र को भी नहीं जानती है, तब वह पुरुष विजयी पुरुष के द्वारा छेदन - भेदन किया हुआ दीन हो जाता है।

टीका - 'पयाता' इत्यादि, यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकर्षेण विकटपादपातं 'रणशिरसि' सङ्ग्राममूर्धन्यग्रानीके याता-गताः, के ते ? - 'शूराः' शूरमन्याः - सुभटाः, ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसङ्घाते सति तत्र च सर्वस्याकुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो ब्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्तीत्येवं मातापुत्रीये सङ्ग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा चक्रकुन्तनाराचशक्त्यादिभिः परिः - समन्तात् विविधम् - अनेकप्रकारं क्षतो- हतश्छिन्नो वा यथा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीतियावदिति ॥२॥

टीकार्थ - वचन के द्वारा अपनी प्रशंसा-पूर्वक गर्जते हुए तथा वेग से विकट चाल चलते हुए अपने आप को शूर माननेवाले कई पुरुष, युद्ध के अग्रभाग में चले तो जाते हैं परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और सामने आते हुए शत्रुदल के वीर पुरुष जब शस्त्र और अस्त्र की वर्षा करने लगते हैं, उस समय सभी भयभीत हो जाते हैं। यहां तक कि माता अपने गोद से गिरते हुए पुत्र को भी स्मरण नहीं करती हैं। इस प्रकार मातापुत्रीय सङ्ग्राम में शत्रुदल के सुभट पुरुषों के द्वारा चक्र, कुन्त, नाराच और शक्ति आदि द्वारा नाना प्रकार से क्षत - विक्षत किया हुआ वह अल्पपराक्रमी पुरुष दीन हो जाता है ॥२॥



दार्ष्टान्तिकमाह -

दृष्टान्त कहकर अब दार्ष्टान्त बताते हैं -

एवं सेहेवि अप्पुट्टे, भिक्खायरियाअकोविए ।

सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए

॥३॥

छाया - एवं शिष्योऽप्यस्पृष्टो भिक्षाचर्याऽकोविदः । शूरं मव्यत आत्मानं यावद्रूक्षं न सेवते ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इसी तरह (भिक्खायरियाअकोविए) भिक्षाचरी में अनिपुण (अप्पुट्टे) और परीषहों का स्पर्श नहीं पाया हुआ (सेहेवि) अभिनव प्रव्रजित शिष्य भी (अप्पाणं) अपने को (सूरं) तब तक शूर (मण्णति) मानता है (जाव) जब तक वह (लूहं) संयम का (न सेवए) सेवन नहीं करता है ।

भावार्थ - जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रु-वीरों से घायल नहीं किया जाता तभी तक अपने को वीर मानता है इसी तरह भिक्षाचरी में अनिपुण तथा परीषहों के द्वारा स्पर्श नहीं किया हुआ अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है जब तक वह संयम का सेवन नहीं करता है ।

टीका - 'एवं' मिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः यथाऽसौ शूरमन्य उत्कृष्टसिंहनादपूर्वकं सङ्ग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति, एवं 'शैक्षकः' अभिनवप्रव्रजितः परीषहैः 'अस्पृष्टः' अच्छुसः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् 'भिक्षाचर्यायां' भिक्षाटने 'अकोविदः' अनिपुणः, उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रापि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः, स एवम्भूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव 'रूक्षं' संयमं कर्मसंश्लेषकारणाभावात् 'न सेवते' न भजत इति, तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ॥३॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'एवं' शब्द प्रस्तुत अर्थ को सूचित करने के लिए आया है । जैसे अपने को शूर मानने वाला वह पुरुष उत्कृष्ट सिंहनाद पूर्वक सङ्ग्राम के अग्र भाग में चला जाता है परन्तु वहां वह युद्ध करते हुए वासुदेव या अन्य किसी वीरपुरुष को देखकर दीन हो जाता है । इसी तरह परीषहों का स्पर्श नहीं पाया हुआ और भिक्षाचरी तथा दूसरे साधु के आचारों में नूतन प्रव्रजित होने के कारण अनिपुण अभिनव प्रव्रजित साधु, 'प्रव्रज्या पालन करने में क्या दुष्कर है' ? इस प्रकार गर्जता है । वह शिशुपाल की तरह अपने को तभी तक शूर मानता है, जब तक वह विजयी पुरुष की तरह संयम का सेवन नहीं करता है । यहां संयम को रूक्ष इसलिए कहा है कि उसमें कर्म नहीं चिपकते हैं । उस रूक्ष संयम की प्राप्ति होने पर बहुत से गुरुकर्मी अल्प पराक्रमी जीव भङ्ग को प्राप्त होते हैं ॥३॥



संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह -

संयम रूक्ष है यह बताने के लिए कहते हैं -

जया हेमंतमासंमि, सीतं फुसइ सव्वगं ।

तत्थ मंदा विसीयन्ति, रज्जहीणा व खत्तिया

॥४॥

छाया - यदा हेमन्तमासे शीतं स्पृशति सर्वाङ्गम् । तत्र मन्दा विषीदन्ति राज्यहीणा इव क्षत्रियाः ॥

अन्वयार्थ - (जया) जब (हेमन्तमासमि) हेमन्तऋतु के मास में (सीतं) शीत (सर्वगं) सर्वाङ्ग को (फुसड़) स्पर्श करती है (तत्थ) तब (मंदा) मूर्ख पुरुष (रज्जहीणा) राज्यभ्रष्ट (खत्तिया व) क्षत्रिय की तरह (विसीयन्ति) विषाद का अनुभव करते हैं ।

भावार्थ - जब हेमन्त ऋतु के मासों में शीत, सब अंगों को स्पर्श करती है, उस समय मूर्ख जीव राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय की तरह विषाद अनुभव करते हैं ।

टीका - 'जया हेमन्ते' इत्यादि 'यदा' कदाचित् 'हेमन्तमासे' पौषादौ 'शीतं' सहिमकणवातं 'स्पृशति' लगति 'तत्र' तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके 'मंदा' जडा गुरुकर्माणो 'विषीदन्ति' दैन्यभावमुपयान्ति 'राज्यहीना' राज्यच्युताः यथा - क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥

टीकार्थ - जब कभी हेमन्तऋतु के पौष आदि मास में हिम के कणों से युक्त वायु के साथ शीत लगने लगती है । उस समय असह्य शीत के स्पर्श से कई मूर्ख गुरुकर्मी पुरुष इस प्रकार विषाद अनुभव करते हैं, जैसे राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय राजा विषाद का अनुभव करता है ॥४॥



उष्णपरीषहमधिकृत्याह -

अब उष्ण परीषह के विषय में कहते हैं -

पुट्टे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।

तत्थ मंदा विसीयन्ति, मच्छा अप्पोदए जहा

॥५॥

छाया - स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन विमनाःसुपिपासितः । तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्या अल्पोदके यथा ।

अन्वयार्थ - (गिम्हाहितावेणं) ग्रीष्म ऋतु के अभिताप गर्मी से (पुट्टे) स्पर्श पाया हुआ (विमणे) उदास (सुपिवासिए) और प्यास से युक्त होकर पुरुष दीन हो जाता है (तत्थ) इस प्रकार उष्ण परीषह प्राप्त होने पर (मंदा) मूर्ख पुरुष (विसीयन्ति) इस प्रकार विषाद का अनुभव करते हैं (जहा) जैसे (मच्छा) मछली (अप्पोदए) थोड़े जल में विषाद अनुभव करती है ।

भावार्थ - ज्येष्ठ, आषाढ मासों में जब भयंकर गर्मी पड़ने लगती है । उस समय उस गर्मी से पीड़ित और प्यासा हुआ नवदीक्षित साधु उदास हो जाता है । उस समय अल्पशक्ति मूढ़ - पुरुष इस प्रकार विषाद अनुभव करता है, जैसे थोड़े जल में मछली विषाद अनुभव करती है ।

टीका - 'ग्रीष्मे' ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन 'स्पृष्टः' छुसो व्यासः सन् 'विमनाः' विमनस्कः, सुष्ठु पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्ते नितरां तृडभिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति- 'तत्र' तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये 'मन्दा' जडा अशक्ता 'विषीदन्ति' यथा पराभङ्गमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह - मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति, गमनाभावान्मरणमुपयान्ति, एवं सत्त्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति, इदमुक्तं भवति - यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तसा अवसीदन्ति, एवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जलमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितापाः शीतलान् जलाश्रयान् जलधारा-गृहचन्दनादीनुष्णप्रतिकारहेतूनुस्मरन्ते - व्याकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति ॥५॥

टीकार्थ - ग्रीष्म यानी ज्येष्ठ और आषाढ मास में जो गर्मी पड़ती है, उसे ग्रीष्माभिताप कहते हैं । उस ग्रीष्माभिताप से स्पर्श पाया हुआ पुरुष उदास हो जाता है तथा अत्यंत पिपासित होकर दीनता को प्राप्त करता है। यही सूत्रकार दिखाते हैं - इस प्रकार उष्ण परीषह के उदय होने पर शक्तिहीन मूर्ख-जीव, जिस प्रकार विषाद अनुभव करता है, सो दृष्टान्त देकर बताते हैं - जैसे थोड़े जल में मछली विषाद को प्राप्त करती है अर्थात् वह वहां से हटने में असमर्थ होकर जैसे मृत्यु को प्राप्त होती है, इसी तरह शक्तिहीन पुरुष शक्ति न होने के कारण

संयम से भ्रष्ट हो जाता हैं। आशय यह है कि - जैसे मछली जल कम होने पर ग्रीष्मऋतु की गर्मी से तप्त होकर दुःख को प्राप्त होती है। इसी तरह अल्पपराक्रमी पुरुष, चारित्र्य लेकर भी मल और पसीना से भीगा हुआ तथा बाहर की गर्मी से तप्त हुआ शीतल जलाधार, तथा जल के धारागृह और गर्मी को दूर करने वाले चन्दन आदि पदार्थों को स्मरण करता है। इस प्रकार व्याकुल चित्त होकर वह संयम के अनुष्ठान में विषाद अनुभव करता है ॥५॥



साम्प्रतं याज्ञापरीषहमधिकृत्याह -

अब याज्ञा (भिक्षाचरी) परीषह के विषय में सूत्रकार कहते हैं -

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया ।

कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा

॥६॥

छाया - सदा दत्तेसणा दुःखं याज्ञा दुप्पणोद्या । कर्मात्ताः दुर्भगाश्चेत्येत्याहुः पृथग्जनाः ॥

अन्वयार्थ - (दत्तेसणा) दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु का ही अन्वेषण करना (दुःख) यह दुःख (सदा) सदा-जीवनभर साधु को रहता है। (जायणा) भिक्षा मांगने का कष्ट (दुप्पणोल्लिया) दुःसह्य होता है। (पुढोजणा) प्राकृत पुरुष (इच्चाहंसु) यह कहते हैं कि (कम्मत्ता) ये लोग अपने पूर्वकृत पाप कर्म का फल भोग रहे हैं (दुब्भगा चेव) तथा ये लोग भाग्यहीन हैं।

भावार्थ - साधु को दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु का ही अन्वेषण करने का दुःख, सदा बना रहता है। याचना परीषह सहन करना बहुत कठिन है। उस पर भी साधारण पुरुष, साधु को देखकर कहते हैं कि ये लोग अपने पूर्व कृत पाप कर्म का फल भोग रहे हैं तथा भाग्यहीन हैं।

टीका - 'सदा दत्त' इत्यादि, यतीनां 'सदा' सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तम् एषणीयम् - उत्पादा-दोषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति, अपि चेयं 'याज्ञा' याज्ञापरीषहोऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन 'प्रणोद्यते' त्यज्यते, तथा चोक्तम् -

'खिज्जइ मुहलावण्णं वाया घोलेइ कण्ठमज्झमि ।

कहकहकहेइ हिययं देहिंति परं भणंतस्स ॥१॥

गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता ।

मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥१॥

इत्यादि, एवं दुस्त्यजं याज्ञापरीषहं परित्यज्य गताभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमुनव्रजन्तीति। श्लोकपश्चार्धेनाऽऽक्रोशपरीषहं दर्शयति - 'पृथग्जनाः' प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा 'इत्येवमाहुः' इत्येवमुक्तवन्तः, तद्यथा- ये एते यतयः जल्लाविलदेहा लुञ्जितशिरसः क्षुधादिवेदनाग्रस्तास्ते एते पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदिवा - कर्मभिः - कृष्यादिभिरार्त्ताः - तत्कुर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते 'दुर्भगाः' सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगता इति ॥६॥

टीकार्थ - साधु को सदा दंतशोधन आदि वस्तु भी दूसरे के द्वारा दी हुई ही अन्वेषण [ग्रहण] करनी पड़ती है तथा उत्पाद आदि और एषणा दोष वर्जित ही आहार ही लेना होता है, इसलिए क्षुधा आदि की वेदना से पीड़ित साधु को जीवनभर दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु को अन्वेषण करने का दुःख भोगना पड़ता है तथा यह जो भिक्षा मांगने का कष्ट है। यह अल्पपराक्रमी जीवों से असहनीय होता है। अत एव विद्वानों ने कहा है कि-

'खिज्जइ' अर्थात् जो पुरुष किसी से कुछ मांगता हुआ यह कहता है कि 'अमुक वस्तु मुझको दो' उसके मुख का लावण्य क्षीण हो जाता है और वाणी, कण्ठ के मध्य में ही घूर्णित होने लगती है तथा हृदय व्याकुल

1. क्षीयते मुखलावण्यं वाचा गिलति (घूर्णति) कण्ठमध्ये । कहकहकहितहृदयं देहीति परं भणतः ॥१॥

हो जाता है ।

मांगनेवाले की गति, (चलना) बिगड़ जाती है, मुख, दीन हो जाता है, शरीर से पसीना बहने लगता है और उसका वर्ण फीका हो जाता है इस प्रकार मरण समय में जितने चिह्न दिखायी देते हैं । वे सब याचक पुरुष में लक्षित होते हैं । इस प्रकार दुःसह्य याज्ञापरीषह को त्यागकर अभिमान रहित महासत्त्व जीव ही, ज्ञान आदि की वृद्धि के लिए महापुरुषों से सेवित मार्ग के अनुगामी होते हैं । अब सूत्रकार गाथा के उत्तरार्ध से आक्रोश परीषह बतलाते हैं । साधारण पुरुष जो अनार्य के सदृश होते हैं । वे साधु को देखकर यह कहते हैं कि -

“ये जो मल से परिपूर्ण शरीरवाले, लुब्धितशिर, क्षुधा आदि वेदनाओं से पीड़ित साधु हैं, वे अपने पूर्वकृत पाप कर्मों से पीड़ित हैं । ये अपने पाप कर्म का फल भोग रहे हैं अथवा ये लोग कृषि आदि कर्मों से पीड़ित होकर अर्थात् कृषि आदि कर्म करने में असमर्थ होकर साधु बन गये हैं । तथा ये लोग अभागे हैं । ये स्त्री, पुत्र आदि सभी पदार्थों से हीन और आश्रय रहित होने के कारण प्रव्रज्याधारी हुए हैं ॥६॥



एते सद्दे अचायन्ता, गामेसु णगरेसु वा ।

तत्थ मन्दा विसीयन्ति, संगाममिव भीरुया

॥७॥

छाया - एतांश्चब्दानशक्नुवन्तो ग्रामेषु नगरेषु वा । तत्र मब्दाः विषीदन्ति सङ्ग्राम इव भीरुकाः ॥

अन्वयार्थ - (गामेसु) ग्राम में (णगरेसु वा) अथवा नगरों में (एते) इन (सद्दे) शब्दों को (अचायन्ता) सहन नहीं कर सकते हुए (मन्दा) मन्दमति जीव (तत्थ) उस आक्रोशशब्द को सुनकर (विसीयन्ति) इस प्रकार विषाद करते हैं (व) जैसे (भीरुया) भीरु पुरुष (संगाममिव) सङ्ग्राम में विषाद करता है ।

भावार्थ - ग्राम, नगर अथवा अंतराल में स्थित मन्दमति प्रव्रजित पूर्वोक्त निन्दाजनक शब्दों को सुनकर इस प्रकार विषाद करता है, जैसे सङ्ग्राम में कायर पुरुष विषाद करता है ।

टीका - ‘एतान्’ पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारिकादिरूपान् शब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिताः ‘तत्र’ तस्मिन् आक्रोशे सति ‘मन्दा’ अज्ञा लघुप्रकृतयो ‘विषीदन्ति’ विमनस्का भवन्ति संयमाद्वा भ्रश्यन्ति, यथा भीरवः ‘सङ्ग्रामे’ रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटत्पटहशङ्खझल्लरीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्यायशः पटहमङ्गीकृत्य भ्रज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादल्पसत्त्वाः संयमे विषीदन्ति ॥७॥

टीकार्थ - जो पुरुष लघुप्रकृति तथा मूर्ख हैं । वे ग्राम नगर या उनके मध्य भाग में रहते हुए पूर्वोक्त निन्दाजनक चोर जार आदि शब्दों को सुनकर उनको सहन करने में असमर्थ होकर उदास हो जाते हैं अथवा संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं । जैसे कायर पुरुष, चक्र, कुन्त, तलवार, शक्ति और बाणों से आकुल तथा बजते हुए नगारे शंख और झल्लरी के नाद से गंभीर सङ्ग्राम में घबराकर पौरुष को छोड़कर अपयश को स्वीकार कर भाग जाते हैं । इसी तरह आक्रोश शब्दों को सुनकर अल्पपराक्रमी प्रव्रजित संयम में विषाद करते हैं ॥७॥



वधपरीषहमधिकृत्याह -

अब सूत्रकार वधपरीषह के विषय में कहते हैं -

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए ।

तत्थ मन्दा विसीयन्ति, तेउपुट्ठा व पाणिणो

॥८॥

छाया - अप्पेकः क्षुधितं, भिक्षुं सुनिदशति लूषकः । तत्र मब्दाः विषदन्ति तेजस्पृष्टा इव प्राणिनः ॥

अन्वयार्थ - (अप्पेगे) यदि कोई (लूसए) क्रूर प्राणी कुत्ता आदि (खुधियं) भूखे (भिक्खुं) साधु को (सुणी डंसति) काटने लगता है तो (तत्थ)

उस समय (मंदा) मन्दमति पुरुष (विसीयति) इस प्रकार विषाद करते हैं जैसे (तेजपुष्टा) तेज - अग्नि के द्वारा स्पर्श किया हुआ (प्राणिनो) प्राणी घबराता है ।

भावार्थ - भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए क्षुधित साधु को कोई क्रूर प्राणी कुत्ता आदि काटता है, तो उस समय मूर्ख प्रव्रजित इस प्रकार दुःखी हो जाते हैं - जैसे अग्नि के स्पर्श से प्राणी घबराते हैं ।

टीका - 'अप्येगे' इत्यादि, अपिः संभावने, एकः कश्चिच्छ्वादिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः 'खुधियन्ति क्षुधितं - बुभुक्षितं भिक्षामटन्तं भिक्षुं 'दशति' भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति, 'तत्र' तस्मिन् श्वादिभक्षणे सति 'मन्दा' अज्ञा अल्पसत्त्वतया 'विषीदन्ति' दैन्यं भजन्ते, यथा 'तेजसा' अग्निना 'स्पृष्टा' दह्यमानाः 'प्राणिनो' जन्तवो वेदनार्ताः सन्तो विषीदन्ति - गात्रं सङ्कोचयन्त्यार्तार्थध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि क्रूरसत्त्वैरभिद्रुतः संयमाद् भ्रश्यत इति, दुःसहत्वाद्ग्रामकण्टकानाम् ॥८॥

टीकार्थ - यहां 'अपि' शब्द संभावनार्थक है । एक यानी कुत्ता आदि जीव जो स्वभाव से ही क्रूर अर्थात् काटनेवाला है वह, क्षुधातुर और भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु को यदि काटता है अर्थात् दांतों से उनके अङ्गों को विदारण करने लगता है तो उस समय यानी कुत्ते के काटने के समय अल्प पराक्रमी मंदमति प्रव्रजित दीन हो जाते हैं । जैसे अग्नि से जलते हुए प्राणी वेदना से आर्त होकर विषाद करते हैं और वे अपने अङ्गों को संकुचित करते हुए आर्तध्यान करते हैं । उसी तरह साधु भी क्रूर प्राणियों के आक्रमण से पीड़ित होकर संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं क्योंकि ग्राम कंटको को सहन करना बड़ा कठिन होता है ॥८॥



पुनरपि तानधिकृत्याह -

फिर सूत्रकार ग्रामकंटकों के विषय में कहते हैं -

अप्येगे पडिभासन्ति, पडिपन्थियमागता ।

पडियारगता² एते, जे एते एव जीविणो

॥९॥

छाया - अप्येके प्रतिभाषन्ते प्रातिपथिकतामागताः । प्रतिकारगता एते य एते एवं जीविनः ॥

अन्वयार्थ - (पडिपन्थियमागता) साधु के द्वेषी (अप्येगे) कोई-कोई (पडिभासन्ति) कहते हैं कि (जे एते) जो ये लोग (एव जीविणो) इस प्रकार - भिक्षावृत्ति से जीवन धारण करते हैं (एते) ये लोग (पडियारगता) अपने पूर्वकृत पाप का फल भोग रहे हैं ।

भावार्थ - साधु के द्रोही पुरुष साधु को देखकर कहते हैं कि भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह करने वाले ये लोग अपने पूर्वकृत पाप कर्म का फल भोग रहे हैं ।

टीका - अपिः संभावने, 'एके' केचनापुष्टधर्माणः - अपुण्यकर्माणः 'प्रतिभाषन्ते' ब्रुवते, प्रतिपथः - प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपन्थिकाः- साधुविद्वेषिणस्तद्भावमागताः कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्ट्वा अनार्या एतद् ब्रुवते, सम्भाव्यत एतदेवंविधानां, तद्यथा - प्रतीकारः - पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गताः - प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो 'य एते' यतयः 'एवं जीविन' इति परगृहाण्यटन्ति अतोऽन्तप्रान्तभोजिनोऽदत्तदाना लुञ्जितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति ॥९॥

टीकार्थ - 'अपि' शब्द सम्भावनार्थक है । कोई-कोई पाप कर्म वाले पुरुष, जो साधुओं के प्रति प्रतिकूल आचरण करते हैं, तथा जो किसी कारण वश साधु से द्वेष करते हैं अथवा जो असन्मार्ग में चलनेवाले अनार्य हैं, वे यह कहते हैं कि "भिक्षा के लिए दूसरों के मकानों में घूमनेवाले, अन्तप्रान्त भोजी, दिया हुआ ही आहार लेनेवाले शिर का लोच करने वाले, सब भोगों से वंचित रहकर दुःखमय जीवन व्यतीत करने वाले जो ये यति (साधु) लोग हैं, ये अपने पूर्वकृत पापकर्म का फल भोग रहे हैं ।" इस प्रकार अनार्य पुरुषों का साधु के प्रति कथन

संभव है ॥९॥



किञ्च -

अप्पेगे वइ जुजंति, नगिणा ^१पिंडोलगाहमा ।

मुंडा कंडूविणट्टंगा ^२उज्जल्ला असमाहिता

॥१०॥

छाया - अप्येके वचो युजन्ति मब्बाः पिण्डोलगा अधमाः । मुण्डा कण्डूविणट्टाङ्गा उज्जल्ला असमाहिताः ॥

अन्वयार्थ - (अप्पेगे) कोई-कोई (वइ जुजंति) कहते हैं कि (नगिणा) ये लोग नंगे हैं (पिण्डोलगा) परपिंडप्रार्थी हैं (अहमा) तथा अधम हैं । (मुंडा) ये मुण्डित हैं (कंडूविणट्टंगा) और कण्डूरोग से इनके अङ्ग नष्ट हो गये हैं (उज्जल्ला) ये शुष्क पसीने से युक्त और (असमाहिता) बीभत्स हैं ।

भावार्थ - कोई पुरुष, जिनकल्पी आदि साधु को देखकर कहते हैं कि 'ये नंगे हैं, परपिंडप्रार्थी हैं तथा अधम हैं। ये लोग मुंडित तथा कंडूरोग से नष्ट अंगवाले मल से युक्त और बीभत्स हैं ।

टीका - अप्येके केचन कुसृतिप्रसृता अनार्या वाचं युजन्ति - भाषन्ते, तद्यथा - एते जिनकल्पिकादयो नग्नास्तथा 'पिंडोलग'ति परपिण्डप्रार्थका, अधमाः - मलाविलत्वात् जुगुप्सिता 'मुण्डा' लुञ्जितशिरसः, तथा - क्वचित्कण्डूकृतक्षतै रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा - विकृतशरीराः, अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गास्तथोद्गतो जल्लः - शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा 'असमाहिता' अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥१०॥

टीकार्थ - कुमार्य में चलनेवाले कोई अनार्य पुरुष कहते हैं कि - 'ये जिनकल्पी आदि नंगे हैं तथा परपिंडप्रार्थी हैं । ये लोग मल से भरे हुए घृणास्पद हैं, तथा लुञ्जितशिर हैं । कहीं-कहीं कण्डूरोग के घाव से अथवा उसकी रेखा से इनके अङ्ग नष्ट हो गये हैं । ये विकृत शरीर हैं अथवा अपने शरीर का प्रतिकर्म (स्नान आदि से परिशोधन) नहीं करने से रोग की उत्पत्ति द्वारा सनत्कुमार की तरह अंग नष्ट होना संभव है, इसलिए ये लोग नष्ट अंगवाले हैं । ये लोग शुष्क पसीनों से युक्त हैं तथा ये बीभत्स दुष्ट और प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करते हैं ॥१०॥



साम्प्रतमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाह -

जो लोग साधु के लिए ऐसी बातें कहते हैं, उनको इसका फल प्राप्त होता है । वह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।

तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा

॥११॥

छाया - एवं विप्रतिपब्बा एक आत्मजातत्त्वज्ञाः । तमसस्ते तमो यान्ति मब्बाः मोहेन प्रावृत्ताः ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (विप्पडिवन्ना) साधु और सन्मार्ग के द्रोही (एगे) कोई (अप्पणा उ अजाणया) स्वयं अज्ञ जीव (मोहेण पाउडा) मोह से ढके हुए हैं (मंदा) मूर्ख है (ते) वे (तमाओ) अज्ञान से निकलकर (तमं) फिर अज्ञान में ही (जंति) जाते हैं ।

भावार्थ - इस प्रकार साधु और सन्मार्ग से द्रोह करनेवाले स्वयं अज्ञानी, जीव मोह से ढके हुए मूर्ख हैं और वे एक अज्ञान से निकलकर दूसरे अज्ञान में प्रवेश करते हैं ।

टीका - 'एवम्' अनन्तरोक्तनीत्या 'एके' अपुण्यकर्माणो 'विप्रतिपब्बाः' साधुसन्मार्गद्विषिणः 'आत्मना'

स्वयमज्ञाः, तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते 'तमसः' अज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो 'यान्ति' गच्छन्ति, यदि वा - अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति, यतो 'मन्दा' ज्ञानावरणीयेनावष्टब्धाः तथा 'मोहेन' मिथ्यादर्शनरूपेण 'प्रावृता' आच्छादिताः सन्तः खिन्नप्रायाः साधुविद्वेषितया कुमार्गगा भवन्ति, तथा चोक्तम् -

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्विद्विरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् ।

एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः? ॥१॥ ॥११॥

टीकार्थ - कोई पापी पुरुष, पूर्वोक्त प्रकार से साधु और सन्मार्ग से द्रोह करते हैं । वे स्वयं अज्ञानी हैं और 'तु' शब्द से वे दूसरे ज्ञानियों का कहना भी नहीं मानते । वे मूर्ख जीव, अज्ञानरूप अंधकार से निकलकर उससे उत्कृष्ट दूसरे अज्ञान को प्राप्त करते हैं, अथवा वे नीची से भी नीची गति में जाते हैं, क्योंकि वे ज्ञानावरणीय कर्म से ढँके हुए और मिथ्यादर्शनरूपी मोह से आच्छादित हैं । वे अंधतुल्य पुरुष साधु से द्वेष करने के कारण कुमार्ग का सेवन करने वाले हैं । विद्वानों ने कहा है कि

“एक नेत्र तो स्वाभाविक निर्मल विवेक है और दूसरा नेत्र विवेकी जन के साथ निवास करना है, परंतु जिसके पास ये दोनों नेत्र नहीं हैं, वस्तुतः पृथिवी पर वही अंधा है । वह यदि कुमार्ग में जाय तो उसका दोष क्या है? ॥११॥



दंशमशकपरीषहमधिकृत्याह -

अब सूत्रकार दंश और मच्छरों के परीषह के विषय में कहते हैं -

पुट्टो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया ।

न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया

॥१२॥

छाया - स्पष्टश्च दंशमशकैस्तृणस्पर्शमशक्नुवन्तः । न मया दृष्टः परो लोकः, यदि परं मरणं स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (दंसमसएहिं) दंश और मच्छरों के द्वारा स्पर्श किया गया तथा (तणफासमचाइया) तृणस्पर्श को नहीं सह सकता हुआ साधु (यह भी सोच सकता है कि) (मे) मैंने (परे लोए) परलोक को तो (न दिट्ठे) नहीं देखा है (परं) परंतु (जइ) कदाचित् (मरणं सिया) इस कष्ट से मरण तो संभव ही है ।

भावार्थ - दंश और मच्छरों का स्पर्श पाकर तथा तृण की शय्या के रूक्ष स्पर्श को सहन नहीं कर सकता हुआ नवीन साधु यह भी सोचता है कि मैंने परलोक को तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है परंतु इस कष्ट से मरण तो प्रत्यक्ष दीखता है ।

टीका - क्वचित्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति, तत्र च कदाचित्साधुः पर्यटैस्तैः 'स्पृष्टश्च' भक्षितः तथा निष्किञ्चनत्वात् तृणेषु शयानस्तत्स्पर्शं सोढुमशक्नुवन् आर्तः सन् एवं कदाचिच्चिन्तयेत्, तद्यथा- परलोकार्थमेतदुष्करमनुष्ठानं क्रियमाणं घटते, न चासौ मया परलोकः प्रत्यक्षेणोपलब्धः, अप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादिनोपलभ्यत इति, अतो यदि परं ममानेन क्लेशाभितापेन मरणं स्यात्, नान्यत्फलं किञ्चनेति ॥१२॥ अपि च -

टीकार्थ - सिंधु, ताम्रलिप्त और कोंकण आदि देशों में दंश और मच्छर बहुत होते हैं । वहां भ्रमण करता हुआ साधु कदाचित् दंश और मच्छरों से डंसा जाय और परिग्रह रहित होने के कारण तृण की शय्या पर सोया हुआ वह तृण के रूक्ष स्पर्श को नहीं सह सकता हुआ आर्त होकर कदाचित् यह भी सोच सकता है कि यह जो मैं दुष्कर अनुष्ठान करता हूँ, यह परलोक होने पर ही उचित कहा जा सकता है परंतु मैंने परलोक को प्रत्यक्ष नहीं देखा है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं है । तथा अनुमान आदि से भी परलोक की उपलब्धि नहीं होती है । ऐसी दशा में यदि मेरा कष्ट से मरण हो जाय तो वही इसका फल होगा इसके सिवाय दूसरा कोई फल नहीं है ॥१२॥

और भी -

संतत्ता केसलोएणं, बम्भचेरपराइया ।

तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व ¹केयणे

॥१३॥

छाया - सन्तप्ताः केशलुञ्चनेन, ब्रह्मचर्यपराजिताः । तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्याः विट्ठा इव केतने ॥

अन्वयार्थ - (केसलोएणं) केशलुञ्चन से (संतत्ता) पीड़ित (बम्भचेरपराइया) और ब्रह्मचर्य से पराजित (मंदा) मूर्ख जीव, (केयणे) जाल में (विट्ठा) फँसी हुई (मच्छा व) मच्छली की तरह (विसीयंति) क्लेश अनुभव करते हैं ।

भावार्थ - केशलोच से पीड़ित और ब्रह्मचर्य पालन में असमर्थ पुरुष प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हैं जैसे जाल में फँसी मछली दुःख भोगती है ।

टीका - समन्तात् तप्ताः सन्तप्ताः केशानां 'लोच' उत्पाटनं तेन, तथाहि - सरुधिरकेशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते, तथा चाल्पसत्त्वाः विस्त्रोतसिकां भजन्ते, तथा 'ब्रह्मचर्य' बस्तिनिरोधस्तेन च 'पराजिताः' पराभग्नाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् केशोत्पाटनेऽतिदुर्जयकामोद्रेके वा सति 'मन्दा' जडा - लघुप्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतलीभवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्ति, यथा मत्स्याः 'केतने' मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकः सर्वकषकामपराजिताः संयमजीवितात् भ्रश्यन्ति ॥१३॥ किञ्च -

टीकार्थ - केशों को उखाड़ना, 'केशलोच' कहलाता है । रक्त के साथ केश को उखाड़ने से बड़ी भारी पीड़ा उत्पन्न होती है, इसलिए कोई अल्पपराक्रमी जीव, केशलोच से पीड़ित होकर दीनता को प्राप्त होते हैं । वस्तिस्थान को रोकना ब्रह्मचर्य कहलाता है, उससे पराजित लघुप्रकृतिवाला मूर्ख पुरुष जब केश के उखाड़ने का समय आता है तथा जब अति दुर्जय काम का वेग उमड़ता है, तब संयम के अनुष्ठान में शीतल हो जाते हैं । अथवा वे सर्वथा संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं । जैसे जाल में पड़ी हुई मछली, उसमें से निकलने का मार्ग न पाकर उसी जगह मर जाती है । इसी तरह वे बिचारे सर्व विजयी काम से पराजित होकर संयमजीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ और भी -



आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।

हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया

॥१४॥

छाया - आत्मदण्डसमाचाराः मिथ्यासंस्थितभावनाः । हर्षप्रद्वेषमापन्नाः केऽपि लूषयन्त्यनार्याः ॥

अन्वयार्थ - (आयदंडसमायारे) जिससे आत्मा कल्याण से भ्रष्ट हो जाता है, ऐसा आचार करने वाले (मिच्छासंठियभावणा) जिनकी चित्तवृत्ति, विपरीत है (हरिसप्पओसमावन्ना) तथा जो राग और द्वेष से युक्त हैं, ऐसे (केई) कोई (अनारिया) अनार्य पुरुष (लूसंति) साधु को पीड़ा देते हैं ।

भावार्थ - जिससे आत्मा दंड का भागी होता है ऐसा आचार करनेवाले, तथा जिनकी चित्तवृत्ति विपरीत है और जो राग तथा द्वेष से युक्त हैं । ऐसे कोई अनार्य पुरुष, साधु को पीड़ा देते हैं ।

टीका - आत्मा दण्डयते - खण्डयते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः 'समाचारः' अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते तथा, तथा मिथ्या - विपरीता संस्थिता - स्वाग्रहारूढा भावना - अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावना - मिथ्यात्वोपहतदृष्टय इत्यर्थः, हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेषं तदापन्ना रागद्वेषसमाकुला इति यावत्, त एवम्भूता अनार्याः सदाचारं साधुं क्रीडया प्रद्वेषेण वा क्रूरकर्मकारित्वात् 'लूषयन्ति' कदर्थयन्ति दण्डादिभिर्वाग्भिर्वेति ॥१४॥

1. कढवल्लसंठिआ मच्छा पाणीए पडिनियत्ते ओयारिज्जति खुणी एमादि

टीकार्थ - जिससे आत्मा दण्ड का भागी बनता है अर्थात् वह अपने कल्याण से भ्रष्ट हो जाता है। उस आचार को 'आत्मदण्ड' कहते हैं। ऐसा अनुष्ठान करनेवाले अनार्य्य पुरुष 'आत्मदण्डसमाचार' कहलाते हैं। तथा जिनकी चित्तवृत्ति विपरीत है अर्थात् अपने असत् आग्रह में हैं, वे मिथ्यादृष्टि पुरुष 'मिथ्यासंस्थितभावना' कहलाते हैं। एवं जो हर्ष और द्वेष से युक्त हैं अर्थात् जो रागद्वेष से भरे हुए हैं ऐसे अनार्य्य पुरुष, अपने चित्त के विनोद के लिए अथवा द्वेषवश अथवा क्रूर कर्म करने वाले होने के कारण लाठी आदि के प्रहार द्वारा अथवा गाली आदि देकर सदाचारी साधु को पीड़ित किया करते हैं ॥१४॥



एतदेव दर्शयितुमाह -

इसी बात को दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं

अप्पेगे पलियंते सिं, ¹चोरो चोरोत्ति सुव्वयं । बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥१५॥

छाया - अप्पेगे पर्यन्ते चोरश्चौर इति सुव्रतम् । बन्धन्ति भिक्षुकं बालाः कषायवचनैश्च ॥

अन्वयार्थ - (अप्पेगे) कई (बाला) अज्ञानी पुरुष, (पलियंते सिं) अनार्य्यदेश के आसपास विचरते हुए (सुव्वयं) सुव्रत (भिक्खुयं) साधु को (चोरो चोरोत्ति) यह खुफिया है या चोर है ऐसा कहते हुए (बंधंति) रस्सी आदि से बांधते हैं और (कसायवयणेहि य) और कटु वचन कहकर साधु को पीड़ित करते हैं ।

भावार्थ - कोई अज्ञानी पुरुष, अनार्य्य देश के आसपास विचरते हुए सुव्रत साधु को 'यह चोर अथवा खुफिया है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदि से बांध देते हैं और कटु वचन कहकर उनको पीड़ित करते हैं ।

टीका - अपिः सम्भावने, एके अनार्या आत्मदण्डसमाचारा मिथ्यात्वोपहतबुद्धयो रागद्वेषपरिगताः साधुं 'पलियंतेसिं'ति अनार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानं 'चोरो'त्ति चोरोऽयं 'चौरः' अयं स्तेन इत्येवं मत्वा सुव्रतं कदर्थयन्ति, तथाहि- 'बन्धन्ति' रज्ज्वादिना संयमयन्ति 'भिक्षुकं' भिक्षणशीलं 'बाला' अज्ञाः सदसद्विवेकविकलाः तथा 'कषायवचनैश्च' क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति ॥१५॥

टीकार्थ - 'अपि' शब्द संभावनार्थक है। अर्थात् ऐसा होना भी संभव है। इस बात को बताने के लिए आया है। जिससे आत्मा, परलोक में दंड का भागी बनता है ऐसा आचार करनेवाले, मिथ्यात्व से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसे कोई रागद्वेषवशीभूत अनार्य्यपुरुष, अनार्य्य देश के आसपास विचरते हुए साधु को देखकर 'यह चोर है' अथवा खुफिया है, ऐसा मानकर पीड़ा देते हैं। वे रस्सी आदि से बाँधकर साधु को दुःखित करते हैं तथा सत् और असत् के विवेक से वर्जित वे अज्ञानी क्रोधभरे कटु वचनों से साधु को धमकाते हैं ॥१५॥ और भी -



अपिच-

इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं -

तत्थ दंडेण² संवीते, मुट्ठिणा अदु³फलेण वा ।

नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी

॥१६॥

छाया - तत्र दण्डेन संवीतो मुष्टिनाऽथवा फलेन वा । ज्ञातीनां स्मरति बालः स्त्रीवत् कुद्धगामिनी ॥

अन्वयार्थ - (तत्थ) वहां (दंडेण) लाठी (मुट्ठिणा) मुक्का (अदु) अथवा (फलेण) फल के द्वारा (संवीते) ताड़ित किया हुआ (बाले) अज्ञानी पुरुष (कुद्धगामिणी) क्रोधित होकर घर से निकलकर भागनेवाली (इत्थी वा) स्त्री की तरह (नातीणं) अपने स्वजनवर्ग को (सरती) स्मरण करता है ।

भावार्थ - उस अनार्य देश के आसपास विचरता हुआ साधु जब अनार्य पुरुषों के द्वारा लाठी मुक्का अथवा फल के द्वारा पीटा जाता है तब वह अपने बन्धु बांधवों को उसी प्रकार स्मरण करता है जैसे क्रोधित होकर घर से निकलकर भागती हुई स्त्री अपने ज्ञाति वर्ग को स्मरण करती है ।

टीका - 'तत्र' तस्मिन्ननार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानः साधुरनार्यैः 'दण्डेन' यष्टिना मुष्टिना वा 'संवीतः' प्रहतोऽथवा 'फलेन वा' मातुलिङ्गादिना खड्गादिना वा स साधुरेवं तैः कदर्थ्यमानः कश्चिदपरिणतः 'बालः' अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा - यद्यत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थ्यनामवाप्नुयामिति, दृष्टान्तमाह - यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तस्करादिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातीनां स्मरति एवमसावपीति ॥१६॥

टीकार्थ - उस अनार्य देश के आसपास विचरते हुए साधु को जब अनार्य पुरुष लाठी, मुक्का, मातुलिंग एक प्रकार का निंबू आदि फल तथा तलवार आदि से मारने लगते हैं तब पीड़ा का अनुभव करता हुआ वह कच्चा अज्ञानी साधु अपने सम्बन्धियों का स्मरण करता है, वह सोचता है कि "यदि मेरा कोई सम्बन्धी यहां विद्यमान होता तो ऐसी दुर्दशा मेरी नहीं होती" इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं- जैसे कोई स्त्री, क्रोधित होकर अपने घर से निकलकर भाग जाती है, तब वह मांस की तरह सब लोगों के लोभ का पात्र होने से चोर जार आदि के द्वारा पकड़ी, लूटी जाती है। उस समय वह जैसे पश्चात्ताप करती हुई अपने ज्ञाति वर्ग को स्मरण करती है, उसी तरह उक्त अज्ञानी साधु भी ज्ञातिवर्ग को स्मरण करता है ॥१६॥



उपसंहारार्थमाह -

अब सूत्रकार इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।

हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं

॥१७॥ ति बेमि ॥

छाया - एते भोः। कृत्स्नाः स्पर्शाः परुषाः दुरयिसह्याः ।

हस्तिन इव शरसंवीताः क्लीबा अवशाः गताः गृहम् । इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ - (भो) हे शिष्यों! (एते) पूर्वोक्त ये (कसिणा) समस्त (फासा) स्पर्श (फरुसा) पुरुष हैं (दुरहियासया) और दुःसह हैं (सरसंवित्ता) बाणों से पीड़ित हाथी की तरह (कीवा) नपुंसक पुरुष (अवसा) धबकाकर (गिहं गया) फिर घर को चले जाते हैं (तिबेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - हे शिष्यों! पूर्वोक्त उपसर्ग सभी असह्य और दुःखदायी हैं । उनसे पीड़ित होकर कायर पुरुष फिर गृहवास को ग्रहण कर लेते हैं । जैसे बाण से पीड़ित हाथी संग्राम को छोड़कर भाग जाता है । इसी तरह गुरुकर्म जीव संयम को छोड़कर भाग जाते हैं ।

टीका - भो इति शिष्यामन्त्रणं, य एत आदितः प्रभृति दंशमशकादयः पीडोत्पादकत्वेन परीषहा एवोपसर्गा अभिहिता 'कृत्स्नाः' सम्पूर्णा बाहुल्येन स्पृश्यन्ते - स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शाः, कथम्भूताः? - 'परुषाः' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वैर्दुःखेनाधिसह्यन्ते तांश्चासहमाना लघुप्रकृतयः केचनाश्लाघामङ्गीकृत्य हस्तिन इव रणशिरसि 'शरजालसंवीताः' शरशताकुला भङ्गमुपयान्ति एवं 'क्लीबा' असमर्था 'अवशाः' परवशाः कर्मायत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गताः, पाठान्तरं वा 'तिव्वसद्धे'ति तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुताः 'शठाः' शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहं गताः, इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१७॥

टीकार्थ - 'भो' शब्द शिष्यों के संबोधन में आया है । जो शीत आदि से लेकर दंश मशक आदि पीड़ाकारी

उपसर्ग कहे गये हैं । वे सभी स्पर्शेंद्रिय के द्वारा अनुभव किये जाते हैं । इसलिए 'स्पर्श' कहलाते हैं । वे सभी परीषह अनार्य्य पुरुषों के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और वे पीड़ाकारी तथा अल्पपराक्रमी जीवों से असहनीय होते हैं । कोई लघुप्रकृति पुरुष, अपनी प्रशंसा करते हुए पहले तो संयम ग्रहण कर लेते हैं परंतु पश्चात् युद्ध भूमि में बाणों के प्रहार से पीड़ित कायर हाथी जैसे वहां से भाग जाता है । इसी तरह वे भी पूर्वोक्त परीषहों के सहन में असमर्थ होकर फिर गृहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं । वस्तुतः वे पुरुष गुरुकर्मी हैं । कहीं - कहीं 'तिव्वसद्धे' यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ यह है कि तीव्र उपसर्गों से पीड़ित तथा असत् अनुष्ठान करने वाले शठ पुरुषों ने संयम को छोड़कर फिर घर को प्रस्थान किया है । यह मैं कहता हूँ ॥१७॥

उपसर्गपरिज्ञायाः प्रथमोद्देशक इति -

उपसर्गपरिज्ञाध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

॥ इति तृतीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः (गाथाग्रं. १९१) ॥



॥ अथ तृतीयोपसर्गाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारम्भ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारम्भ्यते -

प्रथम उद्देशक कहा जा चुका, अब दूसरा आरम्भ किया जाता है। इस दूसरे उद्देशक का प्रथम उद्देशक के साथ संबंध है। इसका प्रथम सूत्र यह है -

अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपिपादयिषिताः ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च, तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्-

यह तीसरा अध्ययन उपसर्गपरिज्ञाध्ययन है। इसमें उपसर्गों का स्वरूप बताना इष्ट है। उपसर्ग द्विविध हैं, प्रतिकूल और अनुकूल। प्रतिकूल उपसर्ग प्रथम उद्देशक में कहे जा चुके हैं अतः शेष रहे हुए अनुकूल उपसर्ग इस उद्देशक में बताये जाते हैं। इस दूसरे उद्देशक की उत्पत्ति का यही सम्बन्ध है। इसका प्रथम सूत्र यह है-

अहिमे सुहुमा संग्मा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।

जत्थ एगे विसीयन्ति, ण चयन्ति जवित्तए

॥१॥

छाया - अहिमे सूक्ष्माः सङ्गाः भिक्षूणां ये दुरुत्तराः । तत्रैके विषीदन्ति न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (इमे) ये (सुहुमा) सूक्ष्म - बाहर नहीं दिखनेवाले (सङ्गा) बांधव आदि के साथ सम्बन्ध रूप उपसर्ग होते हैं (जो) जो (भिक्खुणं) साधुओं के द्वारा (दुरुत्तरा) दुस्तर हैं (जवित्तए) वे संयमपूर्वक अपना निर्वाह करने में (न चयन्ति) समर्थ नहीं होते हैं ।

भावार्थ - प्रतिकूल उपसर्ग कहने के पश्चात् अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं। ये अनुकूल उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं। साधु पुरुष, बड़ी कठिनाई के साथ इन उपसर्गों को पार कर पाते हैं। परंतु कई पुरुष इन उपसर्गों के कारण बिगड़ जाते हैं। वे संयम जीवन का निर्वाह करने में समर्थ नहीं होते हैं।

टीका - 'अथ' इति आनन्तर्ये, प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः, ते 'इमेः' अनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽभिधीयन्ते, ते च 'सूक्ष्माः' प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति, 'सङ्गा' मातापित्रादिसम्बन्धाः, य' एते 'भिक्षूणां' साधूनामपि 'दुरुत्तरा' दुर्लङ्घ्या - दुरतिक्रमणीया इति, प्रायो जीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यम्, एते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्छ्यावयन्ति, ततोऽमी दुरुत्तरा इति, 'यत्र' येषूपसर्गेषु सत्सु 'एके' अल्पसत्त्वाः सदानुष्ठानं प्रति 'विषीदन्ति' शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा संयमं त्यजन्ति, नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन 'यापयितुं' - वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्तीति॥१॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थ को बताने के लिए आया है। प्रतिकूल उपसर्ग कहने के पश्चात् "अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं" यह बताना इसका प्रयोजन है। यहां, प्रत्यक्ष और निकटवर्ती वस्तु का वाचक 'इमे' इदम् शब्द से उन अनुकूल उपसर्गों का ही ग्रहण किया गया है। जो इसके आगे ही बताये जानेवाले हैं। बन्धु, बांधवों का स्नेहरूप उपसर्ग बाह्य शरीर को नहीं, किन्तु चित्त को विकृत करनेवाला है, इसलिए यह सूक्ष्म यानी आन्तरिक है, जैसे प्रतिकूल उपसर्ग, प्रकट रूप से बाह्य शरीर को विकृत करते हैं, इस प्रकार यह उपसर्ग बाह्य शरीर को विकृत नहीं करता, इसलिए यह स्थूल नहीं है। यहां 'सङ्ग' पद माता, पिता आदि

सम्बन्धियों के सम्बन्ध का बोधक है। माता, पिता आदि सम्बन्धियों का सम्बन्ध, प्रायः साधु पुरुषों के द्वारा भी दुर्लभ होता है। जीवन को संकट में स्थापित करनेवाले प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर महापुरुष, मध्यस्थ वृत्ति धारण कर सकते हैं, परंतु अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थ वृत्ति धारण करना कठिन है। अनुकूल उपसर्ग महापुरुषों को भी उपाय के बल से धर्मभ्रष्ट कर देते हैं, अतः एव शास्त्रकारों ने अनुकूल उपसर्गों को दुस्तर यानी दुर्लभ कहा है। जब अनुकूल उपसर्ग आता है तब अल्पपराक्रमी जीव शीतलविहारी यानि संयम पालन में ढीले हो जाते हैं अथवा सर्वथा संयम को छोड़ देते हैं। वे संयम के साथ अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ नहीं होते ॥१॥



तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह -

अब सूत्रकार उन सूक्ष्म संबंधों को बताने के लिए कहते हैं।

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया।

पोस णे ताय ! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय ! जहासि णे ?

॥२॥

छाया - अप्पेके ज्ञातयो दृष्ट्वा रुदन्ति परिवार्य्य। पोषय नस्तात। पोषितोऽसि कस्य तात। जहासि नः ॥

अन्वयार्थ - (अप्पेगे) कोई (नायओ) ज्ञातिवाले (दिस्स) साधु को देखकर (परिवारिया) उसे घेर कर (रोयन्ति) रोते हैं। (ताय) वे कहते हैं तात! (णे पोस) तुम हमारा पालन करो (पुट्ठोसि) हमने तुम्हारा पालन किया है। (ताय) हे पुत्र! (कस्स) किसलिए तू (णे) हम को (जहासि) छोड़ता है?

भावार्थ - साधु के परिवार वाले, साधु को देखकर उसे घेरकर रोने लगते हैं और कहते हैं कि हे पुत्र! तू किसलिए हमें छोड़ता है? हमने बचपन से तुम्हारा पालन किया है इसलिए अब तू हमारा पालन कर।

टीका - 'अपि:' सम्भावने, 'एके' तथाविधा 'ज्ञातयः' स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा 'दृष्ट्वा' उपलभ्य 'परिवार्य' वेष्टयित्वा रुदन्ति, रुदन्तो वदन्ति च दीनं यथा- बालात् प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा, ततोऽधुना 'नः' अस्मानपि त्वं 'तात!' पुत्र 'पोषय' पालय, कस्य कृते - केन कारणेन कस्य वा बलेन तातास्मान् त्यजसि ?, नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित् त्राता विद्यत इति ॥२॥ किञ्च -

टीकार्थ - 'अपि' शब्द संभावना अर्थ में आया है अर्थात् जो बात इस गाथा में कही है, वह संभव है इस अर्थ को 'अपि' शब्द बताता है। माता, पिता तथा उसके समान दूसरे स्वजनवर्ग दीक्षा ग्रहण करते हुए अथवा दीक्षा ग्रहण किये हुए साधु को देखकर उसे घेरकर रोने लगते हैं और दीनता के साथ कहते हैं कि हे पुत्र! हमने बचपन से तुम्हारा पालन इसलिए किया है कि 'वृद्धावस्था में तू हमारी सेवा करेगा' अतः अब तू हमारा पालन कर। तू किस कारण से अथवा किसके बल से हमें छोड़ रहा है? हे पुत्र! तुम्हारे सिवाय दूसरा मेरा रक्षक नहीं है ॥२॥ और भी -



पिया ते थेरओ तात !, ससा ते खुड्डिया इमा।

भायरो ते 'सगा तात !, सोयरा किं जहासि णे ?

॥३॥

छाया - पिता ते स्थविरस्तात। स्वसा ते क्षुक्लिकेयम्। भ्रातरस्ते स्वकास्तात। सोदराः किं जहासि नः।

अन्वयार्थ - (हे तात!) हे पुत्र! (ते पिया) तुम्हारे पिता (थेरओ) वृद्ध हैं (इमा) और यह (ते ससा) तुम्हारी बहिन (खुड्डिया) छोटी है (तात!) हे तात! (ते सगा) ये तुम्हारे अपने (सोयरा) सहोदर (भायरो) भाई हैं (णे किं जहासि) तू हमें क्यों छोड़ रहा है?

भावार्थ - परिवारवाले साधु को कहते हैं कि हे तात! यह तुम्हारे पिता वृद्ध हैं और यह तुम्हारी बहिन, अभी

1. सवा - वयणनिदसे चिद्वन्ति च.

बच्ची है तथा ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं । तू क्यों हमें छोड़ रहा है ?

टीका - हे 'तात!' पुत्र! पिता 'ते' तव 'स्थविरो' वृद्धः 'शतातीकः', 'स्वसा' च भगिनी तव 'क्षुल्लिका' लघ्वी अप्राप्तयौवना 'इमा' पुरोवर्त्तिनी प्रत्यक्षेति, तथा भ्रातरः 'ते' तव स्वका' निजास्तात! 'सोदरा' एकोदराः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा -

टीकार्थ - हे तात! हे पुत्र! तुम्हारे पिता सौ वर्ष से भी अधिक अवस्थावाले वृद्ध हैं और तुम्हारी यह बहिन भी अभी युवावस्था को प्राप्त नहीं है किन्तु छोटी है । देखो यह तुम्हारे आगे प्रत्यक्ष खड़ी है । तुम्हारे अपने भाई भी सहोदर हैं फिर तू हमें क्यों छोड़ रहा है ॥३॥



मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।

एवं खु लोइयं ताय!, जे पालंति य मायरं

॥४॥

छाया - मातरं पितरं पोषयं, एवं लोको भविष्यति । एवं खलु लौकिकं तात! ये पालयन्ति च मातरम् ॥

अन्वयार्थ - (तात!) हे तात! (मायरं पियरं) माता और पिता का (पोस) पोषण करो (एवं) माता पिता के पोषण करने से ही (लोगो) परलोक (भविस्सति) होगा । (ताय!) हे तात! (एवं) यही (खु) निश्चय (लोइयं) लोकाचार है कि (मायरं) माता को (पालंति) लोग पालन करते हैं ।

भावार्थ - हे पुत्र ! अपने माता-पिता का पालन करो माता-पिता के पालन करने से ही तुम्हारा परलोक सुधरेगा । जगत का यही आचार है और इसीलिए लोग अपने माता पिता का पालन करते हैं ।

टीका - 'मायरमि'त्यादि, 'मातरं' जननीं तथा पितरं जनयितारं 'पुषाण' बिभृहि, एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति, तातेदमेव 'लौकिकं' लोकाचीर्णम्, अयमेव लौकिकः पन्था यदुत - वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति, तथा चोक्तम् -

गुरुवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् । अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्रा वसाम्यहम् ॥१॥
इति ॥४॥ अपि च -

टीकार्थ - हे पुत्र! तू अपने माता और पिता का पालन कर । माता-पिता के पालन करने से ही तुम्हारा यह लोक सुधरेगा । हे तात! अपने वृद्ध माता-पिता का पालन करना ही लोक प्रसिद्ध मार्ग है । अत एव कहा है ।

'गुरुवो यत्र पूज्यन्ते' अर्थात् जहां गुरु जनों की पूजा होती है और अन्न पवित्रता के साथ बनाया जाता है तथा जहां वाक्कलह नहीं होता है । हे इन्द्र ! मैं वहाँ निवास करता हूँ ॥४॥ और भी -



उत्तरा महरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डया ।

भारिया ते णवा तात !, मा सा अन्नं जणं गमे

॥५॥

छाया - उत्तराः मधुरालापाः पुत्रास्ते तात! क्षुद्रकाः । भार्या ते णवा तात! मा साऽन्नं जणं गच्छेत् ॥

अन्वयार्थ - (तात !) - हे तात ! (ते पुत्ता) तुम्हारे पुत्र, (उत्तरा) उत्तरोत्तर जन्मे हुए (महरुल्लावा) मधुर भाषी (खुड्डया) और छोटे हैं। (तात !) हे तात ! (ते भारिया) तुम्हारी पत्नी (णवा) नवयौवना है (सा) वह (अन्नं) दूसरे (जणं) जन के पास (मा गमे) न चली जाय ।

भावार्थ - हे तात ! एक-एक कर के आगे पीछे जन्मे हुए तुम्हारे लड़के मधुरभाषी और अभी छोटे हैं । तुम्हारी स्त्री भी नवयौवना है । वह किसी दूसरे के पास न चली जाय ।

टीका - 'उत्तराः' प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा मधुरो - मनोज्ञ उल्लापः - आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्राः 'ते' तव 'तात' पुत्र! 'क्षुल्लका' लघवः तथा 'भार्या' पत्नी ते 'नवा' प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेत् - उन्मार्गयायिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति ॥५॥ अपि च -

टीकार्थ - हे तात! तुम्हारे पुत्र बहुत उत्तम हैं अथवा एक-एक कर के उत्पन्न हुए तुम्हारे पुत्र मधुरभाषी और अभी बच्चे हैं। हे तात! तुम्हारी स्त्री भी नवयौवना है, वह तुम्हारे द्वारा छोड़ी हुई यदि दूसरे पुरुष के पास चली जाय अर्थात् उन्मार्गगामिनी हो जाय तो महान् लोकापवाद होगा ॥५॥



एहि ताय ! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं ।

बितियंपि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं

॥६॥

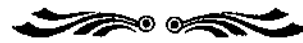
छाया - एहि तात! गृहं यामो मा त्वं कर्मसहा वयम् । द्वितीयमपि तात! पश्यामो यामस्तावत्स्वकं गृहम् ॥

अन्वयार्थ - (तात) हे तात! (एहि) आओ (घरं जामो) घर चलें (मा य) अब तुम कोई काम मत करना (वयं कम्मे सहा) हम लोग तुम्हारा सब कार्य करेंगे। (ताय) हे तात! (बितियंपि) अब दूसरी बार (पासामो) तुम्हारा काम हम देखेंगे (ताव सयं गिहं जामु) अतः चलो हमलोग अपने घर चलें ।

भावार्थ - हे तात ! आओ घर चलें । अब से तुम कोई काम मत करना । हम लोग तुम्हारा सब काम कर दिया करेंगे । एक बार काम से घबराकर तुम भाग आये परंतु अब दूसरी बार हम लोग तुम्हारा सब काम कर देंगे, आओ हम अपने घर चलें ।

टीका - जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथापि 'एहि' आगच्छ गृहं 'यामो' गच्छामः । मा त्वं किमपि साम्प्रतं कर्म कृथाः, अपि तु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः - साहाय्यं करिष्यामः । एकवारं तावद्गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात! पुनरपि द्वितीयं वारं 'पश्यामो' द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो 'यामो' गच्छामः तावत् स्वकं गृहं कुर्वे तदस्मद्वचनमिति ॥६॥ किञ्च -

टीकार्थ - परिवारवाले कहते हैं कि हे तात! यह हम जानते हैं कि "तुम घर के काम काज से डरते हो" तो भी आओ हम घर चलें । अबसे तुम कोई काम मत करना, किन्तु काम उपस्थित होने पर हमलोग सहायता करेंगे । हे तात ! एक-बार घर के कार्य से तुम घबरा गये थे परंतु अब चलकर देखो कि हम लोग तुम्हारी सहायता किस प्रकार करते हैं ? अतः हे तात! हमारा कहना मानो चलो हम अपने घर चलें ॥६॥



गन्तुं ताय ! पुणाऽऽगच्छे, ण तेणासमणो सिया ।

अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ?

॥७॥

छाया - गत्वा तात! पुनरागच्छेर्नतेनाश्रमणः स्याः । अकामकं पराक्रमन्तं कस्त्वां वारयितुमर्हति ॥

अन्वयार्थ - (हे ताय!) हे तात! (गन्तुं) एकबार घर जाकर (पुणा) फिर (आगच्छे) आ जाना (तेण) इससे (ण असमणो सिया) तुम अश्रमण नहीं हो सकते। (अकामगं) घर के कामकाज में इच्छा रहित होकर (परिक्कम्मं) अपनी इच्छानुसार कार्य करते हुए (ते) तुमको (को) कौन (वारेउमरिहति) वारण कर सकता है ?

भावार्थ - हे तात! एकबार घर चलकर फिर आ जाना, ऐसा करने से तुम अश्रमण नहीं हो सकते । घर के कार्य में इच्छा रहित तथा अपनी रुचि के अनुसार कार्य करते हुए तुमको कौन निषेध कर सकता है ?

टीका - 'तात' पुत्र! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्ताऽसि, न च 'तेन' एतावता गृहगमनमात्रेण त्वमश्रमणो भविष्यसि, 'अकामगं'ति अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं 'पराक्रमन्तं' स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कः 'त्वां'

भवन्तं 'वारयितुं' निषेधयितुम् 'अर्हति' योग्यो भवति, यदिवा - 'अकामगं'ति वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं वारयितुमर्हतीति ॥७॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - हे तात! घर जाकर, अपने स्वजनवर्ग को देखकर फिर आ जाना । केवल घर जाने मात्र से तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे । घर के व्यापार में इच्छा रहित और अपनी रूचि के अनुसार कार्य करते हुए तुम को कौन रोक सकता है ? अथवा वृद्धावस्था आने पर जब तुम्हारी मदनेच्छा और कामना निवृत्त हो जायगी, उस समय अवसर प्राप्त संयम का अनुष्ठान करने से तुमको कौन रोक सकता है ? ॥७॥



जं किञ्चि अणगं तात ! तंपि सव्वं समीकतं^१ ।

हिरण्णं ववहाराइ, तंपि दाहामु ते वयं

॥८॥

छाया - यत् किञ्चिदृणं तात। तत्सर्वं समीकृतम् । हिरण्यं व्यवहारादि तदपि दास्यामो वयम् ॥

अन्वयार्थ - (तात!) हे तात! (जं किञ्चि अणगं) जो कुछ ऋण था । (तं पि सव्वं) वह भी सब (समीकतं) हमने बांट बांटकर बराबर कर दिया है । (ववहाराइ) व्यवहार के योग्य जो (हिरण्णं) सोना, चांदी आदि हैं (तंपि) वह भी (ते) तुझको (वयं) हमलोग (दाहामु) देंगे।

भावार्थ - हे तात! तुम्हारे ऊपर जो ऋण था, वह भी हम लोगों ने बराबर बांट कर ले लिया है। तथा तुम्हारे व्यवहार के लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होगी, वह भी हम लोग देंगे।

टीका - 'तात' पुत्र ! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य 'समीकृतं' समभागेन व्यवस्थापितं, यदिवोत्कटं सत् समीकृतं - सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं, यच्च 'हिरण्यं' द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते, आदिशब्दात् अन्येन वा प्रकारेण तवोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्यामः, निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति ॥८॥

टीकार्थ - हे पुत्र ! तुम्हारे ऊपर जो ऋण था, वह भी हमलोगों ने अच्छी तरह बांटकर बराबर कर दिया है । अथवा तुम्हारे उपर जो भारी ऋण था, उसकी हमलोगों ने ऐसी व्यवस्था कर दी है । जिससे वह सुगमता के साथ चुकाया जा सकता है । तथा अबसे जो कुछ द्रव्य तुम्हारे व्यवहार के लिए उपयुक्त होगा, एवं आदि शब्द से किसी दूसरे प्रकार से जो द्रव्य तुम्हारे उपयोग के लिए आवश्यक होगा, वह भी हम लोग देंगे इसलिए 'मैं निर्धन हूँ' ऐसा भय तुम मत करो ॥८॥



उपसंहारार्थमाह -

अब इस विषय को समाप्त करने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

इच्चेव णं सुसेहन्ति, कालुणीयसमुट्ठिया ।

विबद्धो नाइसंगेहिं, ततोऽगारं पहावइ

॥९॥

छाया - इत्येव सुशिक्षयन्ति कारुण्यसमुपस्थिताः । विबद्धो ज्ञातिसङ्गैस्ततोऽगारं प्रधावति ॥

अन्वयार्थ - (कालुणीयसमुट्ठिया) करुणा से युक्त बन्धु बांधव (इच्चेव) इस प्रकार (सुसेहन्ति) साधु को शिक्षा देते हैं । (नाइसंगेहिं) ज्ञाति के सङ्ग से (विबद्धो) बंधा हुआ जीव (ततो) उस समय (अगारं) घर की ओर (पहावइ) दौड़ता है ।

भावार्थ - करुणा से भरे हुए बन्धुबान्धव, साधु को उक्त रीति से शिक्षा देते हैं। पश्चात् उन ज्ञातियों के संग से बंधा हुआ गुरुकर्म जीव, प्रव्रज्या को छोड़कर घर चला जाता है।

टीका - णमिति वाक्यालङ्कारे 'इत्येव' पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थिताः 'तं' प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा सुसेहन्ति'ति सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति, स चापरिणतधर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो - मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितः ततः 'अगारं' गृहं प्रति धावति - प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति ॥९॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - 'णं' शब्द वाक्यालंकार में आया है। पूर्वोक्त रीति से करुणामय वचन बोलकर साधु के चित्त में करुणा उत्पन्न करानेवाले अथवा स्वयं दीनता को प्राप्त साधु के माता-पिता आदि स्वजन वर्ग अच्छी तरह साधु को शिक्षा देते हैं और साधु के हृदय में अपनी बात को स्थापित करते हैं। वह साधु भी कच्चा धर्मवाला और अल्पपराक्रमी तथा गुरुकर्मी होने के कारण माता, पिता, पुत्र और स्त्री में मोहित होकर घर की ओर दौड़ता है। वह प्रव्रज्या को छोड़कर फिर गृहपाश में बंध जाता है ॥९॥

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबन्धई ।

एवं णं पडिबन्धन्ति, णातओ असमाहिणा

॥१०॥

छाया - यथा वृक्षं वने जातं मालुका प्रतिबध्नाति । एवं प्रतिबध्नन्ति ज्ञातयोऽसमाधिना ।

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (वणे जायं) वन में उत्पन्न (रुक्खं) वृक्ष को (मालुया) लता (पडिबन्धई) बांध लेती है (एवं) इसी तरह (णातओ) ज्ञातिवाले (असमाहिणा) असमाधि के द्वारा उस साधु को (पडिबन्धन्ति) बांध लेते हैं ।

भावार्थ - जैसे जंगल में उत्पन्न वृक्ष को लता बांध लेती है, इसी तरह साधु को, ज्ञातिवाले असमाधि के द्वारा बांध लेते हैं ।

टीका - यथा वृक्षं 'वने' अटव्यां 'जातम्' उत्पन्नं 'मालुया' वल्ली 'प्रतिबध्नाति' वेष्टयत्येवं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'ज्ञातयः' स्वजनाः 'तं' यतिं असमाधिना प्रतिबध्नन्ति, ते तत्कुर्वन्ते येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति, तथा चोक्तम् -

'अमित्ति मित्तवेसेणं, कंठे धेचूण रोयइ । मा मित्ता! सोग्गइं जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं ॥१॥

॥१०॥ अपि च -

टीकार्थ - जैसे जंगल में उत्पन्न वृक्ष को लता वेष्टित कर देती है। इसी तरह स्वजनवर्ग उस साधु को असमाधि के द्वारा बांध लेता है। वे, वह कार्य करते हैं, जिससे उस साधु को असमाधि (अशान्ति) उत्पन्न होती है। यहां 'णं' शब्द वाक्यालंकार में आया है। कहा है कि -

'अमित्तोमित्तवेसेणं' अर्थात् वस्तुतः परिवार वर्ग मित्र नहीं किन्तु अमित्र है वह मित्र की तरह कण्ठ में लिपटकर रोता है, मानो वह कहता है कि हे मित्र! तू सद्गति में न जा। आओ हम तुम दोनों ही दुर्गति में चलें ॥१०॥ और भी -

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वावि नवग्गहे ।

पिड्डतो परिसप्पन्ति, सुयगोव्व अदूरए

॥११॥

छाया - विबद्धो ज्ञातिसङ्गैर्हस्तीवाऽपि नवग्गहे । पृष्ठतः परिसर्पन्ति सूतगौरिवादूरगा ।

अन्वयार्थ - (नातिसंगेहिं) माता, पिता आदि स्वजनवर्ग के सम्बन्ध द्वारा (विबद्धो) बंधे हुए साधु के (पिड्डतो) पीछे-पीछे (परिसप्पन्ति) स्वजनवर्ग चलते हैं और (नवग्गहे हत्थी वावि) नवीन ग्रहण किये हुए हाथी के समान उसके अनुकूल आचरण करते हैं। तथा (सुयगोव्व अदूरए) नई व्याई हुई गाय जैसे अपने बच्छड़े के पास ही रहती है, उसी तरह परिवार वर्ग, उसके पास ही रहता है ।

1. अमित्रं मित्रवेषेण कण्ठे गृहीत्वा रोदिति । मा मित्र! सुगतीयाः द्वावपि गच्छावो दुर्गतिम् ॥

भावार्थ - जो पुरुष, माता पिता आदि स्वजनवर्ग के मोह में पड़कर प्रव्रज्या को छोड़ फिर घर चला आता है, उसके परिवार वर्ग नवीन ग्रहण किये हुए हाथी के समान उसकी बहुत खातिरदारी करते हैं और उसके पीछे-पीछे फिरते हैं। जैसे नयी व्याई हुई गाय अपने बच्छड़े के पास ही रहती है, इसी तरह परिवार वर्ग उसके पास ही रहता है।

टीका - विविधं बद्धः - परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिसङ्गैः - मातापित्रादिसम्बन्धैः, ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति, हस्तीवापि 'नवग्रहे' अभिनवग्रहणे, (यथा स) धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते, एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते, दृष्टान्तान्तरमाह - यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनन्धयस्य 'अदूरगा' समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पति, एवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति- तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥

टीकार्थ - माता-पिता आदि के सम्बन्ध से वह विविध प्रकार से बंधा हुआ परवश हो जाता है और वे माता-पिता आदि उस समय उसके अनुकूल आचरण करते हुए उसको सन्तोष उत्पन्न करवाते हैं, जैसे नवीन ग्रहण किये हुए हाथी को संतोष उत्पन्न कराने के लिए लोग ईख का टुकड़ा आदि मधुर आहार देकर उसकी सेवा करते हैं। उसी तरह स्वजनवर्ग सब अनुकूल उपायों के द्वारा उसकी सेवा करते हैं। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जैसे नूतन व्याई हुई गाय अपने बच्छड़े के समीप में रहती हुई उसके पीछे-पीछे दौड़ती फिरती है। इसी तरह वे परिवार वाले भी प्रव्रज्या छोड़े हुए उस पुरुष का नवीन जन्म हुआ मानकर उसके पीछे-पीछे फिरता है। वह जिस मार्ग से जाता है, उसी से वे भी जाते हैं। यह अर्थ है ॥११॥



सङ्गदोषदर्शनायाह -

स्वजन वर्ग के संग का दोष बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं ? -

एते संग्ता मणूसाणं, पाताला व अतारिमा ।

कीवा जत्थ य किस्सन्ति, नाइसंगेहिं मुच्छिया

॥१२॥

छाया - एते सङ्गाः मनुष्याणां पाताला इवाताव्याः । क्लीबाः यत्रः क्लिश्यन्ति ज्ञातिसङ्गैर्मूर्च्छिताः ॥

अन्वयार्थ - (एते) यह (संगा) माता-पिता आदि का संग (मणूसाणं) मनुष्यों के लिए (पाताला व) समुद्र के समान (अतारिमा) दुस्तर है। (जत्थ) जिसमें (नाइसंगेहिं) ज्ञाति संसर्ग में (मुच्छिया) आसक्त (कीवा) असमर्थ पुरुष (किस्सन्ति) क्लेश पाते हैं।

भावार्थ - यह माता-पिता आदि स्वजनवर्ग का स्नेह, समुद्र के समान, मनुष्यों के द्वारा दुस्तर होता है। इस स्नेह में पड़कर शक्तिहीन पुरुष, क्लेश भोगता है।

टीका - 'एते' पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गा - मातृपित्रादिसम्बन्धाः कर्मोपदानहेतवः, मनुष्याणां 'पाताला इव' समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते 'अतारिमा'ति दुस्तराः, एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घयन्ते, 'यत्र च' येषु सङ्गेषु 'क्लीबा' असमर्थाः 'क्लिश्यन्ति' क्लेशमनुभवन्ति, संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः, किंभूताः? - 'ज्ञातिसङ्गैः' पुत्रादिसम्बन्धैः 'मूर्च्छिता' गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो, न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्तमिति ॥१२॥ अपि च-

टीकार्थ - अर्थात् जो जीव को बांध लेता है, उसे 'सङ्ग' कहते हैं। माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के सम्बन्ध को 'सङ्ग' कहते हैं, क्योंकि वह जीव को अपने बन्धन में बांध लेता है। वह सम्बन्ध, कर्मबंध का हेतु है और जैसे तल वर्जित होने के कारण समुद्र मनुष्यों के द्वारा दुस्तर होता है, उसी तरह यह भी अल्पपराक्रमी जीव से दुर्लभ्य होता है। इस माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के सङ्ग में आसक्त असमर्थ पुरुष क्लेश भोगते हैं। वे, संसार में सदा पड़े रहते हैं, वे कैसे हैं? पुत्र आदि के सम्बन्ध में आसक्त जीव, संसार में पड़कर क्लेश भोगते हुए अपने आत्मा के विषय में विचार नहीं करते हैं ॥१२॥ और भी -

तं च भिक्खू परित्राय, सव्वे संग्गा महासवा ।

जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्मणुत्तरं

॥१३॥

छाया - तं च भिक्षुः परित्राय सर्वे सङ्गा महाश्रवाः । जीवितं नावकाङ्क्षेत, श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥

अन्वयार्थ - (भिक्खू) साधु ! (तं च) उस ज्ञातिसम्बन्ध को (परित्राय) जानकर छोड़ देवे । क्योंकि (सव्वे) सभी (संग्गा) सम्बन्ध (महासवा) महान्, कर्म के आश्रवद्वार होते हैं । (अणुत्तरं) सर्वोत्तम (धम्मं) धर्म को (सोच्चा) सुनकर साधु, (जीवियं) असंयम जीवन की (नावकंखिज्जा) इच्छा न करे ।

भावार्थ - हे साधु ! ज्ञाति संसर्ग को संसार का कारण जानकर छोड़ देवे, क्योंकि सभी सम्बन्ध, कर्मबन्ध के महान् आश्रवद्वार होते हैं । हे साधु ! सर्वोत्तम इस आर्हत धर्म को सुनकर असंयम जीवन की इच्छा न करे ।

टीका - 'तं च' ज्ञातिसङ्गं संसारैकहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया (ज्ञात्वा) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । किमिति?, यतः 'सर्वेऽपि' ये केचन सङ्गास्ते 'महाश्रवा' महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते । ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं-गृहावासपाशं 'नाभिकाङ्क्षेद्' नाभिलषेत्, प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेद्, असमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत् । किं कृत्वा ? - 'श्रुत्वा' निशम्यावगम्य, कम् ? - 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं-प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः ॥१३॥ अन्यच्च-

टीकार्थ - साधु ! ज्ञातिसंसारं संसार का प्रधान कारण है, यह ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका त्याग कर देवे । क्योंकि जितने सङ्ग- सम्बन्ध हैं, वे सभी कर्म के महान् आश्रवद्वार हैं । अतः अनुकूल उपसर्ग आने पर साधु असंयम जीवन अर्थात् गृहवास रूप पाशबन्धन की इच्छा न करे । तथा प्रतिकूल उपसर्ग आने पर जीवन की इच्छा न करे । साधु, असत् कर्म के अनुष्ठान से सांसारिक जीवन की इच्छा न करे । क्या कर के? कहते हैं कि सुनकर । क्या सुनकर? समाधान यह है कि- श्रुत और चारित्र नामक धर्म जो सबसे प्रधान और मुनीन्द्रप्रतिपादित है उसको सुनकर ॥१३॥



अहिमे संति आवट्ठा, कासवेणं पवेइया ।

बुद्धा जत्थावसप्पन्ति, सीयन्ति अबुहा जहिं

॥१४॥

छाया - अहिमे सन्त्यावर्ताः काश्यपेन प्रवेदिताः । वृद्धाः यत्रापसर्पन्ति सीदन्त्येषुधाः यत्र ॥

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (कासवेणं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीरस्वामी के द्वारा (पवेइया) बताये हुए (इमे) ये (आवट्ठा) आवर्त - चक्र (सन्ति) हैं । (जत्था) जिनके आने पर (बुद्धा) ज्ञानी पुरुष (अवसप्पन्ति) उनसे अलग हट जाते हैं । (अबुहा) परन्तु अज्ञानी पुरुष, (जहिं) जिसमें (सीयन्ति) आसक्त होते हैं ।

भावार्थ - इसके पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा वर्णित ये आवर्त (भँवर) जानने चाहिए । विद्वान् पुरुष इन आवर्तों से दूर रहते हैं परन्तु निर्विवेकी इनमें फँस जाते हैं ।

टीका - 'अथे' त्यधिकारान्तरदर्शनार्थः, पाठान्तरं वा 'अहो' इति, तच्च विस्मये, 'इमे' इति एते प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् 'सन्ति' विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति - प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ताः नद्यादेः, भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्त्यर्थनाविशेषाः, एते चावर्ताः 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेन 'आ(प्र)वेदिताः' कथिताः प्रतिपादिताः, 'यत्र' येषु सत्सु 'बुद्धा' अवगततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्यः 'अपसर्पन्ति' अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्ति, अबुद्धास्तु निर्विवेकतया येष्ववसीदन्ति-आसक्तिं कुर्वन्तीति ॥१४॥

टीकार्थ - यहां से दूसरा प्रकरण आरंभ होता है । यह बताने के लिए 'अथ' शब्द आया है । कहीं - कहीं 'अथ' के स्थान में 'अहो' यह पाठ पाया जाता है । 'अहो' विस्मय अर्थ का बोधक है जो प्राणियों को

संसार में भ्रमण कराता है, उसे 'आवर्त' कहते हैं। वह आवर्त आगे चलकर कहा जाने वाला है। उस आवर्त को सब लोग जानते हैं, इसलिए वह प्रत्यक्ष और समीपवर्ती है। इस कारण यहां इदम् शब्द से उसका कथन किया गया है। आवर्त, दो प्रकार का होता है। द्रव्यावर्त और भावावर्त। नदी आदि का भंवर 'द्रव्यावर्त' है और उत्कट महामोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न विषयभोग की इच्छा सिद्ध करनेवाली संपत्तिविशेष की प्रार्थना 'भावावर्त' है। उत्पन्नदिव्यज्ञानधारी भगवान् महावीरस्वामी ने आवर्त का स्वरूप बताया है, इसलिए जो विवेकी पुरुष इन आवर्तों का फल जानते हैं, वे तत्त्वदर्शी जीव इनके उपस्थित होने पर प्रमाद नहीं करते हैं किन्तु इनसे दूर हट जाते हैं, परंतु जो अज्ञानी हैं। वे अज्ञानवश इनमें आसक्त होकर महादुःख भोगते हैं ॥१४॥



तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह -

अब उन्हीं आवर्तों को दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं -

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया ।

निमंतयन्ति भोगेहिं, भिक्खूयं साधुजीविणं

॥१५॥

छाया - राजानो राजामात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः । निमन्त्रयन्ति भोगेर्भिक्षुकं साधुजीविणम् ॥

अन्वयार्थ - (रायाणो) राजा महाराजा (रायमच्चा) और राजमंत्री (माहणा) ब्राह्मण (अदुव) अथवा (खत्तिया) क्षत्रिय (साधुजीविणं) उत्तम आचार से जीवन निर्वाह करनेवाले (भिक्खूयं) साधु को (भोगेहिं) भोग भोगने के लिए (निमंतयन्ति) निमन्त्रित करते हैं ।

भावार्थ - राजा महाराजा और राजमन्त्री तथा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, उत्तम आचार से जीवन निर्वाह करने वाले लोग साधु को भोग भोगने के लिए आमन्त्रित करते हैं ।

टीका - 'राजानः' चक्रवर्त्यादयो 'राजामात्याश्च' मन्त्रिपुरोहितप्रभृतयः तथा ब्राह्मणा अथवा 'क्षत्रिया' इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः, एते सर्वेऽपि 'भोगैः' शब्दादिभिर्विषयैः 'निमन्त्रयन्ति' भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति, कम्? भिक्षुकं 'साधुजीविणमि'ति साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति (साधुजीवी तं) साधुजीविणमिति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इति । एवमन्येऽपि केनचित्सम्बन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति ॥१५॥

टीकार्थ - राजा अर्थात् चक्रवर्ती आदि तथा राजामात्य यानी मन्त्री और पुरोहित आदि एवं ब्राह्मण अथवा इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न क्षत्रिय आदि, ये सभी, शब्दादि विषयों के सेवन के लिए आमन्त्रित करते हैं। वे भोग सेवन के लिए स्वीकार कराते हैं। किसको? पवित्र आचार से जीवन व्यतीत करनेवाले साधु को। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्रनामक साधु को विविध प्रकार के विषयों को भोगने के लिए आमन्त्रित किया था। इसी तरह दूसरे भी रूप यौवनसंपन्न साधु को किसी कारण वश विषय भोगने के लिए निमन्त्रित कर सकते हैं ॥१५॥



एतदेव दर्शयितुमाह -

यही दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं ।

हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य ।

भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु तं

॥१६॥

छाया - हस्त्यश्चरथयानेर्विहारगमनैश्च । भुङ्क्ष्व भोगान्निमान् श्लाघ्यान् महर्षे पूजयामस्त्वाम् ॥

अन्वयार्थ - (महरिसी) हे महर्षे! (तं) हम तुम्हारी (पूजयामु) पूजा करते हैं (इमे) इन (सग्घे) उत्तम (भोगे) भोगों को (भुंज) भोगो।

(हृत्पञ्चसरहजणेहिं) हाथी, घोड़ा, रथ और पालकी आदि पर बैठो (विहारगमणेहि य) तथा चित्तविनोद के लिए बाग बगीचों में चला करो ।

भावार्थ - पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि मुनि के निकट उपस्थित होकर कहते हैं, कि हे महर्षे! तुम, हाथी, घोड़ा, रथ, और पालकी आदि पर बैठो तथा क्रीड़ा के लिए बगीचे आदि में चला करो । तुम इन उत्तम भोगों को भोगो । हम तुम्हारी पूजा करते हैं ।

टीका - हस्त्यश्वरथयानैः तथा 'विहारगमनैः', विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि - उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः, चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेयुः, तद्यथा: भुङ्क्ष्व 'भोगान्' शब्दादिविषयान् 'इमान्' अस्माभिर्दोक्तितान् प्रत्यक्षासन्नान् 'श्लाघ्यान्' प्रशस्तान् अनिन्द्यान् 'महर्षे' साधो! वयं विषयोपकरणद्वौकनेन 'त्वां' भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि मुनि के निकट आकर हाथी, घोड़ा, रथ और पालकी पर बैठने के लिए तथा क्रीड़ा के निमित्त बगीचा आदि में जाने के लिए एवं 'च' शब्द से इन्द्रियों को सुख देने वाले दूसरे विषयों को भोगने के लिए आमन्त्रित कर सकते हैं । वे यह कह सकते हैं कि हे मुनिवर ! मेरे द्वारा अर्पण किये हुए इन उत्तमोत्तम शब्दादि विषयों को तुम भोगो । ये विषय, तुम्हारे सामने उपस्थित हैं । हे महर्षे ! हम विषय भोग की सामग्री देकर तुम्हारा सत्कार करते हैं ॥१६॥ और भी -



वत्थगन्धमलङ्कारं, इत्थीओ सयणाणि य ।

भुंजाहिमाइं, भोगाइं आउसो! पूजयामु तं

॥१७॥

छाया - वत्थगन्धमलङ्कारं स्त्रियः शयनासने च । भुङ्क्ष्वेमान् भोगान् आयुष्मन् पूजयामस्त्वाम् ॥

अन्वयार्थ - (आउसो) हे आयुष्मन्! (वत्थगन्धं) वस्त्र, गंध, (अलङ्कारं) अलङ्कार - भूषण (इत्थीओ) स्त्रियां (सयणाणि य) और शय्या (इमाइं) इन (भोगाइं) भोगों को (भुंज) आप भोगें (तं) आपकी (पूजयामु) हम पूजा करते हैं ।

भावार्थ - हे आयुष्मन्! वस्त्र, गंध, अलङ्कार - भूषण, स्त्रियां और शय्या इन भोगों को आप भोगें । हम आपकी पूजा करते हैं ।

टीका - 'वस्त्रं' चीनांशुकादि 'गन्धाः' कोष्ठपुटपाकादयः, वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः तथा 'अलङ्कारम्' कटककेयूरादिकं तथा 'स्त्रियः' प्रत्यग्रयौवनाः 'शयनानि च' पर्यङ्गतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि, इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्दोक्तितान् 'भुङ्क्ष्व' तदुपभोगेन सफलीकुरु, हे आयुष्मन्! भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१७॥ अपि च -

टीकार्थ - चीन देश में बने हुए वस्त्र आदि तथा कोष्ठ और पुटपाक आदि गंध, (यहां वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धम् यह समाहार द्वन्द्वसमास है) तथा कटक और केयूर आदि भूषण एवं नवयौवना स्त्री तथा रुई के तोसक और तकिया से युक्त पलंग, इन भोगों को आप भोगें । ये भोग इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले हैं इसलिए हमारे द्वारा दिये हुए इन विषयों को भोगकर आप इन्हें सफल करें । हे आयुष्मन्! हम आपका सत्कार करते हैं ॥१७॥



जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया ! ।

आगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा

॥१८॥

छाया - यस्त्वया नियमशीर्णो भिक्षुभावे सुव्रतः । अगारमावसस्तव सर्वः संविद्यते तथा ॥

अन्वयार्थ - (सुव्वया!) हे सुन्दरव्रतवाले मुनिवर! (तुमे) तुमने (जे) जिस (नियमे) नियम का (चिण्णो) अनुष्ठान किया है

(आगारमावसंतस्स) घर में निवास करने पर भी (सब्बे) वह सब (तथा) उसी तरह (संविज्झइ) बने रहेंगे ।

भावार्थ - हे सुन्दरव्रतधारिन्! तुमने जिन महाव्रत आदि नियमों का अनुष्ठान किया है, वह सब गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेंगे ।

टीका - यस्त्वया पूर्वं 'भिक्षुभावे' प्रव्रज्यावसरे 'नियमो' महाव्रतादिरूपः 'चीर्णः' अनुष्ठितः इन्द्रियनोऽन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत! स साम्प्रतमपि 'अगारं' गृहम् 'आवसतः' गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति, न हि सुकृतदुष्कृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः ॥१८॥ किञ्च -

टीकार्थ - हे मुनिवर! प्रव्रज्या के समय इन्द्रिय और मन को शांत करके आपने जिन महाव्रत आदि नियमों का अनुष्ठान किया है, वे गृहस्थभाव के सम्यग् रूप से पालन समय में भी उसी तरह बने रहेंगे क्योंकि मनुष्य के द्वारा किये हुए सुकृत और दुष्कृत की जो आचरणा हुई है, उसका नाश नहीं होता है । अर्थात् आपके सुकृत का फल आपको मिलेगा ही ॥१८॥



चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव? ।

इच्चेव णं निमंतेति, नीवारेण व सूयरं

॥१९॥

छाया - चिरं विहरतः दोष इदानीं कुतस्तव । इत्येव निमन्त्रयन्ति नीवारेणेव सूकरम् ॥

अन्वयार्थ - हे मुनिवर! (चिरं) बहुत काल से (दूइज्जमाणस्स) संयम का अनुष्ठान पूर्वक विहार करते हुए (तव) आपको (दाणिं) इस समय (दोसो) दोष (कुतो) कैसे हो सकता है? (इच्चेव) इस प्रकार (नीवारेण) चावल के दानों का प्रलोभन देकर (सूयरं व) जैसे लोग सुअर को फँसाते हैं, इसी तरह मुनि को (निमंतेति) भोग भोगने के लिए निमन्त्रित करते हैं ।

भावार्थ - हे मुनिवर! आपने बहुत काल तक संयम का अनुष्ठान किया है। अब भोग भोगने पर भी आपको दोष नहीं हो सकता है । इस प्रकार भोग भोगने का आमंत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते हैं, जैसे चावल के दानों से सुअर को फँसाते हैं ।

टीका - 'चिरं' प्रभूतं कालं संयमानुष्ठाने 'दूइज्जमाणस्स'ति विहरतः सतः 'इदानीं' साम्प्रतं दोषः कुतस्तव?, नैवास्तीति भावः, इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे 'तं' भिक्षुं साधुजीविनं 'निमन्त्रयन्ति' भोगबुद्धिं कारयन्ति, दृष्टान्तं दर्शयति - यथा 'नीवारेण' व्रीहिविशेषकणदानेन 'सूकरं' वराहं कूटके प्रवेशयन्ति एवं तमपि साधुमिति ॥१९॥

टीकार्थ - पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि साधु से कहते हैं कि हे मुनिवर! आपने चिरकाल तक संयम का अनुष्ठान किया है । अतः अब आपको भोग भोगने में कोई दोष नहीं हो सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे लोग, हाथी, घोड़ा, रथ आदि तथा वस्त्र, गंध और अलंकार आदि नानाविध, भोग साधनों के द्वारा संयम के साथ जीनेवाले साधु में भोगबुद्धि उत्पन्न करते हैं । इस विषय में दृष्टान्त दिया जाता है - जैसे चावल के दानों के द्वारा सुअर को कूटपाश में फँसाते हैं । इसी तरह उस साधु को भी असंयम में फँसाते हैं ॥१९॥



अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह -

अब सूत्रकार पूर्वोक्त बातों का उपसंहार करने के लिए कहते हैं -

चोइया भिक्खचरियाए, अचयंता जवित्तए ।

तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला

॥२०॥

छाया - चोदिताः भिक्षुचर्याऽशक्नुवन्तो यापयितुम् । तत्र मब्दाः विधीदन्ति उद्यान इव दुर्बलाः ॥

अन्वयार्थ - (भिक्षुचरियाए) साधुओं की समाचारी को पालन करने के लिए (चोइया) आचार्य आदि के द्वारा प्रेरित किये हुए (जवित्तए) और उस समाचारी के पालनपूर्वक अपना निर्वाह (अचयंता) नहीं कर सकते हुए (मंदा) मूर्ख जीव, (तत्थ) उस संयम में (विसीयन्ति) ढीले हो जाते हैं (उज्जाणंसि) जैसे ऊँचे मार्ग में (दुब्बला) दुर्बल बैल गिर जाते हैं ।

भावार्थ - साधुसमाचारी को पालन करने के लिए आचार्य आदि से प्रेरित किये हुए मूर्ख जीव उस साधु समाचारी का पालन नहीं कर सकते हुए संयम को त्याग देते हैं । जैसे ऊँचे मार्ग में बैल गिर जाते हैं ।

टीका - भिक्षूणां - साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या दशविधचक्रवालसमाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तथा 'चोदिताः- प्रेरिता यदिवा भिक्षुचर्याया करणभूतया सीदन्तश्चोदिताः - तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं 'यापयितुं' वर्तयितुमसमर्थाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्ते 'मन्दा' जडा 'विषीदन्ति' शीतलविहारिणो भवन्ति, तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति, दृष्टान्तमाह - ऊर्ध्वं यानमुद्यानं - मार्गस्योन्नतो भाग उट्टङ्कमित्यर्थः तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति - ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति ॥२०॥ किञ्च-

टीकार्थ - शास्त्रोक्त विधि के अनुसार विचरने वाले साधुओं की तलवार की धार समान दश प्रकार की समाचारी जो 'इच्छा, मिच्छा' इत्यादि के द्वारा कही है, उसे 'भिक्षुचर्या' कहते हैं । उस भिक्षुचर्या का पालन करने के लिए गुरु आदि के द्वारा प्रेरित किये हुए, यद्वा उस भिक्षुचर्या के कारण क्लेश पाते हुए तथा दस प्रकार की साधु समाचारी को पालन करने के लिए आचार्य आदि के द्वारा बार - बार प्रेरित किये हुए, एवं उक्त प्रकार से गुरु की प्रेरणा को सहन करने में असमर्थ और संयम पालनपूर्वक अपना निर्वाह करने में अशक्त मूर्ख जीव, मोक्ष प्राप्ति का प्रधान साधन तथा करोड़ों भव के पश्चात् मिले हुए उस संयम के पालन में ढीले हो जाते हैं । वे मूर्ख, महापुरुषों के द्वारा आचरण किये हुए, चिन्तामणी के समान अचिन्तनीयप्रभाव वाले उस संयम को ही छोड़ देते हैं । इस विषय में दृष्टान्त बतलाते हैं । मार्ग के ऊँचे भाग को 'उद्यान' कहते हैं । उस ऊँचे भाग के ऊपर जैसे महान् भार से दबे हुए दुर्बल बैल गर्दन को नीची कर बैठ जाते हैं, वे उस लदे हुए भार को वहन करने में समर्थ नहीं होते हैं । इसी तरह भाव से मूर्ख, वे जीव भी ग्रहण किये हुए पांचमहाव्रतरूपी भार को वहन करने में असमर्थ तथा पूर्वोक्त स्त्री आदि भावावर्तों से विचलित होकर संयम को छोड़ देते हैं ॥२०॥



अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया ।

तत्थ मंदा विसीयन्ति, उज्जाणंसि जरग्गवा

॥२१॥

छाया - अशक्नुवन्तो रूक्षेण, उपधानेन तर्जिताः । तत्र मन्दाः विषीदन्ति उद्याने जरग्गवाः ॥

अन्वयार्थ - (लूहेणं) रूक्ष संयम का पालन (अचयंता) नहीं कर सकते हुए (उवहाणेण) तथा तप से (तज्जिया) पीड़ित (मन्दा) मूर्ख जीव, (उज्जाणंसि) ऊँचे मार्ग में (जरग्गवा) बूढ़े बैल के समान (तत्थ) उस संयम में (विसीयन्ति) क्लेश पाते हैं ।

भावार्थ - संयम का पालन करने में असमर्थ और तपस्या से भय पाते हुए मूर्ख जीव, संयम मार्ग में इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे ऊँचे मार्ग में बूढ़ा बैल कष्ट पाता है ।

टीका - 'रूक्षेण' संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तः तथा 'उपधानेन' अनशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा 'तर्जिता' बाधिताः सन्तः तत्र संयमे मन्दा विषीदन्ति 'उद्यानशिरसि' उट्टङ्कमस्तके 'जीर्णो' दुर्बलो गौरिव, यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्भवस्येति जीर्णग्रहणम्, एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनो-ऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते, किं पुनरावर्तेरुपसर्गितानां मन्दानामिति ॥२१॥

टीकार्थ - 'रूक्ष' नाम संयम का है क्योंकि वह नीरस है । जो मनुष्य उस संयम को पालन करने में समर्थ

नहीं है, तथा बाह्य और अभ्यन्तर रूप अनशन आदि द्विविध तपस्या से पीड़ित है, वे मूर्ख, संयम में इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे ऊँचे मार्ग में बूढ़ा दुर्बल बैल दुःख पाता है। ऊँचे मार्ग में जवान बैल को भी कष्ट होना संभव है तो फिर बूढ़े बैल की तो बात ही क्या है? यह दर्शाने के लिए यहां 'जीर्ण' पद का ग्रहण है। जो पुरुष धीरता और संहनन (दृढ़ता) से युक्त एवं विवेकी है। उनका भी आवर्त (विघ्न) के बिना भी संयम से भ्रष्ट होना संभव है, तब फिर जो मूर्ख है और आवर्तों (विघ्न) के द्वारा उपसर्ग किये गये हैं, उनका तो कहना ही क्या है ? ॥२१॥



सर्वोपसंहारमाह -

सर्व कथन का उपसंहार करने के लिए कहते हैं।

एवं निमन्त्रणं लब्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।

अज्ज्ञोववन्ना कामेहिं, चोइज्जन्ता गया गिहं

॥२२॥ त्ति बेमि॥

॥ इति उपसर्गपरिण्णाए बितिओ उद्देशो सम्मत्तो ॥३-२॥ (गाथाग्रं. २१३)

छाया - एवं निमन्त्रणं लब्ध्वा मूर्च्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु। अध्युपपन्नाः कामेषु चोद्यमानाः गता गृहम् ॥

अन्वयार्थ - (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (निमन्त्रणं) भोग भोगने के लिए निमन्त्रण (लब्धुं) पाकर (मुच्छिया) काम भोगों में आसक्त (इत्थीसु गिद्ध) स्त्रियों में मोहित (कामेहिं) काम भोगों में (अज्ज्ञोववन्ना) दत्तचित्त पुरुष (चोइज्जन्ता) संयम पालन के लिए प्रेरित किये हुए (गिहं) घर को (गया) जा चुके हैं।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से भोग भोगने का आमन्त्रण पाकर कामभोग में आसक्त, स्त्री में मोहित एवं विषय भोग में दत्तचित्त पुरुष, संयम पालन के लिए गुरु आदि के द्वारा प्रेरित करने पर भी फिर से गृहस्थ हो चुके हैं।

टीका - 'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकारणदानपूर्वकं 'निमन्त्रणं' विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'तेषु' विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु 'मूर्च्छिता' अत्यन्तासक्ताः तथा स्त्रीषु 'गृद्धाः' दत्तावधाना रमणीरागमोहिताः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'अध्युपपन्नाः' कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः - संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना नोदनां सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्त्वा गृहं गता-गृहस्थीभूताः। इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥

॥ इति उपसर्गपरिज्ञाऽध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

टीकार्थ - विषयभोग के साधनभूत हाथी, घोड़ा और रथ आदि में अत्यन्त आसक्त, स्त्री के प्रेम में मोहित, कामभोग में गतचित्त गुरुकर्म जीव, पूर्वोक्त रीति से विषयभोग की सामग्री प्रदानपूर्वक धनवानों के द्वारा की हुई भोग भोगने की प्रार्थना को पाकर संयम पालन में ढीले हो जाते हैं। उस समय शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार संयम पालन करने वाले किसी साधु के द्वारा संयम पालन के लिए प्रेरित किये हुए वे पुरुष उस प्रेरणा को सहन करने में समर्थ नहीं होते हैं। किन्तु वे अल्प पराक्रमी जीव प्रव्रज्या को छोड़कर फिर गृहस्थ बन जाते हैं। इति शब्द समाप्ति का द्योतक है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है।



॥ अथ तृतीयोपसर्गाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः प्रारम्भ्यते ॥

उपसर्गपरिज्ञायां उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारम्भ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः -

उपसर्गपरिज्ञाध्ययन का दूसरा उद्देशक कहा जा चुका । अब तीसरा उद्देशक आरंभ किया जाता है। इसका पूर्व उद्देशकों के साथ यह सम्बन्ध है ।

इहानन्तरोद्देशकाभ्यामुपसर्गा अनुकूलप्रतिकूलभेदेनाभिहिताः, तैश्चाध्यात्मविषीदनं भवतीति तदनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् -

पूर्वोक्त दो उद्देशकों में अनुकूल और प्रतिकूल भेदवाले दो प्रकार के उपसर्ग बताये गये हैं । उन उपसर्गों के द्वारा ज्ञान गर्भित वैराग्य का विनाश होता है । यह इस तीसरे उद्देशक में बताया जाता है। यही इस तीसरे उद्देशक के अवतार का कारण है । इस सम्बन्ध से अवतीर्ण इस तीसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है ।

जहा संगामकालम्, पिड्डतो भीरु वेहइ ।

वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ?

॥१॥

छाया - यथा सङ्ग्रामकाले पृष्ठतो भीरुः प्रेक्षते । वलयं गहनमाच्छादकं को जानाति पराजयम् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (संगामकालम्) युद्ध के समय (भीरु) कायर पुरुष (पिड्डतो) पीछे की ओर (वलयं) गड्ढा (गहणं) गहन स्थान (णूमं) छिपने का स्थान (वेहइ) देखता है । वह सोचता है कि (पराजयं) किसका पराजय होगा (को जाणइ) यह कौन जानता है?

भावार्थ - जैसे कायर पुरुष, युद्ध के समय पहले आत्मरक्षा, देहरक्षा के लिए गड्ढा, गहन और छिपने का स्थान देखता है। वह सोचता है कि युद्ध में किसका पराजय होगा, यह कौन जानता है? अतः संकट आने पर उक्त स्थानों में आत्मरक्षा हो सकती है, इसलिए पहले छिपने के स्थान देख लेने चाहिए ।

टीका - दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवतीत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह यथा कश्चिद् 'भीरुः' अकृतकरणः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे समुपस्थिते 'पृष्ठतः प्रेक्षते' आदावेवापत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति । तदेव दर्शयति - 'वलयं'मिति यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा, तथा 'गहनं' धवादिवृक्षैः 'कटिसंस्थानीयं 'णूमं'ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकं, किमित्यसावेवमवलोकयति?, यत एवं मन्यते- तत्रैवम्भूते तुमुलसङ्ग्रामे सुभटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति?, यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः, स्तोकेरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥ किञ्च -

टीकार्थ - दृष्टान्त से मन्दमति पुरुषों को सुखपूर्वक पदार्थ का ज्ञान होता है । इसलिए सूत्रकार पहले दृष्टान्त का ही कथन करते हैं । जैसे युद्धविद्या में अनिपुण कायर पुरुष, शत्रु सेना के साथ युद्ध के अवसर में पहले ही शत्रुओं से बचने के लिए किसी दुर्गम स्थान को देखता है । सूत्रकार उन्हीं दुर्गम स्थानों को दिखाते हैं 'वलयं' अर्थात् जहां मण्डलाकार पानी विद्यमान होता है वह स्थान, अथवा जलरहित गड्ढा आदि स्थान, जहां से निकलना और प्रवेश करना कठिन है, अथवा जो स्थान घव आदि वृक्षों से मनुष्य के कमर तक ढंका हुआ है तथा छिपे हुए पर्वत की गुफा आदि स्थान, इन स्थानों को वह पहले देखता है। वह क्यों इन स्थानों को देखता है? इसका

समाधान यह है कि वह समझता है कि इस भयंकर संग्राम में बहुत से बड़े-बड़े वीर योद्धा एकत्रित हुए हैं। इसलिए यह कौन जान सकता है कि इसमें किसका पराजय होगा? क्योंकि थोड़े पुरुष भी बहुत पुरुषों को जीत लेते हैं, इसलिए कार्यसिद्धि दैवाधीन होती है, यह निश्चित है ॥१॥



मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।

पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई

॥२॥

छाया - मुहुत्ताणां मुहुर्तस्य मुहुर्तो भवति तादृशः । पराजिता अवसर्पाम इति भीरुरुपेक्षते ॥

अन्वयार्थ - (मुहुत्ताणं) बहुत मुहुर्तों का (मुहुत्तस्स) अथवा एक मुहुर्त का (तारिसो) कोई ऐसा (मुहुत्तो होइ) अवसर होता है (जिसमें जय या पराजय संभव है) (पराजिया) अतः शत्रु से हारे हुए हम (अवसप्पामो) जहा छिप सकें (इति) ऐसे स्थान को (भीरू) कायर पुरुष (उवेहई) खोजता है।

भावार्थ - बहुत मुहुर्तों का अथवा एक ही मुहुर्त का कोई ऐसा अवसर विशेष होता है जिसमें जय या पराजय की संभावना रहती है इसलिए 'हम पराजित होकर जहां छिप सकें' ऐसे स्थान को कायर पुरुष पहले ही खोजता है।

टीका - मुहुर्तानामेकस्य वा मुहुर्तस्यापरो 'मुहुर्तः' कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग् भवति यत्र जयः पराजयो वा सम्भाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयम् 'अवसर्पामो' नश्याम इत्येतदपि सम्भाव्यते अस्मद्विधानमिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमुपेक्षते ॥२॥

टीकार्थ - बहुत से मुहुर्त अथवा एक ही मुहुर्त का कोई ऐसा कालविशेष होता है। जिसमें जय और पराजय की संभावना रहती है। ऐसी दशा में पराजित होकर किसी गुप्त स्थान में छिपना पड़े यह भी संभव है। यह विचारकर कायर पुरुष पहले ही विपत्ति के प्रतीकार के लिए रक्षा के स्थान का अन्वेषण करता है अर्थात् ढूँढता है ॥२॥



इति श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह -

इन दो श्लोकों से दृष्टान्त दिखाकर सूत्रकार अब दार्ष्टान्त दिखाने के लिए कहते हैं।

एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं ।

अणागयं भयं दिस्स,² अविकप्पन्तिमं सुयं

॥३॥

छाया - एवं तु श्रमणा एक अबलं ज्ञात्वाऽऽत्मानम् । अनागतं भयं दृष्ट्वाऽवकल्पयन्तीदं श्रुतम् ॥

अन्वयार्थ - (एवं तु) इस प्रकार (एगे समणा) कोई श्रमण (अप्पगं) अपने को (अबलं) जीवनपर्यन्त संयम पालन करने में असमर्थ (दिस्स) देखकर (अणागयं) तथा भविष्यत् काल के (भयं दिस्स) भय को देखकर (इमं सुयं) व्याकरण तथा ज्योतिष आदि को (अविकप्पन्तिमं) अपने निर्वाह का साधन बनाते हैं।

भावार्थ - इसी प्रकार कोई श्रमण जीवनभर संयम पालन करने में अपने को समर्थ नहीं देखकर भविष्यत् काल में होनेवाले दुःखों से बचने के लिए व्याकरण और ज्योतिष आदि शास्त्रों को अपना रक्षक मानते हैं।

टीका - 'एवम्' इति यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति - किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति?, एवमेव 'श्रमणाः' प्रव्रजिता 'एके' केचनादृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानम् 'अबलं' यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं 'दृष्ट्वा' उत्प्रेक्ष्य तद्यथा - निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्मिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते - इदं व्याकरणं गणितं ज्योतिष्कं वैद्यकं होराशास्त्रं मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममावमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥

1. युद्धविषयत्वात् मायोपेक्षेन्द्रजालानि क्षुद्रोपाया इमे त्रय इति श्री हेमचन्द्रवचनादत्र क्षुद्रोपायपर उपेक्षः । 2. अवकल्पन्तीति टीका ।

टीकार्थ - जैसे युद्ध में प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ कायर पुरुष पहले यह देखता है कि पराजित होने पर कौन सा गढ़ा आदि स्थान मेरी रक्षा के निमित्त उपयुक्त होगा इसी तरह अस्थिरचित्त कोई अल्पपराक्रमी श्रमण, जीवनभर अपने को संयम पालन करने में असमर्थ देखकर भविष्य काल में होनेवाले भय के विषय में इस प्रकार चिन्ता करते हैं कि 'मैं निष्किञ्चन हूँ, जब वृद्धावस्था आयगी अथवा कोई रोग आदि उत्पन्न होगा अथवा दुर्भिक्ष पड़ेगा, उस समय मेरी रक्षा के लिए कौन साधन होगा ? ।' इस प्रकार जीविका साधन के भय को सोच कर वे यह मानते हैं कि 'यह व्याकरण, गणित, ज्योतिष, वैद्यक और होराशास्त्र जो हम पढ़ ले तो । इनके द्वारा दुःख के समय हमारी रक्षा हो सकेगी ॥३॥'



एतच्चैतेऽवकल्पयन्तीत्याह -

अल्प पराक्रमी जीव यह भी कल्पना करते हैं, सो सूत्रकार कहते हैं -

को जाणइ ^१विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।

चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पक्कप्पियं

॥४॥

छाया - को जानाति व्यापातं स्त्रीत उदकाद्वा । चोद्यमाना प्रवक्ष्यामो न नोऽस्ति प्रकल्पितम् ॥

अन्वयार्थ - (इत्थीओ) स्त्री से (उदगाउ) अथवा उदक - कच्चे जल से (विऊवातं) मेरा संयम भ्रष्ट हो जायगा (को जाणइ) यह कौन जानता है ?। (णो) मेरे पास (पक्कप्पियं) पहले का उपार्जित द्रव्य भी (ण अत्थि) नहीं है, इसलिए (चोइज्जंता) किसीके पूछने पर हम हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदि को (पवक्खामो) बतायेंगे ।

भावार्थ - संयम पालन करने में अस्थिरचित्त पुरुष यह सोचता है कि 'स्त्री सेवन से अथवा कच्चे पानी के स्नान से, किस प्रकार मैं संयम से भ्रष्ट होऊँगा यह कौन जानता है ? मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नहीं है । अतः यह जो हमने हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदि विद्याओं का शिक्षण प्राप्त किया है । इनसे ही संकट के समय हमारा निर्वाह हो सकेगा ।

टीका - अल्पसत्त्वाः प्राणिनो विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहूनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते, अतः 'को जानाति?' कः परिच्छिनत्ति 'व्यापातं' संयमजीवितात् भ्रंशं, केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति, किम् 'स्त्रीतः' स्त्रीपरिषहात् उत 'उदकात्' स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलाषाद्, इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न 'नः' अस्माकं किञ्चन 'प्रकल्पितं' पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यत्तस्यामवस्थायामुपयोगं यास्यति, अतः 'चोद्यमानाः' परेण पृच्छयमाना हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं ^२कुटिलविण्टलादिकं वा 'प्रवक्ष्यामः' कथयिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः सम्प्रधार्य व्याकरणादौ श्रुते प्रयतन्त इति, न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावाप्तिर्भवतीति, तथा चोक्तम् -

उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं धनमिच्छतां, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्?

न नियतफलाः ^३कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥१॥

इति ॥४॥

टीकार्थ - संयम पालन करने में असमर्थ वे बिचारे यह सोचते हैं कि प्राणियों का पराक्रम अल्प होता है और कर्म की गति भी विचित्र होती है तथा प्रमाद के स्थान भी बहुत हैं । ऐसी दशा में यह कौन निश्चय कर सकता है कि - किस उपद्रव से पराजित होकर मैं संयम से पतित हो जाऊँगा ? क्या स्त्री परीषह से मेरा संयम नष्ट होगा अथवा स्नान आदि के लिए जल की इच्छा से वह बिगड़ जायगा? वे मूर्ख इस प्रकार चिन्ता करते हुए यह सोचते हैं कि मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नहीं है जो संयम से पतित होने पर काम देगा, इसलिए

१. वियावातं इति टीकाकृदभिप्रायः ।

२. कुण्टलमण्डलादि० । कुण्टविण्टलादि० । ३. कर्तुं भा. ५०

हस्तिशिक्षा तथा धनुर्वेद आदि विद्याएँ उस समय मेरी रक्षक हो सकती हैं। किसी के पूछने पर मैं इन विद्याओं को बताकर अपना निर्वाह कर सकूंगा। यह निश्चय कर अल्प पराक्रमी जीव, व्याकरण आदि विद्याओं के अध्ययन में परिश्रम करते हैं। यद्यपि वे, अपने निर्वाह के लिए व्याकरण आदि विद्याएँ सीखते हैं, तथापि इन विद्याओं से उन अभागों का मनोरथ सिद्ध नहीं होता है। अतएव कहा है -

“उपशमफलाद्विद्याबीजात्” इत्यादि। अर्थात् विद्यारूपी बीज, शांति रूपी फल को उत्पन्न करता है। उस विद्यारूपी बीज से जो मनुष्य धनरूपी फल चाहता है, उसका परिश्रम यदि व्यर्थ हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? पदार्थों का फल नियत होता है। इसलिए जिस पदार्थ का जो फल है, उससे अन्य फल वह अपने कर्ता को नहीं दे सकता, क्योंकि चावल के बीज से यव का अंकुर कभी उत्पन्न नहीं होता ॥४॥



उपसंहारार्थमाह -

अब सूत्रकार इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

इच्चेव पडिलेहन्ति, वलयापडिलेहिणो ।

वितिगिच्छसमावन्ना, पन्थाणं च अकोविया

॥५॥

छाया - इत्येवं प्रतिलेखन्ति, वलयप्रतिलेखिनः । विचिकित्सासमापन्नाः पथश्चाकोविदाः ॥

अन्वयार्थ - (वितिगिच्छसमावन्ना) इस संयम का पालन मैं कर सकूंगा या नहीं इस प्रकार संशय करनेवाले (पन्थाणं च अकोविया) मार्ग को नहीं जाननेवाले (वलया पडिलेहिणो) गड्ढा आदि का अन्वेषण करनेवाले पुरुषों के समान (इच्चेव पडिलेहन्ति) इसी तरह का विचार करते हैं।

भावार्थ - मैं इस संयम का पालन कर सकूंगा या नहीं, इस प्रकार संशय करनेवाले अल्पपराक्रमी जीव, युद्ध के अवसर में छिपने का स्थान अन्वेषण करनेवाले कायर के समान तथा मार्ग को नहीं जाननेवाले मूर्ख के समान यही सोचते रहते हैं कि संयम से भ्रष्ट होने पर इन व्याकरण आदि विद्याओं से मेरी रक्षा हो सकेगी।

‘इत्येवमि’ति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथा भीरवः सङ्ग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रति उपेक्षिणो भवन्तीति, एवं प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद् व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन ‘प्रत्युपेक्षन्ते’ परिकल्पयन्ति, किम्भूताः? - विचिकित्सा - चित्तविप्लुतिः - किमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः उत नेतीत्येवम्भूता, तथा चोक्तम् -

‘लुक्खमणुण्हमणिययं कालाङ्कन्तमोयणं विरसं । भूमिसयणं लोओ असिणाणं बम्भचेरं च ॥१॥

तां समापन्नाः - समागताः, यथा पन्थानं प्रति ‘अकोविदा’ अनिपुणाः, किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेतीत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपेक्षन्त इति ॥५॥

टीकार्थ - ‘इत्येवम्’ पद पहले कही हुई बात को बताने के लिए है। जैसे कायर पुरुष युद्ध में प्रवेश करने की इच्छा करते हुए संकट आने पर छिपने के लिए गड्ढा आदि गुप्त स्थानों का अन्वेषण करते हैं। इसी तरह कोई अल्पपराक्रमी प्रव्रजित (साधु) अपनी भाग्यहीनता के कारण आजीविका के भय से व्याकरण आदि विद्याओं को अपनी जीविका का उपाय कायम करते हैं। वे साधु कैसे हैं? सो बतलाते हैं - चित्त की चंचलता को ‘विचिकित्सा’ कहते हैं। उक्त साधु के चित्त में यह संशय बना रहता है कि यह जो संयमभार मैंने ले रखा है। इसे अंत तक ले जाने के लिए मैं समर्थ हो सकूंगा अथवा नहीं? कहा भी है -

“लुक्खं” अर्थात् प्रव्रजित पुरुष को पहले तो रुखा और ठंडा आहार मिलता है और कभी-कभी वह भी

नहीं मिलता तथा भोजन का समय बीत जाने पर मिलता है और वह भी नीरस मिलता है । एवं प्रव्रजित पुरुष को भूमि पर शयन करना पड़ता है तथा लोच करना और स्नान न करना और ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है।

अतः इन कठिन क्रियाओं को देखकर अपनी प्रव्रज्या को अंत तक निर्वाह कर सकने के विषय में कोई प्रव्रजित संशय करते हैं । जैसे मार्ग का, विवेकरहित पुरुष यह संशय करता है कि यह मार्ग, जिस स्थान पर जाना है वहां जाता है या नहीं? और वह चंचलचित्त होता है । इसी तरह स्वयं ने लिये हुए संयम भार को अन्त तक वहन कर सकने के विषय में संशय करनेवाले कोई कायर प्रव्रजित, निमित्तशास्त्र तथा गणित आदि शास्त्रों पर अपनी जीविका की आशा रखते हैं ॥५॥

साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह -

अब शास्त्रकार महापुरुषों की चेष्टा के विषय में दृष्टान्त बलताते हैं ।

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा ।

णो ते पिष्टमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ?

॥६॥

छाया - ये तु सङ्ग्रामकाले ज्ञाताः शूरपुरुङ्गमाः । नो ते पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते, किं परं मरणं स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (उ) परन्तु (जे) जो पुरुष (नाया) जगत् प्रसिद्ध (सूरपुरंगमा) वीरों में अग्रगण्य हैं (ते) वे (संगामकालंमि) युद्ध का समय आने पर (णो पिष्टमुवेहिंति) पीछे की बात पर ध्यान नहीं देते हैं, वे समझते हैं कि (किं परं मरणं सिया) मरण से भिन्न दूसरा क्या हो सकता है?

भावार्थ - जो पुरुष संसार में प्रसिद्ध तथा वीरों में अग्रेसर हैं, वे युद्ध के अवसर में यह नहीं सोचते हैं कि विपत्ति के समय मेरा बचाव कैसे होगा? वे समझते हैं कि मरण से भिन्न दूसरा क्या हो सकता है?

टीका - ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे 'ज्ञाताः' लोकविदिताः, कथम्? 'शूरपुरङ्गमाः' शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, त एवम्भूताः सङ्ग्रामं प्रविशन्तो 'न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते' न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयः, अपि त्वेवं मन्यन्ते - किमपरमत्रास्माकं भविष्यति?, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतं यशःप्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोत्रं वर्तत इति, तथा चोक्तम् -

विशरारुमिरविनश्चरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम् ।

प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम्? ॥१॥॥६॥

टीकार्थ - यहां 'तु' शब्द पूर्वोक्त कायर पुरुष से इस गाथा में कहे जानेवाले शूर पुरुष की विशेषता बताने के लिए आया है । जो पुरुष महापराक्रमी है, जो शत्रुसेना के साथ युद्ध करने में लोकप्रसिद्ध है तथा जो युद्ध के समय सेना में आगे रहते हैं वे, युद्ध के समय पीछे होनेवाली बात का ख्याल नहीं करते अर्थात् वे विपत्ति के समय अपनी रक्षा करने के लिए किसी दुर्ग आदि का विचार नहीं करते क्योंकि युद्ध से भागने का विचार उनका होता ही नहीं । वे समझते हैं कि इस युद्ध आदि में अधिक से अधिक हानि हो तो यही हो सकता है कि मरण होगा परंतु वह मरण निरंतर रहनेवाली कीर्ति की इच्छा करने वाले हमारे लिए एक तुच्छ वस्तु है । कहा भी है-

(विशरारुभिः) अर्थात् मनुष्यों का प्राण नश्चर और चंचल है, उसे देकर अनश्चर, स्थिर और शुद्ध यश को लेने की इच्छा करनेवाले वीरों को यदि प्राण के बदले यश मिलता है, तो क्या वह प्राण की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् नहीं है? ॥६॥



तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह -

इस प्रकार सुभट पुरुषों का दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बतलाते हैं -

एवं समुद्रिण भिक्षू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।

आरम्भं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए

॥७॥

छाया - एवं समुत्थितो भिक्षुः व्युत्सृज्यागारबन्धनम् । आरम्भं तिर्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (अगारबंधणं) गृहबन्धन को (वोसिज्जा) त्यागकर (आरम्भं) तथा आरम्भ को (तिरियं कट्टु) छोड़कर (समुद्रिण) संयम पालन के लिए ऊठा हुआ (भिक्षू) साधु (अत्तत्ताए) मोक्ष प्राप्ति के लिए (परिव्वए) संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - जो साधु, गृहबन्धन को त्याग तथा सावद्य अनुष्ठान को छोड़कर संयम पालन करने के लिए तत्पर हुआ है, वह मोक्ष प्राप्ति के लिए शुद्ध संयम का अनुष्ठान करे ।

टीका - यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति, एवं 'भिक्षुरपि' साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रिय-कषायादिकमरिर्वर्गं जेतुं सम्यक्संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः, तथा चोक्तम् -

¹कोहं माणं च मायं च, लोहं पञ्चिन्द्रियाणि य । दुज्जयं चैवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥

किं कृत्वा समुत्थित इति दर्शयति - 'व्युत्सृज्य' त्यक्त्वा 'अगारबंधनं' गृहपाशं तथा 'आरम्भं' सावधानुष्ठानरूपं 'तिर्यक्कृत्वा' ²अपहस्त्य आत्मनो भाव आत्मत्वम् - अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय, यदिवा - आत्मा - मोक्षः संयमो वा तद्भावस्तस्मै - तदर्थं परिसमन्ताद्व्रजेत् - संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥७॥

टीकार्थ - नाम, कुल, शूरता और शिक्षा के द्वारा जगत्प्रसिद्ध तथा शत्रु की सेना का भेदन करनेवाले उत्तम वीर पुरुष हाथ में शस्त्र लेकर जब युद्ध के लिए तैयार होते हैं, तब वे जैसे पीछे की ओर नहीं देखते, उसी तरह महापराक्रमी साधु भी परलोक को नष्ट करने वाले इन्द्रिय और कषाय आदि शत्रुओं पर विजय करने के लिए जब संयम भार को लेकर उत्थित होते हैं, तब वे पीछे की ओर नहीं देखते । कहा भी है

(कोहं) अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ और पांच इन्द्रियाँ ये मनुष्यों से दुर्जय हैं, अतः एक अपने आत्मा को जीत लेने पर वे सभी जीत लिये जाते हैं ।

वह साधु क्या करके ऊठा है सो शास्त्रकार दिखलाते हैं - वह साधु गृहवास को छोड़कर तथा सावद्य अनुष्ठान रूप आरंभ को त्यागकर संयम पालन करने के लिए ऊठा है । आत्मा के भाव को आत्मत्व कहते हैं । उस आत्मत्व के लिए साधु को सावधान होकर रहना चाहिए । अथवा आत्मत्व नाम मोक्ष या संयम का है । अतः साधु को मोक्ष प्राप्ति अथवा संयम पालन के लिए चारों तरफ से प्रवृत्त हो जाना चाहिए । साधु को संयम के अनुष्ठान रूप क्रिया में खूब सावधान रहना चाहिए, यह अर्थ है ॥७॥



- निर्युक्तौ यदिभिहितमध्यात्मविषीदनं तदुक्तम्, इदानीं ³परवादिवचनं द्वितीयमर्थाधिकारमधिकृत्याह-

- निर्युक्ति में कहा जा चुका है कि संयम धारण करने के पश्चात् कायर पुरुष के चित्त में विषाद उत्पन्न होता है। वह किस प्रकार होता है? सो पूर्व की गाथाओं में कहा जा चुका है । अब साधुओं के विषय में अन्यतीर्थी लोग क्या कहते हैं । इस दूसरे अर्थाधिकार के विषय में शास्त्रकार कहते हैं -

तमेगे परिभासन्ति, भिक्षूयं साहुजीविणं ।

जे एवं परिभासन्ति, अंतए ते समाहिए

॥८॥

1. क्रोधः मानश्च माया च लोभः पञ्चेन्द्रियाणि च । दुर्जयं चैवात्मनां सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥१॥

2. हस्तयित्वा प्र. । 3. परिवादि. प्र. ।

छाया - तमेके परिभाषन्ते, भिक्षुकं साधुजीविनम् । य एवं परिभाषन्ते, अन्तके ते समाधेः ॥

अन्वयार्थ - (साधुजीविणं) उत्तम आचार से जीवन निर्वाह करनेवाले (तं) उस (भिक्षुकं) साधु के विषय में (एगे) कोई अन्यदर्शनी (परिभाषन्ति) आगे कहा जानेवाला आक्षेप वचन कहते हैं (जे एवं परिभाषन्ति) परन्तु जो इस प्रकार आक्षेप युक्त वचन कहते हैं (ते) वे (समाधि) समाधि से (अंतर्) दूर हैं ।

भावार्थ - उत्तम आचार से अपना जीवन निर्वाह करने वाले साधु के विषय में कोई अन्यतीर्थी आगे कहे जानेवाले आक्षेप वचन कहते हैं परन्तु जो इस प्रकार आक्षेप वचन कहते हैं, वे समाधि से दूर हैं ।

टीका - त' मिति साधुम् 'एके' ये परस्पररोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अयःशलाकाकल्पाः, ते च गोशालकमता-नुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, त एवं वक्ष्यमाणं परिसमन्ताद्भाषन्ते । तं भिक्षुकं साध्वाचारं साधु-शोभनं परोपकारपूर्वकं जीवितुं शीलमस्य स साधुजीविनमिति, 'ये' ते अपुष्टधर्माण 'एवं' वक्ष्यमाण 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति, त एवंभूता 'अन्तके' पर्यन्ते दूरे 'समाधेः' मोक्षाख्यात्सम्यग्ध्यानात्सदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति ॥८॥

टीकार्थ - जैसे लोहे की शलाकायें आपस में नहीं मिलती किन्तु अलग अलग रहती हैं, इसी तरह अलग विचरने वाले, जिसमें एक दूसरे का उपकार करना नहीं कहा है । ऐसे दर्शन को मानने वाले, कोई गोशालकमतानुयायी अथवा दिगम्बर मतवाले, उत्तम आचार वाले और परोपकार के साथ जीवन निर्वाह करनेवाले साधुओं के विषय में आगे कहे अनुसार आक्षेपयुक्त वचन कहते हैं । साधुओं के विषय में आगे कहे अनुसार जो आक्षेप युक्त वचन कहते हैं अर्थात् जो साधुओं के आचार की निन्दा करते हैं । उनका धर्म पुष्ट नहीं है तथा वे समाधि अर्थात् मोक्ष रूप सम्यग् ध्यान से अथवा उत्तम अनुष्ठान से दूर हैं ॥८॥



यत्ते प्रभाषन्ते तद्दर्शयितुमाह -

वे अन्यतीर्थी जो आक्षेप वचन कहते हैं उसे शास्त्रकार दिखाते हैं ।

संबद्धसमकल्पा उ, अन्नमन्त्रेसु मुच्छिया ।

पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य

॥९॥

छाया - सम्बद्धसमकल्पास्तु, अन्योऽन्येषु मूर्च्छिताः । पिण्डपातं ग्लानस्य, यत्सारयत ददध्वं च ॥

अन्वयार्थ - (सम्बद्धसमकल्पा) ये लोग गृहस्थ के समान व्यवहार करते हैं (अन्नमन्त्रेसु मुच्छिया) ये परस्पर एक दूसरे में आसक्त रहते हैं । (गिलाणस्स) रोगी साधु को (पिण्डवायं) भोजन (सारेह) लाते हैं (य) और (दलाह) देते हैं ।

भावार्थ - अन्यतीर्थी सम्यग्दृष्टि साधुओं के विषय में यह आक्षेप करते हैं कि इन साधुओं का व्यवहार गृहस्थों के समान है, जैसे गृहस्थ अपने कुटुम्ब में आसक्त रहते हैं, वैसे ही ये साधु भी परस्पर आसक्त रहते हैं, तथा रोगी साधु के लिए ये लोग आहार लाकर देते हैं ।

टीका - सम् - एकीभावेन परस्पररोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा - गृहस्थास्तैः समः - तुल्यः कल्पो - व्यवहारोऽनुष्ठानं येषान्ते सम्बद्धसमकल्पा - गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः, तथाहि - यथा गृहस्थाः परस्पररोपकारेण माता पुत्रे पुत्रोऽपि मात्रादावित्येवं 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः, एवं भवन्तोऽपि 'अन्योऽन्यं' परस्परतः शिष्याचार्याद्युपकारक्रियाकल्पनया मूर्च्छिताः, तथाहि - गृहस्थानामयं न्यायो यदुत परस्मै दानादिनोपकार इति न तु यतीनां, कथमन्योऽन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति - 'पिण्डपातं' भैक्ष्यं 'ग्लानस्य' अपरस्य रोगिणः साधोः यद्-यस्मात् 'सारेह'ति 'अन्वेषयत, तथा 'दलाहय'ति ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं ददध्वं, चशब्दादाचार्यादेर्व्यावृत्त्यकरणाद्युपकारेण वर्तध्वं, ततो गृहस्थसमकल्पा इति ॥९॥

टीकार्थ - जो आपस में एकी भाव से अर्थात् उपकार्य और उपकारक रूप से बंधे हुए हैं। वह संबद्ध कहलाता हैं अर्थात् पुत्र और स्त्री आदि के स्नेह पाश में बंधे हुए गृहस्थ 'संबद्ध' कहलाते हैं। उन गृहस्थों के समान जिनका व्यवहार (अनुष्ठान) है वे 'सम्बद्धसमकल्प' कहलाते हैं। अर्थात् जो गृहस्थों के समान अनुष्ठान करते हैं वे 'संबद्धसमकल्प' हैं। क्योंकि जैसे गृहस्थ परस्पर उपकार द्वारा माता, पुत्र में और पुत्र, माता आदि में आसक्त रहते हैं। उसी तरह आप लोग भी शिष्य और आचार्य के उपकार द्वारा परस्पर मूर्च्छित रहते हैं। यह गृहस्थों का व्यवहार है कि वे दूसरे को दान आदि के द्वारा उपकार करते हैं। परन्तु साधुओं का यह व्यवहार नहीं है। किस प्रकार आप लोग परस्पर मूर्च्छित रहते हैं सो दिखलाते हैं - आप लोग रोगी साधु के लिए आहार का अन्वेषण करते हैं और रोगी के खाने योग्य आहार अन्वेषण करके उसे देते हैं तथा 'च' शब्द से आचार्य आदि का उपकार करते हैं। इसलिए आपलोग गृहस्थ के समान व्यवहारवाले हैं ॥९॥



साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोषदर्शनायाह -

अब अन्यतीर्थियों के आक्षेप वाक्यों की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार उनकी ओर से दोष बताने के लिए कहते हैं -

एवं तुब्धे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा ।

नट्टसप्पहसम्भावा, संसारस्स अपारगा

॥१०॥

छाया - एवं यूयं सरागत्था, अन्योऽन्यमनुवशाः । नष्टसत्पथसद्भावाः संसारस्यापारगाः ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (तुब्धे) आपलोग (सरागत्था) राग सहित है (अन्नमन्नमणुव्वसा) और परस्पर एक दूसरे के वश में रहते हैं (नट्टसप्पहसम्भावा) अतः आपलोग सत्पथ और सद्भाव से हीन हैं (संसारस्स) और इसलिए संसार से (अपारगा) पार जानेवाले नहीं हैं। और सद्भाव से रहित है।

भावार्थ - अन्यतीर्थी, सम्यग्दृष्टि साधुओं पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि आप लोग पूर्वोक्त प्रकार से राग सहित और एक दूसरे के वश में रहते हैं, अतः आपलोग सत्पथ और सद्भाव से रहित हैं तथा संसार को पार नहीं कर सकते हैं।

टीका - 'एवं' परस्परपकारादिना यूयं गृहस्था इव सरागत्थाः - सह रागेण वर्तत इति सरागः - स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योन्यं' परस्परतो वशमुपागताः - परस्परायत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति, तथा नष्टः - अपगतः सत्पथः - सद्भावः - सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते तथा एवम्भूताश्च यूयं 'संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमणलक्षणस्य 'अपारगा' अतीरगामिन इति ॥१०॥

टीकार्थ - आप लोग आपस में एक दूसरे के उपकार द्वारा गृहस्थ की तरह राग युक्त हैं। जो राग के सहित हैं ऐसे स्वभाव को सराग कहते हैं, उस स्वभाव में जो स्थित हैं, उसे सरागस्थ कहते हैं। तथा आप लोग परस्पर एक दूसरे के वशीभूत अर्थात् आधीन रहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि साधु पुरुष निःसङ्ग रहते हैं। वे किसी के वश में नहीं रहते। वश में रहना यह गृहस्थों का व्यवहार है। तथा आप लोग सन्मार्ग और सद्भाव अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हैं। अतः आप लोग चार गतियों में भ्रमणरूप संसार से पार पानेवाले नहीं हैं ॥१०॥



अयं तावत्पूर्वपक्षः अस्य च दूषणायाह -

यह पूर्वपक्ष है। इसका दोष दिखाने के लिए अब शास्त्रकार कहते हैं -

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए ।

एवं तुभ्ये पभासन्ता, दुपक्खं चेव सेवह

॥११॥

छाया - अथ तान् परिभाषेत, भिक्षुर्मोक्षविशारदः । एवं यूयं प्रभाषमाणाः दुष्पक्षं चैव सेवध्वम् ॥

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (मोक्षविशारद) मोक्षविशारद अर्थात् ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की प्ररूपणा करनेवाला (भिक्षु) साधु (ते) उन अन्यतीर्थियों से (परिभाषेआ) कहे कि (एवं) इस प्रकार (पभासन्ता) कहते हुए (तुभ्ये) आपलोग (दुपक्खं) दो पक्ष का (सेवह) सेवन करते हैं ।

भावार्थ - अन्यतीर्थियों के पूर्वोक्त प्रकार से आक्षेप करने पर मोक्ष की प्ररूपणा करने में विद्वान् मुनि उनसे यह कहते कि- इस प्रकार जो आप आक्षेपयुक्त वचन कहते हैं इससे आप असत्पक्ष का सेवन करते हैं ।

टीका - 'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत' ब्रूयात्, किम्भूतः? - 'मोक्षविशारदो' मोक्षमार्गस्य - सम्यग्दर्शनचारित्र्यरूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्तं यूयं प्रभाषमाणाः सन्तः दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः - असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा - रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि - सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्वागो, निष्कलङ्कस्याप्यस्मदभ्युपगमस्य दूषणादद्वेषः, अथै (थवै) वं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यथा - वक्ष्यमाणनीत्या बीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृहस्थाः यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चेत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवतामिति, यदिवा - स्वतोऽसदनुष्ठानमपरं च सदनुष्ठायिनां निन्दनमितिभावः ॥११॥

टीकार्थ - इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिकूल होकर उपस्थित होते हुए उन अन्यतीर्थियों से साधु पुरुष यह कहे कि वह साधु पुरुष कैसा है? "मोक्षविशारदः" अर्थात् सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यरूप मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा करनेवाला है । वह कहे कि पूर्वोक्त प्रकार से भाषण करने वाले आप लोग असत् पक्ष का सेवन करते हैं अर्थात् आप असत् प्रतिज्ञा को स्वीकार करते हैं । अथवा आप राग और द्वेषरूप दो पक्षों का सेवन करते हैं क्योंकि आपका पक्ष दोष सहित है तथापि आप उसका समर्थन करते हैं । इसलिए आपको अपने पक्ष में राग है और हमारा सिद्धान्त कलङ्क रहित है तथापि आप उसे दूषित बतलाते हैं । इसलिए आपका उस पर द्वेष है अथवा आप लोग इस प्रकार दो पक्षों का सेवन करते हैं जैसे कि आप लोग बीज, कच्चा पानी और उद्दिष्ट आहार का सेवन करने के कारण गृहस्थ हैं और साधु का वेष रखने के कारण साधु हैं । इस प्रकार आप लोग दो पक्षों का सेवन करते हैं । अथवा आप लोग स्वयं असत् अनुष्ठान करते हैं और सत् अनुष्ठान करने वाले दूसरों की निन्दा करते हैं । इसलिए आप लोग दो पक्षों का सेवन करते हैं, यह आशय है ॥११॥



आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणायाह -

आजीविक आदि तथा दिगम्बर आदि परतीर्थियों के असत् आचार का निरूपण करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

तुभ्ये भुञ्जह पाएसु, गिलाणो अबिहडमि या ।

तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं

॥१२॥

छाया - यूयं भुङ्क्ष्वं पात्रेषु ब्लाण भब्ब्याहते यत् । तच्च बीजोदकं भुक्त्वा तमुद्दिश्यादियत्कृतम् ॥

अन्वयार्थ - (तुभ्ये) आप लोग (पाएसु) कांसा आदि के पात्रों में (भुञ्जह) भोजन करते हैं तथा (गिलाणो) रोगी साधु के लिए (अबिहडमि या) गृहस्थों के द्वारा जो भोजन मंगाते हैं (तं च बीओदगं) सो आप बीज और कच्चे जल का (भोच्चा) उपभोग (तमुद्दिसादि जं कडं) तथा उस साधु के लिए जो आहार बनाया गया है, उसका उपभोग करते हैं ।

भावार्थ - आपलोग कांसा आदि के पात्रों में भोजन करते हैं तथा रोगी साधु को खाने के लिए गृहस्थों के द्वारा आहार मंगाते हैं । इस प्रकार आपलोग बीज और कच्चे जल का उपभोग करते हैं तथा आप उद्देशिक आदि आहार भोजन करते हैं ।

टीका - किल वयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगमं कृत्वा यूयं भुङ्गध्वं 'पात्रेषु' कांस्यपात्रादिषु गृहस्थभाजनेषु, 'तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी, तथाऽऽहारादिषु मूर्च्छां कुरुध्वमित्यतः कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति, अन्यच्च 'ग्लानस्य' भिक्षाटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृतं कार्यते भवद्भिः, यतेरानयनाधिकाराभावाद् गृहस्थानयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति, तमेव दर्शयति - यच्च गृहस्थैर्बीजोदकाद्युपमर्देनापादितमाहारं भुक्त्वा ग्लानमुद्दिश्योद्देशकादि 'यत्कृतं' यन्निष्पादितं तदवश्यं युष्मत्परिभोगायावतिष्ठते। तदेवं गृहस्थगृहे तद्भाजनादिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरेव वैयावृत्यं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकादिभोजिन उद्देशिकादिकृतभोजिनश्चेति ॥१२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - हम लोग परिग्रह वर्जित होने के कारण निष्किञ्चन हैं। यह मानते हुए भी आप लोग कांसा के पात्र आदि गृहस्थों के पात्रों में भोजन करते हैं। गृहस्थों के पात्रों में भोजन करने के कारण आपको उसका परिग्रह अवश्य होता है तथा आप लोग आहार में मूर्च्छा भी करते हैं। इसलिए अपने को परिग्रह वर्जित मानना उसे किस प्रकार निष्कलङ्क कहा जा सकता है? तथा भिक्षा लाने के लिए जाने में असमर्थ रोगी साधु के लिए आप लोग गृहस्थों के द्वारा भोजन मंगवाते हैं परंतु साधु को गृहस्थों के द्वारा भोजन मंगाने का अधिकार नहीं है। इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाये हुए आहार के खाने से जो दोष होता है, वह भी आपको अवश्य होता है। यही बात शास्त्रकार दिखलाते हैं। गृहस्थ लोग बीज और जल का उपमर्दन करके जो आहार तैयार करते हैं तथा रोगी साधु के निमित्त जो आहार बनाते हैं। उसका आप अवश्य आहार करते हैं। इस प्रकार गृहस्थों के घरों में जाकर उनके पात्रों में भोजन करते हुए तथा रोगी साधु की गृहस्थों के द्वारा सेवा कराते हुए आप लोग अवश्य बीज और कच्चे जल का उपभोग करते हैं एवं उद्दिष्ट आहार आदि का भोजन करते हैं ॥१२॥



लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिआ असमाहिया ।

नातिकण्डूयं सेयं, अरुयस्सावरज्जती

॥१३॥

छाया - लिप्ताः तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिताः । नातिकण्डूयितं श्रेयोऽरुषोऽपराध्यति ॥

अन्वयार्थ - (तिव्वाभितावेणं) आप लोग तीव्र अभिताप अर्थात् कर्मबन्धन से (लित्ता) उपलिप्त (उज्झिआ) सद्विवेक से रहित (असमाहिया) तथा शुभ अध्यवसाय से रहित हैं। (अरुयस्स) व्रण - घाव का (नातिकण्डूयं) अत्यन्त खुजलाना (न सेयं) अच्छा नहीं है (अवरज्जती) क्योंकि वह दोष उत्पन्न करता है।

भावार्थ - आप लोग कर्मबन्ध से लिस होते हैं तथा आप सद्विवेक से हीन और शुभ अध्यवसाय से वर्जित हैं। देखिये व्रण को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे विकार उत्पन्न होता है।

टीका - योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वेनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभितापः - कर्मबन्धरूपस्तेनोपलिप्ताः - संवेष्टितास्तथा 'उज्झिय'ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादित्यागात्परगृह-भोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् तथा 'असमाहिता' शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्, साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिधित्सयाऽऽह - यथा 'अरुषः' व्रणस्यातिकण्डूयितं - नखैर्विलेखनं न श्रेयो - न शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति - तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिताः वयं किल निष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकायरक्षणभूतं भिक्षापात्रादिकमपि संयमोपकरणं परिहितवन्तः, तदभावाच्चावश्यंभावी अशुद्धाहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥१३॥ अपि च-

टीकार्थ - छः काय के जीवों का विनाश करके जो आप लोगों के निमित्त आहार तैयार किया जाता है, उस उद्दिष्ट आहार के भोजन करने से तथा मिथ्यादृष्टि को हठपूर्वक स्वीकार करने से एवं साधुओं की निंदा करने

1. प्रसङ्गापादनं, तैःसम्बन्धमात्रस्य परिग्रहत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा निर्मूर्च्छं यमोपकरणधरणापत्तेः ।

से आप लोग कर्मबन्ध रूप तीव्र अभिताप से लित तथा सद्विवेक से हीन हैं, क्योंकि आप लोग भिक्षा पात्र को नहीं रखकर दूसरे के घरों में भोजन करते हुए उद्विष्ट आहार का सेवन करते हैं। एवं उत्तम साधुओं के साथ द्वेष करने के कारण आप लोग शुभ अध्यवसाय से वर्जित हैं। अब शास्त्रकार दृष्टान्त के द्वारा उन अन्यतीर्थियों के दोष बतलाने के लिए फिर से कहते हैं - जैसे घाव को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं है क्योंकि अत्यन्त खुजलाने से घाव में विकार उत्पन्न होता है, उसी तरह आप लोग भी ऐसे सद्विवेक से रहित हैं कि हम लोग परिग्रह वर्जित होने के कारण निष्किञ्चन हैं, यह कहते हुए छः काय के जीवों की रक्षा के साधन स्वरूप संयम के उपकरण जो भिक्षा पात्र आदि हैं, उनको भी त्याग देते हैं। इस प्रकार संयम के उपकरणों के त्याग करने से अशुद्ध आहार का उपभोग अवश्यं भावी है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा न करके घाव में अत्यन्त खाज करने के समान संयम के उपकरणों को भी त्याग देना कल्याण के लिए नहीं है ॥१३॥



तत्तेण अणुसिद्धा ते, अपडिन्नेण जाणया ।

ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती

॥१४॥

छाया - तत्त्वेनानुशिष्टास्तेऽप्रतिज्ञेन जानता । न एष नियतो मार्गोऽसमीक्ष्य वाक्कृतिः ।

अन्वयार्थ - (अपडिन्नेण) जिसको मिथ्या अर्थ बताने की प्रतिज्ञा नहीं है, उसे अप्रतिज्ञ कहते हैं (जाणया) तथा जो ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य पदार्थों को जानता है, वह साधु पुरुष (ते) उन अन्यदर्शनवालों को (तत्तेण अणुसिद्धा) सत्य अर्थ की शिक्षा देता है कि (एस मग्गे) आप लोगों ने जिसे स्वीकार किया है वह मार्ग (ण णियए) युक्तिसङ्गत नहीं है। (वती) तथा आपने जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के लिए आक्षेप वचन कहा है, वह भी (असमिक्खा) बिना विचारे कहा है (किती) एवं आपलोग जो कार्य करते हैं वह भी विवेकशून्य है।

भावार्थ - सत्य अर्थ को बतलानेवाला तथा त्याग ने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को जाननेवाला सम्यग्दृष्टि मुनि उन अन्यतीर्थियों को यथार्थ बात की शिक्षा देता हुआ, यह कहता है, कि आप लोगों ने जिस मार्ग को स्वीकार किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है तथा आप सम्यग्दृष्टि साधुओं पर जो आक्षेप करते हैं, वह भी बिना विचारे करते हैं एवं आपका आचार व्यवहार भी विवेक से रहित है।

टीका - 'तत्त्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थप्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकादयः बोटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोषदर्शनद्वारेण शिक्षां ग्राहिताः, केन? - अप्रतिज्ञेन नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो - रागद्वेषरहितः साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेयपदार्थपरिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह - योऽयं भवद्विरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीनां निष्किञ्चनतयोपकरणाभावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष 'न नियतो' न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः, अतो येयं वाग् यथा - ये पिण्डपातं ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थकल्पा इत्येषा 'असमीक्ष्याभिहिता' अपर्यालोच्योक्ता, तथा 'कृतिः' करणमपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चापर्यालोचितकरणता भवति भवदनुष्ठानस्य तथा नातिकण्डूयितं श्रेय इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्तं तदेव प्रतिपादयति ॥१४॥

टीकार्थ - जो वस्तुतः सत्य है अर्थात् जो जिनराज के अभिप्राय के अनुसार है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको उसी तरह से प्ररूपणा करने रूप ही तत्त्व अर्थ है। उसके द्वारा गोशालक मतानुयायी और दिगम्बरों को शिक्षा दी जाती है। उन लोगों की मान्यता में दोष बताकर उन्हें सत्य अर्थ की शिक्षा दी जाती है। किसके द्वारा शिक्षा दी जाती है कहते हैं कि- अप्रतिज्ञ पुरुष के द्वारा मिथ्या अर्थ का भी समर्थन करूंगा ऐसी भावना को प्रतिज्ञा कहते हैं, वह जिसको नहीं है, उसे अप्रतिज्ञ कहते हैं, अर्थात् जो राग-द्वेष से रहित है, उसे अप्रतिज्ञ कहते हैं। उसके द्वारा शिक्षा दी जाती है तथा जो त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थ का निश्चय करने वाले हैं। उनके द्वारा शिक्षा दी जाती है। किस प्रकार शिक्षा दी जाती है? सो बतलाते हैं - आप लोगों ने जो यह मार्ग स्वीकार किया है कि साधु को निष्किञ्चन होने के कारण उपकरण बिलकुल नहीं रखने चाहिए और इसी कारण परस्पर एक दूसरे की सेवा भी नहीं करनी चाहिए, यह आपका मार्ग युक्ति संगत नहीं है तथा आप जो यह कहते

हैं कि- जो रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं, वे गृहस्थ के समान हैं, यह आप बिना विचारे कहते हैं तथा आप जो कार्य करते हैं, वह भी विचार शून्य ही है। आपका कार्य जिस प्रकार विवेक रहित है, सो 'नातिकण्डूयितं श्रेयः' इस पद्य में पहले कह दिया गया है और फिर से उसी को दृष्टान्त के साथ बतलाते हैं ॥१४॥



यथाप्रतिज्ञातमाह -

शास्त्रकार अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार कहते हैं -

एरिसा जा वई एसा, अग्गवेणु व्व करिसिता ।

गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं

॥१५॥

छाया - ईदृशी या वाग्नेषा, अग्गवेणुरिव कर्षिता । गृहिणोऽभ्याहृतं श्रेयः, भोक्तुं न तु भिक्षूणाम् ॥

अन्वयार्थ - (एरिसा) इस तरह की (जा) जो (वई) कथन है कि (गिहिणो अभिहडं) गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार (भुंजिउं सेयं) साधु को खाना कल्याणकारी है (ण उ भिक्खुणं) परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं (एसा) यह बात (अग्गवेणु व्व) वांस के अग्र भाग की तरह (करिसिता) कृश - दुर्बल है ।

भावार्थ - साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना कल्याणकारी है, परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ आहार खाना कल्याणकारी नहीं है, यह कथन युक्ति रहित होने के कारण इस प्रकार दुर्बल है, जैसे वांस का अग्रभाग दुर्बल होता है ।

टीका - येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवद् - वंशवत् कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थः, तामेव वाचम् दर्शयति - 'गृहिणां' गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तुं 'श्रेयः' श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां सम्बन्धीति, अग्रे तनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यं - यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहितमिति ॥१५॥ किञ्च-

टीकार्थ - यह जो इस प्रकार का वाक्य है कि साधु को रोगी साधु के लिए आहार लाकर नहीं देना चाहिए यह वांस के अग्र भाग के समान पतला अर्थात् युक्ति रहित होने के कारण दुर्बल है । इसी वाक्य को शास्त्रकार दिखलाते हैं - गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना साधु को कल्याणकारी है परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं यह कथन वांस के अग्रभाग के समान कृश इसलिए कि गृहस्थों के द्वारा लाया हुआ आहार जीवों के घात के साथ होता है और साधुओं के द्वारा लाया हुआ आहार उद्गमादि दोष रहित होता है ॥१५॥



धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभाण विसोहिआ ।

ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पगप्पिअं

॥१६॥

छाया - धर्मप्रज्ञापना या सा सारम्भाणां विशोधिका । न त्वेताभिर्दृष्टिभिः पूर्वमासीत्प्रकल्पितम् ॥

अन्वयार्थ - (जा धम्मपन्नवणा) साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए यह जो धर्म की देशना है (सा) वह (सारंभा ण विसोहिआ) गृहस्थों को शुद्ध करनेवाली है, साधुओं को नहीं (एयाहिं दिट्ठीहिं) इस दृष्टि से (पुव्वं) पहले (ण उ पगप्पिअं आसिं) यह देशना नहीं की गयी थी ।

भावार्थ - साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए यह जो धर्म की देशना है वह गृहस्थों को ही पवित्र करने वाली है, साधुओं को नहीं इस अभिप्राय से यह धर्म की देशना नहीं की गयी थी ।

टीका - धर्मस्य प्रज्ञापना - देशना यथा - यतीनां दानादिनोपकर्तव्यमित्येवम्भूता या सा 'सारम्भाणां' गृहस्थानां विशोधिका, यतयस्तु स्वानुष्ठानेनैव विशुध्यन्ति, न तु तेषां दानाधिकारोऽस्तीत्येतत् दूषयितुं प्रक्रमते - 'न

तु' नैवैताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानादिना यतेर्गर्लानाद्यवस्थायामुपकर्तव्यं न तु यतिभिरेव परस्परमित्येवम्भूताभिः युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाभिः 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञैः 'प्रकल्पितं' प्ररूपितं प्रख्यापितमासीदिति, यतो न हि सर्वज्ञा एवम्भूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा -

असंयतैरेषणाद्यनुपयुक्तैर्गर्लानादेर्वैयावृत्त्यं विधेयं न तूपयुक्तेन संयतेनेति ।

अपि च - भवद्विरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत एव, गृहस्थप्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्तस्तत्कारिणस्तत्प्रेरणादेषिणश्चेत्यापन्नमिति ॥१६॥ अपि च -

टीकार्थ - धर्म की प्रज्ञापना अर्थात् देशना जैसे कि दान आदि देकर यतिओं का उपकार करना चाहिए वह गृहस्थों को पवित्र करनेवाली है, साधुओं को नहीं, क्योंकि साधु अपने अनुष्ठानों से ही शुद्ध होते हैं। अतः उनको दान देने का अधिकार नहीं है। इस सिद्धान्त को दूषित करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि - गृहस्थ को ही रोगादि अवस्था में आहार आदि देकर साधु का उपकार करना चाहिए परन्तु साधुओं को परस्पर ऐसा नहीं करना चाहिए इस प्रकार की तुम्हारी दृष्टि के अनुसार पूर्व समय में सर्वज्ञों ने धर्मदेशना नहीं की थी क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष इस प्रकार अत्यन्त तुच्छ अर्थ की प्ररूपणा नहीं करते हैं जैसे कि -

एषणा आदि में उपयोग नहीं रखनेवाले असंयत पुरुष ही रोगी आदि साधु का वैयावच्च करें परन्तु उपयोग रखनेवाले संयमी पुरुष न करें ऐसी देशना सर्वज्ञ की नहीं हो सकती।

तथा आप लोग भी रोगी साधु का वैयावच्च करने के लिए गृहस्थ को प्रेरणा करते हैं तथा इस कार्य के अनुमोदन करने से रोगी साधु का उपकार करना अङ्गीकार भी करते हैं। इसलिए आप रोगी साधु का उपकार भी करते हैं। और इस कार्य से द्वेष भी करते हैं ॥१६॥



सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयन्ता जवित्तए ।

ततो वायं गिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया

॥१७॥

छाया - सर्वाभिरनुयुक्तिभिरशक्नुवन्तो यापयितुम् । ततो वादं निराकृत्य ते भूयोऽपि प्रगल्भिताः ॥

अन्वयार्थ - (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सर्व युक्तियों के द्वारा (जवित्तए अचयन्ता) अपने पक्ष की सिद्धि न कर सकने से (ते) वे अन्यतीर्थी (वायं गिराकिच्चा) वाद को छोड़कर (भुज्जो वि पगब्भिया) फिर अपने पक्ष को स्थापन करने की धृष्टता करते हैं।

भावार्थ - अन्यतीर्थी, सम्पूर्ण युक्तियों के द्वारा जब अपने पक्ष को स्थापन करने में समर्थ नहीं होते हैं, तब वाद को छोड़कर फिर दूसरी तरह से अपने पक्ष की सिद्धि की धृष्टता करते हैं।

टीका - ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्तः स्वपक्षे आत्मानं 'यापयितुम्' संस्थापयितुम् 'ततः' तस्माद्युक्तिभिः प्रतिपादयितुम् सामर्थ्याभावाद् 'वादं निराकृत्य' सम्यग्हेतुदृष्टान्तैर्यो वादो - जल्पस्तं परित्यज्य ते तीर्थिका 'भूयः' पुनरपि वादपरित्यागे सत्यपि 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गता इदमूचुः, तद्यथा -

पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदधिकित्सितम् । आद्यासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१८॥

1. रोगी साधु की वैयावच्च गृहस्थ का धर्म है अर्थात् गृहस्थ रोगी साधु को आहार आदि लाकर देवे परन्तु साधु न देवे यह अन्यतीर्थियों की प्ररूपणा है। वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि साधु को दान देना आदि धर्म शास्त्र में लिखा है परन्तु वह धर्म गृहस्थों के लिए है, साधु के लिए नहीं क्योंकि साधु को दान देने का अधिकार नहीं है। इस सिद्धान्त को खण्डन करने के लिए यह १६ वीं गाथा लिखी गयी है इस गाथा में कहा है कि रोगी साधु को गृहस्थ के द्वारा वैयावच्च कराना तथा स्वयं रोगी साधु का वैयावच्च नहीं करना ऐसी तुच्छ प्ररूपणा सर्वज्ञ की नहीं हो सकती क्योंकि एषणा आदि में उपयोग नहीं रखने वाले असंयमी पुरुष साधु का वैयावच्च करें परन्तु उपयोग रखनेवाले संयमी पुरुष न करें ऐसा दोष जनक उपदेश सर्वज्ञ का नहीं हो सकता। अतः रोगी साधु की वैयावच्च साधु को नहीं करनी चाहिए। इत्यादि अन्यतीर्थी का आक्षेप शास्त्र विरुद्ध और निरर्थक है।

अन्यच्च किमनया बहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसम्मतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयान्नापर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम् - न ह्यत्र ज्ञानादिसाररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति, उक्तं च -

^१एरण्डकट्टरासी जहा य गोसीसचन्दनपलरस । मोल्ले न होज्ज सरिसी कितियमेतो गणिज्जंतो ॥१॥
^२तहवि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदनसरिच्छो । तह निव्विण्णाणमहाजणीवि सोज्जे विसंवयति ॥२॥
^३एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं । होइ वरं ददठव्वो णहु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३॥
^४एवं बहुगावि मूढा ण प्रमाणं जे गइं ण याणन्ति । संसारगमणगुविलं णिउणरस य बंधमोक्खरस ॥४॥
 इत्यादि ॥१७॥ अपि च -

टीकार्थ - वे गोशालक मतावलम्बी तथा दिगम्बर सम्प्रदायवाले समस्त अर्थानुसारिणी युक्तियों के द्वारा अर्थात् प्रमाण स्वरूप हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा जब अपने पक्ष में अपने को स्थापन करने में समर्थ नहीं होते हैं, तब वाद को छोड़कर अर्थात् सम्यग्हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा जो परस्पर जल्परूप वाद होता है, उसे त्यागकर अपने पक्ष स्थापन की धृष्टता करते हैं, अर्थात् वे अन्यतीर्थी वाद को छोड़कर फिर धृष्टता करते हुए यह कहते हैं जैसे कि -

(पुराण) अर्थात् पुराण, मनुप्रणीत धर्मशास्त्र, साङ्गवेद और चिकित्साशास्त्र ये चार ईश्वरीय आज्ञा से सिद्ध हैं। इसलिए तर्क के द्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिए

तथा धर्मपरीक्षा के विषय में युक्ति और अनुमान आदि बहिरङ्ग साधनों की क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहुत लोगों से स्वीकृत होने तथा राजा महाराजा आदि के मान्य होने से प्रत्यक्ष यह हमारा धर्म ही श्रेष्ठ है। दूसरा धर्म नहीं। इस प्रकार वे अन्यतीर्थी विवाद करते हैं। उनको इस प्रकार उत्तर देना चाहिए।

(एरण्डकट्टरासी) अर्थात् एरंडकाष्ठ की राशि चाहे कितनी ही बड़ी हो परंतु वह कीमत में एक पल गोशीर्ष चन्दन के तुल्य नहीं होती। जैसे एरंडकाष्ठ की राशि गणना में अधिक होने पर भी अल्प चन्दन के सदृश नहीं है। इसी तरह विज्ञान रहित पुरुषों की राशि भी महत्व में थोड़े भी विज्ञानवालों के बराबर नहीं है। जैसे नेत्रवाला एक पुरुष भी सैकड़ों अंध पुरुषों से श्रेष्ठ होता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष एक भी सैकड़ों अज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है। बंध, मोक्ष तथा संसार की गति को जो नहीं जानते हैं। वे मूर्ख मनुष्य बहुत हो तो भी धर्म के विषय में प्रमाण माने नहीं जा सकते ॥१७॥



रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिदुता ।

आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं

॥१८॥

छाया - रागद्वेषाभिभूतात्मानः, मिथ्यात्वेनाभिद्वृताः । आक्रोशान् शरणं याञ्ति, टङ्कणा इव पर्वतम् ॥

अन्वयार्थ - (रागदोसाभिभूयप्पा) राग और द्वेष से जिनकी आत्मा दबी हुई है, ऐसे तथा (मिच्छत्तेण अभिदुता) मिथ्यात्व से भरे हुए अन्यतीर्थी (आउस्से सरणं जंति) शास्त्रार्थ से हार जाने पर गाली आदि का आश्रय लेते हैं जैसे (टंकणा) पहाड़ में रहनेवाली म्लेच्छ जाति, युद्ध में हार जाने पर (पव्वयं) पहाड़ का आश्रय लेती है।

भावार्थ - राग और द्वेष से जिनका हृदय दबा हुआ है तथा जो मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, ऐसे अन्यतीर्थी जब शास्त्रार्थ में परास्त हो जाते हैं, तब गाली, गलौच और मारपीट का आश्रय लेते हैं, जैसे पहाड़ पर रहनेवाली कोई म्लेच्छ

1. एरण्डकाष्ठराशिर्यथा च गोशीर्षचन्दनपलस्य । मूल्येन न भवेत् सदृशः कियन्मात्रो गण्यमानः ॥१॥
2. तथापि गणणातिरेको यथा राशिः स न चन्दनसदृशः । तथा निर्विज्ञानमहाजनोऽपि मूल्ये विसंवदते ॥२॥
3. एकः सचक्षुष्को यथा अन्धानां शतैर्बहुभिर्मवति वरं द्रष्टव्यो नैव बहुका अपेक्षमाणाः ॥३॥
4. एवं बहुका अपि मूढा न प्रमाणं ये गतिं न जानन्ति । संसारगमनवक्रां निपुणयोर्बन्धमोक्षयोश्च ॥४॥

जाति, युद्ध में हारकर पहाड़ का शरण लेती है ।

टीका - रागश्च - प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च - तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा, 'मिथ्यात्वेन' विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेण 'अभिद्रुता' व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा 'आक्रोशान्' 'असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं 'यान्ति' आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्ये दृष्टान्तमाह - यथा 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्ति, एवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते, न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्याः, तद्यथा -

¹अक्रोशहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलमाणं । लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अमावंमि ॥१॥

॥१८॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - प्रीति को राग कहते हैं और उससे विपरीत अर्थात् अप्रीति को द्वेष कहते हैं । इन राग और द्वेष के द्वारा जिनकी आत्मा दबी हुई है ऐसे, तथा मिथ्या अर्थ को बताने वाले विपरीत ज्ञान से भरे हुए अन्यतीर्थी जब उत्तम युक्तियों के द्वारा वाद करने में समर्थ नहीं होते हैं, तब गाली आदि असभ्य वचन बोलने लगते हैं, तथा डंडा और मुक्का आदि का प्रहार भी करने लगते हैं । इस बात को बताने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त कहते हैं- जैसे दुःख से जीते जाने योग्य टंकन नामक कोई म्लेच्छ जातिविशेष किसी बलवान् पुरुष की सेना के द्वारा जब भगायी जाती है तब पर्वत का आश्रय लेती है, इसी तरह वे अन्यतीर्थी जब वाद में हार जाते हैं तब क्रोधित होकर गाली आदि के शरण में जाते हैं । उन गाली देनेवाले अन्यतीर्थियों को उत्तर में गाली नहीं देनी चाहिए क्योंकि

गाली देना, हनन करना अथवा मारना या धर्मभ्रष्ट करना ये कार्य बालकों के हैं, धीर पुरुष, इन बातों का उत्तर न देना ही लाभ मानते हैं ॥१८॥



बहुगुणप्पगप्पाई, कुज्जा अत्तसमाहिए ।

जेणऽन्ने णो विरुज्जेज्जा, तेण तं तं समायरे

॥१९॥

छाया - बहुगुणप्रकल्पानि कुर्यादात्मसमाधिकः । येनाऽन्यो न विरुध्येत तेन तत्तत् समाचरेत् ॥

अन्वयार्थ - (अत्तसमाहिए) जिसकी चित्तवृत्ति प्रसन्न है, वह मुनि (बहुगुणप्पगप्पाई) परतीर्थी के साथ वाद के समय जिनसे बहुत गुण उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनुष्ठानों को (कुज्जा) करे । (जेण) जिससे (अन्ने) दूसरा मनुष्य (णो विरुज्जेज्जा) अपना विरोधी न बने (तं तं तेण समायरे) वह-वह अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - परतीर्थी के साथ वाद करता हुआ मुनि अपनी चित्तवृत्ति को प्रसन्न रखता हुआ, जिससे अपने पक्ष की सिद्धि और पर पक्ष की असिद्धि हो, ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण आदि का प्रतिपादन करे तथा जिस कार्य के करने से या जैसा भाषण करने से अन्य पुरुष अपना विरोधी न बने वैसा कार्य अथवा भाषण करे ।

टीका - 'बहवो गुणाः' स्वपक्षसिद्धिपरदोषोद्धावनादयो माध्यस्थ्य्यादयो वा प्रकल्पन्ते - प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुणप्रकल्पानि - प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनादीनि माध्यस्थ्यवचनप्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुवादकाले अन्यदा वा 'कुर्यात्' विदध्यात्, स एव विशिष्यते - आत्मनः 'समाधिः' चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः, एतदुक्तं भवति - येन येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः - स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति, तथा येनानुष्ठितेन वा भाषितेन वा अन्यतीर्थिको धर्मश्रवणादौ वाऽन्यः प्रवृत्तो 'न विरुध्येत' न विरोधं गच्छेत्, तेन पराविरोधकारणेन तत्तदविरुद्धमनुष्ठानं वचनं वा 'समाचरेत्' कुर्यादिति ॥१९॥

1. आक्रोशहननमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलमानां (मध्ये) । लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥१॥

टीकार्थ - जिन अनुष्ठानों के करने से अपने पक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष में दोष की उत्पत्ति आदि हो, अथवा अपने में पक्षपात रहित मध्यस्थता आदि उत्पन्न हो ऐसे अनुष्ठानों को बहुगुण प्रकल्प कहते हैं। वह अनुष्ठान प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि हैं अथवा मध्यस्थ के समान वचन बोलना बहुगुणप्रकल्प कहलाता है। अतः साधु पुरुष किसी के साथ वाद करते समय अथवा दूसरे समय में पूर्वोक्त अनुष्ठानों को ही करे। उसी साधु का विशेषण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि - जिसका चित्त प्रसन्न है, उस मुनि को आत्मसमाधिक कहते हैं। आशय यह है, जिन हेतु, दृष्टान्त आदि के कहने से आत्मसमाधी अर्थात् अपने पक्ष की सिद्धि होती हो अथवा जिस मध्यस्थ वचन के कहने से दूसरे के चित्त में किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न न हो वह कार्य साधु करे। तथा धर्म का श्रवण आदि करने में प्रवृत्त अन्यतीर्थी तथा दूसरा कोई मनुष्य जिस अनुष्ठान से अथवा भाषण से अपना विरोधी न बने वह अनुष्ठान साधु करे अथवा वचन बोले ॥१९॥



तदेवं परमतं निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाह -

पूर्वोक्त प्रकार से परवादियों के मत का खण्डन करके अब शास्त्रकार समाप्ति के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करने के लिए कहते हैं -

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए

॥२०॥

छाया - इमं च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् । कुर्याद् भिक्षुग्लानस्य अग्लान्या समाहितः ॥

अन्वयार्थ - (कासवेण पवेइयं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए (इमं च धम्ममादाय) इस धर्म को स्वीकारकर के (समाहिए) प्रसन्नचित्त (भिक्खू) साधु (गिलाणस्स) रोगी साधु का (अगिलाए) ग्लानि रहित होकर (कुज्जा) वैयावच्च करे।

भावार्थ - काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके प्रसन्नचित्त मुनि रोगी साधु का ग्लानि रहित होकर वैयावच्च करे।

टीका - 'इम' मिति वक्ष्यमाणं दुर्गतिधारणाद्धर्मम् 'आदाय' उपादाय गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीर-वर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदिव्यज्ञानेन सदेवमनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण- यथावस्थितार्थनिरूपणद्वारेण वेदितं प्रवेदितं, चशब्दात्परमतं च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः 'ग्लानस्य' अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिकं कुर्यात्, कथं कुर्याद्? एतदेव विशिनष्टि - स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति 'समाहितः' समाधिं प्राप्त इति, इदमुक्तं भवति - यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते न तत्करणेन अपाटवसम्भवात् योगा विषीदन्तीति, तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति ॥२०॥

टीकार्थ - दुर्गति में जाने वाले जीवों को दुर्गति से बचानेवाला जो यह आगे वर्णित होनेवाला धर्म है, जिसको दिव्यज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् महावीर स्वामी ने देवता और मनुष्य आदि की सभा में सत्य अर्थ की प्ररूपणा द्वारा कहा था, तथा (च) शब्द से परमत को खण्डन करके बताया था। उस धर्म को स्वीकार करके भिक्षणशील साधु दूसरे असमर्थ रोगी साधु की वैयावच्च करे। कैसे वैयावच्च करे सो बताते हैं - स्वयं ग्लान भाव को नहीं प्राप्त होते हुए यथाशक्ति समाधियुक्त होकर करे आशय यह है कि - जिस प्रकार अपनी समाधि उत्पन्न होती है वैसे नहीं करने से स्वयं साधु भी रोगी होकर असमर्थ हो सकता है और ऐसा होने से उसका व्यापार ठीक नहीं हो सकता, अतः जिस प्रकार अपनी समाधि उत्पन्न हो और जिस प्रकार उस रोगी को समाधि उत्पन्न हो, उस तरह का भोजन आदि उसे देना चाहिए ॥२०॥



किं कृत्वैतद्विधेयमिति दर्शयितुमाह -

क्या करके साधु को यह करना चाहिए सो दिखाने के लिए कहते हैं -

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।

उवसगगे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि

॥२१॥ त्ति बेमि ।

इति तईयअज्झयणस्स तईओ उद्देशो समत्तो ॥ (गाथाग्रं. २३४)

छाया - संख्याय पेशलं धर्म, दृष्टिमान् परिनिवृतः । उपसर्गान् नियम्य आमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ - (दिट्ठिमं) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला (परिनिव्वुडे) रागद्वेषरहित शान्त मुनि (पेसलं धम्मं) उत्तम धर्म को (संखाय) जानकर (उवसगगे) उपसर्गों को (नियामित्ता) वश में करके (आमोक्खाए) मोक्षप्राप्ति पर्यन्त (परिव्वए) संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला शान्त मुनि इस उत्तम धर्म को जानकर तथा उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्षपर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे ।

टीका - 'संखाये' त्यादि, संख्याय-ज्ञात्वा कं ? - 'धर्म' सर्वज्ञप्रणीतं श्रुतचारित्राख्यभेदभिन्नं 'पेशलम्' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणं, किम्भूतमिति दर्शयति - दर्शनं दृष्टिः सद्भूतपदार्थगता सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सा विद्यते यस्यासौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदवानित्यर्थः, तथा 'परिनिवृतो' रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूतस्तदेवं धर्मं पेशलं परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिवृत उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्नियम्य - संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमञ्जसं विदध्यादित्येवम् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् परि - समन्तात् व्रजेत् - संयमानुष्ठानोद्युक्तो भवेत् परिव्रजेद्, इति: परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमिति पूर्ववत् ॥२१॥

उपसर्गपरिज्ञायारुतृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥३॥

टीकार्थ - जानकर, क्या जानकर ? सर्वज्ञप्रणीत श्रुत और चारित्ररूप धर्म को जानकर, वह धर्म सुघटित है अर्थात् अहिंसा आदि में प्रवृत्ति होने के कारण प्राणियों की प्रीति का कारण है, वह मुनि कैसा है ? सो दिखलाते हैं - पदार्थों का यथार्थ स्वरूप देखना अर्थात् सम्यग्दर्शन को दृष्टि कहते हैं, वह दृष्टि जिसमें विद्यमान है, उसे दृष्टिमान् कहते हैं । जो पुरुष पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानता है, उसे दृष्टिमान कहते हैं । तथा जो राग-द्वेष रहित होने के कारण शान्त स्वभावी है, उसे परिनिवृत कहते हैं । इस प्रकार उक्त उत्तम धर्म को जानकर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला शान्त-मुनि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन (वश में) करे । उपसर्गों की बाधा उपस्थित होने पर अनुचित कार्य न करे । इस प्रकार वह मुनि जब तक समस्त कर्मों के क्षय स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक अच्छी तरह से संयम का अनुष्ठान करे ॥२१॥

इति शब्द समाप्ति अर्थ में आया है । ब्रवीमि यह पूर्ववत् है ।

॥ इति तृतीयाध्ययनस्य तृतीय उद्देशकः समाप्तः ।

॥ उपसर्गपरिज्ञाध्ययन का तीसरा उद्देशा समाप्त हुआ ॥



॥ अथ तृतीयोपसर्गाध्ययने चतुर्थोद्देशकस्य प्रारम्भः ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थः समारभ्यते -

तीसरा उद्देशक कहा जा चुका अब चौथा आरम्भ किया जाता है ।

अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रतिपादिताः तैश्च कदाचित्साधुः शीलात् प्रच्याव्येत - तस्य च स्खलितशीलस्य प्रज्ञापनाऽनेन प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम्-

इसका पूर्व उद्देशक के साथ सम्बन्ध यह है - पूर्व उद्देशक में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किया है । उन उपसर्गों के द्वारा कदाचित् साधु शील से भ्रष्ट भी हो जाता है । वह शीलभ्रष्ट साधु जो उपदेश देता है, वह इस उद्देशक में बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशक का यह पहला सूत्र है ।

आहंसु महापुरिसा, पुर्व्विं तत्ततवोधणा ।

उदण्ण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति

॥१॥

छाया - आहुर्महापुरुषाः पूर्व्वं तप्ततपोधनाः । उदकेन सिद्धिमापन्नास्तत्र मन्दो विषीदति ॥

अन्वयार्थ - (आहंसु) कोई अज्ञानी कहते हैं कि (पुर्व्विं) पूर्व्व समय में (तत्ततवोधणा) तप करना ही जिनका धन है ऐसे (महापुरिसा) महापुरुष (उदण्ण) कच्चे जल का सेवन करके (सिद्धिमावन्ना) मुक्ति को प्राप्त हुए थे (मंदो) मूर्ख पुरुष यह सुनकर (तत्थ) शीतलजल के सेवन आदि में (विसीयति) प्रवृत्त हो जाता है ।

भावार्थ - कोई अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पूर्व्व काल में तपस्वी धन का संचय करनेवाले महापुरुषों ने शीतल जल का उपभोग करके सिद्धि को प्राप्त किया था । यह सुनकर मूर्ख मनुष्य शीतल जल के उपभोग में प्रवृत्त हो जाते हैं ।

टीका - केचन अविदितपरमार्था 'आहुः' उक्तवन्तः, किं तदित्याह - यथा 'महापुरुषाः' प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षि प्रभृतयः 'पूर्व्वं' पूर्व्वस्मिन् काले तप्तम् - अनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्ततपोधनाः - पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहाः, त एवम्भूताः शीतोदकपरिभोगेन, उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः' सिद्धिं गताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकण्ठेन तदर्थसद्भावावेशात् 'मन्दः' अज्ञोऽस्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगमग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदिवा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीत्यावत्, न त्वसौ वराक एवमवधारयति, यथा- तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणीयादिकर्माणां भरतादीनमिव मोक्षावाप्तिः, न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥१॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - परमार्थ को न जाननेवाले कोई अज्ञानी यह कहते हैं । वे क्या कहते हैं सो बतलाते हैं - पूर्व्व समय में वल्कलीरी और तारागण ऋषि आदि महापुरुषों ने तपस्वी धन का अनुष्ठान तथा पञ्चाग्नि सेवन आदि तपस्याओं के द्वारा अपने शरीर को खूब तपाया था । उन महापुरुषों ने शीतल जल का उपभोग तथा कन्द, मूल, फल आदि का उपभोग करके सिद्धि लाभ किया था । यह सुनकर इस बात को सत्य मानकर प्रासुक जल को पीने से तथा स्नान न करने से घबराया हुआ कोई पुरुष, संयम के अनुष्ठान में दुःख अनुभव करता है अथवा वह शीतल जल के उपभोग में प्रवृत्त हो जाता है । वह मूर्ख यह नहीं सोचता है कि वे लोग तापस आदि के व्रत का अनुष्ठान करते थे, उनको किसी कारणवश जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई थी और मौनीन्द्र सम्बन्धी भाव संयम की प्राप्ति होने से उनके ज्ञानावरणीय आदि कर्म नष्ट हो गये थे, इस कारण भरत आदि के समान उनको मोक्ष प्राप्त हुआ था, परन्तु शीतल जल का उपभोग करने से नहीं ॥१॥



अभुंजिया नमी विदेही, रामगुप्ते य भुंजिया ।

बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी

॥२॥

छाया - अभुक्त्वा नमिवैदेही रामगुप्तभुक्त्वा । बाहुक उदकं भुक्त्वा तथा तारागण ऋषिः ॥

अन्वयार्थ - (नमी विदेही अभुंजिया) विदेह देश का राजा नमीराज ने आहार छोड़कर (य) और (रामगुप्ते) रामगुप्त ने (भुंजिया) आहार खाकर (बाहुए) तथा बाहुक ने शीतल जल का उपभोग कर (तहा) इसी तरह (नारायणे रिसी) नारायण ऋषि ने (उदगं भोच्चा) जल का उपभोग करके सिद्धि लाभ किया था ।

भावार्थ - कोई अज्ञानी पुरुष, साधु को भ्रष्ट करने के लिए कहता है कि - विदेह देश का राजा नमीराज ने आहार न खाकर सिद्धि प्राप्त की थी तथा रामगुप्त ने आहार खाकर सिद्धि लाभ किया था एवं बाहुक ने शीतल जल पीकर सिद्धि पायी थी तथा नारायण ऋषि ने भी जल पीकर मोक्ष पाया था ।

टीका - केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः, यदिवा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद् वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा - नमीराजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहाः - तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य सन्तीति वैदेही, स एवम्भूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतः तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं 'भुक्त्वैव' भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥२॥ अपिच-

टीकार्थ - कोई कुतीर्थी साधु को धोखा देने के लिए इस प्रकार कहते हैं अथवा शिथिल विहारी कोई स्ववर्गी यह आगे कही जानेवाली बातें कहते हैं, जैसे कि - विदेह नाम का देश विशेष है, उसमें निवास करनेवाली प्रजा को 'वैदेह' कहते हैं । वह प्रजा जिसके आधीन है, उसे वैदेही कहते हैं अर्थात् विदेह देश में रहनेवाली प्रजा के अधिपति नमीराज ने अशन आदि आहारों को छोड़कर सिद्धि प्राप्त की थी तथा राजर्षि रामगुप्त ने आहार खाकर सिद्धिलाभ किया था । एवं बाहुक ने शीतल जल आदि का उपभोग करके सिद्धि पायी थी । एवं नारायण महर्षि ने पका हुआ जल आदि का परिभोग करके मोक्ष लाभ किया था ॥२॥



आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी ।

परासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य

॥३॥

छाया - आसिलो देवलक्षेव, द्वैपायनो महाऋषिः । पराशर उदकं भुक्त्वा बीजाणि हरितामि च ।

अन्वयार्थ - (आसिले) असिलऋषि (देविले) देवल ऋषि (महारिसी दीवायण) तथा महर्षि द्वैपायन (परासरे) एवं पराशर ऋषि इन लोगों ने (दगं बीयाणि हरियाणि भोच्चा) शीतलजल, बीज और हरी वनस्पतियों का आहार करके मोक्ष पाया था ।

भावार्थ - आसिल, देवल, महर्षि द्वैपायन तथा पराशर ऋषि ने शीतल जल बीज और हरी वनस्पतियों को खाकर मोक्ष लाभ किया था ।

टीका - आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदक-बीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥३॥

टीकार्थ - आसिल नामक महर्षि तथा देवल ऋषि, द्वैपायन ऋषि एवं पराशर नामक ऋषि इत्यादि ऋषियों ने शीतल जल, बीज और हरी वनस्पतियों के उपभोग से ही सिद्धिलाभ किया था, यह सुना जाता है ॥३॥



एतदेव दर्शयितुमाह -

पहले जो कहा गया है, उसी को दर्शाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एते पुर्वं महापुरिसा, आहिता इह सम्मता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं

॥४॥

छाया - एते पूर्व महापुरुषा आख्याता इह सम्मताः । भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धा इति मयानुश्रुतम् ॥

अन्वयार्थ - (पुर्वं) पूर्व समय में (एते महापुरिसा) ये महापुरुष (अहिया) सर्वजगत्प्रसिद्ध थे (इह) तथा इस जैन आगम में भी (सम्मता) माने गये हैं । (बीओदगं) इन लोगों ने बीज और शीतल जल का उपभोग करके (सिद्धा) सिद्धि पायी थी (इति) यह (मेयमणुस्सुअं) मैंने (महाभारत आदि में) सुना है ।

भावार्थ - कोई अन्यतीर्थी साधुओं को संयमभ्रष्ट करने के लिए कहता है कि पूर्व समय में ये महापुरुष प्रसिद्ध थे और जैन आगम में भी इनमें से कई माने गये हैं । इन लोगों ने शीतल जल और बीज का उपभोग करके सिद्धिलाभ किया था ।

टीका - एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः 'पूर्वमि'ति पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ 'महापुरुषा' इति प्रधानपुरुषा आ - समन्तात् ख्याताः आख्याताः - प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता इहापि आर्हते प्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन 'सम्मता' अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुः, तद्यथा - एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येमेतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥४॥

टीकार्थ - ये पूर्वोक्त नमी आदि महाऋषि त्रेता द्वापर आदि पूर्वकाल में महापुरुष अर्थात् प्रधान पुरुष के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध थे तथा इन लोगों ने राजर्षि रूप से प्रसिद्धि प्राप्त की थी और ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचन में भी इनमें से कई माने गये हैं, ये सभी लोग शीतल जल और बीज का उपभोग करके सिद्ध हुए थे, यह मैंने महाभारत आदि पुराणों में सुना है, ऐसा कोई कुतीर्थी अथवा स्वयूथिक कहते हैं ॥४॥



एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह -

समाप्ति के द्वारा इस मत का परिहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं -

तत्थ मंदा विसीअंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिड्डतो परिसप्पंति, पिड्डसप्पी य संभमे

॥५॥

छाया - तत्र मब्दाः विषीदन्ति वाहच्छिन्ना इव गर्दभाः । पृष्ठतः परिसर्पन्ति पृष्ठसर्पी च सम्भ्रमे ॥

अन्वयार्थ - (तत्थ) उस बुरी शिक्षा के उपसर्ग होने पर (मंदा) मूर्ख पुरुष (वाहच्छिन्ना) भार से पीड़ित (गद्दभा व) गदहे की तरह (विसीअंति) संयम पालन करने में दुःख अनुभव करते हैं । (सम्भमे) जैसे अग्नि आदि का उपद्रव होने पर (पिड्डसप्पी) लकड़ी के टुकड़े की सहायता से चलनेवाला पैर रहित पुरुष (पिड्डतो परिसप्पन्ति) भागने वाले लोगों के पीछे-पीछे चलता है, उसी तरह वह मूर्ख भी संयम पालने में सबसे पीछे हो जाता है ।

भावार्थ - मिथ्यादृष्टियों की पूर्वोक्त बातों को सुनकर कोई मूर्ख मनुष्य संयम पालन करने में इस प्रकार दुःख का अनुभव करते हैं, जैसे भार से पीड़ित गदहा उस भार को लेकर चलने में दुःख अनुभव करता है । तथा जैसे लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में लेकर सरक कर चलनेवाला लंगडा मनुष्य अग्नि आदि का भय होने पर भागे हुए मनुष्यों के पीछे पीछे जाता है परंतु वह आगे तक जाने में असमर्थ होकर वहीं नाश को प्राप्त होता है । इसी तरह संयम पालन करने में दुःख अनुभव करनेवाले, वे पुरुष मोक्ष तक नहीं पहुंचकर संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं ।

टीका - 'तत्र' तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये 'मंदा' अज्ञानानाविधोपायसाध्यं सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठाने, न पुनरेतद्विदन्त्यज्ञाः, तद्यथा - येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादि-प्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनमभूत्, न पुनः कदाचिदपि सर्वविरति-

परिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते, विषीदने दृष्टान्तमाह— वहनं वाहो — भारोद्वहनं तेन छिन्नाः — कर्षितास्तुटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा — रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभाराः निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोड्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति, दृष्टान्तान्तरमाह — यथा 'पृष्ठसर्पिणो' भग्नगतयोऽग्न्या-दिसम्भ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयनाः समाकुलाः प्रनष्टजनस्य 'पृष्ठतः' पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्ति, अपि तु तत्रैवाग्न्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्ति, एवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्ति, अपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥५॥

टीकार्थ — बुरी शिक्षा देनेवाली मिथ्या दृष्टियों की पूर्वोक्त प्ररूपणा रूप उपसर्ग के उदय होने पर अज्ञानी जीव अनेक उपायों से मोक्ष को साध्य मानकर संयम के अनुष्ठान करने में दुःख का अनुभव करते हैं । वे मूर्ख यह नहीं जानते कि जिन लोगों को मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, उनको किसी कारण वश जाति स्मरण आदि ज्ञान के उदय होने से सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होने के कारण से ही हुई थी, जैसे वल्कचीरी आदि को मुक्ति प्राप्त हुई थी । सर्व-विरति परिणाम तथा भावलिङ्ग के बिना जीवों को विनाश करने वाला शीतल जल का पान और बीज आदि के उपभोग से कभी भी कर्मक्षय रूप मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से संयम पालन में दुःख अनुभव करनेवाले जीवों के विषय में शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं — 'वाह' नाम भार का है, उसके ढोने से दुर्बल गदहा जैसे दुःख का अनुभव करता है, उसी तरह उक्त साधु संयम पालन करने में कष्ट का अनुभव करता है । जैसे वह गदहा मार्ग में ही भार को गिराकर स्वयं गिरजाता है, उसी तरह उक्त साधु भी संयम रूपी भार को छोड़कर शिथिलविहारी हो जाता है । इस विषय में शास्त्रकार दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं — जैसे अग्नि आदि का भय उपस्थित होने पर लंगड़ा मनुष्य घबराकर तथा चंचल नेत्र होकर अग्नि के भय से भागनेवाले लोगों के पीछे-पीछे भागता है, परंतु वह आगे तक नहीं जा सकता बल्कि उसी जगह अग्नि आदि के द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है । इसी तरह शिथिलविहारी पुरुष मोक्ष के लिए प्रवृत्त होकर भी मोक्ष तक पहुंच नहीं पाता बल्कि अनन्त काल तक इसी संसार में भ्रमण करता रहता है ॥५॥



मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह —

अब शास्त्रकार दूसरे मत का खंडन करने के लिए पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं —

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।

जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं)

॥६॥

छाया — इहैके तु भाषन्ते सातं सातेण विद्यते । ये तत्र आर्य्य मार्गं परमं च समाधिकम् ॥

अन्वयार्थ — (इह) इस मोक्ष प्राप्ति के विषय में (एगे) कोई (भासंति) कहते हैं कि (सातं) सुख (सातेन) सुख से ही (विज्जती) प्राप्त होता है । (तत्थ) परन्तु इस मोक्ष के विषय में (आरियं) समस्त हेय धर्मों से दूर रहनेवाला तीर्थङ्करप्रतिपादित जो मोक्ष मार्ग है (परमं समाहिए) जो परम शान्ति को देनेवाला ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप है, उसे (जे) जो लोग छोड़ते हैं, वे मूर्ख हैं ।

भावार्थ — कोई मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है, परंतु वे मूर्ख हैं क्योंकि परम शान्ति को देनेवाले तीर्थङ्करप्रतिपादित जो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, उसे जो छोड़ते हैं, वे मूर्ख हैं ।

टीका — 'इहे'ति मोक्षगमनविचारप्रस्तावे 'एके' शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः, तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेषमाह, 'भाषन्ते' ब्रुवते, मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः, किं तदित्याह — 'सातं' सुखं 'सातेन' सुखेनैव 'विद्यते' भवतीति, तथा च वक्तारो भवन्ति —

सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते ।

तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥१॥

युक्तिरप्येवमेव स्थिता, यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते, तद्यथा - शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवमिहत्यात् सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते, न तु लोचादिरूपात् दुःखादिति, तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः -

¹मणुण्णं मीयणं मोच्चा, मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अमारंसि, मणुण्णं ज्ञायस मुणी ॥१॥

तथा -

मृद्धी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मकं मध्ये पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षक्षान्ते श्वाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥

इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः, अतः स्थितमेतत् - सुखेनैव सुखावाप्तिः न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितं, इत्येवं व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयः 'तत्र' तस्मिन्मोक्षविचारप्रस्तावे समुपस्थिते, आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति, तथा च - 'परमं च समार्धि' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति, तथाहि - यत्तैरभिहितं - कारणानुरूपं कार्यमिति, तत्रायमेकान्तो, यतः शृङ्गाच्छ्रो जायते गोयमाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति, यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि विशूचिकादिसम्भवाद् व्यभिचारीति, अपिच - इदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रतीकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति, तदुक्तम् -

दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखामिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः ।
उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥१॥

इति, कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यैकान्तिकस्यात्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति, यदपि च लोचभूशयन-भिक्षाटन-परपरिवधक्षुत्पिपासादंशमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदत्यन्ताल्पसत्त्वानामपरमार्थदृशां, महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगमप्रवृत्तानां परमार्थचिन्तैकतानानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति, तथा चोक्तम् -

²तणसंथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्टरागमदमोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्खवट्ठीवि ? ॥१॥

तथा ।

दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय, महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः,
कायस्याशुचिता, विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा ।
सर्वत्यागमहोत्सवाय, मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये,
संपद्भिः परिपूरितं, जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः? ॥१॥

इति, अपि च - एकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचित्रसंसाराभावः स्यात्, तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतेस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यात्, तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेः, न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यात्, न चैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥६॥

टीकार्थ - इस मोक्ष प्राप्ति के विचार के प्रकरण में शाक्य आदि तथा लोच आदि से पीड़ित कोई स्वयूथिक यह कहते हैं - इस गाथा में 'तु' शब्द पूर्वोक्त शीतल जल आदि के परिभोग से विशेषता बताने के लिए आया है । वे क्या कहते हैं ? बताया जाता है - सुख सुख से ही प्राप्त होता है । तथा वे कहते हैं कि

(सर्वाणि) सभी प्राणी सुख में रत रहते हैं और सभी दुःख से डरते हैं, इसलिए सुख चाहने वाला पुरुष सुख ही देवे क्योंकि सुख देने वाला पुरुष सुख प्राप्त करता है ।

1. मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने । मनोज्ञेऽगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः ॥१॥ 2. तृणसंस्तारनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः । यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि? ॥१॥

युक्ति भी इसी तरह की है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है जैसे कि शालि के बीज से शालि का ही अंकुर उत्पन्न होता है, यव का नहीं, इसी तरह इस लोक के सुख से परलोक में मुक्ति सुख की प्राप्ति होती है परंतु लोच आदि दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है। तथा आगम भी यही कहता है जैसे कि -

(मणुत्रं) अर्थात् मुनि को मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ शय्या और आसन पर मनोज्ञ घर में सुख भोग करना चाहिए।

तथा (मृद्धी) साधु को मुलायम शय्या पर सोना चाहिए और प्रातः उठकर दुग्धादि पदार्थ पीना चाहिए एवं दोपहर के समय भात खाना चाहिए तथा सायंकाल में शर्बत पीना चाहिए, एवं अर्द्ध रात्रि के समय द्राक्ष और मिश्रि खानी चाहिए। इस प्रकार कार्य करने से अंत में मोक्ष होना शाक्यपुत्र ने देखा है।

मनोज्ञ आहार और विहार आदि करने से चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है और चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता उत्पन्न होती है और एकाग्रता से मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है परंतु लोच आदि कायकष्ट से कभी भी मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले जो शाक्य आदि इस मोक्ष विचार के प्रकरण में समस्त हेय धर्मों से दूर रहनेवाला जैनेन्द्रशासन प्रतिपादित परम शान्ति को उत्पन्न करनेवाला सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य स्वरूप मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं। वे मूर्ख हैं, वे सदा संसार में भ्रमण करते रहते हैं क्योंकि उन्होंने जो कहा है कि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, यह एकान्त नहीं है क्योंकि सींग से शर नाम की वनस्पति की उत्पत्ति होती है और गोबर से बिच्छु की उत्पत्ति होती है एवं गाय और भेड़ के बालों से दूब की उत्पत्ति होती है। तथा मनोज्ञ आहार को जो सुख का कारण कहा है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनोज्ञ आहार से विशूचिका (हैजा) भी उत्पन्न होती है इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्त रूप से सुख का कारण नहीं है। वस्तुतः यह विषयजनित सुख दुःख के प्रतीकार का हेतु होने के कारण सुख का आभासमात्र है, वह सुख है ही नहीं कहा भी है -

(दुःखात्मकेषु) दुःख स्वरूप विषयों को सुख मानना और सुख स्वरूप नियमों को दुःख समझना इस प्रकार उलट है, जैसे खुदे हुए अक्षरों की पंक्ति उलट दीखती है। जैसे खुदे हुए अक्षरों की पंक्ति को उलटकर रखने से अक्षरों का रूप सीधा दीखता है, इसी तरह विषय भोग को दुःख और नियम आदि को सुख समझने से उनका रूप ठीक प्रतीत होता है।

अतः दुःखस्वरूप विषय भोग, परमानन्द स्वरूप एकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? तथा केश का लुंचन, पृथिवी पर शयन, भिक्षा मांगना, दूसरे का अपमान सहन, भूख, प्यास तथा दंश मशक का कष्ट, इनको जो आपने दुःख का कारण बताया है, वे भी अत्यन्त कमजोर हृदयवाले जो पुरुष परमार्थदर्शी नहीं हैं, उनके लिए ही दुःख के कारण हैं परन्तु जो महापुरुष परमार्थदर्शी और परमार्थ की चिन्ता में तत्पर तथा अपने स्वार्थ के साधन में प्रवृत्त हैं, उनके लिए ये सब दुःख नहीं हैं, किन्तु उनकी महान् शक्ति के प्रभाव से ये सब सुख के साधन स्वरूप हैं। कहा भी है-

(तण संथार) अर्थात् राग, मद और मोह रहित मुनि, तृण की शय्या पर सोया हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्ति सुख का अनुभव करता है, उसे चक्रवर्ती भी कहाँ से पा सकता है?

तथा (दुःखम्) अर्थात् दुःख होने से बड़े लोग दुःखी नहीं होते किन्तु यह जानकर वे सुखी होते हैं कि दुःख होने से पाप का नाश होता है और क्षमा से वैर की शान्ति होती है। एवं शरीर की मलिनता, वैराग्य का मार्ग है और वृद्धता वैराग्य का कारण है तथा समस्त वस्तुओं का त्यागरूप महान् उत्सव के लिए मरण होता है, जन्म स्वर्गों की प्रीति के लिए होता है, अतः यह जगत् संपत्ति से भरा हुआ है, इसमें दुःख का स्थान ही कहाँ है?

तथा एकान्त रूप से सुख से ही सुख की उत्पत्ति मानने पर विचित्र संसार का होना नहीं बन सकता क्योंकि स्वर्ग में निवास करने वाले जो सदा सुख का ही भोग किया करते हैं, उनकी उत्पत्ति सुखभोग के कारण फिर स्वर्ग में ही होगी तथा नरक में रहनेवाले जीवों की दुःखभोग के कारण फिर नरक में ही उत्पत्ति होगी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गतिओं में जाने के कारण जो जगत् की विचित्रता होती है, वह नहीं हो सकेगी परंतु यह शास्त्रसम्मत

नहीं और इष्ट भी नहीं ॥६॥



अतो व्यपदिश्यते -

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं ।

एतस्स (उ)अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह

॥७॥

छाया - मेनमवमन्नमाणा अल्पेण लुम्पथा बहु । एतस्यत्वमोक्षे अयोहारीव जूरयथ ॥

अन्वयार्थ - (एयं) इस जिनमार्ग को (अवमन्नंता) तिरस्कार करते हुए तुमलोग (अप्पेणं) अल्प अर्थात् तुच्छ विषयसुख के लोभ से (बहुं) अति मूल्यवान् मोक्षसुख को (मा लुंपहा) मत बिगाड़ो (एतस्स) सुख से सुख होता है, इस असत्पक्ष को (अमोक्खाए) नहीं छोड़ने पर (अओहारिव्व) स्वर्ण छोड़कर लोहा लेनेवाले बनिये की तरह (जूरह) पश्चात्ताप करोगे ।

भावार्थ - सुख से ही सुख होता है, इस असत्पक्ष को मानकर जिन शासन का त्याग करनेवाले अन्य दर्शनी को कल्याणार्थ शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि तुम इस जिनशासन का तिरस्कार करके तुच्छ विषय सुख के लोभ से अति दुर्लभ मोक्ष सुख को मत बिगाड़ो । सुख से ही सुख होता है इस असत्पक्ष को यदि तुम न छोड़ोगे तो स्वर्ण आदि छोड़कर लोहा लेनेवाले बनिये में जैसे पश्चात्ताप किया । उसी तरह पश्चात्ताप करोगे ।

टीका - 'एनम्' आर्य मार्गं जैनेन्द्रप्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रिमोक्षमार्गप्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्यादिमोहेन मोहिता 'अवमन्नमाणाः' परिहरन्तः 'अल्पेण' वैषयिकेण सुखेन मा 'बहुं' परमार्थसुखं मोक्षाख्यं 'लुम्पथा' विध्वंसय, तथाहि - मनोज्ञाऽऽहारादिना कामोद्रेकः, तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्यं न पुनः समाधिरिति, अपि च 'एतस्य' असत्पक्षाभ्युपगमस्य 'अमोक्षे' अपरित्यागे सति 'अयोहारिव्व जूरह'ति आत्मानं यूयं कदर्थयथ, केवलं, यथाऽसौ अयसो-लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमितिकृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात् स्वावस्थानावाप्ता-वल्पलाभे सति जूरितवान् - पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ॥७॥

टीकार्थ - सुख से ही सुख मिलता है, इस मोह से मोहित होकर, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी मोक्ष मार्ग को बताने वाले इस आर्य मार्ग जैनेन्द्र प्रवचन का तिरस्कार करते हुए तुम तुच्छ विषय सुख के लोभ से सर्वोत्कृष्ट परमार्थरूपी मोक्ष सुख को मत बिगाड़ो । क्योंकि मनोज्ञ आहार आदि करने से काम की वृद्धि होती है और काम की वृद्धि होने पर चित्त स्थिर नहीं रह सकता है, अतः मनोज्ञ आहार करने वाले को समाधि नहीं मिल सकती । सुख से ही सुख मिलता है, इस असत्पक्ष को यदि तुम नहीं छोड़ोगे तो स्वर्ण आदि छोड़कर लोहा लेने वाले बनिये की तरह केवल अपने को खराब करोगे । जैसे लोहे का भार लेकर आते हुए किसी बनिये ने मार्ग में रूपा और स्वर्ण मिलने पर भी उस लोहे के भार को छोड़कर उन्हें इसलिए नहीं लिया कि - 'इस लोह को मैं दूर से लाया हूँ, इसे क्यों छोड़ूँ' पश्चात् घर जाकर लोह का मूल्य कम पाकर वह पश्चात्ताप करने लगा । इसी तरह आप लोग भी पश्चात्ताप करेंगे ॥७॥



पुनरपि 'सातेन सात' मित्येवंवादिनां शाक्यानां दोषोद्धिभावविषयाह -

सुख से ही सुख मिलता है, इस सिद्धान्त को मानने वाले शाक्य भिक्षुओं के मत में दोष बताने के लिए फिर शास्त्रकार कहते हैं -

पाणाइवाते वट्ठंता, मुसावाद असंजता । अदिन्नादाणे वट्ठंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

छाया - प्राणातिपाते वर्तमानाः मृषावादेऽसंयताः । अदत्तादाने वर्तमानाः मैथुने च परिग्रहे ॥

अन्वयार्थ - (पाणाइवाते) जीवहिंसा (मुसावादे) मिथ्याभाषण (अदिन्नादाणे) न दी हुई वस्तु लेने (मेहुणे) मैथुन (परिग्रहे) और परिग्रह में (वट्ठंता) आप लोग वर्तमान रहते हैं, इसलिए (असंजता) आप लोग संयमी नहीं हैं ।

भावार्थ - सुख से ही सुख होता है, इस मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाले शाक्य आदि को शास्त्रकार कहते हैं कि- आप लोग जीव हिंसा करते हैं और झूठ बोलते हैं तथा बिना दी हुई वस्तु लेते हैं एवं मैथुन और परिग्रह में भी वर्तमान रहते हैं । इस कारण आप लोग संयमी नहीं हैं ।

टीका - प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेषु वर्तमाना असंयता यूयं वर्तमानसुखैषिणोऽल्पेन वैषयिकसुखाभासेन पारमार्थिकमेकान्तात्यन्तिकं बहु मोक्षसुखं विलुम्पथेति, किमिति? यतः पचनपाचनादिषु क्रियासु वर्तमानाः सावधानुष्ठानारम्भतया प्राणातिपातमाचरथ, तथा येषां जीवानां शरीरोपभोगो भवद्भिः क्रियते तानि शरीराणि तत्स्वामिभिरदत्तानीत्यदत्तादानाचरणं तथा गोमहिष्यजोष्ट्रादिपरिग्रहात्तन्मैथुनानुमोदनादब्रह्मेति तथा प्रव्रजिता वयमित्येवमुत्थाय गृहस्थाचरणानुष्ठानमृषावादः तथा धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिपरिग्रहात्परिग्रह इति ॥८॥

टीकार्थ - आप लोग जीवघात, मिथ्या भाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में वर्तमान रहने के कारण संयम हीन हैं । आप लोग वर्तमान सुख की इच्छा करते हुए तुच्छ विषय सुख, जो वस्तुतः सुख का आभास मात्र है, उसके लोभ में पड़कर सत्य एकान्तिक, आत्यन्तिक तथा महान् मोक्षसुख का नाश कर रहे हैं । आप लोग पचन और पाचन आदि क्रियाओं में वर्तमान रहते हुए सावद्य कार्य का अनुष्ठान करके जीव हिंसा करते हैं । तथा आप लोग जिन जीवों के शरीर का उपभोग करते हैं, वे शरीर उनके स्वामिओं के द्वारा आपको नहीं मिले हैं, इसलिए आप अदत्तादान का आचरण करते हैं । तथा आप लोग गाय, भैंस और ऊंट आदि पशुओं को रखकर उनके मैथुन का अनुमोदन करते हैं, इसलिए आप अब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं । एवं आप अपने को प्रव्रजित कहकर ऊठे हुए भी गृहस्थों के आचरण का अनुष्ठान करते हैं इसलिए आप मिथ्याभाषण का सेवन करते हैं । तथा आप लोग धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पदरूप परिग्रह रखते हैं, इसलिए आप परिग्रह में वर्तमान हैं ॥८॥



साम्प्रतं मतान्तरदूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह -

अब दूसरे मत को दूषित करने के लिए शास्त्रकार पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं -

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।

इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा

॥९॥

छाया - एवमेके तु पार्श्वस्थाः प्रज्ञापयन्त्यनार्याः । स्त्रीवशङ्गता बालाः जिणशासनपराङ्मुखाः ॥

अन्वयार्थ - (इत्थीवसं गया) स्त्री के वश में रहनेवाले (बाला) अज्ञानी (जिणसासणपरम्मुहा) जैनेन्द्र के शासन से पराङ्मुख (अणारिया) अनार्य्य (एगे पासत्था) कोई पार्श्वस्थ (एवं) इस प्रकार (पन्नवंति) कहते हैं ।

भावार्थ - स्त्री के वश में रहनेवाले अज्ञानी जैनशास्त्र से विमुख अनार्य्य कोई पार्श्वस्थ आगे की गाथाओं द्वारा कही जानेवाली बातें कहते हैं ।

टीका - तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः, 'एवमि'ति वक्ष्यमाणया नीत्या, यदिवा प्राक्तन एव श्लोकोऽत्रापि सम्बन्धनीयः, एवमिति प्राणातिपातादिषु वर्तमाना 'एके' इति बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैव विशेषाः, सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः, त एवं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति अनार्याः, अनार्यकर्मकारित्वात्, तथाहि ते वदन्ति -

प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ? प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा' ॥९॥

किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह - 'स्त्रीवशं गताः' यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति, रागद्वेषजितो जिनास्तेषां शासनम् - आज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः 'एतद्' वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥९॥

टीकार्थ - इस गाथा में 'तु' शब्द पूर्वोक्त मत से विशेषता बताने के लिए आया है इसलिए कोई मिथ्यादृष्टि आगे कही जानेवाली नीति का आश्रय लेकर इस प्रकार कहते हैं, यह इसका अर्थ है। अथवा पहले के श्लोक का ही यहां भी सम्बन्ध करना चाहिए। एवं अर्थात् प्राणातिपात आदि में वर्तमान रहनेवाले कोई बौद्धविशेष अथवा नाथ कहकर प्रसिद्ध संघ विशेष में रहनेवाले नीलवस्त्रधारी शैवविशेष, जो उत्तम अनुष्ठान से दूर रहने के कारण पार्श्वस्थ हैं अथवा अवसन्न और कुशील आदि स्वयूथिक जो पार्श्वस्थ हैं, वे स्त्रीपरीषह से हारकर इस प्रकार कहते हैं। वे अनार्य कर्म करने के कारण अनार्य हैं। वे कहते हैं कि -

'प्रिया' अर्थात् मुझको प्रिया का दर्शन होना चाहिए, दूसरे दर्शनों से क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रिया के दर्शन से सरागचित्त के द्वारा भी निर्वाण सुख प्राप्त होता है।

वे लोग ऐसा क्यों कहते हैं, सो बतलाते हैं। वे स्त्रियों के वशीभूत हैं, इसलिए वे युवती स्त्रियों की आज्ञा में रहते हैं। उनका चित्त राग और द्वेष से नष्ट हो जाने के कारण वे मूर्ख हैं। राग और द्वेष को जीतनेवाले पुरुष को जिन कहते हैं, उन जिन भगवान की कषाय और मोह को शांत करनेवाली जो आज्ञा है, उससे वे विमुख होकर संसार में आसक्त रहते हुए जैन मार्ग से द्वेष करते हैं। उन लोगों ने आगे की गाथाओं द्वारा कही जानेवाली बातें कही हैं ॥९॥



- यदूचुस्तदाह -

- पूर्व गाथा में जिनकी सूचना की गयी है, उन अन्यतीर्थियों ने जो कहा है सो इस गाथा द्वारा बतलाते हैं -

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।

एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ?

॥१०॥

छाया - यथा गण्डं पिटकं वा, परिपीडयेत् मुहूर्तकम् । एवं वीज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (गंडं) फुन्सी (पिलागं वा) अथवा फोड़े को (मुहुत्तगं) मुहूर्तभर (परिपीलेज्ज) दबा देना चाहिए इसी तरह (विन्नवणित्थीसु) समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करना चाहिए (तत्थ) इस कार्य में (दोसो) दोष (कओ सिआ) कहां से हो सकता है?

भावार्थ - वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि - जैसे फुन्सी या फोड़े को दबाकर उसका मवाद निकाल देने से थोड़ी देर के बाद ही सुखी हो जाते हैं। इसी तरह समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने से थोड़ी देर के बाद ही खेद की शांति हो जाती है, अतः इस कार्य में दोष कैसे हो सकता है?

टीका - यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'यथा' येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव 'तदाकूतोपशमनार्थं' 'परिपीडय' पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्रं सुखिनो भवति, न च दोषेणानुषज्यते, एवमत्रापि 'स्त्रीविज्ञापनायां' युवतिप्रार्थनायां रमणीसम्बन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात्?, न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति ॥१०॥

टीकार्थ - 'यथा' शब्द उदाहरण बतलाने के लिए आया है। जैसे कोई फोड़ा फुन्सीवाला पुरुष, अपने शरीर में उत्पन्न फोड़ा या उसी तरह के कई दूसरे व्रण को शांत करने के लिए उसे दबाकर उसके पीव और विकृत रक्त को निकालकर थोड़ी देर के बाद ही सुखी हो जाता है परन्तु फोड़े को दबाने से उसको किसी प्रकार का दोष नहीं होता है, इसी तरह समागम के लिए युवती स्त्री के प्रार्थना करने पर उसके साथ फोड़ा को फोड़ने के समान समागम करने से दोष कैसे हो सकता है? स्त्री समागम द्वारा अपने खेद को विनाश करने मात्र से दोष नहीं हो सकता ॥१०॥



स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत्, न चासाविहास्तीति दृष्टान्तेन दर्शयति -

वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि समागम की प्रार्थना करनेवाली युवती स्त्री के साथ समागम करने से यदि कोई पीड़ा होती तो अवश्य इस कार्य में दोष होता परंतु वह इसमें नहीं होता यही बात दृष्टान्त देकर बतलाते हैं -

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।

एवं विन्नवणित्थिसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ?

॥११॥

छाया - यथा मंधादणो नाम स्तिमितं भुङ्क्ते दकम् । एवं विह्वापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (मन्धादए नाम) भेड़ (थिमिअं) बिना हिलाये (दगं) जल (भुंजती) पीती है (एवं) इसी तरह (विन्नवणित्थिसु) समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने से (तत्थ) इसमें (दोसो कओ सिआ) दोष कैसे हो सकता है?

भावार्थ - जैसे भेड़ बिना हिलाये जल पीती है, ऐसा करने से किसी जीव का उपघात न होने से उसको दोष नहीं होता है, इसी तरह समागम के लिए प्रार्थना करने वाली युवती स्त्री के साथ समागम करने से किसी को पीड़ा न होने के कारण कोई दोष नहीं होता है । यह वे अन्यतीर्थी कहते हैं ।

टीका - 'यथे' त्ययमुदाहरणोपन्यासार्थः, 'मन्धादन' इति मेषः नामशब्दः सम्भावनायां यथा मेषः तिमितम् अनालोडयन्नृदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति, न च तथाऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥११॥

टीकार्थ - यहां 'यथा' शब्द दृष्टान्त बताने के लिए आया है । मन्धादन नाम भेड़ का है । 'नाम' शब्द संभावना अर्थ में आया है । आशय यह है कि जैसे भेड़ बिना हिलाये जल पीती है और इस प्रकार अपनी तृप्ति कर लेती है । वह इस क्रिया से किसी जीव को पीड़ा नहीं देती है, इसी तरह स्त्री के साथ समागम करने से किसी दूसरे जीव को पीड़ा नहीं होती है और अपनी भी तृप्ति हो जाती है । इसलिए इस कार्य में दोष कहां से हो सकता है? ॥११॥



अस्मिन्नेवानुपघातार्थे दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह-

समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने में कोई जीवघातरूप दोष नहीं होता इस विषय में दृष्टान्तों की बहुलता बताने के लिए फिर दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं -

जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।

एवं विन्नवणित्थिसु, दोसो तत्थ कओ सिआ !

॥१२॥

छाया - यथा विहङ्गमा पिङ्गा, स्तिमितं भुङ्क्ते दकम् । एवं विह्वापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (पिंगा) पिङ्ग नामक (विहंगमा) पक्षिणी (थिमिअं) बिना हिलाये (दगं) जल (भुंजती) पान करती है (एवं) इसी तरह (विन्नवणित्थिसु) समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने पर (तत्थ) उसमें (दोसो कओ सिआ) दोष कहां से हो सकता है?

भावार्थ - कामासक्त अन्यतीर्थी कहते हैं कि-जैसे पिङ्ग नामक पक्षिणी बिना हिलाये जल पान करती है, इसलिए किसी जीव को उसके जलपान से दुःख नहीं होता है और उसकी तृप्ति भी हो जाती है, इसी तरह समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने से किसी जीव को दुःख नहीं होता है और अपनी तृप्ति भी हो जाती है, इसलिए इस कार्य में दोष कहां से हो सकता है?

टीका - 'यथा' येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा - पक्षिणी - पिंगे'ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमानाः 'तिमितं' निभृतमुदकमापिबति, एवमत्रापि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रियया अरक्तद्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति, साम्प्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैवकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा

तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रासंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेऽपि न दोषानुषङ्गः, तथा चोचुस्ते -

धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः ।

ऋतुकाले विधानेन, दोषस्तत्र न विद्यते ॥१॥

इति एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह -

जह णाम मंडलगणेण सिरं छेतू ण कस्सइ मणुस्सो । अच्छेज्ज पराहुतो किं नाम ततो ण धिप्पेज्जा? ॥५१॥ नि०
जह वा विसगंडूसं कोई घेतूण नाम तुण्हिक्को । अण्णेण अदीसन्तो किं नाम ततो न व मरेज्जा! ॥५२॥ नि०
जहा नाम सिरिधराओ कोई रयणाणि घेतूणं । अच्छेज्ज पराहुतो किं णाम ततो न धेप्पेज्जा? ॥५३॥ नि०

यथा (ग्रन्थाग्रम् ३०००) नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्चित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन 'न गृह्येत' नापराधी भवेत्? । तथा-यथा कश्चिद्विषगण्डूषं 'गृहीत्वा' पीत्वा नाम तूष्णींभावं भवेदन्येन चादृश्यमानोऽसौ किं नाम 'ततः' असावन्यादर्शनात् न म्रियेत? तथा - यथा कश्चित् श्रीगृहाद्-भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावताऽसौ न गृह्येतेति? । अत्र च यथा - कश्चित् शठतया अज्ञतया वा शिरश्छेदविषगण्डूषरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति, एवमत्राप्यवश्यंभावविरागकार्ये मैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति, तथा चोक्तम् -

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः । नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञातस्तथा ॥१॥

मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विषादवत्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥

इति निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥१२॥

टीकार्थ - जिस प्रकार आकाश में चलनेवाली कपिञ्जल नाम की चिड़िया आकाश में ही रहकर बिना हिलाये जल को पी लेती है, इसी तरह जो पुरुष रागद्वेष रहित बुद्धि से पुत्रोत्पत्ति के लिए स्त्री के शरीर को कुशा से ढंक कर उसके साथ समागम करता है, उसको उक्त कपिञ्जल पक्षी की तरह दोष नहीं होता है । यहां मैथुन के विषय में अन्यतीर्थियों की मान्यता तीन प्रकार की कही गयी है । कोई कहते हैं कि-जैसे फोड़े को दबाकर उसका मवाद निकाल दिया जाता है, इसी तरह स्त्री के साथ समागम किया जाता है । कोई कहते हैं कि-जैसे भेड़ का दूसरे को पीड़ा न देते हुए जल पीना है, इसी तरह दूसरे को पीड़ा न देनेवाला अपना तथा दूसरे को सुखोत्पादक मैथुन है । इसी तरह तीसरे की मान्यता है कि जैसे कपिञ्जल पक्षी केवल चोंच के अग्र भाग के सिवाय दूसरे अङ्गोद्गारा तालाब के जल को स्पर्श न करती हुए जलपान करती है, इसी तरह जो पुरुष रागद्वेष रहित बुद्धि से स्त्री के शरीर को कुशा से ढंककर उसके शरीर को न छुते हुए पुत्र के निमित्त परंतु काम के निमित्त नहीं, शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ऋतु काल में समागम करता है, उसको दोष नहीं होता है । इसी प्रकार उन्होंने अपने शास्त्र में कहा है -

(धर्मार्थम्) अर्थात् धर्मरक्षा के लिए पुत्रोत्पत्ति के निमित्त अपनी स्त्री में अधिकार रखनेवाले पुरुष के लिए ऋतुकाल में स्त्री समागम का शास्त्रीय विधान होने से इसमें दोष नहीं होता है ।

इस प्रकार उदासीन होकर रहनेवाले अन्यतीर्थियों का दृष्टान्त के द्वारा ही तीन गाथाओं से उत्तर देने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

जैसे कोई मनुष्य तलवार से किसी का शिर काटकर यदि पराङ्मुख होकर स्थित हो जाय तो क्या इस प्रकार उदासीन भाव के अवलम्बन करने से वह अपराधी नहीं हो सकता ? ॥५१॥ नि०।

तथा कोई मनुष्य यदि जहर का गण्डूष (घूट) लेकर उसे पी जाय और वह चुपचाप रहे तथा उसे कोई देखे भी नहीं तो क्या दूसरे के न देखने से वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा? ॥५२॥ नि०।

इसी तरह कोई मनुष्य किसी लक्ष्मीवान के भण्डार से बहुमूल्य रत्नों को चुराकर पराङ्मुख होकर रहे तो क्या वह चोर समझकर पकड़ा नहीं जायगा? ॥५३॥ नि०।

यहां कहने का आशय यह है कि यदि कोई मनुष्य शठता या मूर्खता वश किसी का शिर काटकर विष पीकर अथवा रत्न चुराकर मध्यस्थ वृत्ति का आश्रय लेवे तो भी वह निर्दोष नहीं हो सकता, उसी तरह राग होने पर ही उत्पन्न होनेवाला समस्त दोषों का स्थान संसारवर्धक मैथुन सेवन में निर्दोषता किसी भी तरह नहीं हो सकती इस विषय में विद्वानों ने कहा है कि -

(प्राणिनाम्) शास्त्र में महर्षियों ने मैथुन को प्राणियों का विनाशक बताया है । जैसे नली के भीतर तप्त अग्नि के कण डालने से शीघ्र उसके अंदर की चीजों का नाश हो जाता है, इसी तरह मैथुन सेवन से आत्मिक शक्ति का नाश हो जाता है ॥१॥

मैथुन सेवन अधर्म का मूल है, संसार को बढ़ानेवाला है, अतः पाप की इच्छा न करनेवाले पुरुष को विष युक्त अन्न की तरह इसका त्याग करना चाहिए ॥२॥

निर्युक्ति की तीन गाथाओं का यही तात्पर्यार्थ है ॥१२॥



साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्दिभावयिषयाह -

अब शास्त्रकार इस प्रकरण को समाप्त करते हुए फोड़े का मवाद निकालने के समान मैथुन को सुखदायी बतानेवाले लोगों के मत को दूषित करने के लिए कहते हैं -

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।

अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए

॥१३॥

छाया - एवमेके तु पार्श्वस्थाः मिथ्यादृष्टयेऽन्वार्थाः । अध्युपपन्नाः कामेषु पूतना इव तरुणए ॥१३॥

अन्वर्थ - (एवं) पूर्वोक्त रूप से मैथुन को निरवद्य माननेवाले (एगे उ) कोई (पासत्था) पार्श्वस्थ (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि हैं (अणारिया) अनर्थ है (कामेहिं अज्झोववन्ना) कामभोग में वे अत्यन्त मूर्च्छित हैं (तरुणए पूयणा इव) जैसे पूतना नामक डाकिनी बालकों पर आसक्त रहती है ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से मैथुन सेवन को निरवद्य बतानेवाले पुरुष पार्श्वस्थ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं तथा अनर्थ हैं। वे कामभोग में अत्यन्त आसक्त हैं । जैसे पूतना डाकिनी बालकों पर आसक्त रहती है ।

टीका - 'एव' मिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना 'एके' स्त्रीपरीषहपराजिताः, सदानुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः, तुशब्दात् स्वयूथ्या वा, तथा मिथ्या - विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिः - दर्शनं येषां ते तथा, आरात् - दूरे याता - गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः न आर्या अनार्याः धर्मविरुद्धानुष्ठानात्, त एवंविधा 'अध्युपपन्ना' गृध्रव इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावधानुष्ठानेष्विति, अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह - यथा वा 'पूतना' डाकिनी 'तरुणए' स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना, एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति, यदिवा 'पूयण'ति गङ्गुरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्ना, एवं तेऽपीति, कथानकं चात्र - यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनन्धयशब्दाकर्णनेऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति, उरग्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति, एवं तेऽपि ॥१३॥

टीकार्थ - फोड़े को फोड़कर उसका मज बाहर निकालने के समान मैथुन सेवन को निरवद्य माननेवाले अन्यतीर्थी स्त्रीपरीषह से जीते जा चुके हैं । वे शुभ अनुष्ठान से अलग रहते हैं । वे अपने को नाथ कहनेवाले मण्डल में विचरते हैं तथा 'तु' शब्द से कोई स्वयूथिक भी इस सिद्धान्त के अनुयायी हैं । इनकी दृष्टि वस्तुस्वरूप

को ग्रहण करनेवाली नहीं है। जो त्याग करने योग्य समस्त धर्मों से दूर रहता है, उसे आर्य कहते हैं। पूर्वोक्त मतवादी आर्य नहीं किन्तु अनार्य हैं क्योंकि वे विरुद्ध धर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने वाले पुरुष इच्छा-मदनरूप काम भोग में अत्यन्त आसक्त है। अथवा वे काम के द्वारा सावधानुष्ठान में अत्यन्त आसक्त है। इस विषय में शास्त्रकार लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त बतलाते हैं - जैसे पूतना डाकिनी स्तनपीनेवाले बालकों पर आसक्त रहती है, इसी तरह वे अनार्य काम में आसक्त रहते हैं। अथवा पूतना भेड़ का नाम है, वह जैसे अपने बच्चों पर आसक्त रहती है, इसी तरह वे अनार्य कामभोग में आसक्त हैं। भेड़ अपने बच्चों पर अत्यन्त आसक्त रहती है, इस विषय में एक कहानी प्रसिद्ध है - किसी समय पशुओं के अपत्यस्नेह की परीक्षा करने के लिए सर्व पशुओं के बच्चे जल रहित किसी कूप में रख दिये गये। उस समय उन बच्चों की मातायें अपने-अपने बच्चों के शब्द सुनकर कूप के तट पर ही रोती हुई खड़ी रही परन्तु भेड़ अपने बच्चों के प्रेम में अंधी होकर मृत्यु की परवाह न करके उस कूप में कूद पड़ी, इससे जैसे समस्त पशुओं में भेड़ का अपने बच्चे में अधिक स्नेह सिद्ध हुआ, इसी तरह उन अन्यतीर्थियों का कामभोग में अधिक स्नेह सिद्ध होता है ॥१३॥



कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह -

काम में आसक्त रहनेवाले पुरुषों का दोष बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं।

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।

ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउमि जोव्वणे

॥१४॥

छाया - अणागतमपश्यन्तः प्रत्युत्पन्नागवेषकाः । ते पश्चात् परितप्यन्ते, क्षीणे आयुषि यौवने ॥

अन्वयार्थ - (अणागयमपस्संता) भविष्य में होने वाले दुःख को न देखते हुए (पच्चुप्पन्नगवेसगा) जो लोग वर्तमान सुख की खोज में लगे रहते हैं (ते) वे (पच्छा) पीछे (आउमि जोव्वणे खीणे) आयु और युवावस्था के नष्ट होने पर (परितप्पन्ति) पश्चात्ताप करते हैं।

भावार्थ - असत् कर्म के अनुष्ठान से भविष्य में होनेवाली यातनाओं को न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुख की खोज में रत रहते हैं, वे युवावस्था और आयु क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

टीका - 'अणागतम्' एष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महत् दुःखम् 'अपश्यन्तः' अपर्यालोचयन्तः, तथा 'प्रत्युत्पन्नं' वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासम् 'अन्वेषयन्तो' मृगयमाणा, नानाविधैरुपायैर्भोगान्प्रार्थयन्तः ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति, उक्तं च -

हतं मुष्टिमिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् ।

यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थं नादरः कृतः ॥१॥

तथा -

^१विहवावलेवनडिएहिं जाई कीरन्ति जोव्वणमएणं ।

वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कन्ति ॥१॥ ॥१४॥

टीकार्थ - जो पुरुष कामभोग से निवृत्त नहीं है, उनको नरक आदि स्थानों में जो यातनायें होती हैं, उन पर दृष्टि न देते हुए जो लोग सुख के आभास मात्र आधुनिक विषयसुख की नानाप्रकार के उपायों द्वारा प्रार्थना करते हैं। वे आयु और युवावस्था का नाश होने पर वैराग्ययुक्त होकर पश्चात्ताप करते हैं। वे कहते हैं कि -

मनुष्य जन्म पाकर मैंने जो शुभ वस्तु का आदर नहीं किया सो मैंने मुझे से आकाश का ताड़न किया तथा चावल निकालने के लिए भूस्से का कण्डन किया (कूटा) ॥१॥

१. विहवावलेवनडितैर्यानि क्रियन्ते यौवनमयेन । वयःपरिणामे स्मृतानितानि हृदयं व्यथन्ते ॥१॥

तथा धन के घमण्ड से और युवावस्था के मद से जो कार्य नहीं किये जाते हैं, वे जब उमर बीतने पर याद आते हैं तो हृदय को अत्यन्त पीडित करते हैं ॥१२॥ ॥१४॥



- ये तूतमसत्त्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति दर्शयितुमाह -

- जो पुरुष उत्तम पराक्रमी होने के कारण पहले ही तपस्या आदि का आचरण करते हैं, वे पीछे पश्चात्ताप नहीं करते हैं । यह दर्शाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जेहिं काले परिक्रान्तं, न पच्छा परितप्पए ।

ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविअं

॥१५॥

छाया - यैः काले पराक्रान्तं, न पश्चात् परितप्यन्ते । ते धीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ॥

अन्वयार्थ - (जेहिं) जिन पुरुषों ने (काले) धर्मोपार्जनकाल में (परिक्रान्तं) धर्मोपार्जन किया है (ते) वे (पच्छा) पीछे (न परितप्पए) पश्चात्ताप नहीं करते हैं । (बंधणुम्मुक्का) बन्धन से छुटे हुए (ते धीरा) वे धीर पुरुष (जीविअं) असंयम जीवन की (नावकंखंति) इच्छा नहीं करते हैं ।

भावार्थ - धर्मोपार्जन के समय में जिन पुरुषों ने धर्मोपार्जन किया है, वे पश्चात्ताप नहीं करते हैं । बन्धन से छुटे हुए वे धीर पुरुष असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं ।

टीका - 'यैः' आत्महितकर्तृभिः 'काले' धर्मार्जनावसरे 'पराक्रान्तम्' इन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते 'पश्चात्' मरणकाले वृद्धावस्थायां वा 'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्च्छान्दसत्त्वादिति, धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव, यस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राश्नति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ते 'धीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धनेन - स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत् - प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति असंयमजीवितं, यदिवा - जीविते मरणे वा निःस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - अपने आत्मा का हित सम्पादन करनेवाले जिन पुरुषों ने धर्म के उपार्जनकाल में इन्द्रिय और कषायों का विजय करने के लिए अतीव उद्योग किया है, वे मरणकाल में अथवा वृद्धावस्था में पश्चात्ताप नहीं करते हैं । यहां 'परितप्पए' इस पद में एकवचन निर्देश सूत्र होने के कारण छान्दस समझना चाहिए । जो पुरुष विवेकसम्पन्न हैं, उनके लिए प्रायः सभी समय धर्मोपार्जन का ही काल है, क्योंकि धर्मोपार्जन ही प्रधान पुरुषार्थ है, अतः प्रधान पुरुषार्थ के लिए उद्योग करना ही सबसे उत्तम है । जो पुरुष बाल्यकाल से ही विषयभोग का संसर्ग न करते हुए तपस्या में प्रवृत्त रह चुके हैं, वे कर्म को विदारण करने में समर्थ धीर हैं । वे पुरुष स्नेहात्मक बन्धन से अत्यन्त छुटे हुए असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते हैं । अथवा वे जीवन और मरण में निःस्पृह रहकर संयम के अनुष्ठान में चित्त रखते हैं ॥१५॥



जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।

एवं लोगंसि नारीओ, दुरुत्तरा अमईमया

॥१६॥

छाया - यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता । एवं लोके नाय्यो दुत्तरा अमतिमता ॥

अन्वयार्थ - जहां जैसे (इह) इस लोक में (वेयरणी नदी) वैतरणी नदी (दुत्तरा सम्मता) दुस्तर मानी गयी है (एवं) इसी तरह (लोगंसि) लोक में (नारीओ) स्त्रियाँ (अमईमया) निर्विवेकी मनुष्य से (दुरुत्तरा) दुस्तर मानी गयी हैं ।

भावार्थ - जैसे अतिवेगवती वैतरणी नदी दुस्तर है, इसी तरह निर्विवेकी पुरुष से स्त्रियाँ दुस्तर हैं ।

टीका - यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च 'दुस्तरा' दुर्लभ्या 'एवम्' अस्मिन्नपि लोके नार्यः 'अमतिमता' निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते, तथाहि - ताः हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम् -

सन्मार्गं तावदारुते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विद्यते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्षमाण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥१॥
तदेवं वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥१६॥ अपि च-

टीकार्थ - यथा शब्द उदाहरण बताने के लिए आया है । जैसे नदीओं में वैतरणी नदी अति वेगवती और विषम तटवाली होने के कारण दुःख से लङ्घन करने योग्य है । इसी तरह इसलोक में पराक्रम हीन विवेक रहित पुरुषों से स्त्रियां दुस्तर हैं । स्त्रियाँ हावभाव के द्वारा विद्वानों को वश कर लेती हैं । किसी कवि ने कहा है कि-

पुरुष शुभ कर्म में तभी तक स्थित रहता है और इन्द्रियों पर तभी तक अपना प्रभुत्व रखता है तथा लज्जा भी तभी तक करता है एवं विनय भी तभी तक धारण करता है । जब तक स्त्रियों के द्वारा भ्रुकुटिरूपी धनुष को कान तक खींचकर चलाये हुए नीलपक्षवाले दृष्टिबाण, उसके ऊपर नहीं गिरते हैं ॥१॥

अतः स्त्रियाँ वैतरणी नदी के समान दुस्तर हैं ॥१६॥

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिड्डतो कता ।

सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए

॥१७॥

छाया - येनारीणां संयोगाः पूजना पृष्ठतः कृता । सर्वमेतत्किराकृत्य ते स्थिताः सुसमाधिना ॥

अन्वयार्थ - (जेहिं) जिन पुरुषों ने (नारीण संजोगा) स्त्रियों का सम्बन्ध (पूयणा) और कामशृंगार को (पिड्डतो कता) छोड़ दिया है (ते) वे पुरुष (एयं सव्वं निराकिच्चा) समस्त उपसर्गों को तिरस्कार करके (सुसमाहिए ठिया) प्रसन्नचित्त होकर रहते हैं ।

भावार्थ - जिन पुरुषों ने स्त्रीसंसर्ग और कामशृंगार को छोड़ दिया है, वे समस्त उपसर्गों को जीतकर उत्तम समाधि के साथ निवास करते हैं ।

टीका - 'यैः' उत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्ताः, तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालङ्कारमाल्यादिभिरात्मनः 'पूजना' कामविभूषा 'पृष्ठतः कृता' परित्यक्तेत्यर्थः, 'सर्वमेतत्' स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादिप्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपन्थानं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना - स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिताः, नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते, अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपति-तमीनवद्वागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥

टीकार्थ - स्त्री संसर्ग के फल को जानने वाले जिन पुरुषों ने अंत में कटु फल देने वाले स्त्रीसंसर्ग को त्याग दिया है तथा स्त्री संसर्ग के लिए ही जो वस्त्र, अलंकार और फूलमालादि के द्वारा अपने शरीर को मण्डित किया जाता है, उस कामविभूषा को भी त्याग दिया है, वे पुरुष, स्त्री प्रसंग आदि तथा क्षुधापिपासा (प्यास) आदि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीतकर महापुरुषों से सेवित मार्ग में प्रवृत्त हैं, अतः वे प्रसन्न चित्तवृत्ति रूप उत्तम समाधि के साथ स्थित रहते हैं, वे पुरुष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से कदापि चंचल नहीं होते हैं परंतु दूसरे पुरुष जो विषयलोलुप तथा स्त्री आदि परीषहों से जीते जा चुके हैं, वे आग पर पड़ी हुई मच्छली की तरह रागरूपी अग्नि में जलते हुए अशान्ति के साथ निवास करते हैं ॥१७॥

स्थ्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह -

स्त्री आदि के परीषह को पराजित करने का फल बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

एते ओघं तरिस्सन्ति, समुद्रं व्यवहारिणो ।

जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा

॥१८॥

छाया - एते ओघं तरिष्यन्ति समुद्रं व्यवहारिणः । यत्र प्राणाः विषण्णाः कृत्यन्ते स्वकर्मणा ॥

अन्वयार्थ - (एते) अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीतने वाले ये पूर्वोक्त पुरुष (ओघं) संसार को (तरिस्सन्ति) पार करेंगे (समुद्रं) जैसे समुद्र को (व्यवहारिणो) व्यापार करनेवाले वणिक् पार करते हैं । (जत्थ) जिस संसार में (विसन्ना) पड़े हुए (पाणा) प्राणी (सयकम्मुणा) अपने कर्मों से (किच्चन्ती) पीड़ित किये जाते हैं ।

भावार्थ - अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीतकर महापुरुषों द्वारा सेवित मार्ग से चलने वाले धीर पुरुष, जिस संसार सागर में पड़े हुए जीव अपने कर्मों के प्रभाव से नाना प्रकार की पीड़ा भोगते हैं, उसको इस प्रकार पार करेंगे जैसे समुद्र के दूसरे पार में जाकर व्यापार करनेवाला वणिक् लवणसमुद्र को पार करता है ।

टीका - य एते अनन्तरोक्ता अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गजैतार एते सर्वेऽपि 'ओघं' संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति, द्रव्यौघदृष्टान्तमाह - 'समुद्रं' लवणसागरमिव यथा 'व्यवहारिणः' सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्ति, एवं भावौघमपि संसारं संयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति, तथा तीर्णास्तरन्ति चेति, भावौघमेव विशिनष्टि - 'यत्र' यस्मिन् भावौघे संसारसागरे 'प्राणाः' प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गाद्विषण्णाः सन्तः 'कृत्यन्ते' पीडयन्ते 'स्वकृतेन' आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन 'कर्मणा' असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥१८॥

टीकार्थ - अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीतनेवाले जो पुरुष पहले कहे गये हैं, वे सभी दुस्तर संसार सागर को पार करेंगे । इस विषय में द्रव्य ओघ का दृष्टान्त बतलाते हैं - जैसे जहाजों के द्वारा यात्रा करनेवाले पुरुष जहाज द्वारा लवण समुद्र को पार करते हैं, इसी तरह पूर्वोक्त साधु पुरुष भावरूपी ओघ को अर्थात् संसारसागर को संयमरूपी जहाज के द्वारा पार करेंगे तथा किया है और कर रहे हैं । यह भावरूपी ओघ कैसा है ? सो विशेषण के द्वारा शास्त्रकार बतलाते हैं - भावरूपी ओघ में अर्थात् संसार सागर में स्त्रीसंसर्ग के कारण पड़े हुए जीव अपने किये हुए असातावेदनीय के उदय रूपी पाप कर्म के प्रभाव से दुःख भोगते हैं ॥१८॥



साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरदित्सयाह -

अब शास्त्रकार इस प्रकरण को समाप्त करते हुए दूसरा उपदेश देने के लिए कहते हैं -

तं च भिक्षू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।

मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे

॥१९॥

छाया - तं च भिक्षुः परिण्णाय सुव्रतः समितश्चरेत् । मृषावादं च वर्जयेददत्तादानं च व्युत्सृजेत् ॥

अन्वयार्थ - (भिक्षू) साधु (तं च परिण्णाय) पूर्वोक्त बातों को जानकर (सुव्वते) उत्तम व्रतों से युक्त तथा (समिते) समितिओं के सहित रहकर (चरे) विचरे । (मुसावायं च वज्जिज्जा) मृषावाद को छोड़ देवे और (अदिन्नादाणं च वोसिरे) अदत्तादान को त्याग देवे ।

भावार्थ - पूर्वोक्त गाथाओं में जो बातें कही गयी हैं, उन्हें जानकर साधु उत्तम व्रत तथा समिति से युक्त होकर रहे एवं मृषावाद और अदत्तादान को त्याग दे ।

टीका - तदेतद्यत्प्रागुक्तं यथा - वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति, स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः 'परिज्ञाय' हेयोपादेयतया बुद्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः, पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणावेदनं कृतमित्येवंभूतः 'चरेत्' संयमानुष्ठानं

विदध्यात्, तथा 'मृषावादम्' असद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्, तथा 'अदत्तादानं च व्युत्पृजेद्' दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृहीयात्, आदिग्रहणान्मैथुनादेः परिग्रह इति, तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् ॥१९॥

टीकार्थ - पहले जो कहा गया है कि 'स्त्रियाँ वैतरणी नदी की तरह दुस्तर हैं, अतः जिसने उनका त्याग कर दिया है। वे पुरुष समाधियुक्त होकर संसार को पार करते हैं और स्त्री के साथ संसर्ग करनेवाले पुरुष संसार में रहकर अपने कर्मों के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं' इन सब बातों को साधु पुरुष जानकर अर्थात् स्त्री संसर्ग को त्याग करने योग्य और संयम को आदरने योग्य समझकर सुंदर व्रतों से युक्त और समितियों से सहित होकर संयम अनुष्ठान करे। यहां समितियुक्त होकर रहना बताकर उत्तर गुणों का कथन किया गया है। इस प्रकार रहता हुआ साधु मिथ्या भाषण को विशेष रूप से वर्जित करे तथा अदत्तादान का सर्वथा त्याग करे। बिना दिये दांत को शुद्ध करने के लिए तृणादि भी न लेवे। आदि शब्द से मैथुन आदि का ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए अपना कल्याण समझकर साधु यावज्जीवन मैथुन आदि का सेवन न करे ॥१९॥



अपरव्रतानामहिंसाया वृत्तिकल्पत्वात् तत्प्राधान्यख्यापनार्थमाह -

दूसरे व्रत, अहिंसा की वृत्ति अर्थात् वाङ् के समान हैं परंतु अहिंसा प्रधान व्रत है, इस बात को बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

उद्धमहे तिरियं वा, जे कई तसथावरा ।

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं

॥२०॥

छाया - ऊर्ध्वमधस्तिर्व्यक्षु ये केचित् त्रसस्थावराः । सर्वत्र विरतिं कुर्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥

अन्वयार्थ - (उद्धं) ऊपर (अहे) नीचे (तिरियं वा) अथवा तिरछा (जे कई तसथावरा) जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं (सव्वत्थ) सर्वकाल में (विरति) विरति अर्थात् उनके नाश से निवृत्ति (कुज्जा) करनी चाहिए। (संति निव्वाणमाहियं) ऐसा करने से शान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति कही गयी है।

भावार्थ - ऊपर नीचे अथवा तिरछा जो कोई त्रस और स्थावर जीव निवास करते हैं, उनकी हिंसा से सब काल में निवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से जीव को शान्तिरूपी निर्वाणपद प्राप्त होता है।

टीका - ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वित्यनेन क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, तत्र ये केचन त्रसन्तीति त्रसा - द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः - पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्ना इति, अनेन च द्रव्यप्राणातिपातो गृहीतः, सर्वत्र काले सर्वास्वस्थास्वित्यनेनापि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः, तदेवं चतुर्दशस्वपि जीवस्थानेषु कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायैः प्राणातिपातविरतिं कुर्यादित्यनेन पादोनेनापि श्लोकद्वयेन प्राणातिपातविरत्यादयो मूलगुणाः ख्यापिताः, साम्प्रतमेतेषां सर्वेषामेव मूलोत्तरगुणानां फलमुद्देशेनाह - 'शान्तिः' इति कर्मदाहोपशमस्तदेव च 'निर्वाणं' मोक्षपदं यद् 'आख्यातं' प्रतिपादितं, सर्वद्वन्द्वापगमरूपं तदस्यावश्यं चरणकरणानुष्ठायिनः साधोर्भवतीति ॥२०॥

टीकार्थ - ऊपर, नीचे और तिरछा कहकर क्षेत्र प्राणातिपात का ग्रहण किया गया है। जो प्राणी भय पाते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। उन त्रस प्राणियों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त भेद होते हैं। तथा जो प्राणी चलते, फिरते नहीं किन्तु सदा स्थित रहते हैं, वे स्थावर कहे जाते हैं। उन स्थावर प्राणियों के पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, सूक्ष्म-बादर पर्याप्त और अपर्याप्त रूप भेद होते हैं। यहां त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध करके द्रव्यप्राणातिपात का ग्रहण किया गया है। तथा सब काल में अर्थात् सभी अवस्थाओं में प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, यह कहकर काल और भाव भेद से भिन्न प्राणातिपात का

ग्रहण किया गया है। इस प्रकार चौदह ही जीवस्थानों में तीनों करण और तीनों योगों से प्राणातिपात से निवृत्त हो जाना चाहिए, यह कहकर एक चरण कम दो श्लोकों के द्वारा प्राणातिपात विरति आदि मूल गुणों का कथन किया गया है। अब इन समस्त मूलगुण और उत्तर गुणों का फल, नाम लेकर बताने के लिए चौथा चरण कहते हैं - कर्मरूपी दाह की शान्ति को शान्ति कहते हैं, वह शान्ति ही निर्वाण अर्थात् मोक्षपद कहा गया है, वह समस्त दुःखों की निवृत्तिस्वरूप है, वह करण का अनुष्ठान करनेवाले साधु को ही मोक्षपद अवश्य प्राप्त होता है ॥२०॥



समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह -

अब शास्त्रकार समस्त अध्ययन की समाप्ति करने के लिए कहते हैं कि

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए

॥२१॥

छाया - इमं च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् । कुर्याद् भिक्षुर्ग्लानस्याग्लानतया समाहितः ॥

अन्वयार्थ - (कासवेण पवेदितं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए (इमं च धर्ममादाय) इस धर्म को स्वीकार करके (समाहिए) समाधियुक्त (भिक्खू) साधु (अगिलाए) अग्लानभाव से (गिलाणस्स) ग्लान साधु की सेवा करे ।

भावार्थ - काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके, साधु समाधि युक्त रहता हुआ, अग्लान भाव से ग्लान साधु की सेवा करे ।

टीका - 'इमं च धम्ममि' त्यादि, 'इम' मिति पूर्वोक्तं मूलोत्तरगुणरूपं श्रुतचारित्राख्यं वा दुर्गतिधारणात् धर्मम् 'आदाय' आचार्योपदेशेन गृहीत्वा किम्भूतमिति तदेव विशिनष्टि - 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिना समुत्पन्नदिव्यज्ञानेन भव्यसत्त्वाभ्युद्धरणाभिलाषिणा 'प्रवेदितम्' आख्यातं समधिगम्य 'भिक्षुः' साधुः परीषहोपसर्गैरतर्जितो ग्लानस्यापरस्य साधोर्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, कथमिति?, स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति 'समाहित' इति समाधिं प्राप्तः, इदमुक्तं भवति - कृतकृत्योऽहमिति मन्यमानो वैयावृत्त्यादिकं कुर्यादिति ॥२१॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - पहले कहे हुए मूल और उत्तर गुणरूप अथवा श्रुत, चारित्ररूप, दुर्गति में गिरते प्राणि को धारण करनेवाले धर्म को आचार्य के उपदेश से ग्रहण करके साधु रोगी साधु का वैयावच्च करे । यह धर्म कैसा है सो बताने के लिए इसका विशेषण बतलाते हैं - जिनको दिव्यज्ञान उत्पन्न हुआ था तथा जो भव्य जीवों के उद्धार की इच्छा करते थे, ऐसे श्रीमान् महावीर वर्धमान स्वामी ने इस धर्म को कहा था । इस धर्म को प्राप्त करके परीषह तथा उपसर्गों से न घबरता हुआ साधु दूसरे रोगी साधु की वैयावच्च करे । किस प्रकार करे सो बताते हैं । स्वयं ग्लान न होते हुए यथाशक्ति समाधि को प्राप्त करे । आशय यह है कि मैं कृतकृत्य हुआ यह मानता हुआ, रोगी साधु की वैयावच्च करे ॥२१॥



संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।

उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि

॥२२॥ त्ति बेमि॥

इति उवसग्गपरिन्नाणामं तईयं अज्झयणं सम्मत्तं ॥ (गाथाग्रं २५६)

छाया - संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः । उपसर्गान् नियम्य आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (दिट्ठिमं) सम्यग्दृष्टि, (परिनिव्वुडे) शांत पुरुष (पेसलं धम्मं संखाय) मुक्ति देने में कुशल इस धर्म को अच्छी तरह जानकर (उवसग्गे) उपसर्गों को (नियामित्ता) सहन करके (आमोक्खाए) मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त (परिव्वए) संयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि शांत पुरुष मोक्ष देने में कुशल इस धर्म को अच्छी तरह जानकर उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे ।

टीका - 'संख्याये'ति सम्यग् ज्ञात्वा 'स्वसम्पत्त्या अन्यतो वा - श्रुत्वा 'पेशलं'ति मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद् ? - 'धर्म' श्रुतचारित्राख्यं 'दृष्टिमान्' सम्यग्दर्शनी 'परिनिर्वृत' इति कषायोपशमाच्छीतीभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा 'उपसर्गान्' अनुकूलप्रतिकूलान् सम्यग् 'नियम्य' अतिसह्य 'आमोक्षाय' मोक्षं यावत् परि - समन्तात् 'व्रजेत्' संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयचर्चाऽपि तथैवेति ॥२२॥

॥ उपसर्गपरिज्ञायाः समाप्त्युद्देशकः,

तत्परिसमाप्तौ च समाप्तं तृतीयमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ - अपनी बुद्धि से अथवा दूसरे से सुनकर मोक्ष देने में अनुकूल श्रुत, चारित्ररूप धर्म को सुनकर सम्यग्दर्शनयुक्त तथा कषायों के नष्ट हो जाने से शांतभूत, अथवा मुक्त के तुल्य पुरुष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्ष प्राप्तिपर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे । इति शब्द समाप्ति अर्थ में है । ब्रवीमि यह पूर्ववत् है । नयों की चर्चा भी पूर्ववत् ही है ॥२२॥

उपसर्गपरिज्ञाध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त हुआ और
उसके समाप्त होने से यह तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, तेषां च प्रायोऽनुकूला दुःसहाः, ततोऽपि स्त्रीकृताः, अतस्तज्ज्ञयार्थमिदमध्ययनमुपदिश्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा - अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्राग्वत् निर्युक्तिकृता 'थीदोषविवज्जणा चेव'त्यनेन स्वयमेव प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र निर्युक्तिकृदेव भणिष्यति, साम्प्रतं निक्षेपः, स चौघनामसूत्रालापकभेदात् त्रिधा, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने 'स्त्रीपरिज्ञे'ति नाम, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादानादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थमाह -

तीसरा अध्ययन कहा जा चुका, अब चौथा आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है - पूर्व अध्ययन में उपसर्ग कहे गये हैं, उनमें प्रायः अनुकूल उपसर्ग दुःसह होते हैं, उन अनुकूल उपसर्गों में भी स्त्री से किया हुआ उपसर्ग अति दुःसह होता है, अतः स्त्रीकृत उपसर्गों के विजय के लिए इस चतुर्थ अध्ययन का उपदेश किया जाता है। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार होते हैं। उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार दो प्रकार का है। अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार, उनमें अध्ययनार्थाधिकार को निर्युक्तिकार ने प्रथम अध्ययन की प्रस्तावना में 'थीदोषविवज्जणा चेव' इस गाथा के द्वारा स्वयमेव बता दिया है। तथा उद्देशार्थाधिकार को आगे चलकर निर्युक्तिकार स्वयमेव कहेंगे।

अब निक्षेप कहा जाता है - वह निक्षेप, ओघ नाम और सूत्रालापक भेद से तीन प्रकार का है। उनमें ओघ निक्षेप में यह समस्त अध्ययन है और नामनिक्षेप में इस अध्ययन का नाम स्त्री परिज्ञाध्ययन है। इनमें नाम और स्थापना को अभ्यास में आने के कारण छोड़कर स्त्री शब्द का द्रव्यादि निक्षेप बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

द्रव्याभिलाषचिंथे वेदे भावे य इत्थिणिक्रवेवो । अहिलाये जह सिद्धी भावे वेयंमि उवउत्तो ॥५४॥ नि०।

टीका - तत्र द्रव्यस्त्री - आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्री पदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रिधा, 'एकभविका बद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रा चेति, चिह्नयते-ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं स्तननेपथ्यादिकं, चिह्नमात्रेण स्त्री चिह्नस्त्री, अपगतस्त्रीवेदश्छद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति, वेदस्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः, अभिलाषभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चाद्धेनाह-अभिलाष्यते इत्यभिलापः स्त्रीलिङ्गाभिधानः शब्दः, तद्यथा - शाला माला सिद्धिरिति, भावस्त्री तु द्वेधा - आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भाव' इतिकृत्वा, नोआगमतस्तु भावविषये निक्षेपे 'वेदे' स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति, यथाऽग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवति, एवमत्रापि, यदिवा - स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषु 'उपयुक्ते'ति तान्यनुभवन्ती भावस्त्रीति, एतावानेव स्त्रियो निक्षेप इति परिज्ञानिक्षेपस्तु शस्त्रपरिज्ञावद् द्रष्टव्यः ॥

टीकार्थ - द्रव्य स्त्री दो प्रकार की है - आगम से (ज्ञान से) और नोआगम से। जो पुरुष स्त्री पदार्थ को जानता है, परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है, वह आगम से द्रव्य स्त्री है, क्योंकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। ज्ञ शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्य स्त्री के नोआगम से तीन भेद हैं। एक भविका, (जो एक

भव के बाद ही स्त्री भव को प्राप्त करनेवाला है) बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बांध ली है) अभिमुखनामगोत्रा (स्त्री नाम गोत्र जिसके अभिमुख है, वह जीव) । जिसके द्वारा वस्तु पहचानी जाती है, उसे चिह्न कहते हैं, स्तन और स्त्री की तरह कपडा आदि पहनना स्त्री के चिह्न हैं । जो चिह्न मात्र से स्त्री है, उसे चिह्न स्त्री कहते हैं । जिसका स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, ऐसा छद्मस्थ अथवा केवली अथवा अन्य कोई जीव जो स्त्री का वेष धारण करता है, वह चिह्न स्त्री है । पुरुष भोगने की इच्छा रूप स्त्रीवेद के उदय को वेदस्त्री कहते हैं ।

अभिलापस्त्री और भाव स्त्री को निर्युक्तिकार गाथा के उत्तरार्द्ध के द्वारा बतलाते हैं । जो कहा जाता है, उसे अभिलाप कहते हैं, स्त्री लिङ्ग को कहनेवाला शब्द अभिलाप स्त्री है, जैसे शाला, माला और सिद्धि इत्यादि शब्द । भाव स्त्री दो प्रकार की है - आगम से और नोआगम से, जो जीव स्त्री पदार्थ को जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है, यह आगम से भाव स्त्री है, क्योंकि वस्तु में उपयोग रखना भाव कहलाता है, नोआगम से भाव स्त्री वह है, जो जीव स्त्रीवेदरूप वस्तु में उपयोग रखता है क्योंकि उपयोग उस जीव से भिन्न नहीं है, जैसे अग्नि में उपयोग रखनेवाला बालक अग्नि ही हो जाता है, इसी तरह यहां भी समझना चाहिए । अथवा स्त्री वेद को उत्पन्न करनेवाले उदय को प्राप्त जो कर्म हैं, उनमें जो उपयोग रखता है अर्थात् स्त्रीवेदनीय कर्मों का जो अनुभव करता है, वह नोआगम से भावस्त्री है । स्त्री का निक्षेप इतना ही है। परिज्ञा का निक्षेप शस्त्रपरिज्ञा की तरह समझना चाहिए ॥५४॥नि०।



साम्प्रतं स्त्रीविपक्षभूतं पुरुषनिक्षेपार्थमाह -

अब स्त्री के विपक्षभूत पुरुष का निक्षेप करने के लिए कहते हैं -

णामं ठवणा दविए खेते काले य पज्जणकंमे । भोगे गुणे य भावे दस एए पुरिसणिकखेया ॥५५॥ नि०।

टीका - 'नाम' इति संज्ञा तन्मात्रेण पुरुषो नामपुरुषः - यथा घटः पट इति, यस्य वा पुरुष इति नामेति, 'स्थापनापुरुषः' काष्ठादिनिर्वर्तितो जिनप्रतिमादिकः, द्रव्यपुरुषो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमत एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति, द्रव्यप्रधानो वा मम्मणवणिगादिरिति, यो यस्मिन् सुराष्ट्रादौ क्षेत्रे भवः स क्षेत्रपुरुषो यथा सौराष्ट्रिक इति, यस्य वा यत् क्षेत्रमाश्रित्य पुंस्त्वं भवतीति, यो यावन्तं कालं पुरुषवेदवेद्यानि कर्माणि वेदयते स कालपुरुष इति, यथा - 'पुरिसे णं भन्ते! पुरिसोत्ति कालओ केवच्चिरं होइ? गो०, जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं जो जम्मि काले पुरिसो भवइ, जहा कोइ एगंमि पक्खे पुरिसो एगंमि नपुंसगो'ति । प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नम्- लिङ्गम् तत्प्रधानः पुरुषः अपरपुरुषकार्यरहितत्वात् प्रजननपुरुषः, कर्म - अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः-कर्मकरादिकः, तथा भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः - चक्रवर्त्यादिः, तथा गुणाः - व्यायामविक्रम- धैर्यसत्त्वादिकास्तत्प्रधानः पुरुषो गुणपुरुषः, भावपुरुषस्तु पुंवदोदये वर्तमानस्तद्वेद्यानि कर्माण्यनुभवन्निति, एते दश पुरुषनिक्षेपा भवन्ति ।

टीकार्थ - संज्ञा को नाम कहते हैं । जो संज्ञा मात्र से पुरुष है, वह नाम पुरुष कहलाता है जैसे घट, पट शब्द नाम पुरुष हैं । अथवा जिसका नाम पुरुष है, वह नाम पुरुष है । स्थापना पुरुष लकड़ी आदि की बनायी हुई जिन प्रतिमा आदि है । द्रव्यपुरुष ज्ञशरीर, भव्यशरीर से व्यतिरिक्त नोआगम से तीन प्रकार के हैं । जैसे कि- एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र । अथवा धन में जिसका अत्यन्त मन होता है, उस द्रव्यप्रधान पुरुष को द्रव्यपुरुष कहते हैं, जैसे मम्मण वणिक् आदि । क्षेत्र पुरुष वह है, जो जिस देश में जन्मा है, जैसे सुराष्ट्र देश में जन्मा हुआ पुरुष सौराष्ट्रिक कहलाता है । अथवा जिसको जिस क्षेत्र के आश्रय से पुरुषत्व प्राप्त होता है, वह उस क्षेत्र का क्षेत्र पुरुष है । तथा जो जितने काल तक पुरुषवेदनीय कर्मों को भोगता है, वह कालपुरुष है जैसे कि - "(पुरिसेणं) हे भगवन्! पुरुष, काल से कब तक पुरुषपन में होता है ? हे गौतम ! जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट जो जिस काल में स्वयं पुरुषपन को अनुभव करता है, जैसे कोई एक पक्ष में पुरुषपन को अनुभव करता है और दूसरे पक्ष में नपुंसकपने को भोगता है । जिससे प्रजा वगैरह उत्पन्न होती है, उसे प्रजनन कहते हैं, वह पुरुष का चिह्न है। जिसको वही प्रधान है, वह प्रजनन पुरुष है ! कारण यह है कि उससे पुरुष

के योग्य दूसरा कार्य नहीं होता है, इसलिए उसे प्रजनन पुरुष कहते हैं। अनुष्ठान को कर्म कहते हैं, वह कर्म जिसमें प्रधान है, उसे कर्मपुरुष कहते हैं। मजूर और कारीगर आदि कर्मपुरुष हैं। तथा भोगप्रधान पुरुष को भोगपुरुष कहते हैं। चक्रवर्ती आदि भोगपुरुष हैं। तथा व्यायाम (कसरत) विक्रम (बल) धैर्य सत्त्व आदि गुण हैं, ये गुण जिसमें प्रधान हैं, उसे गुण पुरुष कहते हैं। भावपुरुष वह है जो पुरुषवेदनीय कर्म के उदय में वर्तमान रहकर पुरुष वेदनीय कर्मों का अनुभव कर रहा है। इस प्रकार पुरुष के दश निक्षेप होते हैं ॥५५॥नि०।



- साम्प्रतं प्रागुल्लिङ्गितमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह -

- अब पूर्व में जिसकी सूचना की गयी है, उस उद्देशार्थाधिकार के विषय में निर्युक्तिकार कहते हैं -
पढमे संथयसंलयमाइहि स्खलणा उ होति सीलस्स । बितिए इहेव स्खलियस्स अयत्था कम्मबंधो य ॥५६॥ नि०।

टीका - प्रथमे उद्देशके अयमर्थाधिकारः तद्यथा - स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवेन' परिचयेन तथा 'संलापेन' भिन्नकथाद्यालापेन, आदिग्रहणादङ्गनिरीक्षणादिना कामोत्काचकारिणा भवेदल्पसत्त्वस्य 'शीलस्य' चारित्रस्य स्खलना तुशब्दात्तत्परित्यागो वेति, द्वितीये त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा - शीलस्खलितस्य साधोः 'इहैव' अस्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धः, ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति, किं स्त्रीभिः कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशः कृतो येनैवमुच्यते?

टीकार्थ - प्रथम उद्देशक में कहा है कि स्त्रियों के साथ परिचय रखने से तथा भिन्नकथा वगैरह (चारित्र को नाश करनेवाली) बातों का आलाप करने से तथा आदि शब्द से काम को उत्पन्न करनेवाले उन स्त्रियों के अंगोपांगों को देखने आदि से अल्प पराक्रमी पुरुष के शील यानी चारित्र की स्खलना (व्रतभंग) होती है अथवा तु शब्द से जानना चाहिए कि वह पुरुष दीक्षा को छोड़ देता है। द्वितीय उद्देशक में यह कहा है कि - शीलभ्रष्ट साधु की इसी जन्म में अपने पक्ष और पर पक्ष की तरफ से तिरस्कार वगैरह का दुःख होता है तथा शील को भंग करने से अशुभ कर्म का बन्ध होता है और उसे संसारसागर में भ्रमण करना पड़ता है। शिष्य का प्रश्न- क्या स्त्रियों ने किसी को शीलभ्रष्ट करके अपने वश में किया है, जिससे तुम ऐसा कहते हो? ॥५६॥नि०।



- कृत इति दर्शयितुमाह -

- हां, किया है सो कहते हैं -

सूरा मो मन्ता कइतयियाहिं उवहिप्पहाणाहिं । गहिया हु अभयपज्जोयकूलवालादिणो बहये ॥५७॥ नि०।

टीका - बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः, मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, 'कृत्रिमाभिः' सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तथा उपधिः - माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिः 'गृहीता' आत्मवशतां नीताः, केचन राज्यादपरे शीलात् प्रच्याव्येहैव विडम्बनां प्रापिताः, अभयकुमारादिकथानकानि च मूलादावश्यकदावगन्तव्यानि, कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रमं अत्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थ इति ॥

टीकार्थ - अभय, प्रद्योत और कूलवाल वगैरह बहुत से पुरुष अपने को शूरवीर मानते थे (मो शब्द निपात है, वाक्य की शोभा के लिए आया है) परन्तु वे कृत्रिम अर्थात् अंदर के भाव से वर्जित तथा सैकड़ों माया करनेवाली स्त्रियों के द्वारा वश किये जा चुके हैं। कई तो स्त्रियों के द्वारा राज्य से भ्रष्ट किये गये हैं और कई शील से भ्रष्ट किये जाकर इसी जन्म में तिरस्कार के भागी हुए हैं। अभयकुमार आदि की कथायें मूल आवश्यक से जाननी चाहिए। तीनों की कथा बताने का कारण यह है कि अभयकुमार में अत्यन्त बुद्धि थी और प्रद्योत शूरवीर था और कूलवाल महान् तपस्वी था। इन तीनों को स्त्रियों ने कपट से वश में किया था ॥५७॥नि०।



यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह -

अतः क्या करना चाहिए सो बताते हैं -

तम्हा ण उ वीसंभो गंतव्यो णिच्चमेव इत्थीसुं । पढमुद्देसे भणिया जे दोसा ते गणंतेणं ॥५८॥ नि०।

टीका - यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला मायाप्रधाना वञ्चनानिपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव 'विश्रम्भो' विश्वासस्तासां विवेकिना 'नित्यं' सदा 'गन्तव्यो' यातव्यः, कर्तव्यः इत्यर्थः, ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् 'गणयता' पर्यालोचयता, तासां मूर्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति ॥ अपि च -

टीकार्थ - इसलिए स्त्रियों को सुगतिमार्ग की अर्गला अर्थात् विघ्नकारिणी, कपट से भरी हुई और पुरुष को ठगने में अति निपुण जानकर विवेकी पुरुष को हमेशा उनका विश्वास न ही करना चाहिए । स्त्रियों के दोष प्रथम उद्देशक में तथा उपलक्षण होने के कारण द्वितीय उद्देशक में जो बताये गये हैं, उनका विचारकर स्त्रियों को कपट राशि की मूर्ति समझकर अपना हित चाहनेवाले पुरुष को उनका विश्वास नहीं करना चाहिए ॥५८॥ नि०।



सुसमत्थाऽविऽसमत्था कीरंती अप्ससत्तिया पुरिसा । दीसंती सूरवादी नारीयसगा ण ते सूरा ॥५९॥ नि०।

टीका - परानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता 'असमर्था' भूत्क्षेपमात्रभीरवः क्रियन्ते - अल्पसात्त्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते, तथा 'दृश्यन्ते' प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाः सन्तो दीनतां गताः, एवम्भूताश्च न ते शूरा इति, तस्मात् स्थितमेतद् - अविश्वास्याः स्त्रिय इति, उक्तं च -

¹को वीससोऽज्ज तासिं कतिवयभरियाण दुव्वियङ्गाणं ।

खणरत्तविरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥१॥

²अण्णं भणन्ति पुरओ, अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ ।

अब्बं तासिं हियए जं च खमं तं करिंति पुणो ॥२॥

को ³एयाणं णाहिइ वेत्तलयागुम्मगुविलहिययाणं ।

भावं भग्माणां तत्थुप्पब्बं भणंतीणं ॥३॥

⁴महिला य रत्तमेत्ता उत्तुखंडं च सक्करा चेव ।

सा पुण विरत्तमिच्चा णिंबकूरे विसेसेइ ॥४॥

⁵महिला दिज्ज करेज्ज व मारिज्ज व ⁶संठविज्ज व मणुरस्सं ।

तुट्ठा जीवाविज्जा अहव णरं वंचयावेज्जा ॥५॥

⁷णवि रक्खंते सुकयं णवि णेहं णवि य दाणसम्माणं ।

ण कुलं ण पुव्वयं आयतिं च सीलं महिलियाओ ॥६॥

⁸मा वीसंभह ताणं महिलाहिययाण कवडभरियाणं ॥

1. को विश्वस्यात्तासु कैतवभृत्सु दुर्विदग्धासु । क्षणरत्तविरक्तासु धिगस्तु स्त्रीहृदयानां ॥१॥

2. अन्यद् भणन्ति पुरतोऽन्यत्पार्श्वे निषीदयन्त्यः । अन्यत्तासां हृदये यच्च क्षमं तत्कुर्वन्ति पुनः ॥२॥

3. क एतासां ज्ञास्यति वेत्तलतागुल्मगुपिलहृदयानां । भावं भग्नाशानां तत्रोत्पन्नं भणन्तीनां ॥३॥

4. महिला च रक्तमात्रेक्षुखण्डेव शक्रेव च । सा पुनर्विरक्तमात्रा निम्बाङ्कुरं विशेषयति ॥४॥

5. महिला दद्यात्कुर्याद्वा मारयेद्वा संस्थापयेद्वा मानुष्यं । तुष्टा जीवापयेत् अथवा नरं वञ्चयेत् ॥५॥

6. संथविज्ज प्र० संवहेज्ज प्र० ।

7. नापि रक्षति सुकृतं नापि स्नेहं नापि दानसन्माने च । न कुलं न पूर्वजं नायति च शीलं महिलाः ॥६॥

8. मा विश्वस तेषां महिलाहृदयानां कपटभृतां । निःस्नेहनिर्दयानां अलीकवचनजल्पनरतानाम् ॥७॥

णिष्णोहनिहयाणं अलियवयणजंपणरयाणं ॥७॥

¹मारैइ जियंतंपिहु मयंपि अणुमरइ काइ मत्तारं ।

विसहरगइव्व चरियं वंक्कविक्कं महेलाणं ॥८॥

²गंगाए वालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं ।

जाणंति बुद्धिमंता महिलाहियं न जाणंति ॥९॥

³रोवावंति रुवंति य अलियं जंपंति पत्तियावंति ।

कवडेण य खंति विसं मरंति न य जंति सब्भावं ॥१०॥

⁴चिंतितं कज्जमण्णं अण्णं संठवइ मासई अण्णं ।

आठवइ कुणइ अण्णं माइवग्गो गियडिसारो ॥११॥

⁵असयादंमाणं तथा सव्वेसिं लोमगरहणिज्जाणं ।

परलोमवेरियाणं कारणं चैव इत्थीओ ॥१२॥

⁶अथवा को जुवईणं जाणइ चरियं सहावकुडिलाणं ।

दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥१३॥

⁷मूलं दुच्चरियाणं हवइ उ णरयरुस वत्तीण विउला ।

मोक्खरुस महाविग्घं वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥

⁸धण्णा ते वरपुत्तिं जे च्चिय मोत्तूण गिययजुवईओ ।

पव्वइया कयनियमा शिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥१५॥

टीकाथं - शत्रुसैन्य को विजय करने आदि में खूब समर्थ पुरुषों को भी स्त्रियों ने अपने नेत्र के पलक मात्र से वशीभूत तथा असमर्थ, डरपोक बना दिया है। तथा वे पुरुष अल्प पराक्रमी बनकर स्त्रियों के पैरोपर पड़ना आदि खुशामद करते हुए सार रहित बना दिये जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि- अपने को शूर माननेवाले पुरुष भी स्त्री के वश में होकर दीन हो चुके हैं, वस्तुतः वे पुरुष ऐसे शूर नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिए। कहा भी है -

(को वीससेज्ज) कपट से भरी हुई और दुःख से समझाने योग्य तथा क्षण मात्र में राग करनेवाली और क्षण में ही विरक्त होनेवाली स्त्रियों पर कौन विश्वास कर सकता है? पूर्वोक्त दुर्गुणों से भरे हुए स्त्री के हृदय को धिक्कार है ॥१॥ स्त्रियां सामने दूसरा कहती हैं और दूसरे के पास बैठती हैं। हृदय में दूसरा ही होता है तथा जो मन में धारती हैं, वह करती हैं ॥२॥ ऐसा कौन पुरुष विद्वान् है, जो वेत्रलता की गुच्छा से भी गाढ़ हृदयवाली स्त्रियों के भाव को जाने? ॥३॥ अनुरक्त होने पर स्त्री ईक्षु की तरह तथा शक्कर की तरह मधुर प्रतीत होती है परन्तु विरक्त होने पर वह निम्ब के अङ्कुर से भी अधिक कटु हो जाती है ॥४॥ स्त्री, मनुष्य को देती है, उसका कार्य करती है, तथा वह मनुष्य को मार भी डालती है। वह मनुष्य को स्थान पर स्थापित करती है तथा प्रसन्न होकर उसे जीलाती है अथवा ठगती है ॥५॥ स्त्रियां पुण्य की रक्षा नहीं करती हैं, स्नेह नहीं करती हैं तथा दान सम्मान की रक्षा नहीं करती हैं। वे कुल, पूर्व की कीर्ति, भविष्य की उन्नति तथा शील का नाश कर देती हैं ॥६॥ कपट से भरे हुए, स्नेह तथा दया से रहित झूठ बोलने में तत्पर ऐसी स्त्रियों के हृदय का विश्वास कभी न करो ॥७॥

1. मारयति जीवन्तमप्येव मृतमप्यनुप्रियते काचिद्वर्तारं । विषधरगतिरिव चरितं वक्कविक्कं महेलानां ॥८॥

2. गङ्गायां वालुकाः सागरे जलं हिमवतश्च परिमाणं । जानन्ति बुद्धिमन्तो महिलाहृदयं न जानन्ति ॥९॥

3. रोदयन्ति रुदन्ति च अलीकं जल्पन्ति प्रत्याययन्ति । कपटेन खादति विषं प्रियते न च यान्ति सद्भावम् ॥१०॥

4. चिन्तयति कार्यमन्यदन्यत् संस्थापयति भाषतेऽन्यत् । आरभते करोत्यन्यन्मायिवर्गो निकृतिसारः ॥११॥

5. असदारम्भाणां तथा सर्वेषां लोकगर्हणीयाणां । परलोकवैरिकाणां कारणं चैव स्त्रियः ॥१२॥

6. अथवा को युवतीनां जानाति चरितं स्वभावकुटिलानां । दोषाणामाकरषैव यासां शरीरे वसति कामः ॥१३॥

7. मूलं दुश्चरितानां भवति तु नरकस्य वर्तनी विपुला । मोक्षस्य महाविघ्नं वर्जयितव्या सदा नारी ॥१४॥

8. धन्यास्ते वरपुरुषा ये चैव मुक्ता निजकपुवतीः । प्रव्रजिताः कृतनियमाः शिवमचलमनुत्तरं प्राप्ताः ॥१५॥

स्त्रियां जीते हुए पति को मार डालती है और कोई अपनी प्रतिष्ठा के लिए मरे हुए पति के पीछे मर जाती है, अतः स्त्रियों का चरित्र सर्प के समान टेढ़ा से भी टेढ़ा होता है ॥८॥ गङ्गा की रेती के कणों को तथा समुद्र के जल को एवं हिमालय पर्वत के परिमाण को बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं परन्तु वे स्त्रियों के हृदय को नहीं जान सकते ॥९॥ स्त्रियां दूसरे को रुलाती हैं और आप भी रोती हैं, झूठ बोलती हैं, शपथ खाकर विश्वास उत्पन्न करती हैं, कपट से विष भक्षण करती हैं, मर जाती हैं परन्तु उनके हृदय के सच्चे भाव को कोई नहीं जानता ॥१०॥ स्त्रियां मन में दूसरा कार्य सोचती हैं और बाहर से दूसरा कार्य स्थापन करती हैं, वचन से वे दूसरा कार्य बताती हैं और अन्य कार्य को आरम्भ करती हैं । वे आरम्भ किये हुए कार्य से भिन्न कार्य करके बताती हैं अतः स्त्रियां माया की राशि हैं । दूसरे को ठगना ही इनका सार है ॥११॥ लोक में निन्दा के योग्य तथा परलोक में वैरी के समान जितने आरम्भ हैं, उन सब का कारण स्त्रियां हैं ॥१२॥ अथवा स्वभाव से कुटिल युवतियों के चरित्र को कौन जान सकता है ? क्योंकि दोषों का भंडार कामदेव उनके शरीर में निवास करता है ॥१३॥ स्त्रियां, दुष्ट आचरण का मूल हैं, नरक का विशाल मार्ग हैं, मोक्ष जाने में महा विघ्न करनेवाली हैं, अतः स्त्रियां सदा छोड़ने योग्य हैं ॥१४॥ वे श्रेष्ठ पुरुष धन्य हैं, जो अपनी सुन्दरी स्त्री को छोड़ दीक्षा धारण करके यम नियम का पालन करके अचल अनुत्तर कल्याण स्थान (सिद्धि) को प्राप्त हुए हैं ॥१५॥ ॥५९॥ नि०।



अधुना यादृक्षः शूरो भवति तादृक्षं दर्शयितुमाह -

वीर पुरुष कैसे होते हैं । सो बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

धम्मंमि जो दढा मई सो सूरु सत्तिओ य वीरो य । णहु धम्मणिरुत्साहो पुरिसो सूरु सुबलिओडवि॥६०॥नि०।

टीका - 'धर्मे' श्रुतचारित्राख्ये दृढा - निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवम्भूतः स इन्द्रियनोऽन्द्रियारिजयात्शूरः तथा 'सात्त्विको' महासत्त्वोपेतोऽसावेव 'वीरः' स्वकर्मदारणसमर्थोऽसावेवेति, किमिति?, यतो नैव धर्मनिरुत्साहः' सदनुष्ठाननिरुद्धमः सत्पुरुषाचीर्णमार्गपरिभ्रष्टः पुरुषः सुष्ठु बलवानपि शूरो भवतीति ॥

टीकार्थ - श्रुत और चारित्र धर्म में जिस पुरुष की निश्चल मति है, तथा जो इन्द्रिय और मनरूपी शत्रु को जीतनेवाला है, वही शूर है । वही पुरुष सात्त्विक अर्थात् महाशक्तियुक्त वीर है और वही अपने कर्मों का नाश करने में समर्थ है । प्रश्न - ऐसे पुरुष को शूरवीर क्यों कहते हैं? उत्तर - जो पुरुष धर्माचरण करने में उत्साह नहीं रखता, सत् अनुष्ठान में उद्यम रहित होता है तथा सत्पुरुषों द्वारा आचरण किये हुए मार्ग से भ्रष्ट होता है, वह चाहे कितना ही बलवान् हो शूर नहीं कहा जा सकता है । [अतः जो धर्माचरण में उत्साह उद्यम करता है और मार्गानुसार चलता है, वह शूरवीर कहा जाता है] ॥६०॥नि०।



एतानेव दोषान् पुरुषसम्बन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह -

स्त्रियों के सम्बन्ध से पुरुष में उत्पन्न होनेवाले जितने दोष बताये गये हैं, उतने ही पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री में भी उत्पन्न होते हैं, यह बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं -

एते चेव य दोषा पुरिससमाएवि इत्थीयाणंपि । तम्हा उ अप्पमाओ विरागमग्गम्मि तासिं तु ॥६१॥ नि०।

टीका - ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणां दोषा अभिहिता एत एवान्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समायः - सम्बन्धस्तस्मिन् स्त्रीणामपि, यस्मादोषा भवन्ति तस्मात् तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति । एवं यदुक्तं 'स्त्रीपरिज्ञे'ति तत्पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थम्, अन्यथा 'पुरुषपरिज्ञे'त्यपि वक्तव्येति ।

टीकार्थ - पहले शील का नाश आदि दोष जो स्त्रियों के सम्बन्ध से पुरुष में उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं, वे सभी दोष उतने ही कम ज्यादा नहीं पुरुषों के सम्बन्ध से स्त्रियों में भी उत्पन्न होते हैं अतः दीक्षा धारण

की हुई साध्वियों को भी पुरुष के साथ परिचय आदि को त्याग में प्रमाद रहित होना ही कल्याणकारी है। इस अध्ययन में स्त्री के संसर्ग से पुरुष में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होनेवाले दोष भी बताये गये हैं तथापि इसका नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखकर 'स्त्रीपरिज्ञा' रखने का कारण यह है कि स्त्री की अपेक्षा पुरुष में धर्म की विशेषता होती है। अन्यथा पुरुषपरिज्ञा भी इस अध्ययन को कहते ॥६१॥



- साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

- अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों से युक्त सूत्र का उच्चारण करना चाहिए, वह सूत्र यह है -

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं ।

एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु

॥१॥

छाया - यो मातरं च पितरं च विप्रहाय पूर्वसंयोगम् । एकः सहितश्चरिष्यामि आरतमैथुनो विवित्तेषु ॥

अन्वयार्थ - (जे) जो पुरुष इस विचार से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं (मायरं पियरं) मातापिता (पुव्वसंजोगं) तथा पूर्व सम्बन्ध को (विप्पजहाय) छोड़कर (आरतमेहुणो) एवं मैथुन रहित होकर (एगे सहिते) अकेला, ज्ञानदर्शन और चारित्र से युक्त रहता हुआ (विवित्तेसु) स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थानों में (चरिस्सामि) विचरूंगा ।

भावार्थ - जो पुरुष इस अभिप्राय से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं माता, पिता तथा पूर्व सम्बन्धों को छोड़कर तथा मैथुन वर्जित रहकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन करता हुआ अकेला पवित्र स्थानों में विचरूंगा, उसको स्त्रियां कपट से अपने वश में करने का प्रयत्न करती हैं ।

टीका - अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा - अनन्तरसूत्रेऽभिहितम्, आमोक्षाय परिव्रजेदिति, एतच्चाशेषाभिष्वङ्गवर्जितस्य भवतीत्यतोऽनेन तदभिष्वङ्गवर्जनमभिधीयते, 'यः' कश्चिदुत्तमसत्त्वो 'मातरं पितरं' जननीं जनयितारम्, एतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्चशुरादिकं पश्चात्संयोगं च 'विप्रहाय' त्यक्त्वा, चकारो समुच्चयार्थो, 'एको' मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः- परमार्थानुष्ठानविधायी 'चरिष्यामि' संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः, तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति - 'आरतम्' उपरतं मैथुनं - कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनः, तदेवम्भूतो 'विवित्तेषु' स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति, क्वचित्पाठो 'विवित्तेसिति' विविक्तं - स्त्रीपशुपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ॥१॥

टीकार्थ - पूर्व सूत्र के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध यह है - पूर्व सूत्र में कहा है कि साधु मोक्ष पाने तक दीक्षा का पालन करे। परन्तु वह मोक्ष समस्त अभिष्वङ्ग अर्थात् मोह को छोड़े हुए पुरुष को प्राप्त होता है इसलिए इस अध्ययन में अभिष्वङ्ग (मोह) को वर्जित करने का उपदेश किया जाता है। जो कोई उत्तम साधु माता, पिता को तथा भाई, पुत्र आदि पूर्व सम्बन्धियों को एवं सास, ससूर आदि पीछे के सम्बन्धियों को छोड़कर माता, पिता आदि के सम्बन्ध से रहित अकेला अथवा कषाय रहित एवं ज्ञान, दर्शन और चारित्रसम्पन्न अथवा अपने हित का यानी परमार्थ का अनुष्ठान करनेवाले होकर "मैं संयम का पालन करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा किया हुआ है, वह प्रतिज्ञा सर्वप्रधान है, उसे अंशतः शास्त्रकार बतलाते हैं, जिसकी कामवासना दूर हो गयी है तथा जो मैं स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थानों में विचरूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके सम्यक् चारित्र का पालन करता हुआ विचरता है, किसी प्रति में "विवित्तेसि" यह पाठ है - विविक्त, यानी स्त्री पशु और नपुंसक रहित स्थान है, उस पवित्र स्थान का शील पालन करने के लिए जो अन्वेषण करता है ।



तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यद्ववत्यविवेकिस्त्रीजनात्तद्दर्शयितुमाह -

ऐसे साधु को अविवेकी स्त्रियों के द्वारा क्या होता है सो बताते हैं -

सुहुमेणं तं परिक्रम्य, छन्नपण्ण इत्थिओ मंदा ।

उव्वायंपि ताउ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे

॥२॥

छाया - सूक्ष्मेण तं परिक्रम्य छन्नपदेन स्त्रियो मन्दाः ।

उपायमपि ताः जानन्ति यथा श्लिष्यन्ति भिक्षव एके ॥

अन्वयार्थ - (मंदा इत्थिओ) अविवेकिनी स्त्रियाँ (सुहुमेणं) छल से (तं परिक्रम्य) साधु के पास आकर (छन्नपण्ण) कपट से अथवा गूढार्थ शब्द से साधु को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं (ता उव्वायंपि जाणंति) स्त्रियाँ वह उपाय भी जानती हैं (जहा एगे भिक्खुणो लिस्संति) जिससे कोई साधु उनके साथ संग कर लेते हैं ।

भावार्थ - अविवेकिनी स्त्रियाँ किसी छल से साधु के निकट आकर कपट से अथवा गूढार्थ शब्द के द्वारा साधु को शील से भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं । वे वह उपाय भी जानती हैं, जिससे कोई साधु उनका संग कर लेते हैं ।

टीका - 'सुहुमेणं' इत्यादि, 'तं' महापुरुषं साधुं 'सूक्ष्मेण' अपरकार्यव्यपदेशभूतेन 'छन्नपदेने'ति छन्नना - कपटजालेन 'पराक्रम्य' तत्समीपमागत्य, यदिवा - 'पराक्रम्ये'ति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय, काः? - 'स्त्रियः' कूलवालुकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविबोक्तवत्यो भावमन्दाः- कामोद्रेक-विधायितया सदसद्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलाद् ध्वंसयन्ति, एतदुक्तं भवति - भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमाद् भ्रंशयन्ति, तथा चोक्तम् -

पियपुत्तभाइकिडगा णत्तुकिडगा य सयणकिडगा य ।

एते जीव्णकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं ॥१॥

यदिवा - छन्नपदेनेति - गुप्ताभिधानेन, तद्यथा -

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मीघान्धकारासु च शर्वरीषु ।

मिथ्या न भाषामि विद्यालन्नेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥१॥

इत्यादि, ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रतारणोपायमपि जानन्ति - उत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति, पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः, यथा 'श्लिष्यन्ते' विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात् तासु सङ्गमुपयान्ति ॥२॥

टीकार्थ - उस महापुरुष को किसी दूसरे कार्य के बहाने से कपट करके स्त्रियाँ पास आकर शील भ्रष्ट कर देती हैं । अथवा उस महापुरुष को ब्रह्मचर्य भ्रष्ट होने योग्य बनाकर शीलभ्रष्ट कर देती हैं । जैसे कूलवालुक आदि तपस्वियों को नाना प्रकार के कपट करने में निपुण तथा अनेक प्रकार के काम विलासों को उत्पन्न करनेवाली भले और बुरे के विचार से रहित मूर्ख मागध वेश्या आदि स्त्रियों ने शीलभ्रष्ट कर डाला था । इसी तरह स्त्रियाँ साधु को शीलभ्रष्ट कर डालती हैं । आशय यह है कि - भाई, पुत्र आदि के बहाने से स्त्रियाँ साधु के पास आकर संयम से भ्रष्ट कर देती हैं । कहा भी है -

प्रिय पुत्र, प्रिय भाई, प्रिय नाती तथा स्वजन आदि संसारी सम्बन्ध के बहाने से गुप्त पति करना स्त्रियों की रीति है ।

अथवा गुप्त नामके द्वारा स्त्रियाँ जाल रचती हैं, जैसे

'काले प्रसुप्तस्य' इत्यादि श्लोक के द्वारा छिपाकर अपना अभिप्राय प्रगट करती हैं (इस श्लोक का भाव यह है कि) इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों की योजना करके तुम मेरा अभिप्राय समझो । प्रथम अक्षरों की योजना करने पर 'कामेमि ते' यह वाक्य बनता है । इसका अर्थ है कि मैं तुम्हारी कामना करती हूँ । इस

प्रकार माया प्रधान स्त्रियां प्रतिभायुक्त होने के कारण प्रतारण करने के उपर्यो को भी जानती हैं, जिससे विवेकी साधु भी उस प्रकार के कर्म के उदय के कारण उनमें आसक्त हो जाते हैं ॥२॥



तानेव सूक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह -

साधु को ठगने के लिए स्त्रियां जो सूक्ष्म उपाय करती हैं, उन उपायों को बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं ।

पासे भिसं णिसीयंति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहंति ।

कायं अहेवि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे

॥३॥

छाया - पासें भृशं निषीदन्ति, अभीक्ष्णं पोषवस्त्रं परिदधति । कायमथोऽपि दर्शयति बाहुमुद्धृत्य कक्षामनुव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ - (पासे) साधु के निकट (भिसं) अत्यन्त (णिसीयंति) बैठती है । (अभिक्खणं) निरन्तर (पोसवत्थं) काम को उत्पन्न करनेवाले सुंदर वस्त्र (परिहंति) पहिनती है । (अहेवि कायं) शरीर के नीचले भाग को भी (दंसंति) दीखलाती हैं । (बाहू उद्धट्टु) तथा भुजा को ऊठाकर (कक्खमणुव्वजे) कांख दीखलाती हुई साधु के सामने जाती हैं ।

भावार्थ - स्त्रियां साधु को ठगने के लिए उनके निकट बहुत ज्यादा बैठती हैं और निरन्तर सुंदर वस्त्र को ढीला होने का बहाना बनाकर पहिनती हैं । तथा शरीर के नीचले भाग को भी काम उद्दीपित करने के लिए साधु को दीखलाती हैं एवं भुजा उठाकर कांख दीखलाती हुई साधु के सामने आती हैं ।

टीका - 'पासे' समीपे 'भृशम्' अत्यर्थमूरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्त्यो 'निषीदन्ति' विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति, तथा कामं पुष्पातीति पोषं - कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः तच्च तद्वस्त्रं पोषवस्त्रं तद् 'अभीक्ष्णं' अनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबन्धन्तीति, तथा 'अधःकायम्' ऊर्वादिकमनङ्गोद्दीपनाय 'दर्शयन्ति' प्रकटयन्ति, तथा 'बाहुमुद्धृत्य' कक्षामादर्श्य 'अनुकूलं' साध्वभिमुखं 'व्रजेत्' गच्छेत् । सम्भावनायां लिङ्, सम्भाव्यते एतदङ्गप्रत्यङ्गसन्दर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥३॥ अपि च -

टीकार्थ - स्त्रियां अपना अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई साधु के अत्यन्त पास बैठती हैं, वे विश्वास उत्पन्न कराने के लिए साधु के निकट बैठती हैं ।

जो वस्त्र काम की उत्पत्ति करता है, उसे पोषवस्त्र कहते हैं, उस कामवर्धक सुंदर वस्त्र को स्त्रियां ढीला होने का बहाना बनाकर बार-बार पहिनती हैं, आशय यह है कि अपना अभिलाष प्रकट करती हुई साधु को ठगने के लिए वस्त्र को ढीला करके वे बार-बार बांधती हैं । तथा साधु का काम जगाने के लिए जंघा आदि अंगों को भी दीखलाती हैं । तथा भुजा उठाकर कांख दीखलाती हुई साधु के सामने जाती हैं । यहां सम्भावना अर्थ में लिङ् है, अतः स्त्रियां साधु को अपना अंग प्रत्यंग दीखावे यह संभव है ॥३॥



सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति ।

एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि

॥४॥

छाया - सयणासनेन योव्येन स्त्रिय एकदा निमन्त्रयन्ति । एताभि चैव स जानीयात् पाशान् विरूपरूपां ॥

अन्वयार्थ - (एगता) किसी समय (इत्थिओ) स्त्रियां (जोगेहिं) उपभोग करने योग्य (सयणासणेहिं) पलंग और आसन आदि का उपभोग करने के लिए (णिमंतंति) साधु को आमन्त्रित करती हैं (से) वह साधु (एयाणि) इन्ही बातों को (विरूवरूवाणि) नाना प्रकार का (पासाणि) पाशबन्धन (जाणे) जाने ।

भावार्थ - कभी एकान्त स्थान में स्त्रियां साधु को पलंग पर तथा उत्तम आसनपर बैठने के लिए स्वीकार कराती

हैं । परमार्थदर्शी साधु इन्हीं बातों को नाना प्रकार का पाशबन्धन समझे ।

टीका - 'सयणासणे' इत्यादि, शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं - पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम् - आसन्दकादीत्येवमादिना 'योग्येन' उपभोगार्हेण कालोचितेन 'स्त्रियो' योषित 'एकदा' इति विविक्तदेशकालादौ 'निमन्त्रयन्ति' अभ्युपगमं ग्राहयन्ति, इदमुक्तं भवति - शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति, 'एतानेव' शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी 'जानीयाद्' अवबुध्येत स्त्रीसम्बन्धकारिणः पाशयन्ति - बध्न्न्तीति पाशास्तान् 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारानिति । इदमुक्तं भवति - स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति, तथा चोक्तम् -

२अंबं वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरुहइ वल्ली, एवं इत्थीतोपि य जं आसन्नं तमिच्छन्ति ॥१॥

तदेवम्भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्यात्, यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति, तदुक्तम् -

जं इच्छसि घेतुं जे पुत्विं तं आमिसेण गिण्हाहि ।

आमिसपासनिबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥१॥

॥४॥ किञ्च -

टीकार्थ - जिसके ऊपर शयन किया जाता है, उसे शयन कहते हैं । पलंग आदि शयन कहलाते हैं तथा जिस पर बैठते हैं, उसे आसन कहते हैं । वह कुर्सी आदि है । उपभोग करने योग्य इन वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए स्त्रियां एकान्त स्थान तथा काल देखकर साधु से प्रार्थना करती हैं । आशय यह है कि - स्त्रियां शयन और आसन आदि का उपभोग करने के लिए साधु से प्रार्थना करती हैं परन्तु जानने योग्य बातों को जाननेवाला परमार्थदर्शी साधु इन्हीं शयन, आसन आदि के आमन्त्रणों को स्त्री के साथ फँसानेवाला नाना प्रकार का पाश बन्धन जाने । कहने का आशय यह है कि - स्त्रियां पास में रहनेवाले पुरुष को ग्रहण करती हैं । कहा है कि

आम हो चाहे निम्ब हो पास के वृक्ष पर स्वभाव से ही बेल चढ़ती है, इसी तरह स्त्रियां भी जो पास में पुरुष होता है, उसी की इच्छा करती हैं ।

अतः साधु स्त्रियों को इस प्रकार समझकर उनके साथ संग न करे । क्योंकि स्त्रियों की सेवाभक्ति के कारण उनके साथ संग दुस्त्यज होता है । कहा है कि-

यदि तुम स्त्रियों से कोई वस्तु लेना चाहते हो तो उसे आमिष अर्थात् प्रलोभनीय वस्तु समझो क्योंकि उस प्रलोभनीय वस्तु के पाश में बंधकर जीव कार्य और अकार्य सभी करने में प्रवृत्त हो जाता है ॥४॥



नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोवि य साहसं समभिजाणे ।

णो सहियंपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ

॥५॥

छाया - न तासु चक्षुः संबद्ध्यात् नाऽपि च साहसं समभिजाणीयात् ।

न सहितोऽपि विहरेदेवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥

अन्वयार्थ - (तासु) उन स्त्रियों पर (चक्खु) आंख (नो संधेज्जा) न लगावे । (नोवि य साहसं समभिजाणे) तथा उनके साथ कुकर्म करना भी स्वीकार न करे (सहियंपि णो विहरेज्जा) उनके साथ ग्राम आदि में विहार न करे । (एवमप्पा सुरक्खिओ होइ) इस प्रकार साधु की आत्मा सुरक्षित होती है ।

1. सनादिनि० प्र० ।

2. आग्रं वा निम्बं वाभ्यासगुणेनारोहति वल्ली । एवं स्त्रियोऽपि य एवासन्नस्तमिच्छन्ति ॥१॥

3. यान् गृहीतुमिच्छसि तानामिषेण पूर्वं गृहाण । यदामिषपाशनिबद्धः करिष्यति कार्यमकार्यं वा ॥१॥

भावार्थ - साधु स्त्रियों पर अपनी दृष्टि न लगावे तथा उनके साथ कुकर्म करने का साहस न करे एवं उनके साथ ग्राम आदिक में विहार न करे, इस प्रकार साधु की आत्मा सुरक्षित होती है ।

टीका - 'नो' नैव 'तासु' शयनासनोपनिमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु 'चक्षुः' नेत्रं 'सन्दध्यात्' सन्धयेद्वा न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्, सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत, तथा चोक्तम् -

कार्योऽपीषन्मतिमाङ्घ्रिरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया ।

अस्मिन्मथया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥१॥

तथा नापि च साहसम् - अकार्यकरणं तत्प्रार्थनया 'समनुजानीयात्' प्रतिपद्येत, तथा ह्यतिसाहस-
मेतत्सङ्ग्रामावतरणवद्यन्नरकपातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति, तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्'
गच्छेत्, अपिशब्दात् न ताभिः सार्धं विविक्तसोनो भवेत्, ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्वमिति,
तथा चोक्तम् -

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा, न विविक्तसोनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥१॥

एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः - सर्वापायानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम्,
अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥५॥

टीकार्थ - स्त्रियां साधु को फँसाने के लिए शयन और आसन आदि को ग्रहण करने की साधु से प्रार्थना करती हैं, यही प्रार्थना साधुओं को फँसाने का जाल है । अतः ऐसी स्त्रियों पर साधु अपनी दृष्टि न दे, उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिलावे । प्रयोजनवश यदि उन पर दृष्टि देना पड़े तो अवज्ञा के साथ थोड़ी दृष्टि देवे कहा है कि-

बुद्धिमान् पुरुष स्त्री से काम पड़ने पर उसके अंग पर स्नेह रहित अस्थिर दृष्टि देवे मानो क्रोध न होने पर भी वह क्रोधित सा प्रतीत हो ।

तथा स्त्री की प्रार्थना से साधु उसके साथ कुकृत्य करना स्वीकार न करे। कारण यह है कि सङ्ग्राम में उतरने के समान नरकरूपी विपाक को जाननेवाले साधु का स्त्री के साथ संसर्ग करना अति साहस का कार्य है। तथा साधु स्त्रियों के साथ ग्रामादिक में विहार न करे । अपि शब्द से उनके साथ एकान्त में न बैठे । स्त्रियों के साथ संगति करना साधु के लिए महान् पाप का स्थान है । कहा है कि -

माता, बहिन और अपनी लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में नहीं बैठना चाहिए क्योंकि इन्द्रियों का समूह बड़ा ही बलवान् है, उनके वश में होकर पण्डित भी अकार्य कर बैठते हैं ।

इस प्रकार स्त्री के सम्बन्ध को वर्जित करने से आत्मा समस्त कष्टों से बच जाता है क्योंकि समस्त कष्टों का कारण स्त्रीसम्बन्ध ही है, अतः अपना हित चाहनेवाला पुरुष दूर से ही स्त्रीसम्बन्ध का त्याग करे ॥५॥



कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह -

स्त्रियां पुरुष को पाश के समान किस प्रकार फँसाने वाली हैं? सो शास्त्रकार बतलाते हैं -

आमंतिय उस्सविया भिक्खुं आयसा निमंतंति ।

एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि

॥६॥

छाया - आमब्ब्यं संस्थाप्य भिक्षुमात्मजा निमन्त्रयन्ति । एतांश्चैव स ज्ञानीयात्, शब्दान् विरूपरूपाब् ॥

अन्वयार्थ - (आमंतिय) स्त्रियां साधु को संकेत देकर यानी मैं आपके पास अमुक समय आऊँगी इत्यादि आमन्त्रण करके (उस्सविया)

और अनेक प्रकार के वार्तालाप से विश्वास देकर (भिक्षु) साधु को (आयसा) अपने साथ भोग करने के लिए (निमन्त्रित) निमन्त्रित करती हैं।
(से) अतः साधु (एयाणि सद्वाणि) स्त्री सम्बन्धी इन शब्दों को (विरूपरूपाणि जाणे) नाना प्रकार का पाशबन्ध जाने।

भावार्थ - स्त्रियां साधु को संकेत देती हैं कि मैं अमुक समय में आपके पास आऊंगी। तथा नाना प्रकार के वार्तालापों से विश्वास उत्पन्न करती हैं। इसके पश्चात् वे अपने साथ भोग करने के लिए साधु को आमन्त्रित करती हैं, अतः विवेकी साधु स्त्री सम्बन्धी इन शब्दों को नाना प्रकार का पाशबन्धन जाने।

टीका - 'आमन्त्रिय' इत्यादि, स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं सङ्केतं ग्राहयित्वा तथा 'उस्सविय'ति संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्ति, आत्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदिवा - साधोर्भयापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुः, तद्यथा - भर्तारमामन्त्र्यापृच्छथाहमिहाऽऽयाता, तथा संस्थाप्य - भोजनपादधावनशयनादिकया क्रियोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वा मद्भर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते, युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव नियोज्यतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति, स च भिक्षुरवगतपरमार्थः एतानेव 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् 'शब्दादीन्' विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयात्, यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषया दुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति ॥६॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - स्त्रियां स्वभाव से ही अकर्तव्य में तत्पर रहती हैं, वे साधु को आमन्त्रण करती हैं, जैसे कि- "मैं अमुक समय में आपके पास आऊंगी" इस प्रकार संकेत देकर ऊंच-नीच वचनों के द्वारा विश्वास उत्पन्न करके फिर अपने साथ कुकर्म करने के लिए साधु को आमन्त्रित करती हैं अर्थात् वे अपने साथ उपभोग करने के लिए साधु को स्वीकार कराती हैं। अथवा साधु का भय दूर करने के लिए स्त्रियां कहती हैं कि - मैं अपने पति से पूछकर आपके पास आयी हूँ। तथा अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर एवं उन्हें सुलाकर आपके पास आयी हूँ, इसलिए आप मेरे पति की शंका छोड़कर निर्भय हो कार्य कीजिए। इस प्रकार के वचनों से साधु को विश्वास उत्पन्न कराकर अपने साथ भोग करने के लिए स्त्रियां आमन्त्रित करती हैं। वे कहती हैं कि यह मेरा शरीर आपका ही है, यह छोटा मोटा जिस कार्य के लिए समर्थ हो उस कार्य में आप इसे लगावें, यह कहकर स्त्रियां साधु को प्रलोभित करती हैं परन्तु परमार्थ को जाननेवाला भिक्षु इन स्त्री सम्बन्धी नाना प्रकार के शब्दादि विषयों को ज्ञपरिज्ञा से पाशस्वरूप जाने क्योंकि - ये स्त्री सम्बन्धी शब्दादि विषय दुर्गति में ले जाने के कारण हैं तथा उत्तम मार्ग की अर्गला हैं। इस प्रकार समझे। तथा इनका विपाक बुरा होता है, यह जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनको त्याग देवे ॥६॥



मणबन्धणेहि णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताणं।

अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं

॥७॥

छाया - मनोबन्धनैरेकैः करुणविनीतमुपश्लिष्य। अथ मञ्जुलानि भाषन्ते, आह्लापयन्ति भिन्नकथाभिः॥

अन्वयार्थ - (णेगेहिं मणबन्धणेहिं) अनेक प्रकार के मन को हरने वाले उपायों के द्वारा (कलुण विणीयमुवगसित्ताणं) तथा करुणोत्पादक वाक्य और विनीत भाव से साधु के पास आकर (अदु मंजुलाइं भासंति) मधुर भाषण करती हैं (भिन्नकहाहिं आणवयंति) और कामसम्बन्धी आलाप के द्वारा साधु को कुकर्म करने की आज्ञा देती हैं।

भावार्थ - स्त्रियां साधु के चित्त को हरने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करती हैं। वे करुणा जनक वाक्य बोलकर तथा विनीतभाव से साधु के समीप आती हैं। वे साधु के पास आकर मधुर भाषण करती हैं और काम सम्बन्धी आलाप के द्वारा साधु को अपने साथ भोग करने की आज्ञा देती हैं।

टीका - मनो बध्यते यैस्तानि मनोबन्धनानि - मञ्जुलालापस्निग्धावलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि, तथा चोक्तम् -

^१णाह पिय कंत सामिय दइय ^२जियाओ तुमं मह पिओत्ति ।

जीए जीयामि ^३अहं पहवसि तं मे सरीरस्स ॥१॥

इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकं 'उवगसित्ताणं'ति उपसंश्लिष्य समीपमागत्य 'अथ' तदनन्तर 'मञ्जुलानि' पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते, तदुक्तम् -

^४मितमहुररिमियजंपुल्लएहि ईसीकडक्खहसिएहिं ।

सविगारेहि वरागं हिययं पिहियं मयच्छीए ॥१॥

तथा 'भिन्नकथाभी' रहस्यालापैर्मैथुनसम्बन्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रति 'आज्ञापयन्ति' प्रवर्तयन्ति, स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥७॥ अपिच -

टीकार्थ - जिन बातों से मन बंध जाता है, उन्हें मनोबन्धन कहते हैं। मनोहर वचन बोलना, स्नेहभरी दृष्टि से देखना तथा अपने अंग प्रत्यंगो को दीखलाना इत्यादि मन को बांधनेवाले हैं। जैसे कि कहा है -

हे नाथ! हे प्रिय! हे कान्त! हे स्वामिन्! हे दयित! तुम मेरे जीवन से भी अधिक प्रिय हो, मैं तुम्हारे जीने से जीती हूँ, आप मेरे शरीर के मालिक हैं।

इत्यादि अनेक प्रपञ्चों से तथा करुणालाप और विनयपूर्वक समीप में आकर स्त्रियां विश्वासजनक अथवा कामजनक मधुर भाषण करती हैं। जैसा कि कहा है -

(मितमहुर) इत्यादि अर्थात् मृगनयनी स्त्री का हृदय, परिमित मधुर भाषण से भीगे हुए कटाक्ष और मन्द हास्यरूप विकारों से ढंका हुआ होता है।

स्त्रियां रहस्य आलाप अर्थात् मैथुन सम्बन्धी वार्तालापों से साधु के चित्त को हरकर अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा देती हैं, अथवा साधु को अपने वश में जानकर नोकर की तरह उन पर आज्ञा चलाती हैं ॥७॥



सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरं पासेणं ।

एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं

॥८॥

छाया - सिंहं यथा मांसेन निर्भयमेकचरं पाशेन । एवं स्त्रियो बध्नन्ति संवृतमेकतियमणगारम् ॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (निब्भयं) निर्भय (एगचरं) अकेले विचरने वाले (सीहं) सिंह को (कुणिमेणं) मांस देकर (पासेणं) पाश के द्वारा (बंधंति) सिंह पकड़नेवाले बांध लेते हैं (एवं) इसी तरह (इत्थियाउ) स्त्रियां (संवुडं) मन, वचन और काय से गुप्त रहनेवाले (एगतियं अनगारं) किसी साधु को (बंधंति) अपने पाश में बांध लेती हैं।

भावार्थ - जैसे सिंह को पकड़नेवाले शिकारी मांस का लोभ देकर अकेले निर्भय विचरनेवाले सिंह को पाश में बांध लेते हैं, इसी तरह स्त्रियां मन, वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधु को भी अपने पाश में बांध लेती हैं।

टीका - 'सीहं जहे' त्यादि, यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे यथा बन्धनविधिज्ञाः सिंहं पिशितादिनाऽऽमिषेणोपप्रलोभ्य 'निर्भयं' गतभीकं निर्भयत्वादेव एकचरं 'पाशेन' गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बद्ध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्ति, एवं स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः 'एगतियन्ति' कञ्चन तथाविधम् 'अनगारं' साधुं 'संवृतमपि' मनोवाक्कायगुप्तमपि 'बध्नन्ति' स्ववशं कुर्वन्तीति, संवृतग्रहणं च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थं, तथाहि - संवृतोऽपि ताभिर्बध्यते, किं पुनरपरोऽसंवृत इति ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ - यहां अथ शब्द दृष्टान्त बताने के लिए आया है। जैसे सिंह को बांधने का उपाय जाननेवाले

1. नाथ कान्त प्रिय स्वामिन्दयित! जीवितादपि त्वं मम प्रिय इति जीवति जीवामि अहं प्रभुरसि त्वं मे शरीरस्य ॥१॥

2. इयम आउ तं प्र० । 3. तुमं प्र० । 4. मितमधुररिभितजत्पाद्वैरीषत्कटाक्षहसितैः । सविकारैर्वराकं हृदयं पिहितं मृगाक्ष्याः ॥१॥

पुरुष मांस आदि का लोभ देकर भयरहित तथा निर्भय होने के कारण अकेले विचरनेवाले सिंह को गले के पाश आदि पदार्थों से बांध लेते हैं, तथा बांधकर उसे तरह-तरह की पीड़ा देते हैं। इसी तरह स्त्रियां अनेक प्रकार के उपायों से मधुर भाषण आदि के द्वारा मन, वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधु को भी अपने वश में कर लेती हैं। यहां संवृत पद स्त्रियों का सामर्थ्य बताने के लिए दिया गया है अर्थात् स्त्रियां मन, वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधु को भी वश कर लेती हैं फिर जो मन, वचन और काय से गुप्त नहीं हैं, उनकी तो बात ही क्या है? ॥८॥



अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए ।

बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चए ताहे

॥९॥

छाया - अथ तत्र पुनर्नमयन्ति, रथकार इव नेमिमानुपूर्व्या ।

बद्धो मृग इव पाशेन स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तस्मात् ॥

अन्वयार्थ - (रहकारो) रथकार (आणुपुव्वीए) क्रमशः (णेमि व) जैसे नेमि को नमाता है, इसी तरह स्त्रियां साधु को (अह) अपने वश में करने के पश्चात् (तत्थ) अपने इष्ट अर्थ में क्रमशः (णमयन्ती) झुका लेती है। (मिए व) मृग की तरह (पासेणं) पाश से (बद्धे) बंधा हुआ साधु (फंदंते वि) पाश से छुटने के लिए प्रयत्न करता हुआ भी (ताहे) उससे (ण मुच्चए) नहीं छुटता है।

भावार्थ - जैसे रथकार रथ की नेमि (पुट्टी) को क्रमशः नमा देता है, इसी तरह स्त्रियां साधु को वश करके उसे क्रमशः अपने इष्ट अर्थ में झुका लेती हैं। जैसे पाश में बंधा हुआ मृग छट-पटाता हुआ भी पाश से मुक्त नहीं होता है। इसी तरह स्त्री के पाश में बंधा हुआ साधु प्रयत्न करने पर भी उस पाश से नहीं छुटता है।

टीका - 'अथ' इति स्ववशीकरणानन्तरं पुनस्तत्र - स्वाभिप्रेते वस्तुनि 'नमयन्ति' प्रहं कुर्वन्ति, यथा - 'रथकारो' वर्धकिः 'नेमिकाष्ठं' चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयति, एवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति, स च साधुर्मृगवत्, पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥९॥ किञ्च -

टीकार्थ - अपने वश में करने के पश्चात् स्त्रियां साधु को अपने इष्ट अर्थ में नमा देती हैं, जैसे रथकार चक्र के बाहर के गोलाकार नेमि (पुट्टे) को अनुक्रम से नमाता है, इसी तरह स्त्रियां भी साधु को क्रमशः अपने अनुकूल कार्य में प्रेरित करती हैं। स्त्री के पाश में बंधा हुआ वह साधु पाश में बंधे हुए मृग की तरह उससे छुटने का प्रयत्न करता हुआ भी उससे मुक्त नहीं होता है ॥९॥



अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।

एवं विवेगमादाय, संवासो नवि कप्पए दविए

॥१०॥

छाया - अथ सोऽणुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम् ।

एवं विवेकमादाय संवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये ॥

अन्वयार्थ - (अह) स्त्री के होने के पश्चात् (से) वह साधु (पच्छा अणुतप्पई) पश्चात्ताप करता है। (विसमिस्सं) जैसे विष से मिला हुआ पायस (खीर) (भोच्चा) खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। (एवं) इस प्रकार (विवेगमादाय) विवेक को ग्रहण करके (दविए) मुक्तिगमनयोग्य साधु को (संवासो) स्त्रियों के साथ एक स्थान में रहना (नवि कप्पए) ठीक नहीं है।

भावार्थ - जैसे विष से मिले हुए पायस (खीर) को खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है, इसी तरह स्त्री के वश में होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है, अतः इस बात को जानकर मुक्ति गमनयोग्यसाधु स्त्री के साथ एक स्थान में न रहे।

टीका - 'अह से' इत्यादि, अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते, तथाहि - गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते, तद्यथा -

“कोहृदयओ को समचित्तु काहोवणाहिं काहो दिज्जउ वित्त को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियतो जीव खडप्फडेहि पर बंधइ पावह भारओ ॥१॥”

तथा तत् -

मया परिजनस्यार्थं, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येऽहं, गतारुते फलभोगिनः ॥१॥

इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुत्पन्ते, अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति- यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतावेगाकुलितोऽनुत्पद्यते, तद्यथा - किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखर-सिकतया विपाककटुकमेवम्भूतं भोजनमास्वादितमिति, एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्यभागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतकर्मतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोऽपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं तद्व्यापारव्याकुलितमतिः परितप्यते, तदेवम् अनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्य 'आदाय' प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित्पाठः, तद्विपाकं विवेकं वा 'आदाय' - गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं 'संवासो' वसतिरेकत्र 'न कल्पते' न युज्यते, कस्मिन्, 'द्रव्यभूते' मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ, यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥१०॥

टीकार्थ - इसके पश्चात् स्त्री के पाश में बंधा हुआ वह साधु जैसे कूटपाश में बंधा हुआ मृग दुःख पाता है, उसी तरह अपने कुटुम्ब का पोषण करने के लिए रात-दिन क्लेश भोगता हुआ पश्चात्ताप करता है । कारण यह है कि गृह में निवास करनेवाले पुरुषों को ये बातें अवश्य होती हैं, जैसे कि -

कौन क्रोधी है, कौन समचित्त है, कैसे उसे वश करूं, वह मुझको कैसे धन दे, किस दानी को मैंने छोड़ दिया है? कौन विवाहित है और कौन कुमार है, इस प्रकार चिन्ता करता हुआ जीव पाप का भार बांधता है ।

तथा वह जीव पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि

मैंने कुटुम्ब का पोषण करने के लिए अनेक कुकर्म किये, उन कुकर्मों के कारण मैं अकेला दुःख भोगता हूँ परन्तु फल भोगनेवाले अन्यत्र चले गये ।

इस प्रकार अनेक रीति से महामोहात्मक कुटुम्बपाश में पड़ा हुआ पुरुष पश्चात्ताप करता है । इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं । जैसे कोई पुरुष विषमिश्रित अन्न खाकर पीछे जहर के वेग से आकुल होकर पश्चात्ताप करता है कि वर्तमान सुख का रसिक बनकर मुझ पापी ने परिणाम में कष्ट देनेवाला ऐसा भोजन क्यों खाया? इसी तरह स्त्री के पाश में बंधा हुआ पुरुष भी पुत्र, पौत्र, कन्या, दामाद, बहिन, भतीजा और भान्जा आदि के लिए भोजन, वस्त्र, विवाह, भूषण तथा उनका जातकर्म और मृतकर्म एवं उनके रोग की चिकित्सा आदि की चिन्ता से आकुल होकर अपने शरीर का कर्तव्य भी भूल जाता है, वह इस लोक तथा परलोक के अनुष्ठान से रहित होकर अपने कुटुम्ब पोषण के व्यापार में ही व्याकुलचित्त रहता हुआ पश्चात्ताप करता है । अतः ऊपर कहे हुए विपाक का विचारकर (कई पुस्तकों में 'विवेक' यह पाठ है) अथवा विवेक को ग्रहण करके चारित्र की विघ्नकारिणी स्त्रियों के साथ एक स्थान में निवास करना मुक्तिगमनयोग्य अथवा रागद्वेषवर्जित साधु को उचित नहीं है क्योंकि - स्त्रियों के साथ निवास करना विवेकी पुरुषों के उत्तम अनुष्ठान का भी विघातक होता है ॥१०॥



स्त्रीसम्बन्धदोषानुपदर्शयोपसंहरन्नाह -

स्त्री के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले दोषों को दिखलाकर अब शास्त्रकार उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं-

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा ।

ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण सेवि णिग्गंथे

॥११॥

1. क्रोधिकः कः समचित्तः कथं उपनय कथं ददातु वित्तं कः उद्घाटकः परिहृतः परिणीतः को वा कुमारकः पतिता जीवः खण्डस्पष्टैः प्रवधाति पापभारो ॥१॥

छाया - तस्मात्तु वर्जयेत् स्त्रीः, विषलिप्तमिव कण्टकं ज्ञात्वा ।

एकः कुलाणि वशवर्ती आख्याति न सोऽपि निर्गन्धः ॥

अन्वयार्थ - (तम्हा उ) इसलिए (विसलितं व कंटकं नच्चा) स्त्री को विष से लिप्त कण्टक के समान जानकर (इत्थी वज्रए) साधु स्त्री को वर्जित करे । (वसवती) स्त्री के वश में रहनेवाला जो पुरुष (ओए कुलाणि) गृहस्थ के घर में जाकर अकेला धर्म का कथन करता है । (ण सेवि णिग्गंथे) वह भी निर्गन्ध नहीं है ।

भावार्थ - स्त्रियों को विषलिप्त कण्टक के समान जानकर साधु दूर से ही उनका त्याग करे । जो स्त्री के वश में होकर गृहस्थों के घर में अकेला जाकर धर्मकथा सुनाता है, वह साधु नहीं है ।

टीका - यस्मात् विपाककटुः स्त्रीभिः सह सम्पर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत् तु शब्दात्तदालापमपि न कुर्यात्, किंवदित्याह - विषोपलितं कण्टकमिव 'ज्ञात्वा' अवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति, अपि च - विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि, तदुक्तम् -

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् । उपमुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥१॥

तथा -

'वटि विस खइयं न विसयसुहु इक्कस्सि विसिण मरंति ।

विसयामिस्स पुण घाटिया णर णरएहि पडंति ॥१॥

तथा 'ओजः' एकः असहायः सन् 'कुलानि' गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि 'न निर्गन्धो' न सम्यक् प्रव्रजितो, निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाव्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥

टीकार्थ - स्त्रियों का संसर्ग परिणाम में कटु होता है इसलिए स्त्री का संसर्ग वर्जित करना चाहिए । तु शब्द से यह बताया गया है कि - स्त्रियों के साथ आलाप भी नहीं करना चाहिए । किसकी तरह? सो बतलाते हैं- विष से लिप्त कण्टक के समान समझकर स्त्रियों को वर्जित करना चाहिए । विष से लिप्त कण्टक तो शरीर के किसी अंग में टुटा हुआ अनर्थ उत्पन्न करता है परन्तु स्त्रियां स्मरण से भी अनर्थ उत्पन्न करती हैं । अत एव कहा है कि-

(विषस्य) अर्थात् विष और विषय का परस्पर अत्यन्त अंतर है, विष तो खाने पर प्राण का हरण करता है परन्तु विषय स्मरण से भी प्राण का नाश करते हैं । तथा

विष खाना अच्छा परन्तु विषय का सेवन अच्छा नहीं क्योंकि विष खाने से जीव एक ही बार मरण कष्ट पाता है, परन्तु विषयरूपी मांस के सेवन से मनुष्य नरक में गिरकर बार - बार दुःख भोगता है ।

जो पुरुष स्त्री के वश में होकर उसे अनुकूल करने के लिए उसके बताये हुए समय पर अकेले गृहस्थ के घर में जाकर धर्म का कथन करता है, वह निर्गन्ध अर्थात् यथार्थ साधु नहीं है क्योंकि निषिद्ध आचरण के सेवन करने से उसका पतित होना संभव है । परन्तु यदि कोई स्त्री किसी कारणवश साधु के स्थान पर आने में असमर्थ हो अथवा कोई वृद्धा स्त्री हो तो दूसरे सहायक साधुओं के न होने पर अकेला भी साधु उसके पास जाकर दूसरी स्त्रियों से वेष्टित अथवा पुरुषों से युक्त उस स्त्री को स्त्रीनिन्दा एवं विषय निन्दाप्रधान वैराग्योत्पादक धर्म कहे तो कोई आपत्ति नहीं है ॥११॥



अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह -

अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा कहा हुआ अर्थ सुगम होता है, इस अभिप्राय से शास्त्रकार 'जे एयं उंछं'

1. वरं विषं जग्धं न विषयसुखं एकशो विषेण प्रियते । विषयामिषघातिताः पुनर्नरा नरकेषु पतन्ति ॥१॥

इत्यादि गाथा कहते हैं -

जे एयं उच्छं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।

सुतस्सिएवि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु

॥१२॥

छाया - य एतदुच्छमनुगृह्णा अव्यतरास्ते भवन्ति कुशीलानाम् ।

सुतपस्व्यपि स भिक्षुः न विहरेत् सार्धं स्त्रीभिः ॥

अन्वयार्थ - (जे) जो पुरुष (एयं) इस स्त्री संसर्ग रूपी (उच्छं) निन्दनीय कर्म में (अणुगिद्धा) आसक्त हैं (ते) वे (कुसीलाणं) कुशीलो में से (अन्नयरा) कोई एक हैं । (सो भिक्खू) इसलिए वह साधु चाहे (सुतस्सिएवि) उत्तम तपस्वी हो तो भी (इत्थीसु सह) स्त्रियों के साथ (नो विहरे) विहार न करे ।

भावार्थ - जो पुरुष स्त्रीसंसर्गरूपी निन्दनीय कर्म में आसक्त है, वे कुशील हैं, अतः साधु चाहे उत्तम तपस्वी हो तो भी स्त्रियों के साथ विहार न करे ।

टीका - 'जे एयं उच्छं' मित्यादि, 'ये' मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः साम्प्रतेक्षिण एतद् - अनन्तरोक्तम् उज्जन्ति जुगुप्सनीयं गृह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यं, तदनु - तत्प्रति ये 'गृह्णा' अधुपपन्ना मूर्च्छिताः, ते हि 'कुशीलानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपाणामन्यतरा भवन्ति, यदिवा काथिकपश्यकसम्प्रसारकमामकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति, तन्मध्यवर्तिनस्तेऽपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः, यत एवमतः 'सुतपस्व्यपि' विकृष्टतपोनिष्ठसदेहोऽपि भिक्षुः साधुः आत्महितमिच्छन् 'स्त्रीभिः' समाधिपरिपन्थिनीभिः सह 'न विहरेत्' क्वचिद्रच्छेत्रापि सन्तिष्ठेत्, तृतीयार्थे सप्तमी, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्दूरतः स्त्रियो वर्जयेदितिभावः ॥१२॥

टीकार्थ - जो मूर्खबुद्धि, उत्तम अनुष्ठान को छोड़कर वर्तमान सुख की ओर दृष्टि देते हुए पूर्वोक्त स्त्री संसर्ग आदि तथा अकेले गृहस्थ के घर जाकर किसी स्त्री को धर्म सुनाना आदि निन्दनीय कार्यों में आसक्त रहता है, वह पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छन्द रूप कुशीलों में से कोई एक कुशीलस्वरूप हैं । अथवा काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और मामकरूप कुशीलों में से वह कोई एक कुशील हैं अर्थात् वे भी इनके मध्य में रहने के कारण कुशील हैं । स्त्री संसर्ग आदि निन्दनीय कर्मों का सेवन करने से साधु कुशील हो जाता है, अतः उत्तम तपस्या के द्वारा जिसने अपने शरीर को अत्यन्त तपाया है, ऐसा उत्तम तपस्वी साधु भी यदि अपना कल्याण चाहता है तो चारित्र को नष्ट करनेवाली स्त्रियों के साथ किसी जगह न जावे और उनके साथ कहीं न बैठे । यहां तृतीया के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग हुआ है 'णं' शब्द वाक्य के अलङ्कार में आया है । साधु स्त्री को जलते हुए अङ्गारों के पुंज की तरह दूर से ही वर्जित करे, यह इस गाथा का भाव है ॥१२॥



कतमाभिः पुनः सार्धं न विहर्तव्यमित्येतदाशङ्क्याह -

किन-किन स्त्रियों के साथ विहार न करना ? इस शंका का निवारण के लिए कहते हैं-

अवि धूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।

महतीहि वा कुमारीहिं, संधवं से न कुज्जा अणगारे

॥१३॥

छाया - अपि दुहितृभिः स्नूषाभिः धात्रीभिरथवा दासीभिः ।

महतीभिर्वा कुमारीभिः संस्तवं स न कुर्व्यादनगारः ॥

अन्वयार्थ - (अवि धूयराहिं) अपनी कन्या के साथ (सुण्हाहिं) पुत्रवधू के साथ (धातीहिं अदुव दासीहिं) दूध पीलानेवाली धाई के साथ अथवा दासी के साथ (महतीहिं वा कुमारीहिं) बड़ी स्त्री के साथ अथवा कुमारी के साथ (से अणगारे) वह साधु (संधवं) परिचय (न कुज्जा) न

करे ।

भावार्थ - अपनी कन्या हो, चाहे अपने पुत्र की वधू हो अथवा दूध पिलानेवाली धाई हो अथवा दासी हो, बड़ी स्त्री हो या छोटी कन्या हो, उनके साथ साधु को परिचय नहीं करना चाहिए ।

टीका - अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, 'धूयराहि'ति दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत तथा 'स्नुषाः' सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यं, तथा 'धात्र्यः' पञ्चप्रकाराः स्तन्यदादयो जननीकल्पास्ताभिश्च साकं न स्थेयं, अथवाऽऽसतां तावदपरा योषितो या अप्येता 'दास्यो' घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्, तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं 'संस्तवं' परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति, यद्यपि तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते, अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहर्तव्य इति ॥१३॥

टीकार्थ - अपि शब्द का प्रत्येक पदों के साथ सम्बन्ध है । साधु अपनी कन्या के साथ भी कहीं न जावे। स्नुषा पुत्र की स्त्री का नाम है, उनके साथ भी एकान्त स्थान आदि में न बैठे । तथा धाई पांच प्रकार की होती है, जिन्होंने बाल्यकाल में दूध पिलाया है तथा सेवा आदि की है, वे माता के तुल्य होती हैं, उनके साथ भी साधु एकान्त स्थान में न रहे । दूसरी स्त्रियों को तो जाने दीजिए, सबसे नीच जो पानी भरनेवाली स्त्रियाँ हैं, उनके साथ भी साधु सम्पर्क न रखे । बड़ी स्त्री हो चाहे कुमारी हो अथवा वा शब्द से कोई छोटी कन्या हो उनके साथ भी साधु अपना सम्पर्करूप परिचय न करे । यद्यपि अपनी कन्या अथवा अपने पुत्रवधू के साथ एकान्त स्थान में रहने से साधु का चित्त विकृत नहीं हो सकता है । [वर्तमान में तो पुत्रवधु आदि को देखकर भी विकार उत्पन्न होने की संभावना है] तथापि दूसरे लोगों को स्त्री के साथ साधु को एकान्त स्थान में रहते देखकर शङ्का उत्पन्न हो सकती है, अतः उस शङ्का की निवृत्ति के लिए स्त्रीसम्पर्क छोड़ देना चाहिए ॥१३॥



अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह -

स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठनेवाले साधु को देखकर दूसरे लोगों को जिस प्रकार शङ्का उत्पन्न होती है, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दड्ढु एगता होति ।

गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि

॥१४॥

छाया - अथ ज्ञातीनां सुहृदां वा दृष्ट्वा एकदा भवति । गृद्धाः सत्त्वाः कामेषु रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥

अन्वयार्थ - (एगता) किसी समय (दड्ढु) एकान्त स्थान में स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को देखकर (णाइणं सुहीणं च) उस स्त्री के ज्ञाति को तथा उसके सुहृदों को (अप्पियं होति) दुःख उत्पन्न होता है, वे कहते हैं कि (सत्ता कामेहिं गिद्धा) जैसे दूसरे प्राणी काम में आसक्त हैं, इसी तरह यह साधु भी है (रक्खण पोसणे मणुस्सो सि) तथा वे कहते हैं कि तुम इस स्त्री का भरण पोषण भी करो क्योंकि तू इसका मनुष्य (पति) है ।

भावार्थ - किसी स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के ज्ञाति और सुहृदों को कभी कभी चित्त में दुःख उत्पन्न होता है और वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है । फिर वे क्रोधित होकर कहते हैं कि तुम इसका भरण पोषण क्यों नहीं करते ? क्योंकि तू इसका मनुष्य पति है ।

टीका - 'अदु णाइणम्' इत्यादि, विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्ञातीनां सुहृदां वा 'अप्रियं चित्तदुःखासिका भवति, एवं च ते समाशङ्केरन्, यथा - सत्त्वाः प्राणिन इच्छामदनकामैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः तथाहि- एवम्भूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्हीकस्तिष्ठति, तदुक्तम् -

मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धं, 'भिक्षाशानेन मरणं' ^२च हतोदरस्य ।

गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥१॥

तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा - रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् रक्षणपोषणे सदाऽऽदरं कुरु यतस्त्वमस्याः 'मनुष्योऽसि' मनुष्यो वर्तसे, यदिवा यदि परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे, यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - अकेली स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के जातिवाले अथवा उसके सुहृदजनों के चित्त में दुःख होता है । तथा वे शंका करते हैं कि जैसे दूसरे प्राणी कामभोग में आसक्त हैं, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है क्योंकि यह साधु अपने सम्पूर्ण व्यापारों को छोड़कर सदा इस स्त्री का मुख देखता हुआ निर्लज्ज होकर इसके साथ बैठा रहता है । कहा भी है

(मुण्डं शिरो) अर्थात् शिरसि मुण्डित है और मुख से बुरी बदबू निकलती है, एवं भिक्षात्र के द्वारा इस नीच पेट का भरण होता है, एवं सम्पूर्ण शरीर मल से मलिन और शोभा रहित है तो भी आश्चर्य है कि मन की इच्छा कामभोग में लगी है ।

तथा उस स्त्री के जातिवाले क्रोधित होकर कहते हैं कि तुम इस स्त्री का भरण पोषण भी करो क्योंकि तू इसका पति है । यहां (रक्षणपोषणे) इस पद में समाहार द्वन्द्व हुआ है । अथवा उस स्त्री के जातिवाले कहते हैं कि हम लोग तो इस स्त्री का केवल भरण पोषण करनेवाले हैं, इसका पति तो तू है क्योंकि यह अपने समस्त व्यापारों को छोड़कर निरन्तर तुम्हारे साथ बैठी रहती है ॥१४॥



समणंपि ददुदासीणं, तत्थवि ताव एगे कुप्पन्ति ।

अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति

॥१५॥

छाया - श्रमणमपि दृष्ट्वादसीणं, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति ।

अथवा भोजनैर्व्यस्तैः स्त्रीदोषशङ्किनो भवन्ति॥

अन्वयार्थ - (दासीणं समणं) रागद्वेषवर्जित तपस्वी साधु को भी (ददु) स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करते हुए देखकर (तत्थवि एगे कुप्पन्ति) कोई कोई क्रोधित हो जाते हैं। (इत्थीदोसं संकिणो होंति) और वे स्त्री के दोष की शङ्का करते हैं । (भोयणेहिं णत्थेहिं) वे समझते हैं कि यह स्त्री साधु की प्रेमिका है, इसीलिए यह नाना प्रकार का आहार तैयार करके साधु को देती है ।

भावार्थ - रागद्वेष से वर्जित और तपस्वी भी साधु यदि एकान्त में किसी स्त्री के साथ वार्तालाप करता है तो उसे देखकर कोई क्रोधित हो जाते हैं और वे स्त्री में दोष की शङ्का करने लगते हैं । वे समझते हैं कि यह स्त्री साधु की प्रेमिका है, इसीलिए यह नाना प्रकार का आहार बनाकर साधु को दिया करती है ।

टीका - श्राम्यतीति श्रमणः - साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः तम् 'उदासीनमपि' रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा, श्रमणग्रहणं तपः - खिन्नदेहोपलक्षणार्थं, तत्रैवम्भूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्य-स्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति, यदिवा पाठान्तरं 'समणं ददुणुदासीणं' 'श्रमणं' प्रव्रजितं 'उदासीनम्' परित्यक्तनिजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं 'दृष्ट्वा' उपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति, किं पुनः कृतविकारमितिभावः, अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति, ते चामी स्त्रीदोषाः 'भोजनैः' नानाविधैराहारैः 'न्यस्तैः' साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदिवा - भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैः अर्घदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यस्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति, निदर्शनमत्र यथा - कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला

इतिकृत्वा राजिकाः संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्घाटितेति ॥१५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - जो तप करता है, उसे श्रमण कहते हैं। साधु को श्रमण कहते हैं। यहां अपि शब्द का क्रम भिन्न है। जो पुरुष रागद्वेष रहित होने के कारण मध्यस्थ है और तपस्या से खिन्न शरीर है अर्थात् जो विषय सुख का द्वेषी है, ऐसे साधु को भी एकान्त में स्त्री के साथ वार्तालाप करते देखकर कोई क्रोधित होते हैं। यहां 'श्रमण' शब्द का ग्रहण तपस्या से खिन्न शरीर का उपलक्षण है। अथवा यहां 'समणं ददूणुदासीणं' यह पाठान्तर पाया जाता है। अर्थात् जो साधु अपना व्यापार छोड़कर स्त्री के साथ वार्तालाप करता है, उसे देखकर कोई क्रोधित होता है। जब कि रागद्वेषवर्जित और तपस्वी साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप करते देखकर कोई पुरुष क्रोधित हो जाता है तब फिर जिस साधु में स्त्री के संसर्ग से विकार उत्पन्न हो गया है, उसकी तो बात ही क्या है? अथवा स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप करते हुए साधु को देखकर लोग स्त्री के विषय में दोष की आशंका करते हैं, वे स्त्री सम्बन्धी दोष ये हैं - वे समझते हैं कि यह स्त्री नाना प्रकार का आहार इस साधु के लिए बनाकर इसे देती है, इसीलिए यह साधु निरन्तर यहां आया करता है। अथवा जो स्त्री श्वशुर आदि को आधा आहार परोस कर साधु के आने पर चंचलचित्तवाली होती हुई किसी वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु श्वशुर आदि को यदि दे देती है तो वे लोग उस स्त्री पर शंका करते हैं कि यह दुःशीला इस साधु के साथ रहती है। इस विषय में यह दृष्टान्त है- कोई स्त्री भोजन पर बैठे हुए अपने श्वशुर और पति को भोजन परोस रही थी परन्तु उसका चित्त उस समय ग्राम में होने वाले नट के नृत्य देखने में था इसलिए उसने चावल के धोखे से राई उबालकर अपने श्वशुर और पति को परोसा। श्वशुर ने जान लिया कि इसका चित्त ठीकाने नहीं है और पति ने क्रोधित होकर उसे पीटा तथा यह अन्य पुरुष में चित्त रखती है, यह जानकर उसे अपने घर से निकाल दिया ॥१५॥



कुर्वन्ति सन्धवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।

तम्हा समणा ण समेति, आयहियाए सण्णिसेज्जाओ

॥१६॥

छाया - कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।

तस्मात् श्रमणाः न संयन्ति आत्महिताय संनिषद्याः ॥

अन्वयार्थ - (समाहिजोगेहिं) समाधियोग अर्थात् धर्मध्यान से (पब्भट्ठा) भ्रष्ट पुरुष ही (ताहिं सन्धवं कुर्वन्ति) स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं। (तम्हा) इसलिए (समणा) साधु (आयहियाए) अपने कल्याण के लिए (सण्णिसेज्जाओ) स्त्रियों के स्थानपर (ण समेति) नहीं जाते हैं।

भावार्थ - धर्मध्यान से भ्रष्ट पुरुष ही स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं, परन्तु साधु पुरुष अपने कल्याण के लिए स्त्रियों के स्थान पर नहीं जाते हैं।

टीका - 'कुर्वन्ती'त्यादि, 'ताभिः' स्त्रीभिः - सन्मार्गार्गलाभिः सह 'संस्तवं' तद्गृहगमनालापदानसम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात् 'कुर्वन्ति' विदधति, किम्भूताः? - प्रकर्षेण भ्रष्टाः - स्वलिताः 'समाधियोगेभ्यः' समाधिः- धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा - मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति, यस्मात् स्त्रीसंस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् 'श्रमणाः' सत्साधवो 'न समेति' न गच्छन्ति, 'सत् शोभना सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्या स्त्रीभिः कृता माया, यदिवा स्त्रीवसतीरिति, 'आत्महिताय' स्वहितं मन्यमानाः, एतच्च स्त्रीसम्बन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति, क्वचित्पश्चार्धमेवं पठ्यते - 'तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ' अयमस्यार्थः - यस्मात्स्त्रीसम्बन्धोऽनर्थाय भवति, तस्मात् हे श्रमण! - साधो!, तुशब्दो विशेषणार्थः, विशेषेण संनिषद्या - स्त्रीवसतीस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोः 'जहाहि' परित्यजेति ॥१६॥

टीकार्थ - स्त्रियां सत् मार्ग की अर्गला स्वरूप हैं, इसलिए उनके घर पर जाना, उनके साथ आलाप संलाप करना, उनसे दान लेना तथा उनको देखना इत्यादि परिचय, उस प्रकार के मोह के उदय से लोग करते हैं। जो लोग स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं, वे कैसे हैं? वे समाधि अर्थात् धर्मध्यान से अत्यन्त ब्रष्ट हैं अथवा धर्मध्यान जिनमें प्रधान है, ऐसे मन, वचन और काया के व्यापारों से वे ब्रष्ट हैं, वे पुरुष शिथिल विहारी हैं। स्त्रियों के साथ परिचय करने से समाधियोग का नाश होता है, इसलिए उत्तम साधु स्त्रियों की माया के पास नहीं जाते हैं। जो सुख का उत्पादक होने से अनुकूल होने के कारण निषद्या अर्थात् निवासस्थान के समान है, उसे निषद्या कहते हैं, वह स्त्रियों से की हुई माया है, उस माया के पास उत्तम साधु नहीं जाते हैं अथवा स्त्रियों के निवास स्थान को निषद्या कहते हैं, उस निषद्या के पास अपने कल्याण की इच्छा करने वाले साधु नहीं जाते हैं। यह जो स्त्री के साथ सम्बन्ध छोड़ने का उपदेश किया है, वह स्त्रियों को भी इस लोक तथा परलोक की हानि से बचाने के कारण हितकर है। कहीं कहीं इस गाथा के उत्तरार्ध में यह पाठ है - 'तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ' इसका अर्थ यह है - स्त्री का सम्बन्ध अनर्थ का कारण है, इसलिए हे श्रमण! (यहां तु शुद्ध विशेषणार्थक है) तुम विशेषरूप से स्त्रियों के निवासस्थान को तथा स्त्रियों से की हुई सेवा भक्तिरूप माया को अपने कल्याण के निमित्त त्याग दो ॥१६॥



- किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यां स्त्रीसम्बन्धं कुर्युः?, येनैवमुच्यते, ओमित्याह -

- क्या कोई प्रव्रज्या स्वीकार करके भी स्त्री के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं, जिससे यह कहा जाता है? हां, कर सकते हैं, यह शास्त्रकार बतलाते हैं -

बहवे गिहाइं अवहट्ठु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे ।

धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरियं कुसीलाणं

॥१७॥

छाया - बहवो गृहाणि अपहृत्य मिश्रीभावं प्रस्तुताश्च एके । ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति वाचा वीर्यं कुशीलानाम् ॥

अन्वयार्थ - (बहवे एगे) बहुत से लोग (गिहाइं अवहट्ठु) घर से निकलकर अर्थात् प्रव्रजित होकर भी (मिस्सीभावं पत्थुया) मिश्रमार्ग अर्थात् कुछ गृहस्थ और कुछ साधु के आचार को स्वीकार कर लेते हैं। (ध्रुवमग्गमेव पवयंति) परन्तु वे अपने आचार को मोक्ष का मार्ग कहते हैं (वाया वीरियं कुसीलाणं) कुशीलों के वचन में ही वीर्य होता है (अनुष्ठान में नहीं)।

भावार्थ - बहुत लोग प्रव्रज्या लेकर भी कुछ गृहस्थ और कुछ साधु के आचार का सेवन करते हैं। वे लोग अपने इस मिश्रित आचार को ही मोक्ष का मार्ग कहते हैं, क्योंकि कुशीलों की वाणी में ही बल होता है, कार्य में नहीं।

टीका - 'बहवः' केचन गृहाणि 'अपहृत्य' परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयात् मिश्रीभावम् इति द्रव्यलिङ्गमात्र-सद्भावद्वावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं 'प्रस्तुताः' समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजिताः, तदेवम्भूता अपि सन्तो ध्रुवो - मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति, तथाहि - ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान्, तथा हि - अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतं, तथाहि - ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते न तु तेषां सातागौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृतं वीर्यमस्तीति ॥१७॥ अपिच -

टीकार्थ - बहुतों ने घर छोड़कर भी फिर उस प्रकार के मोह के उदय होने से मिश्र अवस्था को प्राप्त किया है। वे द्रव्यलिङ्ग को ग्रहण करने मात्र से साधु और गृहस्थ के समान आचरण करने से गृहस्थ हैं, इस प्रकार वे मिश्रमार्ग को प्राप्त हुए हैं। वे न तो एकान्त गृहस्थ ही हैं और न एकान्त साधु ही हैं। वे ऐसे होकर भी अपने मार्ग को ही ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयम का मार्ग बतलाते हैं। वे कहते हैं कि - हमने जो इस मध्यम

मार्ग का आचरण करना आरम्भ किया है, यही मार्ग सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इस मार्ग से प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष की प्रव्रज्या अच्छी तरह पाली जाती है। परन्तु यह उन कुशीलों के वाणी का वीर्य समझना चाहिए, अनुष्ठान का नहीं क्योंकि वे द्रव्यलिङ्गी पुरुष वचनमात्र से अपने को प्रव्रजित कहते हैं परन्तु उनमें उत्तम अनुष्ठान का वीर्य नहीं है क्योंकि वे साता गौरव और विषय सुख में आसक्त तथा शिथिल विहारी हैं ॥१७॥



सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेति ।

जाणंति य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयं ति

॥१८॥

छाया - शुद्धं रौति परिषदि, अथ रहसि दुष्कृतं करोति । जानन्ति च तथाविदो मायावी महाशठ इति ॥

अन्वयार्थ - (परिसाए) वह कुशील पुरुष सभा में (सुद्धं रवति) अपने को शुद्ध बतलाता है (अह रहस्संमि) परन्तु एकान्त में (दुक्कडं करेति) पाप करता है । (तहाविहा) ऐसे लोगों को अंगचेष्टा का ज्ञान रखनेवाले पुरुष (जाणंति) जान लेते हैं कि (माइल्ले महासढेऽयं ति) ये मायावी और महाशठ हैं ।

भावार्थ - कुशील पुरुष सभा में अपने को शुद्ध बतलाता है परन्तु छिपकर पाप करता है । इनकी अंगचेष्टा आदि का ज्ञान रखनेवाले लोग जान लेते हैं कि ये मायावी और महान् शठ हैं ।

टीका - स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः 'पर्षदि' व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं 'शुद्धम्' अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा 'रौति' भाषते, अथानन्तरं 'रहस्ये' एकान्ते 'दुष्कृतं' पापं तत्कारणं वाऽसदनुष्ठानं 'करोति' विदधाति, तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि 'जानन्ति' विदन्ति, के? - तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति 'तथाविदः' इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदिवा सर्वज्ञाः, एतदुक्तं भवति - यद्यप्यपरः कश्चिदकर्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति, तत्परिज्ञानेनैव किं न पर्याप्तं?, यदिवा - मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहि - प्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्ज्ञानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च तं तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम्-

न २य लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ धयं व तैल्लं वा ।

किह ३सक्को वंचेउं अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥१९॥

॥१८॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - वह कुशील वचन मात्र से अपने वीर्य को प्रकट करता हुआ धर्मोपदेश के समय सभा में बैठकर अपने को तथा अपने अनुष्ठान को दोष रहित शुद्ध बतलाता है परन्तु पीछे से छिपकर एकान्त में पाप अथवा पापजनक असत् अनुष्ठान करता है । यद्यपि वह अपने उस असत् अनुष्ठान को छिपाता है तो भी लोग जान लेते हैं । कौन जान लेते हैं? कहते हैं कि उस प्रकार के अनुष्ठान को जाननेवाले जो पुरुष अंगचेष्टा और आकार को जानने में निपुण हैं, वे उसके असत् अनुष्ठान को जान लेते हैं । अथवा सर्वज्ञ पुरुष उसके उस अनुष्ठान को जान लेते हैं । भाव यह है कि उस कुशील पुरुष के अकर्तव्य को दूसरा चाहे न जाने परन्तु सर्वज्ञ पुरुष तो जान ही लेते हैं । क्या सर्वज्ञ पुरुष का जान लेना जाना जाना नहीं है? अथवा जिसके असत् अनुष्ठान को जाननेवाले पुरुष जानते हैं कि यह मायावी और महा शठ है । रागान्ध पुरुष छिपकर असत् अनुष्ठान करता है और मन में समझता है कि मुझ को कोई जानता नहीं है परन्तु उसे जाननेवाले जान लेते हैं । कहा है

(न य लोणं) अर्थात् जैसे नमक का खारापन और तेल, घृत का चिकनापन छिपाया नहीं जा सकता । इसी तरह बुरा कर्म करनेवाला आत्मा छिपाया नहीं जा सकता है ॥१८॥



सयं दुक्कडं च न वदति, आइडोवि पकत्थति बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो

॥१९॥

छाया - स्वयं दुष्कृतं च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकथ्यते बालः ।

वेदानुवीचि मा कार्षीः चोद्यमानो ग्लायति स भूयः ॥

अन्वयार्थ - (बाले) अज्ञानी जीव (सयं दुक्कडं) स्वयं अपने पाप को (न वदति) नहीं कहता है (आइडोवि पकत्थति) जब दूसरा कोई उसे उसका पाप कहने के लिए प्रेरणा करता है तब वह अपनी प्रशंसा करने लगता है (वेयाणुवीइ मा कासी) तुम मैथुन की इच्छा मत करो इस प्रकार आचार्य आदि के द्वारा (भुज्जो) बार-बार (चोइज्जंतो) कहा जाता हुआ (से) वह कुशील (गिलाइ) ग्लानि को प्राप्त होता है।

भावार्थ - द्रव्यलिङ्गी अज्ञानी पुरुष स्वयं अपना पाप अपने आचार्य से नहीं कहता है और दूसरे की प्रेरणा करने पर वह अपनी प्रशंसा करने लगता है । आचार्य आदि उसे बार-बार जब यह कहते हैं कि तुम मैथुन सेवन मत करो, तब वह ग्लानि को प्राप्त होता है ।

टीका - 'स्वयम्' आत्मना प्रच्छन्नं यदुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न 'वदति' न कथयति, यथा अहमस्याकार्यस्य कारीति, स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषकलितो वा 'प्रकथ्यते' आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति, वदति च - यथाऽहमेवम्भूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्यात्प्रकथ्यते, तथा - वेदः - पुंवेदोदयस्तस्य 'अनुवीचि' आनुकूल्यं मैथुनाभिलाषं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति - अकर्णश्रुतं विधत्ते, मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते, तथा चोक्तम् -

सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया? । निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जनः ॥१॥

इति ॥१९॥ अपि च -

टीकार्थ - कुशील पुरुष अपने किये हुए प्रच्छन्न पाप को आचार्य आदि के पूछने पर नहीं कहता है कि मैंने अमुक बुरा कार्य किया है । वह प्रच्छन्नपापी मायावी स्वयं तो कहता नहीं और जब दूसरा कोई उसे कहने के लिए कहता है तो वह अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त पुरुष अपनी प्रशंसा करता हुआ अपने बुरे कार्य को झूठा बतलाता है । वह कहता है कि - मैं ऐसा अनुचित कार्य कैसे कर सकता हूँ, इस प्रकार वह धृष्टता के कारण कहता है । यहां वेद शब्द से पुरुषवेद का उदय लेना चाहिए, उसके अनुकूल मैथुन की इच्छा अनुवीचि कहलाती है । अतः तुम मैथुन की इच्छा मत करो, इस प्रकार गुरु आदि के द्वारा बार-बार कहने से वह कुशील ग्लानि को प्राप्त होता है अथवा उस बात को नहीं सुनी जैसा कर देता है अथवा वह उस बात से मर्म स्थान में वेध पाया हुआ सा खेद युक्त होकर कहता है कि -

मेरे मैं जब पाप की शङ्का की जाती है, तब मुझे पाप रहित होने से भी क्या लाभ? क्योंकि निर्विष सर्प से भी लोग बहुत डरते हैं ॥१९॥



ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।

पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति

॥२०॥

छाया - उषिता अपि स्त्रीपोषेषु पुरुषाः स्त्रीवेदखेदज्ञाः । प्रज्ञासमन्विता एके नारीणां वशमुपकषन्ति ॥

अन्वयार्थ - (इत्थिपोसेसु ओसियावि पुरिसा) जो पुरुष स्त्रियों का पोषण कर चूके हैं (इत्थिवेयखेदन्ना) अत एव स्त्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले खेदों के ज्ञाता हैं (पण्णासमन्निता) एवं प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि से युक्त हैं (वेगे) ऐसे भी कोई (नारीणं वसं उवकसंति) स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं ।

भावार्थ - स्त्री को पोषण करने के लिए पुरुष को जो-जो व्यापार करने पड़ते हैं, उनका सम्पादन करके जो पुरुष भुक्तभोगी हो चुके हैं तथा स्त्री जाति मायाप्रधान होती है, यह भी जो जानते हैं तथा औत्पातिकी आदि बुद्धि से जो युक्त हैं। ऐसे भी कोई पुरुष स्त्रियों के वश में हो जाते हैं।

टीका - 'स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका - अनुष्ठानविशेषास्तेषु 'उषिता अपि' व्यवस्थिता अपि 'पुरुषा' मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः, तथा - 'स्त्रीवेदखेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि, तथा प्रज्ञया औत्पात्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता - युक्ता अपि, 'एके' महामोहान्धचेतसो 'नारीणां' स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां 'वशं' तदायत्ततामुप - सामीप्येन 'कषन्ति' व्रजन्ति, यद्यत्ताः स्वप्नायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वन्ते, न पुनरेतज्ज्ञानन्ति, यथैता एवम्भूता भवन्तीति, तद्यथा -

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।

तरुमाञ्जरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥१॥

तथा -

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभरेखेव मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालककवच्यजन्ति ॥२॥

अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम् - तद्यथा - एको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः, तदन्तराले अन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितः, तद्यथा - सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि? तेनापि यथास्थितमेव तस्याः कथितं तथा चोक्तम् - वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं, तेनापि तथैवाभ्युपगतम्, अधीत्य चासौ मध्येनायातः, तथा च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति, ततस्तया महताशब्देन पूकृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्धनिका प्रक्षिप्ता, ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे - यथाऽयं गले लग्नेनोदकेन मनाक् न मृतः, ततो मयोदकेन सिक्त इति। गते च लोके सा पृष्ठवती - किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां परिज्ञातमिति? एवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति, तथा चोक्तम् -

हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत् ।

अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् ॥१॥ ॥२०॥

टीकार्थ - जो व्यापार स्त्री को पोषण करने के लिए किये जाते हैं, उन्हें स्त्रीपोषक कहते हैं। उन स्त्रीपोषक व्यापारों के अनुष्ठान में जो प्रवृत्त रह चुके हैं, अत एव स्त्री रक्षण करने के दोषों को जो जान गये हैं तथा जो स्त्रीवेद के खेद को जाननेवाले हैं अर्थात् स्त्रीवेद मायाप्रधान होता है, यह जानने में जो निपुण हैं एवं औत्पातिकी आदि बुद्धि से जो युक्त हैं, ऐसे भी कोई पुरुष महामोह से अंधे होकर संसार में उतरने के लिए मार्ग स्वरूप स्त्रियों के वश में हो जाते हैं। स्त्रीयां स्वप्न में बड़ बड़ाती हुई भी भला या बुरा जो कार्य करने के लिए उनसे कहती हैं, वे उसे करते हैं। वे यह नहीं सोचते हैं कि स्त्रियां इस प्रकार की होती हैं, जैसे कि -

स्त्रियां, कार्य के लिए हंसती हैं और रोती हैं, पुरुष को विश्वास देती हैं परन्तु स्वयं उस पर विश्वास नहीं करती।

अतःकुल और शील से युक्त पुरुष, श्मशान के घड़े के समान स्त्रियों को वर्जित कर दें। तथा

समुद्र की तरंग जिस प्रकार चंचल होती हैं, उसी तरह स्त्रियां चंचल स्वभाव की होती हैं, जैसे संध्याकाल के मेघ में थोड़ी देर तक राग रहता है, इसी तरह स्त्रियों को भी थोड़ी देर तक राग रहता है। स्त्रियां जब अपना प्रयोजन पुरुष से सिद्ध कर लेती हैं तब जैसे महावर का रंग निकालकर उसकी रूई को फेंक देते हैं, उसी तरह वे पुरुष को त्याग देती हैं।

यहां स्त्री का स्वभाव जानने के लिए यह कथानक है ।

एक युवा पुरुष वैशिक कामशास्त्र अर्थात् स्त्री के स्वभाव को बतानेवाले शास्त्र को पढ़ने के लिए अपने घर से निकलकर पटना जाने लगा । बीच मार्ग में किसी ग्राम में रहनेवाली किसी स्त्री ने कहा कि तुम्हारे हाथ पैर सुकुमार हैं और तुम्हारी आकृति भी सुंदर है, तुम कहां जा रहे हो? उस युवक ने भी सच्ची बात उस स्त्री से कह सुनायी । इसके पश्चात् उस स्त्री ने कहा कि वैशिक कामशास्त्र को पढ़कर इधर से ही आना, युवक ने भी यह स्वीकार किया । वैशिक कामशास्त्र पढ़कर वह युवक उस स्त्री के मार्ग से ही आया, उस स्त्री ने उस पुरुष को स्नान, भोजन आदि के द्वारा अच्छी तरह सेवा की । तथा अपने हावभाव कटाक्षों से उसका मन हर लिया उस पुरुष ने उस स्त्री पर आसक्त होकर ज्योंही उसका हाथ पकड़ना चाहा, त्योंही वह जोर से चिल्लाती हुई लोगों के आने का अवसर देखकर उसके शिर पर जल का घड़ा डाल दिया । इसके पश्चात् लोगों की भीड़ होने पर वह इस प्रकार कहने लगी कि - इनके गले के अंदर पानी लग गया था, इससे इनके मरने में थोड़ी कसर रह गयी थी, यह देखकर मैंने इनको जल से नहला दिया । जब लोग सब चले गये तब वह पूछने लगी कि वैशिक कामशास्त्र को पढ़कर तुमने स्त्री स्वभाव का क्या ज्ञान प्राप्त किया है? वस्तुतः स्त्री चरित्र दुर्विज्ञेय होता है, इसलिए मनुष्य को स्त्री के स्वभाव पर विश्वास नहीं करना चाहिए । कहा भी है कि -

स्त्रियों के हृदय में अन्य होता है और वाणी में अन्य होता है, सामने अन्य होता है और पीछे अन्य होता है, तुम्हारे लिये अन्य होता है और मेरे लिये अन्य होता है वस्तुतः स्त्रियों का सब कुछ अन्य ही होता है ॥२०॥



- साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह -

- अब इसलोक में ही स्त्री संबंधी विपाक को दिखाने के लिए कहते हैं-

अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते ।

अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छिय खारसिंचणाई च

॥२१॥

छाया - अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्धमांसोत्कर्तनम् ।

अपि तेजसाऽभितापनानि तक्षयित्वा क्षारसिञ्चनानि च ॥

अन्वयार्थ - (अवि हत्थपादछेदाए) इस लोक में परस्त्री के साथ सम्पर्क करना हाथ और पैर का छेदन रूप दण्ड के लिए होता है (अथवा वद्धमंसउक्कंते) अथवा चमड़ा और मांस को कतरना रूप दंड के लिए होता है, (अवि तेयसाभितावणाणि) अथवा आग से जलाने रूप दण्ड के लिए होता है (तच्छियखारसिंचणाई च) एवं अंग का छेदन करके खार द्वारा सींचने रूप दण्ड के लिए होता है ।

भावार्थ - जो लोग परस्त्री सेवन करते हैं, उनके हाथ पैर काट लिये जाते हैं, अथवा उनका चमड़ा और मांस काट लिया जाता है, तथा अग्नि के द्वारा वे तपाये जाते हैं एवं उनका अंग काट कर खार के द्वारा सिंचन किया जाता है।

टीका - स्त्री सम्पर्कों हि रागिणां हस्तपादच्छेदाय भवति, 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यत एतन्मोहातुराणां स्त्रीसम्बन्धाद्दस्तपादच्छेदादिकम्, अथवा वर्धमांसोत्कर्तनमपि 'तेजसा, अग्निना 'अभितापनानि' स्त्रीसम्बन्धिभिरुत्तेजितै राजपुरुषैर्भट्टिकारण्यपि क्रियन्ते पारदारिकाः, तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥२१॥ अपि च-

टीकार्थ - परस्त्री का संसर्ग, रागी पुरुषों के हाथ पैर को छेदने के लिए होता है । अपि शब्द सम्भावना अर्थ में आया है, परस्त्री में मोहातुर पुरुषों के हाथ और पैर का छेदन संभव है । अथवा परस्त्री लंपट पुरुष का चर्म और मांस भी कतरा जाना संभव है, तथा स्त्री के स्वजनवर्ग द्वारा उत्तेजित किये हुए राजपुरुष, पारदारिकों को भट्टीपर चढ़ाकर भी तपाते हैं, एवं वंसूला आदि के द्वारा उसे छिलकर उस पर खार जल का सिंचन भी करते हैं ॥२१॥



अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्षन्ती ।

इति इत्थ पावसंतत्ता, न य बिंति पुणो न काहिंति

॥२२॥

छाया - अथ कर्णनासिकाच्छेदं कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्ती ।

इत्थत्र पापसन्तप्ताः, न च ब्रुवते न पुनः करिष्यामः ॥

अन्वयार्थ - (पावसंतत्ता) पापी पुरुष (इत्थ) इस लोक में (कण्णणासच्छेदं) कान और नाक का छेदन एवं (कंठच्छेदणं तितिक्षन्ती) कण्ठ का छेदन सह लेते हैं (न य बिंति) परन्तु यह नहीं कहते हैं कि (न पुणो काहिंति) अब हम फिर पाप नहीं करेंगे ।

भावार्थ - पापी पुरुष अपने पाप के बदले कान, नाक और कण्ठ का छेदन सहन करते हैं परन्तु यह निश्चय नहीं कर लेते कि हम अब पाप नहीं करेंगे ।

टीका - अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च 'तितिक्षन्ते' स्वकृतदोषात्सहन्ते इति, एवं बहुविधां विडम्बनाम् 'अस्मिन्नेव' मानुषे च जन्मनि पापेन - पापकर्मणा सन्तप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति, न च पुनरेतदेवम्भूतमनुष्ठानं न करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीति यावत्, तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः ॥२२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - पापी पुरुष अपने किये हुए पाप के दोष से कान और नाक का छेदन तथा कंठ का छेदन सहन करते हैं । इस प्रकार पापी पुरुष अपने पाप कर्म से सन्तप्त होकर नरक के सिवाय अनेक प्रकार का कष्ट इसी लोक में भोगते हैं परन्तु अब हम ऐसा अनुष्ठान नहीं करेंगे ऐसा मन में दृढ़ संकल्प नहीं करते हैं । इस प्रकार पापी पुरुष इस लोक तथा परलोक में दुःख स्वीकार करते हैं परन्तु पाप कर्म करने से निवृत्त नहीं होते हैं ॥२२॥



सुतमेतमेवमेगेषिं, इत्थीवेदेति हु सुयक्खायं ।

एवंपि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मणा अवकरेंति

॥२३॥

छाया - श्रुतमेतमेवमेकेषां, स्त्रीवेद इति स्वाख्यातम् । एवमपि ता उक्त्वा अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ॥

अन्वयार्थ - (एतं एवं सुतं) स्त्री का सम्पर्क बुरा होता है यह हमने सुना है । (एगेसिं सुयक्खायं) कोई ऐसा कहते भी है । (इत्थीवेदेति हु) वैशिक कामशास्त्र का यह कहना भी है कि (ता एवं वदित्ताणं कम्मणा अवकरेंति) स्त्रियां अब मैं ऐसा न करूंगी यह कह कर भी अपकार करती हैं ।

भावार्थ - स्त्रियों का सम्पर्क बुरा है, यह हमने सुना है, तथा कोई ऐसा कहते भी हैं एवं वैशिक कामशास्त्र का यही कहना है, अब मैं इस प्रकार न करूंगी, यह कहकर भी स्त्रियां अपकार करती हैं ।

टीका - 'श्रुतम्' उपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा 'एतद्' इति यत्पूर्वमाख्यातं, तद्यथा - दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसम्बन्धविपाकः तथा चलस्वभावाः स्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्च 'इति' एवमेकेषां स्वाख्यातं भवति, लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यायिकासु वा परिज्ञातं भवति, स्त्रियं यथावस्थित-स्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति-ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो - वैशिकादिकं, स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति, तदुक्तम्-

दुर्गाह्वां हृदयं यथैव वदनं यद्वर्पणान्तर्गतं, भावः 'पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते, नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिताः ॥१॥

अपि च-

^२सुदुवि जियासु सुदुवि पि पियासु सुदुवि य लब्धपसरासु ।

१. सूक्ष्ममार्गं वि० । २. सुष्ठु विजितासु सुष्ठ्वपि प्रीतासु सुष्ठ्वपि च लब्धप्रसरासु, अटवीषु महिलासु च विश्रम्भो नैव कार्यः ॥१॥

अडईसु महिलियासु य वीसम्भो नेव कायव्वो ॥१॥

^१उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलीयंमि ।

कामंतएण नारी जेण न पत्ताई दुक्खाई ॥२॥

^२अह एयाणं पमाई सव्वरुस करेति वेमणरुसाई ।

तरुस ण करेति णवरं जरुस अलं चेव कामेहिं ॥३॥

किञ्च - अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव'ति तथापि कर्मणा - क्रियया 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदिवा अग्रतः प्रतिपाद्यापि च शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥२३॥

टीकार्थ - दूसरी बात यह है कि - पहले जो कहा गया है, यह सब मैंने गुरु आदि से सुन रखा है, तथा लोक से भी सुना है । जैसे कि - स्त्रियों का चित्त दुर्विज्ञेय होता है तथा इनके साथ सम्बन्ध करने का फल भी बुरा होता है, स्त्रियां चंचल स्वभाव की होती हैं, इनकी सेवा कठिन होती है, तथा स्त्रियां अदूरदर्शिनी और तुच्छ स्वभाव की होती हैं, इनमें आत्मगर्व बहुत ज्यादा होता है, इस प्रकार कोई कहते हैं तथा लौकिक श्रुतिपरंपरा से भी यह सुना जाता है और पुरानी आख्यायिकाओं से भी यही ज्ञात होता है । स्त्रियों का स्वभाव और उनके संसर्ग का फल बतानेवाला वैशिक कामशास्त्र को 'स्त्रीवेद' कहते हैं, यह शास्त्र स्त्रियों के स्वभाव को प्रकट करता है, यह शास्त्र कहता है कि-

जैसे दर्पण में पड़ी हुई मुख की छाया दुर्ग्राह्य होती है, इसी तरह स्त्रियों का हृदय ग्रहण नहीं किया जा सकता । स्त्रियों का अभिप्राय पर्वत के दुर्ग मार्ग के समान गहन होने के कारण जाना नहीं जाता है, उनका चित्त कमल के पत्ते पर रखे हुए जल बिन्दु के समान अति चंचल होता है, इसलिए वह एक स्थान पर नहीं ठहरता है जैसे विष के अंकुर से विषलता उत्पन्न होती है, उसी तरह स्त्रियां दोषों के साथ उत्पन्न हुई हैं । ॥१॥

अच्छी तरह विजय की हुई तथा अत्यन्त प्रसन्न की हुई एवं अत्यन्त परिचय की हुई भी अटवी और स्त्री में विश्वास नहीं करना चाहिए ।१।

इस समस्त जीव लोक में क्या कोई पुरुष अंगुलि ऊठा के यह कह सकता है? कि जिसने स्त्री की कामना करके दुःख न पाया हो ।२।

स्त्रियों का स्वभाव है कि वे सबका तिरस्कार करती हैं, केवल उसका तिरस्कार नहीं करती, जिसको स्त्री की कामना नहीं है ।३।

स्त्रियां अब हम ऐसा नहीं करेंगी, यह वचनद्वारा कहकर भी कर्म से विपरीत आचरण करती हैं अथवा सामने स्वीकार करके भी शिक्षा देने वाले का ही अपकार करती हैं ॥२३॥



- सूत्रकार एव तत्स्वभावाविष्करणायाह -

- अब सूत्रकार ही स्त्रियों का स्वभाव प्रकट करने के लिए कहते हैं -

अन्नं मणेण चिंतेति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं ।

तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा

॥२४॥

छाया - अव्यञ्जनसा चिन्तयन्ति वाचा अव्यच्च कर्मणाऽव्यत् ।

तस्माद्वा श्रद्धहीन भिक्षुः बहुमायाः स्त्रियोः ज्ञात्वा ॥

अन्वयार्थ - (मणेण अन्नं चिंतेति) स्त्रियां मन से दूसरा सोचती है (वाया अन्नं) वाणी से ओर कहती हैं (कम्मुणा अन्नं) और कर्म से

1. ऊर्ध्वयतु अङ्गुलिं स पुरुषः सकले जीवलोके, कामतया नारीर्येन न प्राप्तानि दुःखानि ॥२॥ 2. असावेतासां प्रकृतिस्सर्वेषामपि कुर्वन्ति वैमनस्यानि, तस्य न कुर्वन्ति नवरं यस्यालं चैव कामैः ॥३॥

ओर करती हैं (तम्हा) इसलिए (बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा) बहुत मायावाली स्त्रियों को जानकर (भिक्षु) साधु (ण सदह) उनमें श्रद्धा न करे।

भावार्थ - स्त्रियां मन में दूसरा विचारती हैं और वाणी से दूसरा कहती हैं एवं कर्म से ओर ही करती हैं, इसलिए साधु पुरुष बहुत माया करनेवाली स्त्रियों को जानकर उन पर विश्वास न करे।

टीका - पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतिमात्रपेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद् भाषन्ते तथा 'कर्मणा' अनुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति, यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति, एवं ज्ञात्वा 'तस्मात्' तासां 'भिक्षुः' साधुः 'न श्रद्धधीत' तत्कृतया माययात्मानं न प्रतारयेत्, दत्तावैशिकवत्, अत्र चैतत्कथानकम् - दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोऽपि तां नेष्टवान्, ततस्तयोक्तम् - किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्या प्रयोजनम् ? अहं त्वत्परित्यक्ताऽग्रिं प्रविशामि, ततोऽसाववोचत् - मायया इदमप्यस्ति वैशिके, तदाऽसौ पूर्वसुरङ्गामुखे काष्ठसमुदयं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता, दत्तकोऽपि च इदमपि अस्ति वैशिके इत्येवमसौ विलपन्नपि 'वातिकौश्चितायां प्रक्षिप्तः, तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवान् एवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥२४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अति गम्भीर अपने मन से दूसरा सोचती हैं, और सुनने में मधुर प्रतीत होनेवाली तथा विपाक में दारुण अपनी वाणी द्वारा दूसरा भाषण करती हैं, तथा कर्म से दूसरा ही करती हैं। स्त्रियां बहुत मायावाली होती हैं इसलिए साधु उन पर विश्वास न करे, उनकी माया से अपने आत्मा को वञ्चित न होने दे। जैसे दत्तावैशिक स्त्री की माया से वञ्चित नहीं हुए। इस विषय में एक कथानक है।

दत्तावैशिक को ठगने के लिए एक वेश्या ने नाना प्रकार के उपाय किये परन्तु उन्होंने उसकी कामना नहीं की, इसके पश्चात् उस वेश्या ने कहा कि - दुर्भाग्यरूपी कलङ्क से कलङ्कित मुझको जीने से क्या प्रयोजन है ? मुझको आपने छोड़ दिया है, इसलिए मैं अग्रि में प्रवेश करूँगी। यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा कि - स्त्रियां माया करके अग्रि में प्रवेश भी कर सकती हैं। इसके पश्चात् उस वेश्या ने सुरङ्ग के पूर्व द्वार में काष्ठराशि इकट्ठी करके उसे जलाकर सुरङ्ग के द्वारा अपने घर पर चली आयी। इसके पश्चात् दत्तक ने कहा कि स्त्रियां ऐसी माया भी करती हैं। वह ऐसा कह रहे थे कि उनको विश्वास कराने के लिए धूर्तों ने उन्हें चिता पर फेंक दिया तथापि उन्होंने स्त्रियों पर विश्वास नहीं किया। इसी तरह दूसरे को भी स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥२४॥

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहिता ।

विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो

॥२५॥

छाया - युवतिः श्रमणं बूयाद् विचित्रालङ्कारवत्थगाणि परिहिताय ।

विरता चरिष्याम्यहं रुक्खं धर्ममाचक्ष्व नः भयत्रातः ॥

अन्वयार्थ - (जुवती) कोई युवती स्त्री (विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहिता) विचित्र अलङ्कार और वस्त्र पहनकर (समणं बूया) साधु से कहे कि - (अहं विरता रुक्खं चरिस्स) मैं अब गृह बन्धन से विरक्त होकर संयम पालन करूँगी (भयंतारो) इसलिए हे भय से रक्षा करनेवाले साधो! (णे धम्ममाइक्ख) मुझ को आप धर्म सुनाइए।

भावार्थ - कोई युवती स्त्री विचित्र अलङ्कार और भूषण पहनकर साधु से कहे कि हे भय से बचानेवाले साधो! मैं विरक्त होकर संयम पालन करूँगी इसलिए आप मुझ को धर्म सुनाइए।

टीका - 'युवती' अभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं बूयात्, तद्यथा - विरता अहं गृहपाशात् न ममानुकूलो भर्ता मह्यं वाऽसौ न रोचते परित्यक्ता वाऽहं तेनेत्येतत् 'चरिष्यामि' करिष्याम्यहं 'रुक्ख' - मिति संयमं, मौनमिति वा क्वचित्पाठः तत्र मुनेरयं मौनः - संयमस्तमाचरिष्यामि, धर्ममाचक्ष्व 'णे' ति अस्माकं हे भयत्रातः !, यथाऽहमेवं दुखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयेति ॥२५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - कोई नवयौवना स्त्री विचित्र वस्त्र और अलंकारों से अपने शरीर को भूषित करके माया से साधु के प्रति कहे कि हे साधो ! मैं गृहपाश से विरक्त हूं, मेरा पति मेरे अनुकूल नहीं है अथवा वह मुझ को पसन्द नहीं है अथवा उसने मुझ को छोड़ रखा है अतः मैं संयम पालन करूंगी । कहीं कहीं 'मौन' यह पाठ मिलता है, इसका अर्थ यह है मुनि के भाव को मौन कहते हैं, वह संयम है, उसे मैं पालूंगी, इसलिए हे भय से रक्षा करनेवाले साधो ! तुम मुझको धर्म सुनाओ जिससे मैं इस दुःख का पात्र न बनूं ॥२५॥



अदु सावियापवाणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं ।

जतुकुम्भे जहा उवज्जोई संवासे विदू विसीएज्जा

॥२६॥

छाया - अथ श्राविकाप्रवादेन, अहमस्मि साधर्मिणी श्रमणाब्जाम् ।

जतुकुम्भोः यथा उपज्योति, संवासे विद्वान् विषीदेत ॥

अन्वयार्थ - (अदु) इसके पश्चात् (सावियापवाणं) श्राविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आती है (अहमंसि साहम्मिणी समणाणं) मैं श्रमणों की साधर्मिणी हूं, यह कहकर भी साधु के पास आती है । (जहा उवज्जोई जतुकुम्भे) जैसे अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है, इसी तरह (विदू संवासे विसीएज्जा) विद्वान् पुरुष भी स्त्री के संसर्ग से शीतलविहारी हो जाते हैं ।

भावार्थ - स्त्री श्राविका होने का बहाना बनाकर तथा मैं साधु की साधर्मिणी हूं, यह कहकर साधु के निकट आती है । जैसे आग के पास लाख का घड़ा गल जाता है, इसी तरह स्त्री के साथ रहने से विद्वान् पुरुष भी शिथिलविहारी हो जाते हैं ।

टीका - अथवानेन "प्रवादेन" व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत् - यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसीभूत्वा कुलवालुकमिव साधुं धर्माद्भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति - योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम् -

तज्ज्ञानं, तच्च विज्ञानं, तत्तपः स च संयमः । सर्वमेकपदे श्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥१॥

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह - यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषः' अग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती 'विलीयते' द्रवति, एवं योषितां 'संवासे' सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति 'विषीदेत' शीतलविहारी भवेदिति ॥२६॥

टीकार्थ - अथवा स्त्री साधु के पास इस बहाने से आती है, कि मैं श्राविका हूं इसलिए मैं साधुओं की साधर्मिणी हूं । ऐसा प्रपञ्च रचकर स्त्री साधु के पास आकर कुलवालुक की तरह साधु को धर्म से भ्रष्ट कर देती है । आशय यह है कि - स्त्री का संसर्ग ब्रह्मचारियों के लिए महान् अनर्थ का कारण होता है, कहा भी है -

वह ज्ञान और वह विज्ञान, वह तप और वह संयम, ये सभी एक ही बार नष्ट हो गये, स्त्रियां कैसी अनर्थ की मूल हैं ।

इस विषय में शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं, जैसे-लाख का घड़ा आग के पास गल जाता है, इसी तरह स्त्री के साथ निवास करने से विद्वान् पुरुष जो जानने योग्य पदार्थों को जानते हैं, वे भी धर्मानुष्ठान करने में शिथिलविहारी हो जाते हैं, फिर दूसरे पुरुषों की तो बात ही क्या है ॥२६॥



एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये दोषान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह-

इस प्रकार स्त्री के संनिधान से होनेवाले दोषों को बताकर उसके स्पर्श से होनेवाले दोषों को दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

जतुकुम्भे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ ।

एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति

॥२७॥

छाया - जतुकुम्भो ज्योतिरुपगूढः आश्वभितप्तो नाशमुपयाति ।

एवं स्त्रीभिरनगाराः संवासेन नाशमुपयान्ति ॥

अन्वयार्थ - (जोइउवगूढे, जतुकुम्भे) जैसे अग्नि से स्पर्श किया हुआ लाख का घड़ा (आसुभितत्ते णासमुवयाइ) शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है (एवित्थियाहिं संवासेण अणगारा) इसी तरह स्त्रियों के संसर्ग से अनगार पुरुष (णास मुवयंति) नाश को प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ - जैसे अग्नि के द्वारा आलिङ्गन किया हुआ लाख का घड़ा चारों तर्फ से तप्त होकर शीघ्र ही गल जाता है, इसी तरह अनगार पुरुष स्त्रियों के संसर्ग से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।

टीका - यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषा' अग्निनोपगूढः - समालिङ्गितोऽभितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं 'नाशमुपयाति' द्रवीभूय विनश्यति, एवं स्त्रीभिः सार्धं 'संवसनेन' परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति, सर्वथा जातुषकुम्भवत् व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद् भ्रश्यन्ति ॥२७॥ अपिच -

टीकार्थ - जैसे अग्नि से आलिङ्गन किया हुआ लाख का घड़ा चारों ओर से अग्नि द्वारा सन्तापित किया हुआ शीघ्र ही द्रव होकर नष्ट हो जाता है, इसी तरह साधु पुरुष भी स्त्री का परिभोग करके शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, वे कठिन व्रत का आचरण करना छोड़कर संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२७॥



कुर्वन्ति पावगं कम्मं पुट्ठा वेगेवमाहिंसु ।

नोऽहं करेमि पावन्ति, अंकेसाइणा ममेसत्ति

॥२८॥

छाया - कुर्वन्ति पापकं कर्म, पृष्टा एके एवमाहुः ।

नाऽहं करेमि पापमिति अङ्केशायिनी ममेवेति ॥

अन्वयार्थ - (एगे पावगं कम्मं कुर्वन्ति) कोई पाप कर्म करते हैं (पुट्ठा एवमाहिंसु) और पूछने पर ऐसा कहते हैं (अहं पावं नो करेमिति) मैं पाप कर्म नहीं करता हूँ (एसा मम अंकेसाइणा) किन्तु यह स्त्री लड़कपन में मेरे अङ्क में सोयी हुई है ।

भावार्थ - कोई भ्रष्टाचारी पुरुष पापकर्म करता है परन्तु आचार्य के पूछने पर कहता है कि - मैं पाप कर्म नहीं करता हूँ, किन्तु यह स्त्री बालावस्था में मेरे अङ्क में सोयी हुई है ।

टीका - तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिषक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः 'पापं कर्म' मैथुनासेवनादिकं 'कुर्वन्ति' विदधति, परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानाद् 'एके' केचनोत्कटमोहा, आचार्यादिना चोद्यमाना 'एवमाहुः' वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा - नाहमेवम्भूतकुलप्रसूत एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि, 'ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्केशायिनी आसीत्, तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति, न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति ॥२८॥किञ्च-

टीकार्थ - दूसरी बात यह है कि - संसार में फँसाने वाली स्त्री में आसक्त एवं उत्तम अनुष्ठान से भ्रष्ट तथा इसलोक और परलोक के नाश से नहीं डरनेवाले कोई पापकर्म करते हैं परन्तु उत्कट मोहवाले वे पुरुष आचार्य आदि के पूछने पर इस प्रकार कहते हैं कि मैं ऐसे कुल में उत्पन्न नहीं हूँ कि ऐसा पाप का कारण स्वरूप अनुचित कर्म करूँगा । यह स्त्री मेरी पुत्री के समान है, यह बाल्य काल में मेरे अङ्क में सोती थी, अतः यह उस पूर्व अभ्यास के कारण ही मेरे साथ ऐसा आचरण करती है, वस्तुतः मैं संसार के स्वभाव को जाननेवाला हूँ, मैं प्राण नष्ट होने पर भी व्रतभङ्ग नहीं करूँगा ॥२८॥



बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।

दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसत्रेसी

॥२९॥

छाया - बालस्स माब्धं द्वितीयं, यच्च कृतमपजानीते भूयः ।

द्विगुणं करोति स पापं पूजनकामो विषण्णेषी ॥

अन्वयार्थ - (बालस्स) मूर्ख पुरुष की (बीयं मंदयं) दूसरी मूर्खता यह है कि (जं च कडं भुज्जो अवजाणई) वह किये हुए पाप कर्म को नहीं किया हुआ कहता है । (से दुगुण पावं करेइ) अतः वह पुरुष दूना पाप करता है (पूयणकामो विसत्रेसी) वह जगत् में अपनी पूजा चाहता है और असंयम की इच्छा करता है ।

भावार्थ - उस मूर्ख पुरुष की दूसरी मूर्खता यह है कि वह पापकर्म करके फिर उसे इन्कार करता है, इस प्रकार वह दूना पाप करता है, वह संसार में अपनी पूजा चाहता हुआ असंयम की इच्छा करता है ।

टीका - 'बालस्स' अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्वितीयं 'मान्धं' अज्ञत्वम् एकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः, तदेव दर्शयति - यत्कृतमसदाचरणं 'भूयः' पुनरपरेण चोद्यमानः 'अपजानीते' अपलपति - नैतन्मया कृतमिति, स एवम्भूतः असदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति, किमर्थमपलपतीत्याह - पूजनं - सत्कारपुरस्कारस्तत्कामः - तदभिलाषी, मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति, विषण्णः - असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णेषी ॥२९॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ - राग, द्वेष से आकुल बुद्धिवाले अपरमार्थदर्शी मूर्ख की यह दूसरी मूर्खता है, एक तो अकार्य करने से चतुर्थ व्रत का भङ्ग और दूसरा उस अकार्य को नहीं स्वीकार करके मिथ्याभाषण करना, यही शास्त्रकार दिखलाते हैं - उस मूर्ख ने जो बुरा अनुष्ठान किया है, उसके विषय में दूसरे के पूछने पर उसे इन्कार करता हुआ कहता है कि "मैंने यह अनुचित कार्य नहीं किया है" अतः वह पुरुष असत् अनुष्ठान करके और उसे इन्कार करके दूना पाप करता है, वह पाप करके भी क्यों इन्कार करता है ? सो शास्त्रकार बतलाते हैं, वह लोक में अपनी पूजा चाहता है, लोक में मेरी निन्दा न हो इसलिए वह अपने अकार्य को छिपाता है, वस्तुतः वह पुरुष असंयम की इच्छा करनेवाला है ॥२९॥



संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।

वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे

॥३०॥

छाया - संलोकणीयमणगारमात्मगतं निमन्त्रणेणाहुः ।

वत्थं च त्रायिन् पात्रं वा अन्नं पाणकं प्रतिगृहाण ॥

अन्वयार्थ - (संलोकणिज्जं) देखने में सुन्दर (आयगतं) आत्मज्ञानी (अणगारं) साधु को (निमंतणेणाहंसु) स्त्रियां निमन्त्रण देती हुई कहती है कि (ताइ !) हे भवसागर से रक्षा करनेवाले साधो ! (वत्थं च पायं वा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे) वस्त्र, पात्र, अन्न और पान आप मेरे से स्वीकार करें ।

भावार्थ - देखने में सुन्दर साधु को स्त्रियां आमन्त्रण करती हुई कहती हैं कि हे भवसागर से रक्षा करनेवाले साधो! आप मेरे यहां वस्त्र, पात्र, अन्न और पान ग्रहण करें ।

टीका - संलोकनीयं - संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चन 'अणगारं' साधुमात्मनि गतमात्मगतम् आत्मज्ञमित्यर्थः, तदेवम्भूतं काश्चन स्वैरिण्यो 'निमन्त्रणेन' निमन्त्रणपुरःसरम् 'आहुः' उक्तवत्यः, तद्यथा - हे त्रायिन् ! साधो ! वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्वतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मदगृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति ॥३०॥

टीकार्थ - दूसरी बात यह है कि देखने में सुन्दर उत्तम आकृतिवाले आत्मज्ञानी साधु को कोई व्यभिचारिणी स्त्रियां आमन्त्रण करती हुई कहती हैं कि हे रक्षा करनेवाले साधो ! वस्त्र, पात्र अथवा और भी पीने योग्य वस्तु

आदि जिसका आपको प्रयोजन हो, वह सब मैं आपको दूंगी आप मेरे घर आकर ग्रहण करें ॥३०॥



उपसंहाराथमाह -

अब इस उद्देशक का उपसंहार करने के लिए कहते हैं -

णीवारमेवं बुज्जेज्जा, णो इच्छे अगार^१मागंतुं ।

बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे त्ति बेमि

॥३१॥

इति इत्थीपरिज्ञाए पढमोउद्देशो समत्तो ॥४-१॥ (गाथाग्रम्-२८७)

छाया - नीवारमेवं बुध्येत, नेच्छेदगारमागन्तुम् ।

बद्धो विषयपाशेन मोहमापद्यते पुनर्मन्दः ॥ इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार के प्रलोभन को साधु (णीवारं बुज्जेज्जा) सुअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे (अगार मागंतुं णो इच्छे) घर आने की इच्छा न करे (विसयपासेहिं बद्धे मंदे) विषय पाश से बँधा हुआ मूर्ख पुरुष (मोहमावज्जइ) मोह को प्राप्त होता है । (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - पूर्वोक्त प्रकार के प्रलोभनों को साधु. सुअर को लुभानेवाले चावल के दानों के समान समझे । विषयरूपी पाश से बँधा हुआ मूर्ख पुरुष मोह को प्राप्त होता है ।

टीका - एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं 'बुध्येत' जानीयात्, यथा हि नीवारेण केनचिद्वक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते, एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते, अतस्तत्रेच्छेद् 'अगारं' गृहं गन्तुं, यदिवा - गृहमेवावर्तो गृहावर्तो गृहभ्रमस्तं 'नेच्छेत्' नाभिलषेत्, किमिति ? यतो 'बद्धो' वशीकृतो विषया एव शब्दादयः, 'पाशा' रज्जुबन्धनानि तैर्बद्धः - परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन् 'मोहं' चित्तव्याकुलत्वमागच्छति-किं कर्तव्यतामूढो भवति पौनःपुन्येन 'मन्दः' अज्ञो जड इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३१॥ इति स्त्रीपरिज्ञायां प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥४-१॥

इति स्त्रीपरिज्ञायाः प्रथम उद्देशः समाप्तः ।

टीकार्थ - स्त्रियों द्वारा किये गये वस्त्र, पात्र आदि देने रूप आमन्त्रण को साधु चावल के दाने के समान समझे । जैसे चावल के दानों को छिटककर शूकर आदि को वश करते हैं । इसी तरह स्त्री भी वस्त्र, पात्र आदि के दानरूप आमन्त्रण के द्वारा साधु को वश करती है । अतः साधु फिर उस स्त्री के घर जाने की इच्छा न करे अथवा गृहरूपी भँवर में पड़ने की फिर इच्छा न करे । पाश के समान शब्दादि विषयों के द्वारा बँधा हुआ अज्ञ जीव, स्नेह पाश को तोड़ने में समर्थ नहीं होता है वह बार - बार व्याकुल चित्त होता है, उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता । इति शब्द समाप्ति अर्थ में आया है ब्रवीमि यह पूर्ववत् है ॥३१॥

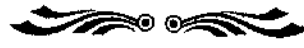
स्त्री परिज्ञाध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।



अथ चतुर्थस्त्रीपरीक्षाध्ययने द्वितीयोद्देशकस्य प्रारम्भः

टीका - उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवाच्चारित्रिस्खलनमुक्तं, स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्-

टीकार्थ - प्रथम उद्देशक कहा गया, अब दूसरा प्रारम्भ किया जाता है, इसका सम्बन्ध यह है - इस पूर्व उद्देशक में स्त्री के सम्पर्क से चारित्र का बिगड़ना कहा गया है अब शील भ्रष्ट पुरुष की जो इसी लोक में अवस्था होती है और कर्मबन्ध होता है सो इस उद्देशक में कहा जाता है, इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशक का यह पहला सूत्र है-



ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।

भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे

॥१॥

छाया - ओजः सदा न रज्येत, भोगकामी पुनर्विरज्यते ।

भोगे श्रमणाणां शृणुत, यथा भुञ्जन्ति भिक्षव एके ॥

अन्वयार्थ - (ओए सया ण रज्जेज्जा) साधु रागद्वेष रहित होकर भोग में कभी चित्त न लगावे । (भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा) यदि भोग में चित्त जाय तो उसे ज्ञान के द्वारा हटा दे । (भोगे समणाणं) साधु को भोग भोगना हैंसी की बात है (जह एगे भिक्खुणो भुंजंति सुणेह) तो भी कोई साधु जिस प्रकार भोग भोगते हैं सो सुनो ।

भावार्थ - रागद्वेष रहित साधु को भोग में चित्त नहीं लगाना चाहिए । यदि दैववश लग जाय तो ज्ञानरूपी अंकुश से मारकर उसे हटा देना चाहिए । भोग भोगना साधु के लिए हैंसी की बात है, तो भी कोई कोई साधु भोग भोगते हैं सो सुनो ।

टीका - अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रसम्बन्धो वक्तव्यः, स चायं सम्बन्धो - विषयपार्श्वमोहमागच्छति यतोऽत 'ओज' एको राग-द्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात्, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकनीयमनगरं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत् तत्रौजः सन्न रज्येतेति, तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुः, भावतस्तु राग-द्वेषवियुतः, स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्मबन्धः तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति, यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् 'सदा' सर्वकालं तास्वनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत, तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत् तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत, एतदुक्तं भवति - कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्गुशेन निवर्तयेदिति, तथा श्राम्यन्ति - तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा, इत्येतच्छृणुत यूयं, एतदुक्तं भवति - गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं, किं पुनस्तत्कृतावस्थाः, तथा चोक्तम् - 'मुण्डं शिर' इत्यादि पूर्ववत्, तथा यथा च भोगान् 'एके' अपुष्टधर्माणो 'भिक्षवो' यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यति, अन्यैरप्युक्तम् -

कृशाः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः, क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपा'लार्तिगलः ।

व्रणैः पूयविलस्रैः कृमिकुलशतैराविलतनुः, शुनीमन्वेति क्षा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१॥

इत्यादि, ॥१॥

टीकार्थ - इस सूत्र का अनन्तर और परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध कहना चाहिए । वह सम्बन्ध यह है-

विषयपाश से मनुष्य मोह को प्राप्त होता है, अतः अकेला अर्थात् रागद्वेष रहित साधु स्त्रियों में राग न करे। परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है - देखने में सुन्दर किसी साधु को यदि कोई स्त्री पशु को लुभाने के लिए चावल के दानों के समान भोजन आदि देकर ठगना चाहे तो साधु राग-द्वेष रहित होकर उसमें अनुरक्त न हो। ओज दो प्रकार का होता है, द्रव्य ओज परमाणु है और भाव ओज रागद्वेष रहित पुरुष है। स्त्री में राग करने से इसी लोक में आगे कहे अनुसार नाना प्रकार के कष्ट होते हैं और उससे कर्मबन्ध होता है तथा उस कर्मबन्ध के विपाक से नरक आदि में तीव्र पीड़ा भोगनी पड़ती है। अतः साधु यह जानकर भाव से ओज अर्थात् राग-द्वेष रहित होकर सर्वदा अनर्थ की खानि स्त्रियों में अनुरक्त न हो। यदि कदाचित् मोह के उदय से साधु को भोग की अभिलाषा हो तो इस लोक और पर लोक में स्त्री संसर्ग से होनेवाले दुःखों का विचारकर स्त्रियों से विरक्त हो जाय। आशय यह है कि - कर्म के उदय से यदि चित्त स्त्री में प्रवृत्त हो जाय तो भी त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को सोचकर साधु ज्ञानरूपी अङ्कुश से उसको हटा दे। जो विशेष तपस्या करता हुआ खेद को प्राप्त होता है, उसे श्रमण कहते हैं। उन श्रमणों का भी भोग भोगना तुम सुनो। आशय यह है कि - गृहस्थों के लिए भी भोग विडम्बनादायक है फिर यतिओं को तो कहना ही क्या है? उनको तो भोग सुतरां विडम्बना दायक ही है फिर भोग भोगने से जो अवस्था होती है, उसकी तो बात ही क्या है? कहा भी है - 'मुण्डं शिर' इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिए। तथा यह भोग विडम्बना प्रायः है, फिर भी इसे कोई ढीले साधु जिस प्रकार भोगते हैं सो आगे कहे जानेवाले इस उद्देशक के सूत्रों के द्वारा बहुत विस्तृत प्रबन्ध से शास्त्रकार दिखालाएंगे। अन्यो ने भी कहा है -

दुबला, काना, लँगडा, कानरहित, पुच्छरहित, क्षुधा से दुर्बल, ढीले अङ्गोवाला, गले में लगे हुए कपाल के द्वारा पीड़ित, मवाद से भीगे घावों और सैकड़ों कीड़ों से भरा हुआ शरीरवाला कुत्ता कुत्ती के पोछे दौड़ता है, कामदेव मरे को भी मारता है॥१॥



- भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह -

- भोग में आसक्त पुरुष की दुर्दशा दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्षुं काममतिवद्वं ।

पलिभिंदिया ण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति

॥२॥

छाया - अथ तं तु भेदमापन्नं मूर्च्छितं भिक्षुं काममतियतम् ।

परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुद्धृत्य मूर्च्छि प्रक्षिज्ति ।

अन्वयार्थ - (अह भेदमावन्नं) इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट (मुच्छितं) स्त्री में आसक्त (काममतिवद्वं) विषय भोग में लग्नचित्त (तं तु भिक्षुं) उस साधु को वह स्त्री (पलिभिंदिया ण) अपने वशीभूत जानकर (तो पच्छा पादुद्धट्टु) अपना पैर उठाकर (मुद्धि पहणंति) उसके शिर पर पैर का प्रहार करती है

भावार्थ - चारित्र से भ्रष्ट स्त्री में आसक्त, विषय भोग में लग्नचित्त साधु को जानकर स्त्री उसके शिर पर पैर का प्रहार करती है ।

टीका - 'अथे' त्यानन्तर्यार्थः तुशब्दो विशेषणार्थः, स्त्रीसंस्तवादनन्तरं 'भिक्षुं' साधुं 'भेदं' शीलभेदं चारित्रस्खलनम् 'आपन्नं' प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु 'मूर्च्छितं' गृद्धमध्युपपन्नं, तमेव विशिनष्टि - कामेषु इच्छामदनरूपेषु मतेः- बुद्धेर्मनसो वा वर्त्तो - वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः - कामाभिलाषुक इत्यर्थः, तमेवम्भूतं 'परिभिद्य' मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपत्ता 'मद्वशक इत्येवं परिज्ञाय यदिवा - परिभिद्य - परिसार्यात्मकृतं तत्कृतं चोच्चार्येति, तद्यथा - मया तव लुञ्जितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोबस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन्

परित्यज्यात्मा दत्तः त्वं पुनरकिञ्चित्कर इत्यादि भणित्वा, प्रकुपितायाः तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यायनार्थं 'पादयोर्निपतति, तदुक्तम्-

'व्यामिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा, नागाश्च दानमदराजिकृष्टीः कपीलैः ।

मेधाविनश्च पुरुषाः समरै च शूराः, स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥१॥

ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात् पश्चात् 'पादं' निजवामचरणम् 'उद्धृत्य' उत्क्षिप्य 'मूर्ध्नि' शिरसि 'प्रघ्नन्ति' ताडयन्ति, एवं विडम्बनां प्रापयन्तीति ॥२॥ अन्यच्च-

टीकार्थ - अथ शब्द का अनन्तर अर्थ है, तु शब्द विशेषणार्थक है, स्त्री के साथ सम्पर्क होने के पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट और स्त्री में आसक्त एवं इच्छामदनरूप काम भोग में जिसके मन की प्रवृत्ति है, ऐसे साधु को जब स्त्री जान जाती है कि मैं जिसको श्वेत या काला कहूंगा उसे यह भी ऐसा ही कहेगा क्योंकि यह मेरे वश में है अथवा वह अपने किये हुए कार्य को खूब साधु पर आधार देती हुई और उस साधु के किये कार्य को कहती है, जैसे कि - तुम लुञ्जित शिर हो और पसीना तथा मल से भरा हुआ तुम्हारा, काँख, छाती और बस्तिस्थान दुर्गन्ध हैं तथापि मैंने अपना कुल, शील, मर्यादा, लज्जा और धर्म आदि को छोड़कर अपना शरीर तुम को अर्पण कर दिया है परन्तु तुम मेरे लिये कुछ भी नहीं करते हो, इस प्रकार कहती हुई क्रोधित उस स्त्री को प्रसन्न करने के लिए विषय मूर्च्छित वह साधु उसके पैर पर गिरता है । कहा भी है-

(व्याभिन्न) अर्थात् जिसके ऊपर केसर (बाल) खूब घने उत्पन्न हुए हैं, अत एव विशाल शिरवाले सिंह और दान जल से जिसका कपोल दुर्बल हो गया है ऐसे हाथी तथा मेधावी पुरुष और समर में शूरवीर पुरुष स्त्री के सामने अत्यन्त कायर हो जाते हैं ।

जब वह स्त्री जान जाती है कि यह साधु विषय में अत्यन्त मूर्च्छित है तब वह अपना वाम पैर उठाकर उसके शिर पर प्रहार करती है । इस प्रकार वह उस साधु की दुर्गति करती है ॥२॥ कोई स्त्री इस प्रकार भी कहती है-



जइ केसिआ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए ।

केसाणविह लुञ्चिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि

॥३॥

छाया - यदि केशिकया मया भिक्षो ! नो विहरेः सहजिया ।

केशामिह लुञ्चिष्यामि नान्यत्र मया चरेः ॥

अन्वयार्थ - (जइ) यदि (केसिया) केशवाली (मए) मुझ (इत्थीए) स्त्री के साथ (भिक्खू) हे साधो ! (णो विहरे) नहीं विहार कर सकते तो (इह) इसी जगह (केसाणं लुञ्चिस्सं) केशों का मैं लोच कर दूंगी । (मए नन्नत्थ चरेज्जासि) तू मेरे बिना किसी दूसरे स्थान पर विहार मत करो ।

भावार्थ - स्त्री कहती है कि भिक्षो ! यदि मुझ केशवाली स्त्री के साथ विहार करने में तू लज्जित होता है तो मैं इसी जगह अपने केशों को उखाड़ फेंकूंगी परन्तु मेरे बिना तू किसी दूसरी जगह न जाओ ।

टीका - केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालङ्कारे, हे भिक्षो ! यदि मया 'स्त्रिया' भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं, सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी 'लुञ्चिष्यामि' अपनेष्यामि, आस्तां तावदलङ्कारादिकमित्यपिशब्दार्थः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादपि यद् दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये, त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः, इदमुक्तं भवति - मया रहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यम् । एतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि, अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥३॥

टीकार्थ - जिसको केश होते हैं उसे केशिका कहते हैं, 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। स्त्री कहती है कि हे साधो ! यदि मुझ केशवाली स्त्री के साथ तू विहार नहीं कर सकता, अर्थात् मुझ केशवाली स्त्री के साथ भोग करने में तू यदि लज्जित होता है तो मैं तुम्हारे सङ्ग की इच्छा से अपने केशों का लोच कर दूंगी फिर दूसरे भूषणों की तो बात ही क्या है ? यह अपि शब्द का अर्थ है। यह केशों का लोच उपलक्षण मात्र है इसलिए और भी दूसरा विदेश गमन आदि जो दुष्कर कर्म है, वह सब मैं सहन करूंगी परन्तु तुम मेरे बिना अन्यत्र कहीं मत जाओ। आशय यह है कि मेरे बिना तुम क्षणभर भी न रहो यही मैं आप से प्रार्थना करती हूँ आप जो कुछ मुझ को आज्ञा देंगे वह सब मैं करूंगी ॥३॥



- इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह -

- पूर्वगाथाओं के कहे अनुसार अतिमनोहर विश्वासजनक थोड़ी देर के लिए सुन्दर वचनों से साधु को विश्वास उत्पन्न कराके स्त्रियाँ जो करती हैं, उसे दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं।

अह णं से होई उवलब्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं ।

अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहि ति

॥४॥

छाया - अथ स भवत्युपलब्धस्ततः प्रेषयन्ति तथाभूतैः ।

अलाउच्छेदं प्रेक्षस्य वग्गुफलाव्याहर इति ॥

अन्वयार्थ - (अह) इसके पश्चात् (से उवलब्धो होई) यह साधु मेरे वश में हो गया है, यह जब स्त्री जान लेती है (तो पेसंति तहाभूएहिं) तो वह उस साधु को दास के समान अपने कार्य में प्रेरित करती है। (अलाउच्छेदं पेहेहि) वह कहती है कि तुम्बा काटने के लिए छुरी ले आओ। (वग्गुफलाइं आहराहिति) तथा मेरे लिए अच्छे फल लाओ।

भावार्थ - साधु की चेष्टा और आकार आदि के द्वारा जब स्त्री यह जान लेती है कि यह मेरे वश में हो गया है तो वह अपने नोकर के समान कार्य करने के लिए उसे प्रेरित करती है। वह कहती है कि तुम्बा काटने के लिए छुरी लाओ तथा मेरे लिए उत्तमोत्तम फल लाओ।

टीका - 'अथे' त्यानन्तर्यार्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे, विश्रम्भालापानन्तरं यदाऽसौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवम् 'उपलब्धो' भवति - आकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्दृशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिः, ततः तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं 'तथाभूतैः' कर्मकरव्यापारैरपशदैः^१ 'प्रेषयन्ति' नियोजयन्ति यदिवा - तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति, तानेव दर्शयितुमाह - 'अलाउ' ति अलाबु - तुम्बं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं - पिप्पलकादि शस्त्रं 'पेहाहि' ति प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति, येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति, तथा 'वल्गूनि' शोभनानि 'फलानि' नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् 'आहर' आनयेति, यदिवा - वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानि फलानि - वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥४॥ अपिच-

टीकार्थ - अथ शब्द आनन्तर्य अर्थ में आया है 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में है। विश्वासजनक आलाप के पश्चात् जब स्त्रियाँ साधु के आकार इङ्गित और चेष्टाओं से यह जान लेती हैं कि यह साधु मेरे में अनुरक्त है, तब कपट नाटक खेलने में अति निपुण स्त्रियाँ नोकर के समान छोटे से छोटे कार्य में साधु को नियुक्त करती हैं। अथवा साधु के लिङ्ग में वेष में रहनेवाले पुरुष के योग्य कार्य में नियुक्त करती हैं। उन्हीं कार्य्यों को दिखाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं- जिससे तुम्बा काटा जाता है, उसे अलाबुच्छेद कहते हैं, वह छुरी आदि शस्त्र हैं, स्त्री कहती है कि- हे साधो ! छुरी आदि शस्त्र ले आओ जिससे पात्र का मुख आदि बनाया जाय, तथा नारियल आदि अथवा तुम्बा आदि फल लाओ। अथवा धर्म कथा रूप वाणी अथवा व्याकरण आदि का व्याख्यान रूप वाणी का फल जो वस्त्रादि लाभ हैं, उन्हें लाओ॥४॥

१. शब्दैः प्र. खेरं पापमपशदमिति हैमः

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ ।

पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिड्डओमहे

॥५॥

छाया - दारूणि शाकपाकाय, प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ पात्राणि च मे रञ्जय एहि तावब्बे पृष्ठं मईया

अन्वयार्थ - (सागपागाए) शाक पकाने के लिए (दारूणि) लकड़ी लाओ (पज्जोओ वा भविस्सति) रात में प्रकाश के लिए तेल आदि लाओ (मे पाताणि रयावेहि) मेरे पात्रों को अथवा पैर को रँग दो (एहि) आओ (ता मे पिड्डओमहे) मेरी पीठ में मालिश कर दो ।

भावार्थ - हे साधो ! शाक पकाने के लिए लकड़ी लाओ, रात में प्रकाश के लिए तेल लाओ । मेरे पात्रों को अथवा मेरे पैरों को रँग दो । इधर आ कर मेरी पीठ में मालिश कर दो ।

टीका - तथा 'दारूणि' काष्ठानि, शाकं टक्कवस्तुलादिकं पत्रशाकं तत्पाकार्थं, क्वचिद्, अन्नपाकायेति पाठः, तत्रान्नम्- ओदनादिकमिति, 'रात्रौ' रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीतिकृत्वा, अतो अटवीतस्तमाहरेति, तथा- (ग्रन्थाग्रम् ३५००) 'पात्राणि' पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदिवा-पादावलक्तकादिना रञ्जयेति, तथा-परित्यज्यापरं कर्म तावद् 'एहि' आगच्छ 'मे' मम पृष्ठम् उत्-प्राबल्येन मर्दय, बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥५॥ किञ्च-

टीकार्थ - हे साधो ! शाक अर्थात् टक्क वस्तुल (वथुआ) आदि पत्रशाक पकाने के लिए लकड़ी लाओ। कहीं "अन्नपाकाय" यह पाठ है अर्थात् भात आदि अन्न पकाने के लिए अथवा रात में प्रकाश करने के लिए जङ्गल से लकड़ी लाओ । मेरे पात्रों को रँग दो जिससे मैं सुखपूर्वक भिक्षाटन करूंगी । अथवा मेरे पैरों को महाकर से रँग दो । दूसरे कामों को छोड़कर इधर आकर मेरी पीठ मालिश कर दो, बैठे-बैठे मेरे अङ्गों में दर्द हो गया है, इसलिए पहले मेरे अङ्गों का मर्दन करो, पीछे दूसरा कार्य करना ॥५॥



वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहराहिति ।

१गंधं च रओहरणं च, कासवगं च मे समणुजाणाहि

॥६॥

छाया- वत्थाणि च मे प्रत्युपेक्षस्व, अन्नं पाणं च आहर इति । गन्धं च रजोहरणं च काश्यपं च मे समनुजानीहि ॥

अन्वयार्थ - (वत्थाणि य मे पडिलेहेहि) हे साधो ! मेरे वस्त्र पुराने हो गये हैं इसलिए दूसरे नये कपड़े लाओ । अथवा मेरे कपड़े मैले हो गये हैं, उन्हें धोबी को दे दो । अथवा मेरे कपड़ों की सफ़ाई करो, जिससे चूहे न खाएँ (अन्नं पाणं च आहराहिति) मेरे लिए अन्न और जल माँग लाओ (गंधं रजोहरणं च) मेरे लिये कपूर आदि सुगन्ध पदार्थ और रजोहरण लाओ (मे कासवगं समणुजाणीहि) मैं लोच की पीड़ा नहीं सह सकती हूँ, इसलिए मुझको नाई से बाल कटाने की आज्ञा दो ।

भावार्थ - हे साधो ! मेरे कपड़े पुराने हो गये हैं, इसलिए मुझको नये कपड़े लाकर दो, मेरे लिए अन्न और जल लाओ । तथा गन्ध और रजोहरण लाकर मुझको दो । मैं लोच की पीड़ा नहीं सह सकती हूँ इसलिए मुझको नाई से बाल कटाने की आज्ञा दो ।

टीका - 'वत्थाणि च अम्बराणि मे' मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः 'प्रत्युपेक्षस्व' अन्यानि निरूपय, यदिवा-मलिनानि रजकस्य समर्पय, मधुपर्घि वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति, तथा अन्नपानादिकम् 'आहर' आनयेति, तथा 'गन्धं' कोष्ठपुटादिकं ग्रन्थं वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहमशक्तेत्यतः 'काश्यपं' नापितं मच्छिरोमुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - मेरे कपड़े पुराने हो गये हैं, इसलिए दूसरे कपड़े मुझको ला दो । अथवा मेरे कपड़े मैले हो गये हैं, इन्हें धोबी को दे दो, अथवा हमारे वस्त्र आदि उपकरणों को चूहों के भय से बचाकर रखो । मेरे लिए अन्न-पान आदि लाओ । तथा कोष्ठपुट आदि गन्ध अथवा ग्रन्थ, यानी सोना-चाँदी मेरे लिए लाओ । मुझे सुन्दर

रजोहरण लाकर दो, मैं अपने केशों का लोच करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मेरा शिर मुण्डन करने के लिए हे साधो! नाई को आज्ञा दो ताकि मैं अपने बड़े केशों को कटा डालूँ ॥६॥



अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कययं मे पयच्छाहि ।

लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च

॥७॥

छाया - अथाञ्जणिकामलङ्कारं, खुंखुणकं मे प्रयच्छ । लोद्धं च लोद्धकुसुमं च वेणुपलाशिकां च गुलिकां च ॥

अन्वयार्थ - (अदु अंजणिं अलंकारं कुक्कययं मे पयच्छाहि) हे साधो ! मुझको अञ्जन का पात्र, भूषण तथा घूघूरुदार वीणा लाकर दो (लोद्धं च लोद्धकुसुमं च) लोद्ध का फल और लोद्ध का फूल भी ला दो (वेणुपलासियं च गुलियं च) एवं एक बाँस की लकड़ी और पौष्टिक औषध की गोली भी लाओ ।

भावार्थ - स्त्री में अनुरक्त साधु से स्त्री कहती है कि हे साधो । मुझको अञ्जन का पात्र, भूषण तथा घूघूरुदार वीणा लाकर दो तथा लोद्ध का फल और फूल लाओ एवं एक बाँस की लकड़ी और पौष्टिक औषध की गोली भी लाओ ।

टीका - अथशब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिहितम्, अधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिधीयते, तद्यथा- 'अंजणिमि'ति अञ्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र क्रिया, तथा कटककेयूरादिकमलङ्कारं वा, तथा 'कुक्कययं'ति खुंखुणकं 'मे' मम प्रयच्छ, येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि, तथा लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, तथा 'वेणुपलासियं'ति वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा दन्तैर्वाहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते, तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति॥७॥

टीकार्थ - अथ शब्द दूसरा अधिकार बताने के लिए आया है । पहले साधु के लिङ्ग वेष में रहनेवाले पुरुष के उपकरणों के विषय में कहा है अब गृहस्थों के उपकरण के विषय में कहते हैं । स्त्री कहती है कि- हे प्रिय! मुझको कज्जल रखने के लिए एक नली (पात्र) लाकर दो (यहां प्रयच्छस्व) यह क्रियापद आगे के चरण में है। तथा कटक और केयूर आदि अलङ्कार मुझको लाकर दो । हे प्रिय ! मुझको एक घूघूरुदार वीणा लाकर दो, जिससे मैं सभी अलङ्कारों से भूषित होकर वीणा के विनोद से आपको प्रसन्न करूंगी । तथा मुझको लोद्ध और लोद्ध का फूल लाकर दो, एवं चिक्कनी छाल वाली बाँस की एक बंशी लाकर दो, जो दाँतों से वाम हाथ के द्वारा पकड़कर दक्षिण हस्त से वीणा के समान बजाई जाती है, तथा मुझको पौष्टिक औषध की ऐसी गोली लाकर दो कि मैं सदा युवती बनी रहूँ ॥७॥



कुट्टं तगरं च अगरुं, संपिडं सम्मं उसिरेणं ।

तेल्लं मुहभिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए

॥८॥

छाया - कुट्टं तगरं चागुरुं, सम्पिष्टं सममुशीरेण । तैलं मुख्याभ्यङ्गाय, वेणुफलाणि सन्निधानाय ॥

अन्वयार्थ - (कुट्टं तगरं अगरुं) हे प्रिय ! कुष्ट, तगर और अगर (उसीरेण सम्मं संपिष्टं) उशीर (खस) के साथ पीसे हुए मुझको लाकर दो (मुहभिंजाए तैल्लं) तथा मुख में लगाने के लिए तेल और (सन्निधानाए वेणुफलाइं) वल्वादि रखने के लिए बाँस की बनी हुई एक पेटी लाओ ।

भावार्थ - स्त्री कहती है कि हे प्रिय । उशीर के जल में पीसा हुआ कुष्ट, तगर और अगर लाकर मुझको दो, तथा मुख में लगाने के लिए तेल और कपड़ा वगैरह रखने के लिए बाँस की बनी हुई एक पेटी लाओ ।

टीका - तथा कुष्ठम् उत्पलकुष्ठं तथाऽगरं तगरं च, एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये, एतत्कुष्ठादिकम् 'उशीरेण' वीरणीमूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु, तथा 'तैलं लोद्धकुडकुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य 'भिंजाए'ति अभ्यङ्गाय दौकयस्व, एतदुक्तं भवति- मुख्याभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति, येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायते,

1. घर्घरमिति वि. ५० । 2. कुक्कुडयं प्र० । 3. मिडलिंजाए० प्र० ।

‘वेणुफलाइ’ति वेणुकार्याणि करण्डकपेटुकादीनि सन्निधिः सन्निधानं- वस्त्रादेर्व्यवस्थापनं तदर्थमानयेति ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ - कुष्ठ कमलकुष्ठ को कहते हैं तथा अगर और तगर ये भी दो सुगन्धि द्रव्य हैं, ये सब कुष्ठ आदि सुगन्धि द्रव्य उशीर के जल में पीसे हुए सुगन्ध देते हैं, इसलिए हे स्वामिन् ! तुम इन सबों को उशीर के जल के साथ पीसो । तथा लोध्र के फूल आदि के द्वारा सुगन्धी किया हुआ तेल मुख में लगाने के लिए लाओ । आशय यह है कि मुख में लगाने के लिए इस प्रकार का तेल लाओ जिससे मेरा मुख कान्तियुक्त हो जाय । तथा मेरे कपड़ों को रखने के लिए बाँस की बनी हुई पेट्टी आदि लाओ ॥८॥



नन्दीचुण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि ।

सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि

॥९॥

छाया - नन्दीचूर्ण प्राहर, छत्रोपाणहो च जानीहि । शस्त्रं च सूपच्छेदाय आनीलं च वस्त्रं रञ्जय ॥

अन्वयार्थ - (नन्दीचुण्णगाइं पाहराहि) ओष्ठ रंगने के लिए चूर्ण लाओ (छत्तोवाणहं च जाणाहि) छत्ता और जूता लाओ (सूवच्छेज्जाए सत्थं च) तथा शाक काटने के लिए शस्त्र यानी छुरी लाओ (आनीलं च वत्थं रयावेहि) तथा नील वस्त्र रंगाकर लाओ ।

भावार्थ - स्त्री अपने में अनुरक्त पुरुष से कहती है कि- हे प्रियतम ! मुझको ओष्ठ रँगने के लिए चूर्ण लाओ तथा छाता, जूता और शाक काटने के लिए छुरी लाओ, मुझको नील वस्त्र रँग कर ला दो ।

टीका - ‘नन्दीचुण्णगाइं’ति द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठप्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते, तमेवम्भूतं चूर्णं प्रकर्षेण-येन केनचित्प्रकारेण ‘आहर’ आनयेति, तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथा उपानहौ च ममानुजानीहि, न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति, तथा ‘शस्त्रं’ दात्रादिकं ‘सूपच्छेदनाय’ पत्रशाकच्छेदनार्थं द्वौकयस्व, तथा ‘वस्त्रम्’ अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्-ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति ॥९॥ तथा -

टीकार्थ - द्रव्यों के संयोग से बने हुए ओष्ठ रँगने के चूर्ण को ‘नन्दीचूर्णक’ कहते हैं, ऐसा चूर्ण तुम जिस किसी प्रकार भी लाओ । तथा धूप और वर्षा से शरीर की रक्षा करने के लिए छत्ता और जूता पहनने की मुझको आज्ञा दो । मेरा शरीर इनके बिना ठीक नहीं रहता है, इसलिए मुझको ये चीजें ला दो । तथा पत्ता शाक काटने के लिए चाकू आदि शस्त्र लाकर दो, एवं मेरे पहनने के लिए कपड़ा रँग दो, जिस प्रकार मेरा वस्त्र थोड़ा नील अथवा पूरा नील अथवा उपलक्षण होने से कुछ रक्त वर्ण हो जाय ऐसा रँग दो ॥९॥



सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च ।

तिलगकरणिमंजणसलागं, घिसु मे विहूणयं विजाणेहि

॥१०॥

छाया - सुफणिं च शाकपाकाय आमलकाव्युदकाहरणं च ।

तिलककरण्यञ्जन शलाकां ग्रीष्मे विधूनकमपि जानीहि ॥

अन्वयार्थ - (सागपागाए सुफणिं) हे प्रियतम ! शाक पकाने के लिए तपेली (वटलोई) लाओ (आमलगाइं दगाहरणं च) आँवला तथा जल रखने का पात्र लाओ (तिलककरणिमंजणसलागं) तिलक और अञ्जन लगाने के लिए सलाई लाओ (घिसु मे विहूणयं विजाणेहि) तथा गर्मी में हवा करने के लिए पंखा लाओ ।

भावार्थ - स्त्री शीलभ्रष्ट पुरुष से कहती है कि- हे प्रियतम ! शाक पकाने के लिए तपेली लाओ तथा आँवला, जल रखने का पात्र, तिलक और अञ्जन लगाने की सलाई एवं गर्मी में हवा करने के लिए पंखा लाकर मुझको दो ।

टीका - सुष्ठु सुखेन वा फण्यते-क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि-स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते

तच्छाकपाकार्यमानय, तथा 'आमलकानि' धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा तथोदकमाह्रियते येन तदुदकाहरणं-कुटवर्धनिकादि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकयस्वेति, तिलकः क्रियते यथा सा तिलककरणी-दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यथा गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियत इति, यदिवा गोरोचनया तिलकः क्रियते (इति) सैव तिलककरणीत्युच्यते, तिलका वा क्रियन्ते-पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते, तथा अञ्जनं-सौवीरकादि शलाका-अक्षणोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति । तथा 'ग्रीष्मे' उष्णाभितापे सति 'मे' मम विधुनकं' व्यजनकं विजानीहि ॥१०॥ एवं -

टीकार्थ - जिसमें सुख पूर्वक तक्र आदि पदार्थ पकाये जाते हैं, उसे सुफणी कहते हैं, वटलोई और तपेली आदि भाजनों को सुफणि कहते हैं । वह भाजन शाक पकाने के लिए लाओ । एवं स्नान करने के लिए तथा पित्त की शान्ति के निमित्त, खाने के लिए आँवला लाओ । पानी रखने के लिए बर्तन लाओ । यह उपलक्षण रूप से कहा गया है । इसलिए घी और तेल रखने के लिए पात्र तथा सभी घर के उपकरण लाओ । जिससे तिलक किया जाता है, उसे तिलककरणी कहते हैं । दाँत की बनी हुई या सोने की बनी हुई सलाई होती है, जिससे गोरोचन आदि लगाकर तिलक किया जाता है अथवा गोरोचना को 'तिलक करणी' कहते हैं, अथवा जिसमें तिलक पीसा जाता है, उसे तिलककरणी कहते हैं, तथा आँख में अञ्जन लगाने के लिए जो सलाई होती है, उसे अञ्जनशलाका कहते हैं, इन सब चीजों को लाओ । तथा गर्मी के ताप की शान्ति के लिए मुझको पंखा लाकर दो ॥१०॥

संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।

आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि

॥११॥

छाया - संडासिकं च फणिहं च, सीहलिपाशकं चानय । आदर्शकं च प्रयच्छ दन्तप्रक्षालनकं प्रवेशय ॥

अन्वयार्थ - (संडासगं च) नाक के केशों को उखाड़ने के लिए चिपीया लाओ । (फणिहं च) तथा केश संवारने के लिए कंघी लाओ (सीहलिपासगं च) चोटी बाँधने के लिए ऊनकी बनी हुई (आंटी) (आणाहि) लाकर दो । (आदंसगं च पयच्छाहि दंतपक्खालणं पवेसाहि) मुख देखने के लिए दर्पण, दाँत साफ करने के लिए दन्तमञ्जन लाओ ।

भावार्थ - स्त्री कहती है कि- हे प्रियतम । नाक के केशों को उखाड़ने के लिए चिपीया लाओ, केश सँवारने के लिए कंघी और चोटी बाँधने के लिए ऊनकी बनी आँटी, मुख देखने के लिए दर्पण तथा दाँत साफ करने के लिए दन्तमंजन लाओ ।

टीका - 'संडासगं' नासिकाकेशोत्पाटनं 'फणिहं' केशसंयमनार्थं कङ्कतकं, तथा 'सीहलिपासगं'ति वेणीसंयम-नार्थमूर्णामयं कङ्कणं च 'आनय' ढौकयेति, एवम् आ-समन्ताद्दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः स एव आदर्शकस्तं 'प्रयच्छ' ददस्वेति, तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते-अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं-दन्तकाष्ठं तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥

टीकार्थ - जिससे नाक के केश उखाड़े जाते हैं, उसे संडासक कहते हैं तथा जिससे केश सँवारे जाते हैं, उसे फणिह कहते हैं । फणिह नाम कंघी का है तथा चोटी बाँधने के लिए उनके बने हुए कङ्कण को सीहलिपाशक कहते हैं, ये सब लाकर मुझको दो । जिसमें चारो तरफ से अपना शरीर देखा जाता है, उसे आदर्श कहते हैं, आदर्श को ही आदर्शक कहते हैं, आदर्शक नाम दर्पण का है । वह मुझको लाकर दीजिए । जिसके द्वारा दाँत के मल दूर किये जाते हैं, उसे दन्तप्रच्छालनक कहते हैं, वह दातुन अथवा दाँत का मंजन है, वह मेरे पास लाओ ॥११॥

पूयफलं तंबोलयं, सूईसुत्तगं च जाणाहि ।

कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च

॥१२॥

छाया - पूगीफलं ताम्बूलं, सूचिसूत्रं च जानीहि । कोशं च मोचमेहाय, शूपोचखलं च क्षारगालनकम् ॥

अन्वयार्थ - (पूयफलं तंबोलयं) सोपारी, पान (सुईसुतगं च जाणीहि) तथा सुई-सूत लाओ (मोयमेहाए कोसं च) पेसाब करने के लिए पात्र (सुप्पुखलंगं च) सूप और ऊखली (खारगालणं च) खार गलाने का बर्तन शीघ्र लाकर दो ।

भावार्थ - स्त्री कहती है कि- हे प्रियतम ! पान, सोपारी, सुई-सूत, पेसाब करने के लिए बर्तन, सूप, ऊखली एवं खार गलाने का बर्तन लाकर दो ।

टीका - पूगफलं प्रतीतं 'ताम्बूलं' नागवल्लीदलं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं 'जानीहि' ददस्वेति, तथा 'कोशम्' इति वारकादिभाजनं तत् मोचमेहाय समाहर, तत्र मोचः-प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः तेन मेहः-सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति-बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयाद्, अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु, एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यं, तथा 'शूर्पं' तन्दुलादिशोधनं तथोदूखलं तथा किञ्चन क्षारस्य-सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - पूगीफल प्रसिद्ध है, सोपारी को पूगीफल कहते हैं, नागरवेल के पत्ते को ताम्बूल (पान) कहते हैं तथा सुई और सूता अथवा सुई में डालकर सीने के लिए सूता मुझको दो । तथा कोश नाम पेशाब करने के पात्र का है वह पात्र मुझको लाकर दीजिए । आशय यह है कि मैं रात में भय के कारण बाहर जाने के लिए समर्थ नहीं हूँ इसलिए रात में मुझको जिस प्रकार बाहर जाना न पड़े ऐसा करो । यह दूसरे भी छोटे कामों का अधमतम कार्य का उपलक्षण है तथा चावल वगैरह को शोधन करने के लिए सूप को शूर्प कहते हैं तथा ऊखली और साजी गलाने का पात्र यह सब उपकरण मुझको लाकर दीजिए ॥१२॥



चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो ! खणाहि ।

सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए

॥१३॥

छाया - चन्दालकं च करकं वर्चोगृहं च आयुष्मन् । रखण । शरपातं च जाताय, गोरहकं श्रामणये ॥

अन्वयार्थ - (आउसो) हे आयुष्मन् । (चंदालगं) देवता का पूजन करने के लिए ताम्र भाजन (करगं च) जल अथवा मद्य रखने का पात्र (वच्चघरं) पाखाना (खणाहि) यह सब मेरे लिए बना दो । (जायाए सरपाययं च) अपने पुत्र को खेलने के लिए एक धनुष् ला दो । (सामणेराए गोरहगं च) श्रमण पुत्र अर्थात् तुम्हारे पुत्र को गाड़ी में वहन करने के लिए एक बैल लाओ ।

भावार्थ - स्त्री कहती है कि- हे प्रियतम ! देवता का पूजन करने के लिए तांबा का पात्र तथा जल अथवा मद्य रखने का पात्र मुझको ला दो । मेरे लिए पाखाना खोदा दो अपने पुत्र को खेलने के लिए एक धनुष् ला दो । तथा तीन वर्ष का एक बैल ला दो जो अपने पुत्र को गाड़ी में वहन करेगा ।

टीका - 'चन्दालकम्' इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति, तथा 'करको' जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया, तथा 'वर्चोगृहं' पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन् ! मदर्थं 'खन' संस्कुरु, तथा शरा-इषवः पात्यन्ते-क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं-धनुः तत् 'जाताय' मत्पुत्राय कृते ढौकय, तथा 'गोरहगंति' त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति, 'सामणेराए'ति श्रमणस्यापत्य श्रामणिस्तस्मै श्रमणपुत्राय त्वत्पुत्राय^१ गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा -

टीकार्थ - देवता का पूजन करने के लिए ताम्र का भाजन ला दो । मथुरा में इस पात्र को 'चन्दालक' कहते हैं तथा जल के आधार को करक कहते हैं, अथवा मद्य के भाजन को करक कहते हैं, वह मुझको ला दीजिए । तथा जिसमें स्थंडिल जाते हैं, उस स्थान को वर्चोगृह कहते हैं, वह गृह हे आयुष्मन् ! मेरे लिए खोदकर बना दीजिए । जिस पर रखकर बाण फेंके जाते हैं, उसे शरपात कहते हैं, शरपात धनुष् का नाम है, वह धनुष् अपने पुत्र के खेलने के लिए ला दो । तथा तीन वर्ष का बैल लाओ जो तुम्हारे सन्तान की गाड़ी खींचने का काम करेगा ॥१३॥

घडिगं च सडिडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए ।

वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च

॥१४॥

छाया - घटिकां च सडिमडिमां च, चेलगोलकं च कुमारक्रीडाय ।

वर्षं च समभ्यापझमावसयं च जानीहि भक्तं च ॥

अन्वयार्थ - (घडियं च सडिडिमयं च) मिट्टी की गुडिया और बाजा (चेलगोलयं च कुमारभूयाए) तथा अपने लड़के को खेलने के लिए कपड़े की बनी हुई गेंद लाओ (वासं च समभियावण्णं) वर्षा ऋतु पास आ गयी है (आवसहं च भत्तं च जाण) वर्षा से बचने के लिए घर और अन्न का शीघ्र प्रबन्ध करो ।

भावार्थ - शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रियतमा कहती है कि- हे प्रियतम ! अपने कुमार को खेलने के लिए मिट्टि की गुडिया, बाजा और कपड़े की बनी हुई गेंद लाओ । वर्षा ऋतु आ गयी है, इसलिए वर्षा से बचने के लिए मकान और अन्न का प्रबन्ध करो ।

टीका - घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां 'डिण्डिमेन' पटहकादिवादित्रविशेषेण सह, तथा 'चेलगोलं'ति वस्त्रात्मकं कन्दुकं 'कुमारभूताय' क्षुल्लकरूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति, तथा वर्षमिति प्रावृट्कालोऽयम् अभ्यापन्नः-अभिमुखं समापन्नोऽत 'आवसथं' गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा 'भक्तं च' तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं 'जानीहि' निरूपय निष्पादय, येन सुखेनैवानागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति, तदुक्तम्-“मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते इति ॥१॥ ॥१४॥”

टीकार्थ - हे प्रियतम ! राजकुमार के समान छोटे मेरे पुत्र को खेलने के लिए मिट्टी की गुडिया तथा बाजा और कपड़े की बनी हुई गेंद लाओ । हे प्रियतम ! वर्षाकाल निकट है इसलिए वर्षाकाल में निवास करने के योग्य मकान तथा उस काल के योग्य चावल आदि का प्रबन्ध कर लो जिससे सुख पूर्वक वर्षाकाल व्यतीत किया जा सके । कहा है-

(मासैरष्टभिः) आठ मासों में ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे वर्षाकाल के चार मासों में सुख प्राप्त हो तथा दिन में वह कार्य कर लेना चाहिए, जिससे रात्रि में आनन्द प्राप्त हो एवं आयु के पूर्वभाग में मनुष्य को वह कार्य करना चाहिए, जिससे अन्त में सुख मिले ॥१४॥



आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाई संकमड्डाए ।

अदू पुत्तदोहलड्डाए आणप्पा हवन्ति दासा वा

॥१५॥

छाया - आसन्दिकां च नवसूत्रां पादुकाः संक्रमणार्थाय । अथ पुत्रदोहदार्थाय, आहृष्टाः भवन्ति दासा इव ॥

अन्वयार्थ - (नवसुत्तं च आसंदियं) नये सूतों से बनी हुई बैठने के लिए एक मैचिया लाओ (संकमड्डाए पाउल्लाई) इधर-उधर घूमने के लिए पादुका खड़ाउ लाओ (अदू पुत्तदोहलड्डाए) मेरे पुत्र दोहद के लिए अमुक वस्तु लाओ (दासा वा आणप्पा हवन्ति) इस प्रकार स्त्रियां दास की तरह पुरुषों पर आज्ञा करती हैं ।

भावार्थ - हे प्रियतम ! नये सूतों से बनी हुई एक मैचिया बैठने के लिए लाओ तथा इधर-उधर घूमने के लिए एक खड़ाऊं लाओ मुझको गर्भ दोहद उत्पन्न हुआ है इसलिए अमुक वस्तु लाओ इस प्रकार स्त्रियां दास की तरह पुरुषों पर आज्ञा करती हैं ।

टीका - तथा 'आसंदिय' मित्यादि, आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्जिकां, तामेव विशिनष्टि नवं-प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्ब्रह्मचर्मावनद्धां वा निरूपयेति वा एवं च-मौञ्जे काष्ठपादुके वा 'संक्रमणार्थं' पर्यटनार्थं निरूपय, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति, अथवा-पुत्रे गर्भस्थे दोहदः

पुत्रदौहदः-अन्तर्वर्ती फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै-तत्सम्पादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता 'दासा इव' क्रयक्रीता इव 'आज्ञाप्या' आज्ञापनीया भवन्ति, यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥१५॥ अन्यच्च -

टीकार्थ - बैठने के योग्य एक मैचिया लाओ, उसी मैचिया का विशेषण बतलाते हैं- जिसमें नये सूत लगे हो ऐसी मैचिया होनी चाहिए । यहाँ सूता की मैचिया उपलक्षण है, इसलिए चमड़े की बनी हुई मैचिया लाओ । तथा मुञ्ज की बनी हुई अथवा काठ की बनी हुई पादुका (खड़ाऊँ) इधर-उधर घूमने के लिए लाओ, क्योंकि मैं खुले पैर पृथिवी पर एक पैर भी नहीं दे सकती हूँ । अथवा पुत्र गर्भ में होने पर जो स्त्री को फल आदि खाने की इच्छा उत्पन्न होती है, उसे पुत्रदौहद कहते हैं, उसको सम्पादन करने के लिए स्त्रियाँ खरीदे हुए दास के समान पुरुषों पर आज्ञा करती हैं । जैसे दास के ऊपर निर्लज्ज होकर लोग आज्ञा करते हैं, इसी तरह स्नेहरूपी पाश से बँधे हुए विषयार्थी बिचारे पुरुषों पर संसार में उतरने के लिए मार्ग स्वरूप स्त्रियाँ आज्ञा चलाती हैं ॥१५॥



जाए फले समुत्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।

अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवन्ति उट्ठा वा

॥१६॥

छाया - जाते फले समुत्पन्ने, गृहाणैनमथवा जहाहि । अथ पुत्रपोषिण एके भारवहाः भवन्ति उट्ठा इव ॥

अन्वयार्थ - (जाए फले समुत्पन्ने) पुत्र उत्पन्न होना गृहस्थता का फल है, उसके होने पर (गेण्हसु वा णं जहाहि) स्त्री कुपित होकर कहती है कि- इस पुत्र को गोद में लो अथवा छोड़ दो (अह एगे पुत्तपोसिणो उट्ठा वा भारवहा हवन्ति) कोई कोई पुरुष पुत्र का पोषण करने के लिए ऊँट की तरह भार वहन करते हैं ।

भावार्थ - पुत्र जन्म होना गृहस्थता का फल है, उस फल के उत्पन्न होने पर स्त्री कुपित होकर अपने पति से कहती है कि- इस लड़के को गोद में लो अथवा छोड़ दो । कोई-कोई पुत्र के पोषण में आसक्त पुरुष ऊँट की तरह भार वहन करते हैं ।

टीका - जातः-पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां, तथाहि-पुरुषाणां कामभोगाः फलं तेषामपि फलं-प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति, तदुक्तम्-

“इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः । अचन्दनमनीशीरं, हृदयस्यानुलोपनम् ॥१॥

“यत्तत्पुनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तमाषिणा । हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥”^२

यथा 'लोके पुत्रसुमुखं नाम, द्वितीयं सुमुखमात्मनः' इत्यादि, तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन् 'समुत्पन्ने' जाते तदुद्देशेन या विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति-अमुं दारकं गृहाण त्वम्' अहं तु कर्माक्षणिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथ चैनं 'जहाहि' परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः, त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्धहन् स्तोकमपि कालमुद्विजस, इति, दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि-दासो भयादुद्विजन्नादेशं विधत्ते, स तु स्त्रीवशागोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तदादेशं विधत्ते, तथा चोक्तम्-

“यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥

ददाति प्रार्थितः प्राणान्, मातरं हन्ति तत्कृते । किं न दद्यात् न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥

ददाति शीचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि । श्लोष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशागतो नरः ॥३॥”

तदेवं पुत्रनिमित्तमन्यद्वा यत्किञ्चिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति, अथ तेऽपि पुत्रान् पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य सर्वादेशकारिणः 'एके' केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितै-

1. अन्तर्वर्ती प्राग्मुद्रिते, फलस्य पुत्रवाचिता उपरिष्ठात्स्पष्टा । 2. एतत् श्लोकद्वयमपि व्रतप्रश्नेन धर्मकीर्तिना- भाषितमिति वि.प.

हिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ - पुत्र उत्पन्न हुआ, वही गृहस्थों का फल है क्योंकि कामभोग करना पुरुषों का फल है और काम भोगों का भी प्रधान फल पुत्र का जन्म है । कहा है कि-

(इदं) अर्थात् पुत्र जन्म होना, स्नेह का सर्वस्व है और धनवान् तथा दरिद्र दोनों के लिए यह सम है, यह चन्दन तथा उसीर के विना हृदय को शीतल करनेवाला लेपन है ॥१॥

तीव्ररी भाषा बोलनेवाले बालक ने जो शयनिका कहने के स्थान में शपनिका कहा था वह शब्द, सांख्य और योग की छोड़कर मेरे हृदय में वर्तमान रहता है ॥२॥

लोक में पहला पुत्र सुख है और दूसरा अपने शरीर का सुख है, इस प्रकार पुरुषों के लिए पुत्र परम अभ्युदय का कारण है, उस पुत्र के उत्पन्न होने पर पुरुषों को जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उसे शास्त्रकार दिखलाते हैं- स्त्री कहती है कि- हे प्रियतम ! इस पुत्र को तुम ग्रहण करो, मैं कार्य्य करने में लगी हूँ, मुझको इसे ग्रहण करने का अवकाश नहीं है, यदि तुम इसे नहीं ग्रहण करोगे तो मत करो मैं तो इसकी बात भी नहीं पूछूंगी, इस प्रकार कुपित होकर वह कहती है । वह कहती है कि- मैंने नव मास तक अपने पेट में इसे वहन किया है परन्तु तुम थोड़ी देर तक इसे गोद में लेने से भी घबड़ाते हो, दास का दृष्टान्त जो दिया गया है, वह भी पुरुष पर स्त्री नोकर की तरह आदेश देती है, इस तुल्यता को लेकर ही दिया गया है, परन्तु पुरुष उसकी आज्ञा पालन करता है, इस बात को लेकर नहीं क्योंकि दास अपने मालिक से डरकर उसकी आज्ञा पालन करता है, उसके हृदय में हर्ष नहीं होता परन्तु स्त्रीवशीभूत पुरुष स्त्री के आदेश को अपने पर कृपा मानता हुआ हर्षित होकर उसे पालन करता है । कहा है कि-

स्त्रीवशीभूत पुरुष जानता है कि मुझको जो अच्छा लगता है, वही मेरी प्रिया करती है परन्तु वस्तुतः वही उसका प्रिय करता है, इसे वह नहीं जानता है ॥१॥

पुरुष स्त्री की प्रार्थना करने पर अपना प्राण तक दे देता है, अपनी माता को भी उसके लिए मार डालता है वस्तुतः स्त्री की प्रार्थना करने पर पुरुष उसे क्या नहीं दे सकता और क्या नहीं कर डालता ॥२॥

स्त्री वशीभूत पुरुष शौच के निमित्त उसे जल देता है, उसका पैर धोता है तथा उसका धूक भी अपने हाथ पर ले लेता है ॥३॥

इस प्रकार स्त्रियां पुत्र के लिए तथा दूसरे प्रयोजनों के लिए दास की तरह पुरुष पर आज्ञा करती हैं । इसके पश्चात् पुत्र का पोषण करनेवाले तथा पुत्र पोषण के उपलक्षण होने से स्त्री की सब आज्ञा पालन करनेवाले महामोह के उदय में वर्तमान, स्त्री के आज्ञाकारी इसलोक तथा परलोक के नाश की परवाह नहीं करनेवाले कोई पुरुष ऊंट की तरह भार वहन का कार्य्य करते हैं ॥१६॥



राओवि उड्डिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा ।

सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा

॥१७॥

छाया - रात्रावप्युत्थिताः सन्तः दारकं संस्थापयन्ति धात्रीव ।

सुहीमनसोऽपि ते सन्तः वत्थधावका भवन्ति हंसा वा ॥

अन्वयार्थ - (राओवि) रात में भी (उड्डिया संता) ऊठकर (धाई वा) धाई की तरह (दारगं च संठवंति) लड़के को गोद में लेते हैं (ते सुहिरामणा वि ते संता) वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (हंसा वा वत्थधोवा हवंति) धोबी के समान स्त्री और लड़के के वस्त्र धोते हैं ।

भावार्थ - स्त्री वशीभूत पुरुष रात में भी ऊठकर धाई की तरह लड़के को गोद में लेते हैं, वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी धोबी की तरह औरत और बच्चे के वस्त्र धोते हैं ।

टीका - रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापनैः, - "सामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज-आयामुहसोरियपुरस्स य" इत्येवमादिभिरसम्बद्धैः क्रीडनकालापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत् कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति, सुष्ठु ह्रीः- लज्जा तस्यां मनः अन्तकरणं येषां ते सुह्रीमनसो लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्पि कर्माणि कुर्वन्ति, तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति- 'वस्त्रधावका' वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव-रजका इव भवन्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादप्युदकवहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥

टीकार्थ - स्त्री वशीभूत पुरुष रात में भी ऊठकर रोते हुए बालक को धाई के समान अनेक प्रकार के लालन के शब्दों से सान्त्वना देते हुए अपने गोद में रखते हैं। जैसे कि- हे पुत्र ! तुम नक्रपुर हस्तिपत्तन, कल्पपत्तन, गिरिपत्तन, सिंहपुर, उन्नतस्थान, नीचास्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज, पितामहमुख और सौर्यपुर के स्वामी हो। इस प्रकार के अनेकों बालक के क्रीडाजनक आलापों से बालक को खेलाते हुए स्त्री वशीभूत पुरुष ऐसा कार्य करते हैं, जिससे वे सभी के हास्य के पात्र बनते हैं। जिनका मन अत्यन्त लज्जाशील है अर्थात् जो अत्यन्त लज्जाशील हैं, ऐसे पुरुष भी लज्जा को छोड़कर स्त्री के वचन से सब से छोटा कर्म करते हैं, वही सूत्र के अवयवों द्वारा शास्त्रकार दिखलाते हैं- वे पुरुष धोबी की तरह वस्त्र धोते हैं। वस्त्र धोना तो उपलक्षण है इसलिए दूसरे कार्य जल लाना आदि भी वे पुरुष करते हैं ॥१७॥



- किमेतत्केचन कुर्वन्ति येनैवमभिधीयते ?, बाढं कुर्वन्तीत्याह -

- क्या कोई पुरुष यह कार्य करते हैं ? जिससे तुम यह कहते हो, हाँ, करते हैं, यही शास्त्रकार बतलाते हैं -

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।

दासे मिइ व पेस्से वा, पसुभूते व से ण वा केइ

॥१८॥

छाया - एवं बहुभिः कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्नाः । दासमृगादिव प्रेष्य इव पशुभूत इव स ण वा कश्चित् ॥

अन्वयार्थ - (एवं बहुभिः कयपुव्वं) इस प्रकार बहुत लोगों ने पहले किया है (भोगत्थाए जेऽभियावन्ना) जो पुरुष भोग के लिए सावधकार्य में आसक्त हैं (दासे मिइ व पेस्से वा पसुभूते व से ण वा केइ) वे दास, मृग प्रेष्य (क्रीतदास) और पशु के समान हैं अथवा वे (सब से अधम) कुछ भी नहीं हैं।

भावार्थ - स्त्री वशीभूत होकर बहुत लोगो ने स्त्री की आज्ञा पाली है। जो पुरुष भोग के निमित्त सावध कार्य में आसक्त हैं, वे दास मृग क्रीतदास तथा पशु के समान हैं अथवा वे सब से अधम तुच्छ हैं।

टीका - 'एव' मिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकरणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तथा परे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये 'भोगकृते, कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायभयमपर्यालोच्य आभिमुख्येन-भोगानुकूल्येन आपन्ना-व्यवस्थिताः सावधानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत्, तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, 'प्रेष्य इव' कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते, तथा-कर्तव्या-कर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलम्, एवमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्पः, यदिवा-स स्त्रीवशो दासमृगप्रेष्यपशुभ्योऽप्यधमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति-सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा-न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि-न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधरित्वाच्च, यदिवा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥

1. स्वाम्यसि नगरस्य च नक्रपुरस्य च हस्तिकल्पगिरिपत्तनसिंहपुरस्य उन्नतस्य निन्नस्य कुक्षिपुरस्य च कान्यकुब्जपितामहमुखशौर्यपुरस्य च ॥

टीकार्थ - स्त्री की आज्ञा पालन करना, पुत्र का पोषण करना, वस्त्रधोना इत्यादि जो पहले कहे गये हैं ये सब बहुत से संसारी जीवों ने किये हैं और करते हैं तथा भविष्य में करेंगे । जो पुरुष काम भोग की प्राप्ति के लिए इसलोक और परलोक के भय को नहीं सोचकर सावद्य अनुष्ठान में आसक्त हैं, वे सभी पूर्वोक्त कार्य करते हैं । तथा जो पुरुष रागान्ध तथा स्त्री वशीभूत हैं, उसे दास की तरह स्त्रियाँ निःशंक होकर पूर्वोक्त कार्य से भिन्न कार्य में भी लगाती हैं । जैसे जाल में पड़ा हुआ मृग परवश होता है, इसी तरह स्त्री वशीभूत पुरुष परवश होता है, वह अपनी इच्छा से भोजन आदि क्रियायें भी नहीं कर पाता है । स्त्री वशीभूत पुरुष क्रीतदास की तरह मलमूत्र फेंकने के काम में भी लगाया जाता है । स्त्री वशीभूत पुरुष कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य तथा हित की प्राप्ति तथा अहित के त्याग से भी रहित पशु के समान होता है । जैसे पशु, केवल भोजन, भय, मैथुन और परिग्रह को ही जानता है, इसी तरह स्त्री वशीभूत पुरुष भी उत्तम अनुष्ठान से रहित होने के कारण पशु के समान ही हैं । अथवा स्त्री वशीभूत पुरुष, दास, मृग, प्रेष्य (क्रीतदास) तथा पशु से भी अधम होने के कारण कुछ भी नहीं है, आशय यह है कि वह पुरुष सब से अधम है । इसलिए उसके समान दूसरा कोई नीच है ही नहीं जिससे उसकी उपमा दी जावे । अथवा उभय भ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष कोई नहीं है । उत्तम अनुष्ठान से रहित होने के कारण वह प्रव्रजित नहीं है तथा नागरवेल के पान आदि का उपभोग न करने से और लोचमात्र करने से वह गृहस्थ भी नहीं है । अथवा इसलोक और परलोक का सम्पादन करने वाले पुरुषों में से वह कोई भी नहीं है ॥१८॥



- साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह -

- अब शास्त्रकार इस अध्ययन को समाप्त करते हुए स्त्री के साथ सङ्ग करने का त्याग बतलाते हैं -

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वजेज्जा ।

तज्जातिआ इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए

॥१९॥

छाया - एवं खलु तासु विन्नप्पं, संस्तवं संवासं च वर्जयेत् ।

तज्जाति का इमे कामा अवद्यकरा एवमारख्याताः ॥

अन्वयार्थ - (तासु) स्त्रियों के विषय में (एवं विन्नप्पं) इस प्रकार की बातें बतायी गयी हैं (संथवं संवासं च वजेज्जा) इसलिए साधु स्त्रियों के साथ परिचय और सहवास वर्जित करे (तज्जातिय इमे कामा वज्जकरा एवमक्खाए) स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला कामभोग पाप को उत्पन्न करता है, ऐसा तीर्थङ्करों ने कहा है ।

भावार्थ - स्त्री के विषय में पूर्वोक्त शिक्षा दी गयी है, इसलिए साधु स्त्री के साथ परिचय और सहवास न करे । स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला कामभोग पाप को उत्पन्न करता है, ऐसा तीर्थङ्करों ने कहा है ।

टीका - 'एतत्' पूर्वोक्तं, खु शब्दो वाक्यालङ्कारे, तासु यत् स्थितं तासां वा स्त्रीणां सम्बन्धि यद् विज्ञप्तम्-उक्तं, तद्यथा- यदि सकेशया मया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामीत्येवमादिकं, तथा स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवं' परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुः 'त्यजेत्' जह्यात्, यतस्ताभ्यो-रमणीभ्यो जातिः-उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिका-रमणीसम्पर्कोत्थास्तथा 'अवद्यं' पापं वज्रं वा गुरुत्वादधः-पातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् 'आख्याताः' तीर्थकरणधरादिभिः प्रतिपादिता इति॥१९॥

टीकार्थ - खु शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । पहले यह कह दिया गया है कि स्त्रियों की रीति इस प्रकार की है तथा स्त्रियाँ जो साधु से प्रार्थना करती हैं कि मुझ केशवाली के साथ तुम्हारा चित्त नहीं लगता है तो मैं केशों को उखाड़ दूँ, यह सब भी कह दिया गया है, अतः अपने कल्याण की इच्छा करता हुआ तथा सब प्रकार के नाश से डरता हुआ पुरुष, स्त्रियों के साथ परिचय तथा उनके साथ एक जगह रहना त्याग देवे क्योंकि स्त्री

के सम्बन्ध से उत्पन्न कामभोग पाप को उत्पन्न करता है, यह तीर्थङ्कर और गणधर आदि ने कहा है ॥१९॥



- सर्वोपसंहारार्थमाह -

- अब शास्त्रकार सब को समाप्त करते हुए कहते हैं -

एयं भयं न सेयाय, इह से अप्पगं निरुंभित्ता ।

णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा

॥२०॥

छाया - एवं भयं न श्रेयसे, इति स आत्मानं निरुध्य । जो स्त्रीं नो पशुं भिक्षुः नो स्वयं पाणिना मिलीयेत ॥

अन्वयार्थ - (एयं भयं न सेयाय) स्त्री के साथ संसर्ग करने से पूर्वोक्त भय होता है तथा वह कल्याण के लिए नहीं होता है (इह से अप्पगं निरुंभित्ता) इसलिए साधु अपने को स्त्री संसर्ग से रोककर (णो इत्थिं णो पसुं णो सयं पाणिणा भिक्खू णिलिज्जेज्जा) स्त्री को, पशु को अपने हाथ से स्पर्श न करे ।

भावार्थ - स्त्री के साथ संसर्ग करने से पूर्वोक्त भय होता है तथा स्त्री संसर्ग कल्याण का नाशक है इसलिए साधु स्त्री तथा पशु को अपने हाथ से स्पर्श न करे ।

टीका - 'एवम्' अनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात् स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिः सार्धं सम्पर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसम्पर्कान्निरुध्य सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति-न स्त्रियं नरकवीथीप्रायां नापि पशुं 'लीयेत' आश्रयेत, स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्ये' तिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावाच्यस्य 'न णिलिज्जेज्ज'ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शबलीकरोति, यदिवा-स्त्रीपश्चादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ॥२०॥ अपि च-

टीकार्थ - पहले कही हुई रीति के अनुसार स्त्रियों की प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय और उनके साथ रहना भय का कारण है, इसलिए वह भय है तथा स्त्री का सम्पर्क अशुभ अनुष्ठान का कारण है, इसलिए वह कल्याण के लिए नहीं है, यह जानकर कामभोग के विपाक को जाननेवाला साधु स्त्री संसर्ग से अपने को रोककर तथा उक्त मार्ग में अपने को रखकर जो कार्य करे सो शास्त्रकार दिखलाते हैं- नरक ले जाने का मार्ग प्रायः स्त्री तथा पशु का आश्रय साधु न लेवे अर्थात् साधु स्त्री और पशु के साथ संवास न करे । साधु की शय्या स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित होनी चाहिए, यह शास्त्र का वाक्य है । तथा अपने हाथ से अपने गुप्तेन्द्रिय का पीड़न न करे क्योंकि ऐसा करने से भी चारित्र सबल दोष वाला होता है, बिगड़ जाता है अथवा स्त्री, पशु आदि को अपने हाथ से साधु स्पर्श न करे ॥२०॥



सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी ।

मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

छाया - सुविसुद्धलेस्यः मेहावी परक्रियां च वर्जयेद्द्वहानी । मनसा वचसा कायेण सर्व स्पर्शसहोऽनगारः ॥

अन्वयार्थ - (सुविसुद्धलेसे) विशुद्धचित्त (मेहावी नाणी) और मर्यादा में स्थित ज्ञानी पुरुष (मणसा वयसा कायेणं) मन, वचन और काय से (परकिरियं च वज्जए) दूसरे की क्रिया को वर्जित करे (सव्वफाससहे अणगारे) जो शीत, उष्ण आदि सब स्पर्शों को सहन करता है, वही साधु है ।

भावार्थ - विशुद्ध चित्तवाला तथा मर्यादा में स्थित ज्ञानी साधु मन, वचन और काय से दूसरे की क्रिया को वर्जित करे । जो पुरुष, शीत, उष्ण आदि सब स्पर्शों को सहन करता है, वही साधु है ।

टीका - सुष्ठु-विशेषण शुद्धा-स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या-अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतो 'मेधावी' मर्यादावर्ती परस्मै स्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया-विषयोपभोगद्वारेण परोपकारकरणं परेण वाऽऽत्मनः संबाधनादिका क्रिया परक्रिया तां च 'ज्ञानी' विदितवेद्यो 'वर्जयेत्' परिहरेत्, एतदुक्तं भवति-विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्, एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्, तथाहि-औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च, सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदाः, एवं दिव्येऽपि नव भेदाः, ततश्चाष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म विभ्रूयात्, यथा च स्त्रीस्पर्शपरीषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानधिसहेत, एवं च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥२१॥

टीकार्थ - जिसकी चित्तवृत्ति विशेषरूप से स्त्री संसर्ग के त्यागरूप होने के कारण निष्कलङ्क है तथा जो मर्यादा में स्थित और जानने योग्य पदार्थों को जाननेवाले ज्ञानवान् है, वह पुरुष परक्रिया न करे। स्त्री आदि पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे परक्रिया कहते हैं अर्थात् विषय का उपभोग देकर जो दूसरे का उपकार किया जाता है, वह परक्रिया है। तथा दूसरे के द्वारा अपना पैर आदि दबवाना भी परक्रिया है, उसे भी ज्ञानी पुरुष वर्जित करे। आशय यह है कि- विषयभोग की सामग्री देकर ज्ञानी पुरुष दूसरे की कुछ सहायता न करे तथा स्त्री आदि के द्वारा अपना पैर धोलाना आदि सेवा न करावे। साधु मन, वचन और शरीर तीनों से परक्रियाओं को वर्जित करे। साधु औदारिक कामभोग के लिए मन से न जाय तथा दूसरे को भी मन से न भेजे और जाते हुए को अच्छा नहीं जाने एवं इसी प्रकार वचन से और शरीर से भी समझना चाहिए। इस प्रकार औदारिक कामभोग के नौ भेद होते हैं, इसी तरह दिव्य कामभोग के भी नौ भेद हैं। अतः साधु अठारह प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करे। जिस प्रकार साधु स्त्री परीषह को सहन करे, इसी प्रकार शीत, उष्ण, दंश, मशक और तृण आदि सभी स्पर्शों को सहन करे। इस प्रकार सम्पूर्ण स्पर्शों को सहन करनेवाला अनगार साधु होता है ॥२१॥



- क एवमाहेति दर्शयति -

- किसने यह कहा था ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं-

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।

तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वज्जासि त्ति बेमि ॥२२॥

इति श्रीइत्थीपरिज्ञा चतुर्थाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्रम्०३०९)

छाया - इत्येवमाहुः स वीरः धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः ।

तस्मादात्मविशुद्धः सुविप्रमुक्तः आमोक्षाय परिव्रजेदिति ॥ ब्रवीमि (विहरेदामोक्षाय)

अन्वयार्थ - (धुअरए धुअमोहे) जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था तथा जो रागद्वेष से रहित थे (से वीरे इच्चेवमाहु) उस वीर प्रभु ने यह कहा है (तम्हा अज्झत्थविसुद्धे) इसलिए निर्मलचित्त (सुविमुक्के से भिक्खू) और स्त्री सम्पर्क वर्जित वह साधु (आमोक्खाय) मोक्ष पर्यन्त (परिव्वज्जासि) संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ - जिसने स्त्री सम्पर्कजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था तथा जो राग-द्वेष से रहित थे, उन वीर प्रभु ने ये पूर्वोक्त बातें कहीं हैं, इसलिए निर्मलचित्त और स्त्री सम्पर्क वर्जित, वह साधु मोक्षपर्यन्त संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे ।

टीका - 'इति' एवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरतः 'आह' उक्तवान्, यत एवमतो धूतम्-अपनीतं रजः-स्त्रीसम्पर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः तथा धूतो मोहो राग-द्वेषरूपो येन स तथा। पाठान्तरं वा धूतः-अपनीतो रागमार्गो-रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारे तत्तथा तत्सर्वं भगवान् वीर एवाह, यत

1. पाठा० विहरे आमोक्खाए ।

एवं तस्मात् स भिक्षुः, अध्यात्मविशुद्धः- सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्तः सन् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत्परि-समन्तात्संयमानुष्ठानेन 'व्रजेत्' गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं परिसमाप्तम् ॥

टीकार्थ - पहले जो कहा गया है सो सब दिव्यज्ञानी परहित में तत्पर भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है। भगवान् महावीर स्वामी ने स्त्री संपर्क जनित कर्मों को दूर कर दिया था तथा राग-द्वेष रूप मोह को भी जीत लिया था, यहाँ दूसरा पाठ भी पाया जाता है, उसका अर्थ यह है- स्त्री के साथ परिचय आदि के त्याग करने में जरा भी ढीलाई नहीं करनी चाहिए, किन्तु स्त्री में राग छोड़ देना चाहिए, यह भगवान् वीर ने ही कहा है, इसलिए विशुद्ध अन्तःकरणवाला तथा रागद्वेष स्वरूप स्त्री सम्पर्क से मुक्त होकर साधु समस्त कर्मों के क्षयपर्यन्त संयम में उद्योग करे । इति शब्द समाप्त्यर्थक है, ब्रवीमि पूर्ववत् है, यह चौथा स्त्रीपरिज्ञाध्ययन समाप्त हुआ ।





सूत्रकृतम्

सूत्रानुसारेण

तत्त्वावबोधः

क्रियते

यस्मिन्सूत्र

के अनुसार

जिससे तत्त्व का

अवबोध

किया जाता है।



सूचाकृतम्

स्वपरसमयार्थसूचनं

=

सूचा सा अस्मिन्

कृता-स्वपर

समय के अर्थ को

कहना उसे

सूचा कहते हैं।

वह सूचा जिसमें

दर्शायी गयी है,

वह सूचाकृतम्।



श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र का शुद्धिकारक एवं वृद्धिकारक यह ग्रन्थ है। स्वपरसमयवक्तव्यता, स्त्री-अधिकार, नरक-विभक्ति जैसे अध्ययन इसके अत्यन्त मननीय है। संयम जीवन के लिए अत्यन्त उपकारी होने से सबके लिए यह ग्रन्थ उपादेय बन जाता है। इसलिए योग्य को इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन अवश्य करना-कराना चाहिए।

अब हमारा यह कर्तव्य बनता है कि इसका पान कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाए तो ही हमने इन पूर्व पुरुषों के इस पुरुषार्थ को सफल बनाया है ऐसा माना जाएगा।

तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष मार्ग में अग्रेसरता अशक्य है। अतः ज्ञान-दीप हृदय-घट में प्रकट करने के लिए इस ग्रन्थ का परिशीलन करे।